* ओ३म् *

अथर्ववेदसंहिता

भाषा-भाष्य

(चतुर्थ खण्ड)

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्यसाहित्यमण्डल, अजमेर.

मुद्रक—

श्री दुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

प्रथमावृत्ति २००० | सं० १६८७ वि० | मूल्य ४) रुपये

श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अध्यक्ष के प्रबन्ध से
श्रीदुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, धानमण्डी,
अजमेर में मुद्रित.

* ओ३म् *

चतुर्थखण्ड की भूमिका।

इस खण्ड में १८, १९, २० काण्ड सम्मिलित हैं। गत काण्डों में विशेष २ संदिग्ध प्रकरणों पर हमने पूर्व खण्डों की भूमिका में प्रकाश डाला है। इस खण्ड में भी कुछ विषय बड़े महत्व के हैं जिनको स्पष्ट करना आवश्यक है।

(१) पूर्व दोनों खण्डों की भूमिका में 'मणि' शब्द का विवेचन तथा नाना मणि विषयक सूक्तों का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। इस खण्ड में १९ वें काण्ड के २८-३६ सूक्त तक के ९ सूक्तों में औदुम्बर, दर्भ, जंगिड़ और शतवार मणि का वर्णन आया है। भाष्य में इन सबका रहस्य स्पष्ट कर दिया है। इनके सम्बन्ध में विशेष लिखना व्यर्थ है। पाठकगण हमारे अभिप्राय को पूर्व खण्डों की भूमिका में ही पुनः पढ़ने का कष्ट करें और शेष सब संगति प्रस्तुत भाष्य में उपलब्ध हो जावेगी।

१८ वें काण्ड में बहुत से विषय विचारणीय हैं जैसे (१) यमयमी संवाद (२) पितृगण (३) पिण्डदान (४) प्रेतदाह (५) सतीदाह (६) छागवध (७) कुछ और्ध्वदेहिक क्रियाएं।

(१) यमयमी संवाद।

ऋग्वेद (१० । १० । १-१४) में १४ और अथर्ववेद (१८ । १ । १-१६) १६ ऋचाएं यमयमी संवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। आंव,ग्रे

सायण के कथनानुसार—यमयमी दोनों भाई बहन हैं। इन १६ मन्त्रों में विवस्वान् के पुत्र पुत्री यम और यमी दोनों का संभोग के निमित्त संवाद वर्णित है। भगिनी के साथ भोग करना अत्यन्त अनुचित होने से यम ने नाना युक्तियों से उसका प्रत्याख्यान कर दिया इस अभिप्राय को चित्त में रखकर सायण ने सम्पूर्ण सूक्त की योजना की है और इस संवाद को बड़ा ही अश्लील कर दिया है। बहिन भाई में किसी भगिनी का भाई से भोग की इच्छा प्रकट करना और उसका भाई के स्वीकार न करने पर कटाक्ष और आक्षेप करना यह वेद के समान धर्म ग्रन्थ में शोभा नहीं देता।

'यस्य वाक्यं स ऋषिः' इस न्याय से इन १६ मन्त्रों के ऋषि भी यम यमी स्वीकार किये जाते हैं। यदि यम यमी दोनों आलंकारिक रूप से कोई जड़ पदार्थ हैं तो उनको ऋषि मानना असंगत है। जब ऋषि हैं तो उनको आलंकारिक या काल्पनिक पात्र मानना अनुचित है।

हमें कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि हम यम और यमी को भाई बहन स्वीकार करें। क्योंकि (१) समस्त सूक्त में कहीं भी यम और यमी को भाई बहिन स्वीकार नहीं किया। प्रस्तुत यह पुत्राभिलाषी स्त्री पुरुष का ही परस्पर संवाद है। १म मन्त्र में सखा को वरण करने की इच्छुक कुमारी वर वर्णिनी कन्या के विचारों को बड़ी उत्तम रीति से रक्खा गया है। वह एक सखा चाहती है। संसारसागर में वह अकेली न रहकर सखा से ही पितृ ऋण के उतारने के निमित्त सन्तान लाभ की इच्छा करती है। २य मन्त्र में उसकी बात का अनुमोदन है। तीसरे मन्त्र में विवाहित पति पत्नी पुत्र प्राप्त न होने पर एक सन्तान के प्रति उत्सुक जान पड़ते हैं। चौथे मन्त्र में सन्तान से निराश दम्पति में पुरुष का वचन प्रतीत होता है। ५.६.७ इन मन्त्रों में सन्तान से निराश दम्पती के भावों को उत्तम रीति से दर्शाया है। ८वें में वरवर्णिनी कन्या के विवाह के पूर्व के विचारों का स्मरण है। ९वें में निराश पति का स्त्री को नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने की सम्मति

है। १० वें में पत्नी की कुछ अनिच्छा है। ११ वें में पति की स्त्री को पुनः आज्ञा है। १२ वें में स्त्री की स्वाभाविक लज्जावश पुनः अनिच्छा है। १३, १४ में पुत्रोत्पादन में असमर्थ एवं महाभारत के राजा पाण्डु के समान रोगादि पीड़ित पति की पुनः आज्ञा है। ऐसा व्यक्ति अपनी स्त्री को भी भगिनी के समान जान अपने शरीर के दोषों से स्त्री के शरीर का नाश नहीं करना चाहिये इस भाव से पत्नी को पृथक् रहने का आदेश करता है। १५ वें में पत्नी का कटाक्षपूर्वक पति के हृदय की बात जानने के लिये यत्नमात्र है। १६ वें में और भी स्पष्ट रूप से पति ने पुत्र लाभ के लिये आवश्यक कर्त्तव्य का आदेश किया है।

स्त्री पुरुष का स्वयंवर और विवाह एवं गृहस्थ आदि के सामान्य कर्त्तव्यों का वर्णन तो १४ वें काण्ड में ही कर दिया है। इस काण्ड में तो पुत्रार्थी अपुत्र स्त्री पुरुषों के लिये ही आपद्-धर्म रूप नियोग का वर्णन किया है।

ऐसा ही महर्षि दयानन्द ने भी स्वीकार किया है। साधारण रीति से नियोग के नाना लाभों का वर्णन महर्षि दयानन्द के बनाये सत्यार्थ-प्रकाश (४र्थ समु०) में कर दिया है। उनका यहां लिखना पिष्टपेषण है। यहां इतना लिखना ही पर्याप्त है कि—१ नियोग विधान से स्त्रियों के दायभाग के अधिकार की रक्षा होती है। पति के मृत्यु होजाने पर उसकी जायदाद (चर और अचर) का अधिकार स्त्री को होता है। यदि वह दूसरे पुरुष से पुनः विवाह करे तो वह अपने पहले पति की जायदाद को दूसरे पति के अर्पण कर देगी। परन्तु उस स्त्री के देवर और जेठ आदि संबन्धी उसे ऐसा नहीं करने देंगे। क्योंकि वह जायदाद उनके बाप दादों की सम्मिलित है। विशेषतया भूमि, मकान और पशु संपत्ति में ऐसा ही होता है। ऐसी दशा में या तो स्त्री विधवा ही रहे या जायदाद हक छोड़े। यदि जायदाद को छोड़ती है तो अन्य पुरुष के साथ विवाह करने पर स्त्री को जो हक

अपने पूर्व पति के सर्वस्व पर प्राप्त है वह नष्ट होता है । और वह हक जो देवर और जेठ आदि को प्राप्त नहीं था वह उनको मिलता है । यदि दाय भाग को नहीं छोड़ती तो जेठ और देवरादि में अन्य कुल का व्यक्ति उन के भाई के हक पर अधिकार जमाता है इससे शामिलात जायदाद में नया पति कलह का कारण होता है और स्त्री को फिर भी अपने पूर्वपति के जायदाद का हक नहीं रहता । क्योंकि वह हक दूसरे पति ने छीन लिया । (२) दूसरे जो इस नये पति से सन्तान होगी उससे पूर्वपति का वंश नहीं चलता और परस्पर वंश चलाने की प्रतिज्ञा भी खण्डित होती है । ऐसी दशा में स्त्री को अपने मृत पति की जायदाद पर हक भी बना रहे, पुत्र-लाभ भी हो और पूर्व पति का वंश भी चले इन सब सुविधाओं के लिये ऐसे विधान की आवश्यकता है जो स्त्री को पुत्र लाभ करने का अधिकार प्रदान करे और स्त्री को उसके दायभाग के अधिकार से भी च्युत न करें ।

(२) इस विधान का नाम 'नियोग' है । यह विवाह नहीं । इसीलिये पद्धतिकारों ने कोई पृथक् पद्धति नियोग के लिये नहीं रक्खी । नियोग का अर्थ 'आज्ञा' है । पत्नी पर जिसका मुख्य अधिकार है उसकी आज्ञा से ही वह स्त्री अपने पाणिग्राही अर्थात् संस्कार द्वारा विवाहित पति के लिये पुत्र उत्पन्न कर सकती है । ऐसे वंश कर सन्तान के लाभ के लिये १म पति ही अपने जीवित काल में अपनी असमर्थता की दशा में नियोग की आज्ञा दे सकता है । उसके अभाव में जो भी उस स्त्री का अभिभावक या संरक्षक हो । मनु आदि धर्मशास्त्रों ने इस नियोग को जहां तक होसका उस कुल में सीमित किया है अर्थात् वह स्त्री देवर से या और किसी अपने पति के सपिण्ड से पुत्र लाभ करे । ऐसा करने से दायभाग और पुत्र आदि अन्य कुल में न जाकर पति का वंश चलता है । इतिहास में ऐसे दृष्टान्त बहुत हैं । जैसे पाण्डु के असमर्थ रहने पर कुन्ती और माद्री दोनों रानियों को नियोग द्वारा सन्तान लाभ हुआ और उनके पुत्रों को वंशागत राज्य भी प्राप्त हुआ । इसी प्रकार विचित्र वीर्य और चित्राङ्गद

दोनों के मरने पर उनकी वधुओं में व्यासदेव द्वारा सन्तान का लाभ होकर वंश चला। और वह पौरव वंश ही कहाया। इसी प्रकार के पुत्र क्षेत्रज पुत्र कहाते हैं।

जहां जायदाद के अधिकारों के प्रश्न न हों और केवल स्त्रियों को पेट का ही प्रश्न है। वहां श्रमी (शूद्र) लोगों में 'नियोग' का विशेष प्रयोजन नहीं है। ऐसी दशा में स्त्रियों का पुनः विवाह ही उत्तम है। यही महर्षि का सिद्धान्त है। यहां ऐसा नियम नहीं कि पति के मर जाने पर स्त्री नियोग करे ही। प्रत्युत यदि सन्तान न हो और सन्तान की इच्छा हो तो नियोग विधान ऐच्छिक है। इसी प्रकार पुनर्विवाह के लिये भी समझना चाहिये। इतिदिक्।

(२) पितृगण।

'पिता' बहुत प्रचलित शब्द है। पालन करने वाला, पिता, कहाता है। विद्या सम्बन्ध से आचार्य भी 'पिता' कहाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पिता' और 'पितर' शब्दों का प्रयोग नीचे लिखे प्रकारों से आया है।

(१) यमो वैवस्वतो राजा इत्याह तस्य पितरो विशः। त इम आसत इति स्थविरा उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति यजूंषि वेदः। शत० १३। ४। ३। ६॥

वैवस्वत राजा यम की प्रजाएं 'पितरः' हैं ये स्थविर, वृद्धजन हैं उनका वेद यजुर्वेद है।

(२) क्षत्रं वै यमो विशः पितरः। श० ७। १। १। ४॥

क्षत्रिय 'यम' है और प्रजाएं ही 'पितर' हैं।

(३) मर्त्याः पितरः'। श० २। १। ३। ४॥ मरने हारे मनुष्य ही 'पितर' हैं।

(४) गृहाणां हि पितरः ईशते। श० २। ६। १। ४०। घरों के स्वामी 'पितर' हैं।

(५) देवाः वा एते पितरः । गो० ३ । १ । २४ ॥ देव गण, तेजस्वी व्यवहार कुशल दानशील पुरुष 'पितर' हैं।

(६) त्रयाः वै पितरः । सोमवन्तः, बर्हिषदः, अग्निष्वात्ताः । श० ५।५।५।२८ तीन प्रकार के पितर हैं सोमवान् बर्हिषद् और अग्निष्वात्त।

(७) यान् अग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः । श० २।६।१।७ ॥ जिनको अग्नि ही जलाता हुआ स्वाद देता है वे पितर अग्निष्वात्त हैं।

(८) ये वै अयज्वानो गृहमेधिनः । ते पितरो अग्निष्वात्ताः । तै० १।६।७।६॥ जो गृहस्थ यज्ञशील नहीं हैं वे अग्निष्वात्त कहाते हैं।

(९) अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः । श०२।६।१।७॥ जो दान और पाक यज्ञ से लोक का जय करते हैं वे पितर बर्हिषद् हैं।

(१०) ये वै यज्वानः ते पितरो बर्हिषदः । तै० ब्रा० १ । ६ । ८ । ६ ॥ जो यज्ञशील हैं वे बर्हिषद पितर हैं।

(११) तद ये सोमेनेजानाः ते पितरः सोमवन्तः । श० २ । ६ । १ । ७ जो सोम से यज्ञ करते हैं वे सोमवान् पितर हैं।

(१२) ओषधिलोको वै पितरः । श० १३ । ८ । १ । २ ॥ ओषधियां पितर हैं।

(१३) षड् वा ऋतवः पितरः । श० २ । ४ । ३ । छहों ऋतु पितर हैं।

इस प्रकार 'पितर' शब्द बड़ा व्यापक शब्द है। पालन करने वाले गुणों को देखकर ओषधि आदि जड़ पदार्थों को भी 'पितर' कहा गया है। इसी प्रकार प्राणो वै पिता । ए० २ । ३८ । एष वै पिता य एष तपति । श० १४ । १ । ७ । १५ ॥ प्राण और सूर्य भी पिता हैं। परन्तु इन स्थलों पर भी कहीं मृत जीवों को पितर शब्द से नहीं कहा गया है।

अब वेद मन्त्रों में आये पितरों पर विचार करते हैं—वेद में जहां भी 'पितरौ' ऐसा द्विवचन प्रयोग होगा वहां वह माता पिता के लिये प्रयुक्त हुआ है इसमें सन्देह नहीं है। मन्त्र (१८। १। ४२) में सरस्वती के उपासक पितरों का वर्णन है। सरस्वती शब्द परमात्मा, वेद वाणी और स्त्री तीनों का वाचक है। इससे ईश्वरोपासक मुमुक्षुजन, वेदज्ञ विद्वान् और गृहस्थजन 'पितर' कहाते हैं। क्योंकि सरस्वती स्त्री वेदवाणी और विद्वत्सभा का भी वाचक है। मन्त्र (१८। १। ४४) में अवर पर, मध्यम, ये तीन प्रकार के पितर बतलाये हैं। उनके सोम्य, अवृक, ऋतज्ञ, ये तीन विशेषण हैं। सोम्य का अर्थ सोम अर्थात् ऐश्वर्य ज्ञान और बल सम्पन्न हों। अवृक अर्थात् जो भेड़िये के समान कुटिल क्रूर चोर स्वभाव के न हों। ऋतज्ञ अर्थात् सत्य व्यवहार और वेदव्यवस्था, विधि विधान के जानकार हों। वे ही हव=यज्ञों और संग्रामों में रक्षक होते हैं। (१८। १। ४५) में 'सुविदत्र' उत्तम ज्ञानवान् पुरुषों को 'पितर' कहा गया है 'बर्हिषद्' वे हैं जो स्वधा के साथ अन्न का भाग ग्रहण करते हैं। 'स्वधा' का अर्थ है जल, अन्न तथा अमृत। या 'स्व' अर्थात् अपने शरीर के धारण करने वाले वेतन आदि को भी 'स्वधा' कहा जाता है। अपने शरीर और मानपद को धारण करने के सामर्थ्य को भी 'स्वधा' कहा जाता है। बर्हि का अर्थ यह लोक, शासकजन और विद्वान्‌जन प्रजा और कुश आसन हैं। उनपर विराजने योग्य आदरणीय पुरुष पितर हैं। प्रजापर शासन करने वाले जन पितर हैं, जो वेतन और अन्न लेकर वृत्ति करते हैं।

सू० १ म के मन्त्र ४६ में पृथिवी लोक पर शासन करने वाले उन अधिकारियों को पितर कहा गया है जो विभक्त प्रजाओं पर शासन करते हैं। मन्त्र ४७ में देवों, विद्वानों के सहायक पितर हैं जो प्रजाओं की संग्रामों में रक्षा करते हैं। ४८ में अजेय इन्द्र का वर्णन है और ४९ में समस्त जनों के आश्रय रूप राजा वैवस्वत यम के आदर करने का आदेश है। इस स्थान पर स्पष्ट 'यम' स्वयं राजा है। वह विविध ऐश्वर्यों का और दसवेहारी

प्रजाओं का स्वामी होने से 'वैवस्वत' है और नियन्ता, शासक होने से 'यम' है। सबका आश्रय, परमात्मा भी 'यम, राजा आदि नाम से कहा जाता है। मन्त्र ५१ में शान्ति और दुःख निवारण करने वाले 'बर्हिषद्' पितरों के आदर करने का उपदेश है। मन्त्र ५२ में गोडों को संकोच कर भोजन स्वीकार करने वाले जीवित पितरों का वर्णन है जिनसे साधारण दोषों पर दण्ड न देने के लिये प्रार्थना है। समस्त सूक्त में जहां 'यम' शब्द से परमेश्वर का ग्रहण है वहां ही पक्षान्तर में राजा परक अर्थ भी आपसे आप निकलता है। प्रस्तुत भाष्य में इस गौण अर्थ की कुछ उपेक्षा करदी है। मन्त्र ५८, ६१ में ज्ञानवान् पितरों का वर्णन है जिनके शुभ विचारों में रहने का आदेश है। वास्तविक पितर ये विद्वान् ही हैं इनको ही द्वितीय सूक्त में 'यम' के सहयोग में पढ़ा गया है। उनको ही मन्त्र २। २ में नमस्कार किया गया है। द्वितीय सूक्त में समस्त विद्वान् पुरुषों का वर्णन तथा जिज्ञासुओं को उनके पास से विद्या ग्रहण करने का आदेश किया गया है। इस सूक्त में 'यम' क्यों मृत्यु वाचक नहीं और 'पितरः' शब्द क्यों मृतपितरों को ग्रहण नहीं करता है इसका हेतु क्रम से पूर्ण सूक्त का पठन करने से स्पष्ट पता लग जाता है। इसी सूक्त में दुष्ट पुरुषों का नियम (२ । २८) में शव के प्रति कर्त्तव्य, (२ । २७) में वृद्धों के दीर्घ जीवन की प्राप्ति, नदी के समान सेनाओं का विजय, (२ । २७) में परम परमेश्वर (२ । ३२) में दाम्पत्य भाव स्त्री पुरुषों के मिलने का दार्शनिक तत्व, (२ । ३३) में अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध जीवों की व्यवस्था, आचार्य और शिष्य के पक्ष में प्रकरण की योजना, (२, १६, ३७) में दीर्घ जीवन, (२८) में ईश्वर की मर्यादाएं और उत्तम सामाजिक व्यवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

सूक्त तीसरे में भी जहां २ पितरों का वर्णन है वहां मृत पितरों का कहीं भी वर्णन प्रतीत नहीं होता। इसकी स्पष्टता भाष्य पाठ करने पर ही विदित होजाती है।

(३) प्रेतदाह और और्ध्वदैहिक कर्म-पद्धति ।

इस प्रसङ्ग में हम संक्षेप से १८ वें काण्ड के आधार पर प्राचीन सूत्रकारों की बनाई कर्मकाण्ड-पद्धति की आलोचना करना आवश्यक समझते हैं। इस पद्धति से वर्तमान की प्रचलित पद्धतियों की तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस पद्धति में सभी पदार्थ ग्राह्य एवं उपयोगी हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। और न उनके सभी अभिप्रायों और संकेतों को ही अभीतक हमने स्पष्ट जाना है तो भी अगले विचारक उनमें से कदाचित् कोई चमत्कार या विशेष तत्वपूर्ण सौन्दर्य प्राप्त कर सकें, केवल इस आशा से उनका उल्लेख करना उचित समझते हैं।

देहपात होजाने पर शरीर जीवरहित शव होजाता है प्राचीन कल्पसूत्रकार ऋषियों ने १८वें काण्ड के मन्त्रों को उस शव की श्मशान-क्रिया और और्ध्वदैहिक क्रियाओं में नीचे लिखे प्रकार से विनियुक्त किया है।

(१) चिता—जिस स्थान पर शव को दहन करना होता है उक्त काण्ड के सूक्त (२।२७) से उस स्थान को साफ करना और कम्पील वृक्ष की शाखा से वहां जल छिड़कना। (१ । ४४) से उस स्थान पर चिता को माप कर चिह्न लगाना। (२।३७–४६) दहन स्थान को नापना। (१।४४) से चिता खोदना। (४ । ४५) से सलाखों या ईंटों से दहन स्थान को कूट कर सम करना। (३ । ४६), (३ । २४—३५) और (२।५०) से सलाखों या ईंटों को चुनना (१ । ४६–४८, ५१), (३ । ४५, ४६) और (४ । ६८) से चिता के गढ़े में दाम बिछाना। (१ । ५३) से उस पर तिल छिड़कना।

(२) शव—(२ । १६–२१) से मरणासन्न के शरीर को नीचे कुशाओं पर धरना। (२ । १–३), (३ । ८) से प्रेत को उठाना। (२ । ५७) से शव को कफन से ढकना। (३ । ६) से शव के शरीर को हिलाना डुलाना। (२ । ४८–४६), (१ । ५४) से शव को उठाकर गाड़ी, शकट या अर्थी पर रखना। (४ । ४६) से शव-वाहक शकट के

बैलों को देखना, पुचकारना । (२ । ५६) से गाड़ी में बैलों का जोड़ना । (२ । ११–१८) इन आठ मन्त्रों को मार्ग में शव शरीर को लेजाते हुए पढ़ना । (३ । ४४—४५) से दाभ बिछाना । (२ । १६–२१) से श्मशान में पहुंच कर शव को नीचे उतार कर दाभ पर धरना । (३ । २१–२४) को शव के समीप लोगों का आकर पढ़ना । (३ । ५५) से जलने की चिता को जल से छिड़कना । (३ । ४१-४२), (४ । ८८), (३ । ४७–४८), (२ । ३४–३५) से चिता में काष्ठों का चयन करना । इसी प्रकार (४।४१), (३ । ४१, ४७, ४८) से भी काष्ठ चयन करना और शव को उठाकर चिता में धरना । (२ । ५३–५४), (४ । ५, ६) से आहिताग्नि के यज्ञ पात्रों को शव के ऊपर यथास्थान रखना । (४ । ११–१५) से चिता पर रक्खे शव के समीप बन्धुओं का (४ । ११–१५) पाठ करना ।

(३) चरु—(४ । १६–२४) से ९ प्रकार के चरुओं का दाभों पर स्थापन । (४ । ५३, ५४) चरुपात्रों का पलाश पत्रों से ढक कर रखना । (४ । ५६) शव के हाथ में सुवर्णका देना । अग्निदान, शव के हाथों का पोछना । (२ । ५९, ६०) से क्रम से ब्राह्मण और क्षत्रिय शव के हाथ से वेदयष्टि और धनुष् को पुत्र द्वारा ग्रहण करना । (२ । ५८) से सात छिद्र युक्त गोघृत के पात्र से प्रेतमुख को ढकना । (३ । १) से चिता में प्रेत की स्त्री का लेटाना । (३ । २) से स्त्री को उसके पुत्र द्वारा हाथ पकड़ कर उठाना । (३ । ३–४) अनुस्तरणी गौ का अभिमन्त्रण और शव की परिक्रमा करना । (२ । २२) (२ । ८, ९) से बकरे को चिता के इतने समीप बांधना कि वह आग के साथ जल जाय । (२ । ११–१३) से गौ पशु के दोनों वृक्कभागों को प्रेत के हाथों पर रखना । (४। ३१) से वस्त्र को लेकर प्रेत का मुख ढकना ।

(४) चितादहन—(१ । ५६–५७) से अग्नि जलाना । (३ । ७१) से अग्नि को बढ़ाना । (२ । २७) से घृताहुति देना । अग्नि दान के पश्चात्

(२ । ३१, ४३), (३ । २४—३७), (४ । ४५—४८) से घृत से युक्त का सारस्वत होम और (३ । ४०) से जलते हुए शव के पास प्रार्थना करना। (२ । ४६, ५०) जलते हुए शरीर पर याम्य होम करना (२ । ३६), (१ । [illegible]—६४) से प्रेत के शरीर पर घृत होम करना। (१ । ४—७) से अग्निदान के पश्चात् गोत्र वालों का आग को बढ़ाना और अधिक तीव्र करना। (५ । ४—१८) से शरीर के जलते समय बन्धुओं का चिता के समीप आकर प्रार्थना करना। अथर्ववेद के समस्त काण्ड के ७, ९, ११, १५ इत्यादि विषम संख्या वाले ब्राह्मणों से पाठ कराना अथवा घृताहुति होम करना। (३ । १७) से शवदहन के दिन घड़ा तोड़ना।

(५) दहन के बाद—(३ । ५६), (४ । ६६) से स्नान करना। (२ । ३८) से स्नानोत्तर नदी पार करना।

(६) अस्थि-चयन—(४ । ५२) से अस्थियों का संचय करना। (३ । ५), (३ । ६०) से नाना ओषधियों से मिले जलों से अस्थियों का धोना। (४ । ३६) से हड्डियों को सहस्र बार पात्र से अभिषेक। (२ । १६) से अस्थि के खण्डों को देखकर मन्त्र पाठ करना। (३ । ६७) (४ । ३१, ३६, ३४, ४३) से अस्थियों पर तिल और धानी छिड़कना। (३ । ११—१८) से इन आठ मन्त्रों से हड्डियों को एक कलश में रखकर गाड़ने के लिये लेजाना। (१ । ५३) से अस्थियों को तिपाई चौकि पर रखना, पूर्ववत् भूमिभाजन, अभिलम्बन और चयन करना। (४ । ५१६०) से अस्थियों को गढ़े में रखना। (३ । ७२) से अस्थियों के समीप घी, मधु रखना।

(७) पिण्डदान—(३ । १०—११) से आचमन करना। (३ । १२) से हाथ धोना। (२—१८, २६, ७२) से पिण्डों पर घृत सेचन करना। (४ । ६८) पिण्डों के लिये कुशा बिछाना। (३ । ७०—८८) पिण्डदान। (५ । ६१) से पिण्डोत्थान के बाद परिषेक। (४ । ६२), (२ । १६) से निर्दिमंजन।

(८) विशेष—(३।२६) से दो जलती लकड़ी लेना। उनमें से एक को (२।२८) से परे फेंकना। या (४।२८) से एक को धूल में फेंक देना। दूसरे को धूलि में गाड़ देना। (२।७०-८८) और (२।६८) को स्वस्ति के लिये सायं प्रातः पाठ करना।

(९) दक्षिणा—(४।४०) से दक्षिणारूप में गौ देना।

(४) पद्धति-समीक्षा।

पद्धति का सामान्य रूप से यह दिग्दर्शनमात्र है। जिसमें से प्रायः अधिकांश अभी तक प्रयोग में आता है। परन्तु मन्त्र-पाठ में प्रायः भेद है। शव को कन्धों पर न लेजाकर गाड़ी पर लेजाना अच्छा है। बंगाल में अभी चारपाई पर ढोलकर लेजाते हैं। मुसलमानों में भी चारपाई पर लेजाते हैं। अर्थी या रथी या विमान आदि की कल्पना अर्वाचीन प्रतीत होती है। प्राचीन रीति शकट और शयन या चारपाई पर लेजाने की प्रतीत होती है। गाड़ी पर ईसाइयों का शव को लेजाना आर्ष-प्रयोग का अनुकरण है। इसका प्रचार होना उत्तम है। लेजाते समय गृह्यसूत्रों में यम-गाथा के गान का विधान है। इस पद्धति में भी (२।११-१८) इन आठ ऋचाओं को पढ़ना चाहिये। वे 'हरिणी ऋचा' कहाती हैं, क्योंकि इन से मुर्दे को लेजाया जाता है। चितानापन, चयन आदि बहुतसे काम विना मन्त्र के कर लिये जाते हैं। अच्छा हो कि उनको भी मन्त्र सहित किया जाय। इससे वेद की रक्षा होगी।

कुछ विधियें अभिप्राय सहित हैं। जैसे दो में से एक जलती लकड़ी को फेंकना, धूल में डाल देना। इससे स्त्री पुरुष के जोड़े में से एक का मृत्यु से बुझ कर मट्टी में मिल जाना सूचित होता है। घड़े का तोड़ना शरीर के नष्ट होजाने का सूचक है।

अज-बन्धन और उसका जलाना आत्मा के शरीर के जलने का सूचक है। अनुस्तरणी गौ उसकी स्त्री की प्रतिनिधि है। यह विधि कदाचित् सती दाह की विधि चल जाने के बाद मूर्खता और स्वार्थ से उसके विकल्प में पूर्त्ति

के लिये शुरू हुई प्रतीत होती है। यह अर्वाचीन प्रतीत होती है। जिन वेद-मन्त्रोंको इस कर्ममें विनियुक्त किया गया है उनका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार स्त्री के जलाये जाने को भी समझना चाहिये। प्रस्तुत भाष्यमें से संदेह निवारण कर लेना चाहिये। हमारा विचार है कि चाहे कौशिकादि कल्पोक्त कर्मकाण्ड विधि कितनी ही प्राचीन क्यों न हो, तो भी एकदेशी ही है क्योंकि इससे भिन्न २ विधियां भी अन्य गृह्यसूत्रों में देखी जाती हैं। इसलिये इन पद्धतियों मे हमें उपादेय अंश ले लेना चाहिये और त्याज्य अंश की उपेक्षा कर देनी चाहिये। मन्त्र अपने भीतर विनियोग होने के लिये विशेष हेतु नहीं रखता। मन्त्र तो केवल अर्थ का स्मारक है। उनमें मानव-जीवन के कर्त्तव्यों का ही अधिकतर निर्देश है। जिनका स्मरण मृत्यु के अवसरपर कराना उचित है जिससे मनुष्य अपने जीवनपर उत्तम विचार करे और कर्त्तव्य को न भूले।

(५) सतीदाह और अनुस्तरणी।

पद्धति ने (३ । ३) मन्त्र का विनियोग मृत पति की स्त्री को पति के चिता में बैठने का दे रक्खा है। इससे संदेह होता है कि क्या वेद-मन्त्र सतीदाह की आज्ञा देता है। सायण ने विनियोग लिखा है कि—"आद्यया चितौ भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत्।" प्रथम ऋचा से चिता में भार्या को मृत पुरुष के साथ लेटा दे। मन्त्रपाठ इस प्रकार है—

> इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
>
> धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥

"यह नारी पतिलोक का वरण करती हुई, पुराण धर्म का पालन करती हुई, तुझ मृत पुरुष के पास आती है तू उसको यहां प्रजा और धन प्रदान कर।" इस वाक्य-रचना से स्त्री को जला देने का अर्थ कैसे निकाला जाता है यह आश्चर्यजनक है। सायणाचार्य ने 'पतिलोक' का अर्थ लिया है याग, दान, होमादि से प्राप्त स्वर्गादि फल। 'निपद्यते' का अर्थ 'नितरां

गच्छति' कह कर भी 'अनुसरणार्थं प्राप्नोति इत्यर्थः ।' यह अपनी तरफ़ से मिला दिया है। 'पुराणं धर्मं' से स्मृति पुराणादि प्रसिद्ध अनुमरण लिया है। 'इह' शब्द से इस भूलोक और जन्मान्तर और लोकान्तर भी ले लिये हैं। अर्थात् वह मृत–पति उस स्त्री को इस लोक में भी पुत्र, धनादि दे और जन्मान्तर में भी पुत्रादि दे। इसमें हेतु सायण देते हैं कि—'अनुमरण' के प्रभाव से जन्मान्तर में भी वही उस स्त्री का पति होता है।

इस तरह का वेदार्थ युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि—(१) यदि पति के आचार और कर्म उसको नीच योनि में लेजाने वाले हुए और स्त्री पुण्याचार से अन्य लोक को पाई तो दोनों का सहयोग असम्भव है। (२) पत्नी के अनुमरण से वह ही उसका पति होगा यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इससे स्त्री के किये को पति भोगे, यह "अकृताभ्यागम दोष" आता है।

इसलिये स्पष्ट तो विनियोग ऐसा प्रतीत होता है कि शोकातुर स्त्री उस समय चिता के पास आती थी और शोक प्रकट करती या अन्तिम दर्शन करती थी। उस समय वह पति के मर जाने पर पति के सर्वस्व की उत्तराधिकारिणी बनती थी। पुराने आचार के अनुसार धर्माचरण पूर्वक रहती हुई मृत–पुरुष के प्रजा और ऐश्वर्य की स्वामिनी बनती थी। इसको पद्धति रूप में कर दिया जाता था। यही बात (२ । ३) मन्त्र में स्पष्ट होती है। जिसको सायण या पूर्व के पद्धतिकार ने अनुस्तरणी गौ को लाने में विनियोग कर दिया है। वह भी मन्त्र के आशय के विपरीत अनर्थकारी पद्धति चलाई है। इन मन्त्रों का सरल स्पष्टार्थ प्रस्तुत भाष्य में देखें।

पिण्डदानादि का कार्य भी केवल कल्पनामात्र है। इसमें शरीर के अन्न द्वारा पोषण होने और एक शरीर से सन्तानों के शरीर की उत्पत्ति एवं पुत्रों के द्वारा अपने वृद्ध माता पिताओं के प्रति कर्त्तव्यों का निर्देश है। पिण्डदान में उसका अभिनयमात्र कर लिया जाता है। जो पीछे से कल्पित प्रतीत होता है। वेद में साक्षात् उसका कोई वर्णन नहीं है, इसलिये मान्य भी

नहीं है । इससे गतात्मा का भी कोई उपकार नहीं है । इस सारे विधान में १८वें काण्ड के वेद-मन्त्रों द्वारा परमेश्वर से प्रार्थना करना गतात्मा को शान्ति देता है । इसी से बन्धु बान्धवों को भी धैर्य प्राप्त होता है ।

(६) कुन्तापसूक्त ।

२०वें काण्ड के १२७वें सूक्त से लेकर १३६ वें सूक्त तक सामान्यतः कुन्तापसूक्त कहाते हैं । इनको छोड़कर शेष सब सूक्त न्यूनाधिक पाठभेद से ऋग्वेद में भी पठित हैं और कुन्तापसूक्तों का पाठ भी ऋग्वेद के परिशिष्ट में पढ़ा गया है । इनके सम्बन्ध में हम इतना कहना उचित समझते हैं कि कुन्तापसूक्तों का पाठ जो श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने स्वीकार किया है, जो बम्बई के निर्णयसागर में छपा है उससे अर्थ स्फुट नहीं होता । इसके अतिरिक्त ऋग्वेद 'परिशिष्ट' गत पाठ भी उससे बड़ा भिन्न है । श्री राथ, श्री ह्विटनी और श्री सेवकलाल के छपाये अथर्ववेद के भीतर कुन्तापसूक्तों का पाठ बहुत अधिक शुद्ध और स्फुटार्थ है उसी को हमने स्वीकार किया है । पं० क्षेमकरणजी ने अपना भाष्य शंकर पाण्डुरंगसम्मत मूल पाठ को लेकर किया है । विद्वान् पाठक स्वयं तुलना करेंगे ।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार कुन्ताप सूक्तों में केवल ३० ऋचाओं का समावेश है । जिसमें ६ नाराशंसी, ३ रैभी, ४ पारीक्षित, ४ कारव्य, ४ दिशांक्लृप्ति, ६ जनकल्प और ४ इन्द्रगाथा हैं । ये ही 'कुन्ताप' सूक्त कहाते हैं इसके अनन्तर ७० पद ऐतशप्रलाप कहे जाते हैं जिनको योग विभाग द्वारा ७६ पद बना कर (सू० १२९-३२) अथर्ववेदी पढ़ते हैं । इसके अनन्तर ६ प्रवल्हिकाएं [१३३], ६ आजिज्ञासेन्याएं [१३४], ३ प्रतिराधा, १ अतिवाद, २ देवनीथ नामक ऋचा हैं, बाद में ३ भूतेच्छद्, इसके अनन्तर १६ आहनस्या ऋचाएं हैं इन सबको अथर्ववेदी साहचर्य से कुन्तापसूक्तों के नाम से ही व्यवहृत कर लेते हैं ।

(७) ऐतश-प्रलाप ।

इन कुन्ताप सूक्तों में ऐतशप्रलाप के विषय में ऐतरेय ब्राह्मणकार महीदास ने लिखा है कि—

ऐतशो ह मुनिरग्नेरायुर्ददर्श। यज्ञस्यायातयाममिति हैक आहुः सोऽब्रवीत् पुत्रान्, पुत्रका अग्नेरायुरदर्शं तदभिलपिष्यामि यत्किं च वदामि तन्मे मा परिगातेति स प्रत्यपद्यतैता अश्वा आप्लवन्ते प्रतीपं प्रातिसत्वनमिति तस्याभ्यग्निरैतशायनः एत्याऽकालेऽभिहाय मुखमप्यगृह्णाद् अदृपन्नः पितेति ॥ तं होवाचापेह्यलसोऽभूर्यो मे वाचमवधीः। शतायुं गामकरिष्यं सहस्रायुं पुरुषम्। पापिष्ठां ते प्रजां करिष्यामि यो मे इत्थमसक्थाः इति। तस्मादाहुरभ्यग्नय ऐतशायना और्वाणां पापिष्ठाः।

अर्थ—"ऐतश मुनि ने अग्नि की आयु का साक्षात् किया। कोई इस मन्त्र काण्ड को यज्ञ का 'अयातयाम' कहते हैं। ऐतशमुनि ने पुत्रों को कहा— हे पुत्रो ! मैंने अग्नि की आयु का साक्षात् दर्शन किया है। वह मैं कहूंगा। मैं जो कुछ भी कहूं उसको बुरा मत कहना। उसने कहना प्रारम्भ किया 'एता अश्वा आप्लवन्ते' इत्यादि (सू० १२६-१३२)। एतश के अभ्यग्नि नामक पुत्र ने बीच ही में उठकर पिता का मुख पकड़ लिया। कहा कि— हमारा पिता पागल होगया है। इसपर पिताने कहा-पुत्र ! दूर हो, तू मेरे वचन समझने में मन्द है ? इसी से मेरी वाणी को तूने बीच ही में नाश किया है। मैं 'गौ' को १०० बरस और मनुष्य को १००० वर्ष की आयु वाला कर सकता हूं, परन्तु तूने मुझे बीच में इस प्रकार टोका है इसलिये तेरी सन्तान को बहुत पापयुक्त, पतित ठहराता हूं। इसीसे और्व कुल में एतशायन सबसे अधिक पतित कहे जाते हैं।"

इस कथा की सत्यता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह कहना कि ये वचन ऐतश मुनि के स्वयं गढ़े हुए हैं ऐसा नहीं माना जा

सकता। सायण ने अपने भाष्य में अलसो भूयां मे.वाचमवधीः' इसका व्याख्यान करते हुए लिखा है—'अहमुन्मत्त इति तव बुद्धिर्नत्वहमुन्मत्तः किन्तु मन्त्रकाण्डमीदृशम्।' हे पुत्र तू समझता है कि मैं उन्मत्त होगया हूं, परन्तु नहीं। मैं उन्मत्त नहीं। मन्त्रकाण्ड ही ऐसा है? इससे प्रतीत होता है कि ऐतश मुनि तो द्रष्टामात्र हैं। मन्त्र तो पूर्व से ही विद्यमान थे। इस मन्त्र काण्ड के पूर्व 'एता अश्वाः' ये पद होने से ही कदाचित् उस सूक्त के द्रष्टा ऋषि का नाम भी 'ऐतश' है।

(८) आहनस्या ऋचाएं।

सूक्त १२६ की १६ ऋचाएं 'आहनस्या' कहाती हैं। इनके सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—आहनस्याद्वै रेतः सिच्यते। रेतसः प्रजाः प्रजायन्ते। (ऐत० ब्रा० ६, ३०।१०) इस पर सायण का भाष्य है—"आहननं स्त्रीपुरुषयोः परस्परसंयोगः। तद्वत् प्रजोत्पत्तिहेतुत्वात् ऋचोप्याहनस्याः। आहनस्यं मिथुनमित्युक्तं।"

अर्थात्—आहनस्य से वीर्य सेचन किया जाता है। वीर्य से प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। स्त्री पुरुषों का परस्पर संयोग 'आहनन' कहाता है। उसी प्रकार प्रजोत्पत्ति के कारण होने से ये ऋचाएं 'आहनस्या' हैं।

इस आधार पर विचार करने से यह सूक्त प्रजोत्पत्ति के गूढ़ रहस्यों का भी वर्णन करता है। परन्तु हमने प्रस्तुत भाष्य में प्रजोत्पत्ति पक्ष पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। हमने कई कारणों से राष्ट्र-पक्ष में ही इसकी व्याख्या की है। इन सूक्तों के विषय में योरोपियन पण्डितों ने बड़ी ओछी कल्पनाएं की हैं। उनको ये सूक्त अश्लील प्रतीत होते हैं। जैसे पं० ब्लूमफील्ड ने इन सूक्तों के विषय में कुत्सित, शमल, अनृत आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह प्रभाव उनके चित्त पर पतित कालों के बने कर्मकाण्डों से उत्पन्न हुआ है। हमारा विचार उनसे भिन्न है। जिस प्रकार गर्भ विज्ञान, काम-विज्ञान और प्रजनन-विज्ञान के शास्त्रीय भाग को

विशुद्ध दृष्टि वाले विशुद्ध रूप से देखते हैं और पतित प्रवृत्ति वाले उन ही ग्रन्थों से अपने दुर्भाव तृष्णा की पूर्त्ति भी करते हैं उसी प्रकार इन सूक्तों का भी दुरुपयोग किया गया है। इन सूक्तों और इसी प्रकार वेदों के अन्तर्गत अन्य भी कतिपय सूक्तों के विशुद्ध ज्ञानप्रदर्शक भाष्य होने की बड़ी आवश्यकता है। उक्त सभी सूक्तों की मूलसंहिता के पाठ पर भी विद्वानों को श्रम करना चाहिये। हमने यथामति संहिता का शुद्ध पाठ रखने का यत्न किया है परन्तु तो भी चित्त को सन्तोष नहीं हुआ है। इसी प्रकार भाष्य में भी बहुतसे अस्पष्ट और सन्देह युक्त स्थल हैं जिन पर और अधिक विचार अपेक्षित है।

(६) समाधान।

पूर्व प्रकाशित तीन खण्डों के भाष्यों पर कुछ एक महानुभावों ने कुछ आक्षेप उपस्थित किये हैं। हम उनका समाधान वाचकों को संक्षेप में देना उचित समझते हैं। जैसे—

(१) अ०-[का०४। सू०३४] में विष्टारी ओदन का वर्णन है। २य मन्त्र के भाष्य पर कुछ एक को यह आपत्ति है कि "मुक्त पुरुषों के सुख प्राप्ति के साधन सामर्थ्य दग्ध क्यों नहीं होते? और उनको मुक्ति में बहुत से भोग्य-लोक कैसे प्राप्त होते हैं?

समाधान—उन महानुभावों के लिये मैंने उसी स्थल पर छान्दोग्य उपनिषद् का उद्धरण देकर अपना अभिप्राय स्पष्ट किया है। शेष रहा मुक्तों के पास इन्द्रियों के सामर्थ्य सूक्ष्मरूप से रहते हैं या नहीं? इसका उत्तर यही है कि लिङ्ग शरीर में सभी सामर्थ्य रहते हैं। और उनसे वे मुक्त जीव यथेच्छ सुखों को प्राप्त भी करते हैं। यही उपनिषदों का सिद्धान्त है। देखो छान्दोग्य अ० ८। १। ६ तथा ८। २। १-१०॥

य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामाँस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

भोग्यलोकों का निदर्शन देखिये—छान्दोग्य उप० अ० ८ । २ । १–१०॥ स यदि पितृलोककामो भवति० । स यदि मातृलोककामो भवति० । स यदि गीतवादितलोककामो भवति० । अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते । यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ।

इसमें संदेह नहीं कि ये भोग्यलोक मुक्तात्मा के संकल्प बल से ही उत्पन्न होते और संकल्प द्वारा ही भोग्य हैं। कर्मफल रूप से भोग्य नहीं हैं। इसी तत्व को भगवान् बादरायण ने वेदान्तदर्शन अ० ४ । पा० ३ और ४ में भी दर्शाया है। पाठक उसका अध्ययन करें। इसी प्रकार मुक्तात्मा को स्वरूप 'पर ज्योति' की प्राप्ति है। उस दशा में भी लिखा है—

"एवमेवैष संप्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । स उत्तमः पुरुषः । स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा ।"

यहां भी ये सब रमण योग्य पदार्थ संकल्पसिद्ध ही हैं।

कइयों को संदेह है कि यहां 'स्वर्ग' शब्द मुक्ति का वाचक नहीं है। यह उनका भ्रम है। सुख प्राप्त कराने वाला लोक ही स्वर्ग है। मुक्ति में सुख होने से ब्रह्मलोक 'स्वर्ग' नाम से कहा गया है। इसी को 'सत्य' लोक भी कहा है जिसकी व्याख्या करते हुए छान्दोग्य उप० में लिखा है—

अथ य एष संप्रसादोऽस्मात शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि 'सतीयम्' इति तद् यत् सत्तदमृतमथ यत् 'ती' तन्मर्त्यम् । अथ यत् 'यं' तेन उभे यच्छति । यदनेन उभे यच्छति तस्माद् 'यम्' । अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति ।

इसी प्रकार और भी अधिक प्रमाण संग्रह किये जा सकते हैं। विस्तार-भय से नहीं लिखते। विद्वान् इतने से ही सन्तोष करेंगे। इति दिक् ॥

(२) आ०–'पुनर्दाय ब्रह्मजायां०' [का०१।सू० १६ १२] इसके भाष्य पर यह आक्षेप है कि स्त्री को पुनः दान करते समय उसके पुत्रादि सन्ततियाँ या सम्पत्ति का पूर्व पतियों में विभाग कैसा ! इससे एक स्त्री के बहु पतित्वादि दोष आते हैं।

समाधान -कन्या का पुनर्दान का विधान स्मृतिकारों की दृष्टि में अपूर्व नहीं है। पूर्व मन्त्र के भाष्य में कात्यायन का उद्धरण देखने योग्य है। सम्पन्न और पुत्रवती कन्याओं के पुनः दान के अवसर पर धन और सन्तति के लिये विवाद होना सम्भव हो सकता है। जैसे बृहस्पति की स्त्री तारा को पुन: बृहस्पति के हाथ देते समय पुत्र बुध के लिये चन्द्र ने विवाद किया और देवसभा ने उसका निर्णय किया। वह चन्द्र के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण चन्द्र का पुत्र कहाया। परन्तु क्षेत्र रूप से स्त्रीप्रायश्चित्त के बाद निर्दोष की जाकर बृहस्पति के हाथ पुनः दी गई। यद्यपि यह कथा पौराणिक एवं कल्पित है। तथापि ऐसी घटनाएं सम्भव हैं ? स्मृतियों (मनु९ ७६) में प्रोषित पति स्त्री को ३,६ ८,१२वर्षों की प्रतीक्षा के बाद अन्य पुरुष के वरण की आज्ञा है। यदि भाग्यवश उसका पूर्व पति पुनः आजाय और स्त्री पर अपना अधिकार करे तो वहां भी उसका निर्णय पृथ्वी के समान ही होगा। जिस प्रकार भूमि के नये स्वामी के हाथ में देने से पूर्व उसके विषय में उठने वाले पूर्व स्वामियों के विवादों को दूर करना एवं उस भूमि में उत्पन्न अन्नादि सम्पत्ति का विभाग करना आवश्यक है उसी प्रकार पुनः नये हाथों में स्त्री को देते समय पूर्व स्वीकृत पुरुषों के स्त्री से उत्पन्न पुत्रों एवं स्त्री के पास विद्यमान चर अचर सम्पत्तियों का विभाग करना एवं प्रायश्चित्त द्वारा शोधन करना आवश्यक है। [देखो याज्ञ० ३। ४५ पर मिताक्षरा]

अन्य पक्षों में इस मन्त्र की योजना नीचे लिखे रूप से जाननी चाहिये ।

पुनर्वै देवा०(म० १०)—(देवाः पुनः अददुः) वेदवाणी को विद्वान् गण शिष्यों को पुनः प्रदान करते हैं (मनुष्याः पुनः अददुः) मननशील पुरुष भी ज्ञानवाणी को पुनः प्रदान करते हैं (राजानः सत्यं गृह्णानाः) राजागण भी सत्य तत्व को ग्रहण करते हुए (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न करने वाली वेदवाणी का (पुनः ददुः) पुनः२ प्रदान करें । पृथिवी पक्ष में—(देवाः मनुष्याः) विद्वान् मननशील और (राजानः) तेजस्वी राजा सभी (सत्यं गृह्णानाः) सत्य धर्म को स्वीकार करते हुए (ब्रह्मजायाम्) धनैश्वर्य को उत्पन्न करने वाली भूमि को (पुनः ददुः) पुनः अपने अगले अधिकारियों के हाथ सौंपे ।

'पुनर्दाय०' म०(११)— ब्रह्मजायां पुनः दाय) वेदवाणी का पुनः २ प्रदान करके (देवैः) विद्वान् पुरुष (निष्किल्बिषम् कृत्वा) दोष रहित करके शुद्ध रूप में (पृथिव्या ऊर्जं भक्त्वा) पृथिवी के समान विशाल वेदवाणी के अन्नरस के समान बलवीर्य युक्त ज्ञान का सेवन करके (उरुगायम् उपासते) परमेश्वर की उपासना करते हैं ।

पृथिवी पक्ष में—(ब्रह्मजायां) धनैश्वर्य की उत्पादक पृथिवी को पुनः प्रदान करके (देवैः) दिव्य पदार्थ, वायु सूर्यादि द्वारा (पृथिव्याः ऊर्जं) पृथिवी से उत्पन्न अन्न रस को (निष्किल्बिषं कृत्वा) दोष रहित करके शुद्ध करके (भक्त्वा) पृथिवी के समान विशाल वेदवाणी के अन्न रस

के समान बलवीर्य युक्त ज्ञान का सेवन करके (उरु गायम् उपासते) वेदवक्ता या महान् आज्ञापक राजा के आश्रय लेते हैं।

अन्य विद्वान् जन भी वेद के संदिग्ध स्थलों पर यदि प्रकाश डालें तो उनके विचारों का हम अवश्य स्वागत करेंगे।

(३) आ०—(का० १२। सू०२। मं०५३। पृष्ठ२५६) एक यह आक्षेप है कि-मांसाहारी जीव काली भेड़ खाता है। क्या श्वेत भेड़ नहीं खाता।

समाधान—सीसे की गोली आदि से मारने के लिये मांसाहारी जीव को लुभाने के निमित्त भेड़ बकरी आदि काला पशु ही बांधा जाता है, श्वेत नहीं। चांदनी रात में श्वेत पशु नहीं दीखता, फिर निशाना कैसे लगेगा। इसलिये गोली से मारने और उसको नष्ट करदेने के लिये तो काला पशु ही चाहिये।

(४) आ०—आगे जो गृह्योक्त विधान का आधार इस मन्त्र को बतलाया है उससे क्या अभिप्राय है ?

समा०—वह केवल अपने प्रदर्शित भाष्य से गृह्योक्त अभिप्राय की तुलना करने के लिये लिखा है कि वह कितने अज्ञान की बात है।

स्थानाभाव से विशेष नहीं लिखते। जो इसी प्रकार की अन्यान्य शंकाएं हैं उनका समाधान विज्ञ पाठक स्वयं कर लेंगे।

(१०) उपसंहार

अभी और भी अथर्ववेद के नाना विषय हैं जिन पर विस्तार से लिखने से ही उनका पूर्ण भाव स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु प्रस्तुत खण्डों में स्थानाभाव से हम नहीं कर सके।

वेद पर किये गये आक्षेपों की विस्तृत आलोचना और उसके गूढ़ रहस्यों को विस्तार से प्रतिपादन करने के लिये बड़े विशाल ग्रन्थ की अपेक्षा है। जिसका लिखा जाना कदाचित् भविष्य काल के गर्भ में है।

अन्त में मैं विद्वान् महानुभावों से सप्रेम, सानुनय निवेदन करता हूँ कि मेरे इस श्रम में नितरां लाखों त्रुटियां होनी सम्भव हैं। अनेक स्थलों पर मेरे विचार अपरिपक्व होने सम्भव हैं। सर्व पक्षों में प्रकाश करने वाली ईश्वरीय अगाध वेदवाणी के परम तत्व को सर्वाङ्ग रूप से प्रकट करने में मानव तुच्छ बुद्धि का क्या सामर्थ्य? तो भी इतना ही निवेदन है कि विद्वान्‌जन मेरे इस प्रयास में विचार और भाषा सम्बन्धी और सिद्धान्त और प्रमाण सम्बन्धी जिन त्रुटियों को भी दर्शावेंगे या वेद मन्त्रों पर जो भी स्वतन्त्र विचार प्रकट करेंगे मैं उनके उस उपकार के लिये कृतज्ञ होऊंगा। यदि मेरे जीवन काल में इस ग्रन्थ का पुनः संस्करण हुआ तो उनको यथा-प्रमाण सुधार कर विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर सकूंगा। और इस वेदाध्ययनरूप तप और वेदचिन्तनरूप ज्ञान यज्ञ में सफल हो सकूंगा।

गुण ग्रहण करने में हंसस्वभाव को दर्शाने वाले महानुभाव गुण ग्रहण करने में तत्परता दिखावेंगे ही। यही सदा आशा है। और जो इस से विपरीत केवल दोष-दर्शन करके व्यर्थ के निन्दा और कलह के प्रवाह को बढ़ाने की चेष्टा करते हैं उनके प्रति हमारा यही निवेदन है कि—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि, तान् प्रति नैष यत्नः ॥

अन्त में:—भट्ट कुमारिल के शब्दों में—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।

नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

अजमेर, केसरगंज,
चैत्र शुक्ला चतुर्दशी,
१९८७ विक्रमाब्द

विद्वानों का अनुचर—
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ

विषयसूची ।

भूमिका ।

सूक्तसंख्या

अष्टादशं काण्डम् ।

एकोनविंशं काण्डम् ।

सूक्तसंख्या विषय	पृष्ठाङ्क

विंशं काण्डम् ।

अथर्ववेदसंहिता

अथाष्टादशं काण्डम् ।

[१] सन्तान के निमित्त पति-पत्नी का परस्पर व्यवहार ।

अथर्वा ऋषिः । यमो मन्त्रोक्ता वा देवताः । ४१,४२ सरस्वती । ४०, रुद्रः । ४०–४६,५१,५२ पितरः । ८,१५ आर्षीपंक्ती । १४,४९,५० भुरिजः । १८,२०, २१,२३ जगत्यः । ३७, ३८ परोष्णिक् । ५६, ५७, ६१ अनुष्टुभः । ५१ पुरो बृहती शेषास्त्रिष्टुभ् । एकाशीत्यृचं सूक्तम् ॥

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

ऋ० १० । १० । १ ॥

भा०—सन्तान का उद्देश्य । मैं स्त्री (सख्या) सखिभाव से प्रेरित हो कर (सखायं चित्) अपने आदर योग्य सखा के समान पति को (आ ववृत्याम् उ) ही स्वयं वरण कर चुकी हूं । और (पुरू) और महान् (अर्णवम् चित्) सागर के समान विस्तृत, काम्य जीवन को (तिरः) पार (जगन्वान्) जाने हारा (वेधाः) बुद्धिमान् पुरुष (अधि क्षमि) इस दुनियां में पृथ्वी के ऊपर या अपनी भूमिरूप जाया में (प्रतरम्) पुत्र

[१] १. (प्र०) 'आत्वा सखायः सख्या ववृत्युः' (द्वि०) 'अर्णवान् जगम्याः' (च०) 'अस्मिन् क्षये प्रतरं दीधानः ।' इति साम० ।

को ही भवसागर को तैरने के साधन (दीध्यानः) विचारता हुआ (पितुः) कन्या के पिता के (नपातम्) नाती या अपने पिता के (नपातम्) वंश को न गिरने देने हारे वंशकर्त्ता सन्तान को (अधि क्षमि) गर्भ धारण में समर्थ पत्नी में (आ दधीत) आधान करे।

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥२॥

ऋ० १० । १० । २ ॥

भा०—हे पत्नि ! (ते सखा) तेरा मित्रभाव से युक्त यह पति (एतत्) इस (सख्यम्) सख्य, मित्रता के भाव को (न वष्टि) क्या नहीं निभाना चाहता ? अर्थात् चाहता ही है (यत्) कि (सलक्ष्मा) समान सुख, शोभा और सौभाग्य से युक्त स्त्री (विषुरूपा) प्रजा आदि द्वारा बहुरूप (भवाति) हो जाय। क्योंकि (महः) बड़े (असुरस्य) बलवान् पुरुष के (वीराः) वीर्यवान् पुत्र ही (दिवः) द्यौलोक और (उर्विया) पृथिवी के (धर्तारः) धारण करने वाले (परि ख्यन्) देखे जाते हैं।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः ॥३॥

ऋ० १० । १० । ३ ॥

भा०—हे पते ! (ते) वे (अमृतासः) अमृत, मोक्ष में प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष (घ) भी (एतत्) यह (उशन्ति) कामना करते हैं कि (एकस्य मर्त्यस्य) प्रत्येक मनुष्य का (त्यजसं चित्) उत्तम पुत्र उत्पन्न हो। (ते मनः) तेरा मन (अस्मे मनसि) मेरे चित्त में ही (निधायि)

२—'सलक्ष्या' इति क्वचित्।

सकता है। तू (जन्युः) पुत्र जनन में समर्थ वीर्यसेक्ता (पतिः) मेरा पति होने के कारण तू ही (तन्वम्) मेरे शरीर में (आ विविश्याः) प्रविष्ट हो। मेरे साथ संग कर और पुत्र लाभ कर।

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥४॥
ऋ० १०।१०।४॥

भा०—सन्तान यौवन काल में न प्राप्त होने पर पति कहता है—कि (कत् ह) वह क्या शेष है (यत्) जो हमने (पुरा) पूर्व, यौवन काल में (न चकृम) नहीं किया अर्थात् सन्तान प्राप्ति के लिये सभी कुछ किया। (नूनम्) निश्चय से (ऋतम् वदन्तः) सत्य का भाषण करने वाले, सत्यवादी होकर हम क्या (अनृतम् रपेम) असत्य बोलें? जब (गन्धर्वः) गन्धर्व अर्थात् पुरुष भी (अप्सु) जलीय परमाणुओं का बना हो और (योषा च अप्या) स्त्री भी जलमयी हो अर्थात् स्त्री और पुरुष अग्नि और जल के स्वभाव के न होकर दोनों जल स्वभाव के, एक ही प्रकृति के हों तो (सा) वही जलीय प्रकृति (नौ) हम दोनोंकी (नाभिः) उत्पत्ति कारण है। (तत्) वही (नौ) हम दोनों में (परमं जामि) बड़ा दोष है जो सन्तान उत्पन्न होने में बाधक है।

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥५॥
ऋ० १०।१०।५॥

भा०—पत्नी निराश होकर कहती है। (नु) क्या (जनिता) उत्पादक परमेश्वर (नौ) हम दोनों को (गर्भे) गर्भ में ही (दम्पती कः) एक दूसरे का पति पत्नी बना देता है? वह परमात्मा (त्वष्टा) समस्त

४—(द्वि०) 'ऋता' (च०) 'सानौ' इति ऋ०।

प्रकार के प्राणियों का रचयिता (सविता) सब का उत्पादक (विश्वरूपः) अखिल विश्व अर्थात् जीवों का बनाने वाला है। क्या (अस्य) उस परमात्मा के (व्रतानि) बताये कर्म-व्यवस्थाओं को (नकिः प्रमिनन्ति) कोई भी नहीं तोड़ सकते? क्या (नौ) हम दोनों (अस्य) इस रहस्य के विषय में (वेद) जान सकते हैं? या (पृथ्वी उत द्यौः) पृथिवी और आकाश या माता और पिता दोनों ही (अस्य) उसके विषय में (वेद) जानते हैं।

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥६॥

ऋ० १।८४।१६॥

भा०—(अद्य) नित्य (ऋतस्य) इस गतिशील संसार और देह के (धुरि) भारवहन करने में समर्थ धुरे में (कः) कौन (शिमीवतः) क्रियाशक्ति से युक्त (भामिनः) तेजस्वी (दुर्हृणायून्) दुष्ट क्रोध या मृत्यु से युक्त प्रतापी (गाः) इन्द्रियों, प्राणों और सूर्य आदि को घोड़ों या बैलों के समान (युङ्क्ते) नियुक्त करता है या योग द्वारा वश करता है। ये (आसन् इषून्) मुख में गति करने वाले, (हृत्सु असः) हृदयों में विद्यमान् (मयोभून्) सुख के उत्पादक हैं। (यः) जो (एषाम्) इनके (भृत्याम्) भरण पोषण की क्रिया को (ऋणधत्) बढ़ाता है (सः जीवात्) वह दीर्घ काल तक जीता है।

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ७॥

ऋ० १०।१०।६॥

भा०—(अस्य) इस संसार के (प्रथमस्य अह्नः) प्रथम दिन के

६–(तृ०) 'आसन्नेषामप्सुवाहः' इति साम०।

७–'वीच्याः नॄन्' इति सायणाभिमतः पदपाठः।

विषय में (कः वेद) कौन जानता है? (इमम्) इस जगत् को बनते हुए भी (कः ददर्श) किसने देखा। (इह) इस विषय में (कः प्रवोचत्) कौन कह सकता है? (मित्रस्य) सब के स्नेही (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा (धाम) तेज, धारण सामर्थ्य भी (बृहत्) बड़ा भारी है। (नॄन्) सब मनुष्यों का (वीच्य) विवेक करके, हे (आहनः) हृदय पर चोट पहुंचाने या हृदय में प्रवेश करनेहारी प्रियतमे! तुम (क्व उ) क्या (ब्रवः) कह सकते हो।

यमस्य॑ मा य॒म्यं१॒॑ काम॒ आग॑न्त्समा॒ने योनौ॑ सह॒शेय्या॑य ।
जा॒येव॒ पत्ये॑ त॒न्वं॑ रिरिच्यां॒ वि चि॑द् वृहेव॒ रथ्ये॑व च॒क्रा ॥ ८ ॥
ऋ० १० । १० । ७ ॥

भा०—पति पत्नी आपस में विवाह के पूर्व काल के विषय में कहते हैं। पत्नी कहती है-(समाने योनौ) एक समान, पतिपत्नी भाव के योग्य (योनौ) स्थान में (सहशेय्याय) एक साथ शयन करने के लिये (मा यम्यम्) मुझ यमी ब्रह्मचारिणी को (यमस्य) यम ब्रह्मचारी के लिये (कामः) काम अर्थात् अभिलाषा (आगन्) हुई। और यह भी अभिलाषा हुई कि (पत्युः जाया इव) जिस प्रकार स्त्री अपने पति के लिये अपना शरीर अर्पण करती है उसी प्रकार मैं कौमार ब्रह्मचारिणी अपने (तन्वम्) शरीर को अपने अभिलषित ब्रह्मचारी कुमार के हाथों (रिरिच्याम्) सौंप दूं। और (रथ्या चक्रा इव) रथ में लगे दो चक्रों के समान हम दोनों एक गृहस्थ रथ में जुड़कर (वि वृहेव[1] चित्) एक दूसरे का भार उठालें, विवाह करें।

न ति॑ष्ठन्ति॒ न नि मि॑षन्त्ये॒ते दे॒वानां॒ स्पश॑ इ॒ह ये चर॑न्ति ।
अ॒न्येन॒ मदा॑हनो याहि॒ तूयं॒ तेन॒ वि वृ॑ह॒ रथ्ये॑व च॒क्रा ॥ ९ ॥
ऋ० १० । १० । ८ ॥

८—१. 'संवृहेवमहै' इति सायणः।

भा०—(इह) इस संसार में (ये) जो (देवानाम्) देवों, विद्वान् राजाओं के (स्पशः) सिपाही (चरन्ति) विचरते हैं वे (न तिष्ठन्ति) न कभी विश्राम लेते हैं और (न निमिषन्ति) न कभी झंपकते हैं। वे सदा सचेत रहते हैं। अतः उनके उत्तम राष्ट्र में और निरीक्षण में हे पुत्राभिलाषिणि! हे (आहनः) कटाक्ष से आघात करने वाली ! या हृदयंगमे प्रियतमे ! (मत्) मुझ पुत्रोत्पादन में असमर्थ मुझ पति से अतिरिक्त (अन्येन) अन्य के साथ (तूयं) शीघ्र (याहि) संग कर (तेन) उसके साथ ही (रथ्या चक्रा इव) रथ में लगे चक्रों के समान (वि वृह) परस्पर गृहस्थ-भार को उठा, संग कर।

रात्रीभिरस्मा अहंभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि॥१०॥(१)

ऋ० १० । १० । ९ ॥

भा०—वह परमात्मा (रात्रीभिः) बहुत सी रातों और (अहभिः) बहुत से दिन गुजर जाने पर स्वयं ही (अस्मै) इस पुरुष को (दशस्येत्) उसका मनोरथ पुत्र आदि दे दिया करता है। इसलिये सम्भव है कि (सूर्यस्य) सर्वप्रेरक उस परमेश्वर की (चक्षुः) दयामय दृष्टि, हम निरपत्य पति पत्नी पर (मुहुः) फिर भी (उत् मिमीयात्) पड़े। और हम (दिवा) प्रकाशमान सूर्य के और (पृथिव्या) पृथिवी के समान परस्पर (मिथुना) जोड़े बने हुए हम (सबन्धू) समान रूप से बन्धू होते हुए (यमीः) मैं पुनः संयमी, यमी अर्थात् व्रतनिष्ट होकर (यमस्य) व्रतनिष्ट तुझ पति के साथ (अजामि) दोषरहितरूप से (विवृहात्) संग करूं। चिरकाल तक यदि अपत्य उत्पन्न न हो तो स्त्री का विचार

९–१. (प्र०) 'निमिषन्त्येते' इति ऋ० ।

१०–(च०) 'विभृयात्' इति ऋ० । 'उन्निर्माल्यात्' इति ह्विटनिकामितः । 'आनिर्मायात्' इति तै० ब्रा० ।

होता है कि कुछ वर्षों में ईश्वर की कृपा दृष्टि से पुनः पुत्रलाभ हो। या सूर्य-पृथिवी के समान दोनों पति पत्नी परस्पर एकत्र रहकर भी ब्रह्मचारी और व्रती रह कर तप करें तो पुनः पुत्रोत्पन्न कर सकें।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १० । १० ॥

भा०—(ता) वे (उत्तरा) हमसे आगे आने वाले (युगानि) पति पत्नियों और वर-वधुओं के जोड़े (घ) भी निश्चय से (आगच्छान्) आने सम्भव हैं (यत्र) जिनमें से (जामयः) सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ, कन्यायें या पुत्र-वधुएँ भी (अजामि) दोष रहित सन्तान उत्पन्न (कृणवन्) करेंगी। इसलिये हे (सुभगे) उत्तम भाग्यशालिनि स्त्रि ! तू (वृषभाय) वीर्य सेचन में समर्थ, वीर्यवान् पुरुष के लिये (बाहुम्) अपनी बाहु को (उप बर्बृहि) सिरहाने के समान लगा, उसको सुखी कर और (मत्) मुझ सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ पुरुष से (अन्यत्) दूसरे पुरुष को (पतिम्) अपना पति, मेरी आज्ञा से (इच्छस्व) चाह।

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥

ऋ० १० । १० । ११ ॥

भा०—इस प्रकार नियोग अर्थात् आज्ञा पूर्वक अपने से अन्य पति कर लेने की आज्ञा देते हुए पुत्र उत्पादन में असमर्थ पति के प्रति स्त्री लज्जावश पुनः अपने पति को कहती है। हे प्रियतम ! (किम्) क्या (भ्राता असत्) आप भाई हैं (यत्) कि जिससे आप (अनाथम्) नाथ के समान नहीं (भवाति) आचरण करते ? और (किम् उ) क्या मैं भी (स्वसा)

आपकी भगिनी हूं कि परस्पर स्वयं पुत्र उत्पन्न करने में हमें (निर्ऋतिः) पाप (निगच्छात्) लगे ! यद्यपि मैं आपकी वर्त्तमान में पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थता, नपुंसकता एवं कुष्ठ आदि व्याधि के विषय में जानती हूं तो भी मैं (काममूता) आप के प्रति अति अभिलाषा से आविष्ट होकर (एतत् बहु) यह सब, बहुत कुछ (रपामि) कह रही हूं। मेरी इच्छा यही है कि (तन्वा) अपने देह से (मे तन्वम्) इस मेरे शरीर को (सं पिपृग्धि) भली प्रकार आलिंगन करो।

न ते॑ ना॒थं य॒म्यत्रा॒हम॑स्मि॒ न ते॑ त॒नूं त॒न्वा॒३ सं प॑पृच्याम् ।
अ॒न्येन॒ मत् प्र॒मुदः॑ कल्पयस्व॒ न ते॒ भ्राता॑ सुभगे वष्ट्ये॒तत् ॥१३॥

ऋ० १० । १० । १२ ॥

भा०—हे (यमि) यमि ! जितेन्द्रिये प्रियतमे ! अपनी अभिलाषा के पूर्ण न होने पर भी पति गृह में संयम से रहने वाली स्त्रि ! (ते नाथम्) तेरे पुत्र लाभ रूप, आशारूप प्रयोजन को (अहम्) मैं (न अस्मि) पूर्ण करने में समर्थ नहीं हूँ। और इसी कारण (ते तनूम्) तेरे शरीर के साथ अपनी (तन्वः) शरीर का (न सं पपृच्याम्) सम्पर्क नहीं कराता हूं। अतएव (मत् अन्येन) मेरे से दूसरे पुरुष के साथ अपने (प्रमुदः) हृदय के काम्य हर्षों को (कल्पयस्व) प्राप्त कर। हे (सुभगे) सौभाग्यवति! तेरे आक्षेप के अनुसार यह असमर्थ पति (ते भ्राता) तेरा भ्राता ही सही। वह (एतत्) यह शरीर सम्पर्क आदि कार्य को (न वष्टि) नहीं चाहता।

न वा उ॑ ते त॒नूं त॒न्वा॒३ सं प॑पृच्यां पा॒पमा॑हु॒र्यः स्वसा॑रं नि॒गच्छा॑त् ।
अ॒सं॒य॒दे॒तन्मन॑सो हृ॒दो मे॒ भ्राता॒ स्वसुः॒ शय॑ने॒ यच्छ॒यी॑य ॥ १४ ॥

ऋ० १० । १० । १२ प्र० द्वि० ॥

भा०—जब असमर्थ पति अपनी स्त्री को अपनी बहन के समान समझ

१४–'ते तन्वा तन्वं सम्' इति ऋ० ।

लेता है। तब वह इसी बुद्धि से कहता है—हे प्रियतमे! (ते तनूम्) तेरे शरीर को (तन्वा) अपने शरीर से (न वा उ सम् पपृच्याम्) अब एक इस पूर्व कथित वितर्क के कारण से भी नहीं सम्पर्क कराऊँगा, क्योंकि विद्वान् लोग इसको (पापम् आहुः) पाप कहते हैं कि (यः) जो वह (स्वसारम्) अपने बहन का (निगच्छात्) भोग करे। क्योंकि (यत्) यदि मैं (भ्राता) तेरे भाई सा होकर (स्वसुः) अपनी बहिन के (शयने) सेज पर (शयीय) सो जाऊँ तो (मे) मेरे (हृदः) हृदय और (मनसः) चित्त का (एतत्) यह (असंयत्) संयम का भंग है। अर्थात् संयम या तपस्या के कारण जो पति पत्नी में भाई बहिन की भावना हो तो भी स्त्री पुनः नियोग करे। "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस पराशर के विधान में 'प्रव्रजिते' इस का यही मन्त्र मूल है।

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥१५॥
ऋ० १० । १० । १३ ॥

भा०—हे (यम) यम! नियमवान् पुरुष! (बत) खेद है कि तू (बतः असि) तू निर्बल है। (ते मनः) तेरे मन और (हृदयम् च) हृदय को (न अविदाम) हम नहीं समझ पाये। (किल) क्या (त्वां) तुझ को (कक्ष्या इव युक्तम्) बगल की रस्सी जिस प्रकार जुते हुए घोड़े के संग चिपटी रहती है उसी प्रकार या (वृक्षम्) वृक्ष को (लिबुजा इव) लता जिस प्रकार आलिंगन करती है उस प्रकार (अन्या) कोई दूसरी स्त्री (त्वाम्) तुझको (परिष्वजातै) आलिंगन करती है जिससे तू मेरे से इस प्रकार अपना मन बचोरता है।

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १६ ॥
ऋ० १० । १० । १४ ॥

भा०—हे (यमि) यमि ! दृढ़व्रते (अन्यम् उ सु) तू अन्य पुरुषों को ही भली प्रकार आलिंगन कर और (त्वाम्) तुझको (अन्यः उ) दूसरा पुरुष ही (लिबुजा वृक्षम् इव) वृक्ष को लता के समान (परि स्वजाते) आलिंगन करे । (वा) अथवा (त्वम्) तू ही (तस्य मनः इच्छा) उसके चित्त की अभिलाषा कर और (सः वा तव) वह तेरे चित्त को चाहे । (अधा) और तू (सुभद्राम्) खूब कल्याणकारी (संविदम्) परस्पर सहमति (कृणुष्व) करले ।

बहुत से विद्वान् यम यमी को भाई बहिन मान कर उनका संवाद कराते हैं । महर्षि दयानन्द ने इसको पुत्रोत्पादन में असमर्थ पति और समर्थ पत्नी के बीच का सम्वाद स्वीकार किया है । वही अधिक युक्ति युक्त प्रतीत होता है । उसी को यहां दर्शाया है ।

परमेश्वर और वेदवाणी ।

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ १७ ॥

भा०—(त्रीणि) तीनों (छन्दांसि) छन्दः, वेद अर्थात् ऋक्, साम और यजुः, तीनों को (पुरुरूपम्) नाना प्रकार से विश्व में प्रकट होने वाले (विश्वचक्षणम्) विश्व के द्रष्टा (दर्शतम्) अति दर्शनीय परमेश्वर को लक्ष्य करके ही (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष (वि येतिरे) व्याख्या करते हैं, योजना करते हैं । तीनों वेद परमेश्वर पर किस प्रकार लगते हैं उसमें दृष्टान्त कहते हैं । जिस प्रकार (आपः) जल, (वाताः) नाना वायुएं और (ओषधयः) ओषधियें (तानि) वे सब (एकस्मिन्) एक ही (भुवने) भूलोक पर (अर्पितानि) आश्रित हैं, उसी प्रकार उस परमेश्वर के स्वरूप वर्णन में ही ऋग्वेद, सामगान और याज्ञुपकर्म तीनों आश्रित हैं ।

१५–(च०) 'स्वजाते' इति ऋ० ।

१६–(प्र०) 'अन्यामू षु त्वं यम्य न्य उ त्वान्'।(द्वि०) 'स्वजाते' इति ऋ०।

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः ।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ
ऋतून् ॥ १८ ॥ ऋ० १० । ११ । १ ॥

भा०—(वृषा) वर्षण करने में समर्थ, (यह्वः) महान् परमेश्वर (अदाभ्यः) नित्य अविनाशी (अदितेः) अखण्ड (दिवः) द्यौलोक से (वृष्णे) बलवान् वर्षण करने में समर्थ सूर्य के (दोहसा) दोहन करने के सामर्थ्य से (दुदुहे) दोहन करता है, रस वर्षण करता है । (सः) वह (वरुणः) वरुण-सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (यथा) जिस प्रकार से (विश्वम्) समस्त संसार को (धिया) ध्यान और धारण सामर्थ्य से (वेद) ठीक २ जानता है । उसी प्रकार (सः) वह (यज्ञियः) महान् यज्ञकर्त्ता (यज्ञियान्) यज्ञ, विश्वमय यज्ञ के करनेहारे ! (ऋतून्) ऋतुओं को (यजति) परस्पर संयुक्त करता है ।

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नुदस्य नादे परि पातु नो मनः ।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि
वोचति ॥ १९ ॥ ऋ० १० । ११ । २ ॥

भा०—(गन्धर्वी) गौ, वाणी को धारण करने वाली (अप्या च) और अप्=कर्म और ज्ञान को देने में हितकर या प्रजा की हितकर (योषणा) अप्या=जलमयी स्त्री के समान सेवन करने योग्य (नदस्य) अति समृद्ध ऐश्वर्यवान्, या स्तुत्य परमेश्वर के (नादे) ऐश्वर्य या महिमा के स्तवन में लगा कर इस प्राकृतिक अपार संसार में (नः) हमारे (मन) मनन सामर्थ्य की (परि पातु) सब प्रकार से रक्षा करे । वही (अदितिः) अखण्ड परमेश्वर की अखण्ड, नित्य वेद वाणी हमारे मन

१८–(च०) 'यजतु' इति ऋ० ।
१९–(द्वि०) 'पातुमे' इति ऋ० ।

को (इष्टस्य मध्ये) इष्ट, अभिलषित, हितकारी, सुखकर कार्य में (नि धातु) स्थापित करे । (नः) हम में से (प्रथमः) सब से श्रेष्ठ और (ज्येष्ठः) बड़ा, पूजनीय महान् परमेश्वर ही सब का (भ्राता) भरण पोषण करने हारा है । सब से प्रथम वही हमें (वि वोचति) नाना प्रकार से उपदेश करता है ।

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्ववती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥२०॥
(२) ऋ० १० । ११ । ३ ॥

भा०—(सा उ) वह वेदवाणी ही (चित् नु) निश्चय से (भद्रा) कल्याणकारिणी, सुखजनक, (क्षुमती) मन्त्रमय शब्द से युक्त (यशस्वती) वीर्यवाली (उषा) सर्व जगत् की प्रकाशक, उषा के समान सब पदार्थों को प्रकाश करने हारी (मनवे) मननशील पुरुष के लिये (स्ववती) अत्यन्त सुख और प्रकाशवती, ज्ञान देने हारी होकर (उवास) प्रकट होती है (यत्) क्योंकि विद्वान् पुरुष (उशताम्) नाना प्रकार की कामना करने वालों में से (ईम्) इस वेदवाणी की ही (उशन्तम्) कामना करने वाले (क्रतुम्) क्रिया-शील (अग्निम्) ज्ञानवान्, (होतारम्) दूसरे को भी ज्ञान प्रदान करने हारे विद्वान् को (विदथाय) वेदवाणी के ज्ञान के लिये (जीजनन्) उत्पन्न करते हैं ।

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे ।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत ॥२१॥
ऋ० १० । ११ । ४ ॥

भा०—(अध) और (त्यम्) उस (द्रप्सम्) रस रूप से

२१–(द्वि०) 'इषितः' इति ऋ० ।

आस्वादन करने योग्य (विभ्वम्) सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् (विचक्षणम्) विद्वान्, विविध रूप संसार के द्रष्टा उस परमेश्वर को (इषिरः) कामनावान्, दृढ़ इच्छावान् (श्येनः) ज्ञानवान् (विः) हंस रूप सुपर्ण, पारगामी आत्मा (आभरत्) प्राप्त होता है । और (यदी) जब (आर्याः) आर्य, श्रेष्ठ या गतिशील (विशः) प्रजाएं या तत्व के भीतर प्रवेश करने वाले जन या प्राणगण (दस्मम्) उस दर्शनीय (होतारम्) दानशील (अग्निम्) अग्निस्वरूप ज्ञानवान् गुरु, स्वयं-प्रकाश परमेश्वर या आत्मा को (वृणते) वरण करते हैं (अथ) तब (धीः) ध्यान वृत्ति या ज्ञान, विवेक बुद्धि (अजायत) उत्पन्न होती है ।

सदा॑सि र॒ण्वो यव॑सेव॒ पुष्य॑ते॒ होत्रा॑भिरग्ने॒ मनु॑षः स्वध्व॒रः ।
विप्र॑स्य वा॒ यच्छ॑शमा॒न उ॒क्थ्यो॒३ वाजं॑ ससवाँ उ॑प॒यासि॒ भूरि॑भिः ॥ २२ ॥
ऋ० १० । ११ । ५ ॥

भा०—(यवसा इव) जिस प्रकार घास भूसा आदि खाकर उससे पशु (पुष्यते) अपने पोषण करने वाले स्वामी के लिये दर्शनीय एवं आनन्द-जनक होता है उसी प्रकार हे (अग्ने) अग्ने ! प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू (सु अध्वरः) उत्तम, अविनाशी, अमृत, यज्ञरूप होकर (मनुषः) मनुष्य की (होत्राभिः) स्तुतियों के द्वारा (सदा) सर्वदा (रण्वः) रमणीय, आनन्दजनक (असि) बना रहता है ।

उदी॑रय पि॒तरा॑ जा॒र आ भग॒मिय॑क्षति हर्य॒तो हृ॒त्त इ॑ष्यति ।
विव॑क्ति॒ वह्निः॑ स्वप॒स्यते॑ म॒खस्त॑वि॒ष्यते॒ असु॑रो॒ वेप॑ते म॒ती ॥ २३ ॥
ऋ० १० । ११ । ६ ॥

भा०—(जारः) जार—रात्रि का विनाश करने वाला आदित्य (आ) जिस प्रकार (भगम्) अपने सेवन करने योग्य प्रकाश को

२२—(तृ०) 'उक्थ्यम्' इति ऋ० ।

सर्वत्र फैलाता है उसी प्रकार हे मनुष्य ! तू भी अपने (भगम्) ऐश्वर्य को (पितरौ) अपने माता पिता के प्रति (उत्-ईरय) प्रेरित कर, उनको प्रदान कर । जो पुरुष (इयक्षति) यज्ञ या पूजा करना चाहता है वह उनके प्रति (हर्यतः) परम अभिलाषावान् होकर पूजनीय इष्टदेव को (हृत्तः) अपने हृदय से (इष्यति) चाहा करता है । उसी अवसर पर (वह्निः) ज्ञान का वहन करने वाला, अग्नि के समान ज्ञानी परमेश्वर स्वयं (विवक्ति) नाना प्रकार के उपदेश करता है । और साथ (मखः) वह पूजनीय (सु-अपस्यते) शुभ कर्म में प्रेरित करता है और वह स्वयं (असुरः) प्राणों का प्रदाता (तविष्यते) बढ़ाता है और (मती) अपने स्तम्भन बल से (वेपते) दुष्टों को कंपाता है । या (मती=मत्या वेपते) अपने मति अर्थात् ज्ञान संकल्प से ही समस्त संसार को प्रेरित करता है ।

यस्ते॑ अग्ने सुम॒तिं मर्तो॒ अख्य॒त् सह॑सः सूनो॒ अति॒ स प्र शृ॑ण्वे ।
इषं॒ दधा॑नो॒ वह॑मानो॒ अश्वै॒रा स द्यु॒माँ अम॑वान् भूषति॒ द्यून् ॥२४॥

ऋ० १० । ११ । ७ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (यः) जो (मर्त्तः) मरणधर्मा पुरुष (ते) तेरे (सुमतिम्) ज्ञान का (अख्यत्) दूसरों को उपदेश करता है, हे (सहसः सूनो) बल के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! (सः) वह (अति) बहुत अधिक (प्र शृण्वे) सुना जाता है, प्रख्यात हो जाता है । वह पुरुष (इषम्) अन्न को (दधानः) धारण करता और (अश्वैः वहमानः) घोड़ों की सवारी करता है (सः) वह (द्युमान्) तेजस्वी और (अमवान्) बलवान् होकर (द्यून्) बहुत दिनों तक (भूपति) बना रहता है ।

श्रु॒धी नो॑ अग्ने॒ सद॑ने स॒धस्थे॑ यु॒क्ष्वा रथ॑म॒मृत॑स्य द्रवि॒त्नुम् ।

२४–(प्र०) 'अख्यत्' इति ऋ० ।

आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ २५ ॥

ऋ० १० । ११ । ६ ॥

भा०—हे (अग्ने) आत्मन् ! तू (नः) हमारी प्रार्थना को (श्रुधि) श्रवण कर । (सधस्थे) एकत्र होकर बैठने के योग्य (सदने) आश्रयस्थान में अपने (अमृतस्य) अमृत के (द्रविन्तुम्) प्रवहणशील, बढ़ाने वाले तीव्र (रथम्-रसम्) रस रूप आत्मानन्द को या अमृत आत्मा के रथ अर्थात् रमणीय रूप को (युङ्क्ष्व) युक्त कर । योग समाधिद्वारा प्राप्त कर । (देवपुत्रे) ज्ञानवान् पुरुष की रक्षा करने वाले या देव इन्द्रियों को पुत्र के समान पालने वाले (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के समान विस्तृत प्राण और अपान को (वह) धारण कर और तू (देवानाम्) देव अर्थात् इन्द्रिय गणों में से (माकिः अप भूः) कभी दूर न हो प्रत्युत (इह) उनके बीच में ही सदा सुखी (स्याः) बना रह । अर्थात् अपने सब उत्तम प्राण सामर्थ्यों सहित बना रह ।

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र ।
रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात्
॥ २६ ॥		ऋ० १० । ११ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! हे (यजत्र) यजनीय, उपास्य ! (देवेषु) देवों, प्राणों में (यजतान्) उपासनीय, देवपूजा के योग्य (यत्) जब (एषा) यह प्रत्यक्ष (देवी) तेजोमयी ज्योतिष्मती (सम्-इतिः) परस्पर एकत्र स्थिति, एकाग्रता (भवाति) हो जाती है और (यत्) जब हे (स्वधावः) स्वतः अपनी धारण शक्ति से सम्पन्न, सर्व शक्तिमन् ! तू हमें (रत्ना) नाना रमणीय योग्य पदार्थ (विभजासि) नाना प्रकार से विभाग करता है तब (अत्र) इस लोक में (वसुमन्तम्) अति ऐश्वर्य युक्त (भागम्) सेवनीय अंश (नः) हमें (वीतात्) प्रदान कर ।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० ७ । ८२ । ४ ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान॥२८॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० ७ । ८२० । ५ ॥

द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा ।
देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन्॥२९॥
ऋ० १० । १२ । १ ॥

भा०—(द्यावा ह क्षामा) द्यौ और पृथिवी, पिता माता (प्रथमे) सबसे प्रथम (सत्यवाचा) सत्यवाणी युक्त (ऋतेन) सत्य ज्ञानमय वेद से (अभिश्रावे) प्रकट (भवतः) होते हैं । (यत्) जब (देवः) परमेश्वर (मर्त्तान्) मनुष्यों को (यजथाय) उपसाना या अपने प्रति संगति लाभ करने के लिये (कृण्वन्) प्रेरित करता है तब वह (स्वम्) अपने आप को (असुम्) सबके प्रेरक प्राणरूप से (यन्) व्याप्त होकर (होता) सबको अपने भीतर ग्रहण करके (प्रत्यङ्) गुप्त रूप से (सीदत्) विराजता है ।

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥ ३० ॥ (३) ऋ० १० । १२ । २ ॥

भा०—(देवः) परमेश्वर (देवान्) समस्त देवों, दिव्यगुण के पदार्थों के (परिभूः) ऊपर अधिष्ठाता रूप से विराजमान है । हे पर-

२९—ऋग्वेदे हविर्धान आङ्गिर्ऋषिः । 'अभिस्रावे' इति क्वचित् ।

मेश्वर ! आप (चिकित्वान्) सर्वज्ञ (प्रथमः) सब से पूर्व विद्यमान् रह कर (नः) हमें (ऋतेन) सत्यज्ञान से अपने (हव्यम्) स्तुति करने योग्य स्वरूप को (वह) प्राप्त करा। आप अग्नि के समान (समृद्धवा) अति अधिक दीप्ति से (धूमकेतुः) समस्त बन्धनों को तोड़नेवाले ज्ञान से सन्दग्ध (भाऋजीकः) कान्ति से कान्तिमान, अति भास्वर (मन्द्रः) आनन्दघन, (होता) समस्त जगत के दाता और ग्रहीता (नित्यः) नित्य, अविनाशी (वाचा) वाणी अर्थात् वेद वाणी द्वारा (यजीयान्) सबसे अधिक उपासना करने योग्य हैं।

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम्
॥ ३१ ॥　　ऋ० १० । १२ । ४ ॥

भा०—हे (द्यावाभूमी) द्यौ और भूमि पिता और माता ! हे (घृतस्नू) घृत=प्रकाश से आत्मा को स्नान करानेवाले, हे (रोदसी) प्राणों पर वश करने हारे, प्राण और अपान के समान दोनों (मे शृणुतम्) मेरी स्तुति श्रवण करो। मैं (अपः वर्धाय) ज्ञान और कर्म की वृद्धि के लिये (अर्चामि) आप दोनों की स्तुति, उपासना करता हूँ। (अह) और (यद्) जब (देवाः) देव, इन्द्रियगण (असुनीतिम्) प्राण की शक्ति को (आयन्) प्राप्त होते हैं तब (अत्र) इस लोक में (पितरौ) आप दोनों पालक होकर (नः) हमें (मध्वा) मधुर आनन्द रस से (शिशीताम्) आह्लादित करते हैं।

स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥ ३२ ॥
ऋ० १० । १२ । ३ ॥

३१—'अहा यद् यद द्यावो ऽसुनीतिमयन्' इति ऋ०।

भा०—(यदि) जब (देवस्य) प्रकाशमान (गोः) सूर्य से उत्पन्न (सु आवृक्) उत्तम रीति से सबके मन को लुभानेवाले (अमृतम्) अमृतमय प्राण शक्ति को (अतः) इस लोक से (जातासः) उत्पन्न जीव (उर्वीम्) इस पृथ्वी पर (धारयन्ते) धारण करते हैं। और (यत्) जब (एनी) प्रकाशमयी द्यौ ही (दिव्यम्) दिव्य (घृतम्) सरणशील (वाः) जल को (दुहे) दोहती है (तत्) उसको ही (ते) वे (विश्वेदेवाः) समस्त देवगण (अनु यजुः) उसी की संगति लाभ करते और उसी के (अनु गुः) पीछे २ चलते हैं।

किं स्वि॑न्नो॒ राजा॑ जगृहे॒ कद॒स्याति॑ व्र॒तं च॑कृमा॒ को वि वे॑द ।
मि॒त्रश्चि॒द्धि ष्मा॑ जुहुरा॒णो दे॒वाञ्छ्लोको॒ न या॒ताम॑पि॒ वाजो॒ अस्ति॑ ॥ ३३ ॥ ऋ० १० । १२ । ५ ॥

भा०—(राजा) राजा के समान सर्वोपरि विराजमान परमेश्वर (नः) हमें (किंस्वित्) क्योंकर (जगृहे) पकड़ता है ? वह क्यों देहबन्धनों में डालता है ? (अस्य) उसके बनाये (व्रतम्) किस व्रत अर्थात् नियम व्यवस्था को (कत्) कब (अति चक्रम) हम अतिक्रमण करते हैं। इस बात को (कः वि वेद) भलीभांति कौन जानता है ? (देवान्) देव=विषयों में रमण क्रीड़ा करते हुए जीवों को (जुहराणः) कुछ कुटिलता करता हुआ उनको उनके अपराधों का दण्ड देता हुआ भी उनका (मित्रः चित् हि स्म) वह निश्चय से मित्र ही है। वह (श्लोकः) सबका स्तुति योग्य ईश्वर (याताम् अपि वा) क्या यहाँ से देह छोड़ कर परलोक में जानेवालों का (वाजः न अस्ति) एकमात्र बल और आश्रय नहीं है ?

दु॒र्मन्त्व॒त्रामृत॑स्य॒ नाम॒ सल॑क्ष्मा॒ यद् विषु॑रूपा॒ भवा॑ति ।
य॒मस्य॒ यो म॒नव॑ते सु॒मन्त्व॑ग्ने॒ तमृ॑ष्व पा॒ह्यप्र॑युच्छन् ॥ ३४ ॥ ऋ० १० । १२ । ६ ॥

भा०—(अत्र) इस संसार में (अमृतस्य) अमृत आत्मा का

(नाम) नाम अर्थात् स्वरूप (दुर्मन्तु) समझ लेना बड़ा कठिन है। वह बड़ी मुश्किल से समझ में आता है। अर्थात् आत्मा का तत्व 'दुर्विज्ञेय है। (यत्) क्योंकि (सलक्ष्मा) समान लक्षणों वाली जीव जाति या प्रकृति ही इस संसार में (विषुरूपा) नाना रूप की (भवाति) हो जाती है। और फिर (यमस्य) यम अर्थात् सर्वनियन्ता परमेश्वर के स्वरूप को जो विद्वान् (सुमन्तु) सुख से जानने योग्य, सुगम (मनवते) मान लेता है हे (ऋष्व) महान् दर्शनीय! हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर! (तम्) उस तत्वदर्शी को (अप्रयुच्छन्) विना प्रमाद के (पाहि) रक्षा कर।

यस्मि॑न् दे॒वा वि॒दथे॑ मा॒दय॑न्ते वि॒वस्व॑तः॒ सद॑ने धा॒रय॑न्ते ।
सूर्ये॒ ज्योति॒रद॑धुर्मा॒स्य१॒॑क्तून् परि॑ द्योत॒निं च॑रतो॒ अज॑स्रा ॥२५॥
ऋ० १० । १२ । ७ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस (विदथे) प्राप्त करने योग्य या ज्ञानस्वरूप परमेश्वर में (देवाः) ज्ञानी पुरुष (मादयन्ते) हर्ष और आनन्द प्राप्त करते हैं। और वे जिसके आश्रय पर रह कर (विवस्वतः) विवस्वान्, नाना प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त परमेश्वर के (सदने) सदन या शरण में (धारयन्ते) अपने आप को स्थित करते हैं। उस (सूर्ये) सबके प्रेरक सूर्य के सूर्य समान प्रकाशक परमेश्वर में ही (ज्योतिः अदधुः) परम प्रकाश की कल्पना करते हैं। उसी (मासि) सबके निर्माण कर्ता प्रभु में (अक्तून्) चन्द्र में रात्रियों के समान समस्त व्यक्त होने वाले पदार्थों को (अदधुः) आश्रित मानते हैं और (द्योतनिम् परि) जिस प्रकाशवान् के आश्रय पर (अजस्रा) निरन्तर गतिशील सूर्य और चन्द्र दोनों भी (चरतः) अपने अपने मार्ग में गति कर रहे हैं।

यस्मि॑न् दे॒वा मन्म॑नि सं॒चर॑न्त्यपी॒च्ये३ न व॒यम॑स्य वि॒द्म ।
मि॒त्रो नो॒ अत्रादि॑ति॒रना॑गान्त्सवि॒ता दे॒वो वरु॑णाय वोचत् ॥२६॥
ऋ० १० । १२ । ८ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस (मन्मनि) मनन योग्य (अपीच्ये) सबके लय होने के स्थान या परम दर्शनीये या परम गुप्त, गूढ़तम परमेश्वर में (देवाः) ज्ञानी, विद्वान् पुरुष (संचरन्ति) विचरते हैं (अस्य) उसके विषय में (वयम्) हम स्थूल बुद्धि के पुरुष (न विद्म) नहीं जानते, हम उस तक नहीं पहुँचते। (अत्र) इस संसार में (अनागान्) अपराध रहित (नः) हमारा (मित्रः) मित्र (अदितिः) अखण्डनीय, अविनश्वर (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (देवः) परमेश्वर, देव ही (वरुणाय) उसको वरण करनेहारे भक्त या साधक के प्रति (वोचत्) ज्ञान का उपदेश करता है।

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे ॥३७॥ साम० १।३६०॥ ऋ० ८।२४।१॥

भा०—हे (सखायः) मित्रगण ! हम लोग (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् (वज्रिणे) परम शक्तिमान्, परमेश्वर की उपासना के लिये (ब्रह्म) महान्, वेद ज्ञान की (आशिषामहे) कामना करते हैं। और उसी (नृतमाय) सर्व नरश्रेष्ठ, सबके सर्वोत्तम नायक, (धृष्णवे) सबके धर्षण करने वाले, शक्तिमान् की (उ) ही (सु स्तुषे) उत्तम रीति से स्तुति करता हूँ।

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा।
मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ ३८ ॥ ऋ० ८ । २४ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! तू (वृत्रहत्येन) आवरणकारी, ज्ञान के विघ्नरूप 'वृत्र' के नाश कर देने में समर्थ (शवसा) बल से (श्रुतः असि) सर्वत्र प्रसिद्ध है। तू ही (मघोनः) परमैश्वर्यवाले समस्त धनाढ्य

३७–(प्र०) 'शिषामहि' (तृ०) 'ऊषु वः' इति ऋ०।
३८–'शृतः' इति क्वचित्। 'वृत्रहत्येव' इति सायणाभिमतः।

पुरुषों को (सर्वैः) सबों से ऐश्वर्यों को भी देता है तू, हे (शूर) शूर वीर्यवन्! (अति) अतिक्रमण करके (दाशसि) समस्त जीवों को जीवन, अन्न और धन प्रदान करता है।

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ३९ ॥ ऋ० १०।३१।९ ॥

भा०—हे परमात्मन्! (स्तेगः न) गर्जन करता हुआ मेघ या सूर्य या तीव्रगामी वेग से जानेवाला हरिण जिस प्रकार (पृथिवीम्) बड़ी भारी (क्षाम्) पृथिवी को पार करता हुआ चला जाता है, इसी प्रकार तू भी इस (पृथिवीम् क्षाम्) विशाल जीवों के निवास योग्य संसार पदवी को (अति एषि) लांघ कर बैठा है। चाहे (इह) इस (भूमौ) भू-लोक में (नः) हमारे लिये (मही वाताः) बड़े २ प्रचण्ड वायु चलें। (नः) तो भी हमारा (वरुणः) वरण, सर्वश्रेष्ठ और सब दुःखों का वारक (मित्रः) सर्वस्नेही परमेश्वर (युज्यमानः) समाधि द्वारा साक्षात् होकर (वने अग्निः न) वन में दहकनेवाले अग्नि के समान (शोकम्) अपने परम तेज को (वि असृष्ट) नाना प्रकार से रचता है, प्रकट करता है। अर्थात् प्रचण्ड वायु के झकोरों में भी उस परमेश्वर के जलाये हुए ज्ञान-दीपक कभी नहीं बुझते। स्तेगः=बहुत सम्भवत हरिण। अंग्रेजी में stag [स्टैग] इसी का अपभ्रंश हो।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥ ४० ॥ (४) ऋ० २।३३।११ ॥

३९—(प्र०) 'पृथि पृथ्वीं', 'मिह न वातो विहवातिभूम' (तृ०) 'मित्रो यत्र', 'अज्यमानोऽग्नि' इति ऋ०।

भा०—हे पुरुष ! तू (श्रुतम्) वेद में उपदेश द्वारा श्रवण करने योग्य, (गर्त्तसदम्) गर्त्त, अर्थात् हृदयरूप गुहा में विराजमान (जनानां राजानम्) उत्पन्न होने वाले प्राणियों के राजा, स्वामी, (भीमम्) भयानक, दण्डकर्त्ता (उपहत्नुम्) सब को दुष्ट कर्मों के दण्ड देनेवाले (उग्रम्) अति बलवान् उस परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति इस प्रकार कर । 'हे (रुद्र) सब पापियों को रुलाने हारे ! तू (स्तवानः) स्वयं स्तुति योग्य (जरित्रे) स्तुति करने हारे ज्ञानी पुरुष को (मृड) सुखी कर । (ते) तेरी (सेन्यम्) सेनायें (अस्मत् अन्यम्) हमसे दूसरे अर्थात् शत्रु का (नि वपन्तु) विनाश करें ।

सरस्वती रूप से परमेश्वर की स्तुति ।

सर॑स्वतीं देव॒यन्तो॑ हवन्ते॒ सर॑स्वतीमध्व॒रे ता॒यमा॑ने ।
सर॑स्वतीं सु॒कृतो॑ हवन्ते॒ सर॑स्वती दा॒शुषे॒ वार्यं॑ दात् ॥ ४१ ॥

ऋ० १० । १७ । ७ ॥ अथर्व० १८ । ४ । ४५ ॥

भा०—(देवयन्तः) देव परमेश्वर की उपासना और कामना करते हुए विद्वान् पुरुष (सरस्वतीम्) सरस्वती रूप परमेश्वरी वाणी का (हवन्ते) पाठ करते हैं । और (अध्वरे) यज्ञ के (तायमाने) होते हुए याज्ञिक पुरुष भी उसी (सरस्वतीम्) सरस्वती, वेदवाणी और प्रभु के रसवान् स्वरूप को स्मरण करते हैं । (सुकृतः) उत्तम पुण्याचरण करने वाले पुरुष भी (सरस्वतीम्) सरस्वती की (हवन्ते) उपासना करते हैं । वह (सरस्वती) आनन्दमयी प्रभु शक्ति (दाशुषे) आत्मसमर्पण करनेवाले

४०—(प्र० द्वि०) 'सद युवानं मृगं न भीम' (च०) 'अन्य ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः' इति ऋ० ।

४१—(तृ०) 'अहृयन्त' इति ऋ० । ४१, ४२ एषामृग्वेदे देवश्रवायामायन ऋषिः ।

को (वार्यम्) अपने वरण करने योग्य स्वरूप या परम ऐश्वर्य का (दात्)
प्रदान करती है ।

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥४२॥

ऋ० १० । १७ । ६ प्र० द्वि० ८ तृ० च० ॥ अथर्व० १८ । ४ । ४६ ॥

भा०—(पितरः) पालक पिता पितामह और देश के अधिकारी लोग भी (यज्ञम्) यज्ञ के (दक्षिणा) दक्षिण दिशा में (अभि नक्षमाणाः) विराजमान होकर (सरस्वतीम्) सरस्वती, वेद वाणी को या गृहस्थी माता पिता स्त्री को (हवन्ते) स्वीकार करते हैं । हे पुरुषो आप लोग (अस्मिन्) (बर्हिषि) इस महान् यज्ञ में (आसद्य) बैठ कर (मादयध्वम्) हर्ष और आनन्द प्राप्त करो । हे सरस्वती ! तू (अस्मे) हमें (अनमीवाः इषः) रोग रहित अन्नों का (आ धेहि) प्रदान कर ।

योषा वै सरस्वती वृषा पूषा । शं० २ । ५ । १ । ११ ॥ वाग्वि सरस्वती । ऐ० ३ । २ ॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४३ ॥

ऋ० १० । १७ । ८ प्र० द्वि०, ६ तृ० च० ॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वति, रसकी भरी नदिया के समान या हे स्त्रि ! (या) जो तू (उक्थैः) सबसे कहने योग्य, प्रशंसनीय आत्मा के या गृहपति स्वरूप (स्वधाभिः) स्व=आत्मा को धारण करने वाले (पितृभिः) शरीर के पालक प्राणों के,या गृह के पालक बुजुर्गों के साथ (मदन्ती) हर्षित करती हुई या तृप्ति करती हुई (अत्र) इस शरीर या गृह में

४२–'सरस्वतीं याम् पि–' (तृ०) 'मादयस्व' इति ऋ० ।

४३–(च०) 'यजमानेषु' (प्र० द्वि०) 'ययाथ स्वधाभिः' इति ऋ० ।

(इडः) अन्न के (सहस्रार्घम्) सहस्र गुणा मूल्य के (भागं) अंश को और (रायः पोषम्) धनकी वृद्धि को (यजमानाय) यजमान आत्मा के निमित्त (धेहि) प्रदान कर ।

पितृगण का वर्णन ।

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४४ ॥

ऋ० १० । १५ । १ ॥ यजु० १९ । ४९ ॥

भा०—(अवरे) अवर, हम से छोटे पुत्र, पौत्रादि (सोम्यासः) ज्ञान रूप सोम का पान करने वाले शिष्य, विद्यार्थी जन (उत् ईरताम्) उन्नति की तरफ चलें, ऊंचे उठें । (परासः) पर, हमसे बड़े सौम्य स्वभाव, सुशील, ज्ञानवृद्ध आचार्य गण भी (उत् ईरताम्) ऊंचे पद को प्राप्त करें । (मध्यमाः सोम्यासः पितरः) मध्यम बीच के, ज्ञान वान्, पालकजन भी (उत् ईरताम्) उन्नति को प्राप्त करें । (ये) जो (असुम्) प्राण को (ईयुः) प्राप्त हैं अर्थात् जो भी प्राण धारण करते है (ते) वे (अवृकाः) भेड़िये के समान क्रूर और चौर्य, पाखण्ड वृत्ति न होकर (ऋतज्ञाः) सत्य वेद के जानने हारे होकर (पितरः) हमारे पालक रूप से (हवेषु) संग्रामों में भी (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें ।

आहं पितॄन्त्सुविदत्रॉं अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥४५॥

ऋ० १० । १५ । ३ ॥

भा०—(अहम्) मैं (सुविदत्रान्) उत्तम ज्ञानी (पितॄन्) गुरुओं, पालक आचार्यों, कुलपतियों को (आ अवित्सि) प्राप्त करूं और

४४–ऋग्वेदे शङ्खोयामायन ऋषिः । पितरो देवताः ।

४५–(तृ०) 'स्वधयाये' इति मैं० सं० ।

इसी प्रकार (नपातम्) वंश को चलाने वाले तन्तु को न गिरने देने वाले, पुत्र आदि को भी प्राप्त करूं। और (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (विक्रमणम्) नाना प्रकार के सृष्टि-कार्य का भली प्रकार जानूं। और (ये) जो (बर्हिषदः) बर्हि-महान् ब्रह्म में निष्ठ होकर (स्वधया) आत्मा की धारणा शक्ति से (सुतस्य) निष्पादित (पित्वः) अन्न के समान स्वयं उत्पादित उत्तम कर्म के श्रेष्ठ फल का (भजन्त) भोग करते हैं (ते) वे (इह) यहां, इस लोक में (आगमिष्ठाः) आवें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥ ४६ ॥
ऋ० १० । १५ । २ ॥ यजु० १९ । ६८ ॥

भा०—(अद्य) अब, आज, इस काल में (ये पूर्वासः) जो पूर्व के और (ये अपरासः) जो पीछे के (ईयुः) इस लोक में आये हैं उन सभी (पितृभ्यः) प्रजापालकों का (इदम् नमः) हम इस प्रकार आदर करें। और उनका भी आदर करें (ये) जो (पार्थिवे रजसि) पृथिवी सम्बन्धी रजस् अर्थात् लोक में (आ निषत्ताः) अच्छी प्रकार प्रतिष्ठा पूर्वक विराजते हैं और (ये वा) जो (नूनम्) निश्चय से (सुवृजनासु) उत्तम रीति से वर्गी कृत, विभक्त (दिक्षु) दिशाओं-देशों या देश वासी प्रजाओं में (आ निषत्ताः) अच्छी प्रकार राजा आदि पदों पर अविष्ठित हैं।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥
ऋ० १० । १४ । ३ ॥

४६–(द्वि०) उपरासः । (च०) 'विक्षु' इति ऋ० । (द्वि०) 'यपरासः परेयुः' (च०) 'सुवृजिनासु विक्षु' इति पैप्प० सं० । 'विक्षु', 'वृक्षु', 'दिविक्षु' इत्यपि पाठाः क्वचित् ।

४७–(च०) 'स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति' इति ऋ०, तै०सं०, मै०सं० ।

भा०—(मातली) ज्ञानों को प्राप्त करने वाला (कव्यैः) उत्तम उपदेशकर्त्ता, अध्यापक एवं शिक्षकों विद्वानों से (यमः) नियामक, व्यवस्थापक नेता (अंगिरोभिः) विद्वान्, पदाधिकारियों द्वारा और (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक विद्वान् (ऋक्वभिः) पूजनीय वेदज्ञों द्वारा (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त होता है। (यान् च) जिनको (देवाः) देव, राजागण (वावृधुः) बढ़ाते हैं उन्नति का पद देते हैं और (ये च) जो (देवान्) देवों, विद्वानों और राजा को बढ़ाते है (ते) वे राष्ट्र और देश के पालक जन (हवेषु) युद्धों में (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें।

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन संहत आहवेषु ॥ ४८ ॥
ऋ० ६ । ४७ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह सोम आनन्दरस (किल) निश्चय से (स्वादुः) स्वादु है। (उत अयम् मधुमान्) और यह मधुर भी है। (उत अयम् तीव्रः) और यह तीव्र, अति तीक्ष्ण भी है। (किल अयम् रसवान्) अति आनन्दरस से पूर्ण है। (उतो नु) और क्या कहें ! बड़ी भारी बात तो यह है कि (अस्य) इसके (पपिवांसम्) पान करने हारे या पालन करने हारे (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् इन्द्र आत्मा को (कश्चन) कोई भी (आहवेषु) युद्धों में (न सहते) पराजित नहीं करता।

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ ४९ ॥
ऋ० १० । १४ १ ॥

४८—ऋग्वेदे गर्ग ऋषिः।

४९—(प्र०) 'महीरनु' (च०) 'हविषा दुवस्य' इति ऋ०। 'दुवस्यत' (प्र०) 'परेयुवांस' (द्वि०) 'अनपस्पशानम्' तै० आ०। (प्र०)

भा०—हे मनुष्यो ! (महीः प्रवतः) बड़े दूर २ के देशों तक में (परियावांसम्) पहुंचे हुए, व्यापक (इति) और इसी प्रकार (बहुभ्यः) बहुतों को (पन्थाम्) मार्ग का (अनुपस्पशानम्) उपदेश करने हारे (जनानाम्) सब जनों के (संगमनम्) एक मात्र उत्तम शरण, (वैवस्वतम्) विशेष ऐश्वर्यवान् (यमम् राजानम्) सर्वनियामक, सर्व में विराजमान, सब के राजा, प्रभु, परमात्मा को (हविषा) ज्ञान या स्मरण द्वारा (सपर्यत) उपासना करो ।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः
॥ ५० ॥ (५) ऋ० १० । १४ । २ ॥

भा०—(यमः) सर्वनियन्ता, यम, परमेश्वर ही (नः) हमारे अगले (गातुम्) गमन करने के मार्ग को (प्रथमः) सब से पहले (विवेद) विशेष रूप से, खूब अच्छी प्रकार जानता है । (एषा) यह (गव्यूतिः) मार्ग (न अपभर्त्तवा उ) परे भी किया नहीं जा सकता । (यत्र) जहां (नः) हमारे (पूर्वे पितरः) पूर्व पिता, पितामह आदि पुरुष लोग (परेताः) मर कर गये हैं, और (एना) इन २ (स्वाः) अपने (पथ्याः) हितकारी प्राप्तव्य मार्गों या लोकों को प्राप्त होकर (जज्ञानाः) उत्पन्न हुआ करते हैं उनको भी वह परमेश्वर भली प्रकार जानता है ।

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।

'महीरति' इति शं० पा० । 'महीरनु' सायणाभिमतः । ऋग्वेदे यमऋषिः । यमो देवताः ।

५०—(तृ०) 'परेयुः' इति ऋ० । (च०) 'येना जज्ञानाः' इति सायणाभिमतः ।

त आ गतावसा शंतमेनाधा नः शं योररपो दधात ॥ ५१ ॥

ऋ० १० । १५ । ४ ॥ यजु० १९ । ५५ ॥

भा०—रक्षक पालक पुरुषों का आदर स्वीकार करने का उपदेश करते हैं । हे (बर्हिषदः) बर्हि कुशा के आसनों या ब्रह्म या यज्ञ में उच्च आसनों पर बैठने वाले ! हे (पितरः) पालक पिता तुल्य पूज्य पुरुषो ! आप लोगों के लिये (इमा) ये नाना प्रकार के (हव्या) अन्नों को हम (चकृम) तैयार करते हैं । (जुषध्वम्) आप इनका प्रेम से उपभोग करें । (ते) वे आप लोग (शंतमेन) अति कल्याण और सुखकारी (अवसा) अपने रक्षा प्रबन्ध सहित (शं) शान्ति और (योः) निर्भयता या अभय (दधात) स्थापन करो

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद् व आगः पुरुषता कराम॥५२॥

ऋ० १० । १५ । ६ ॥ यजु० १९ । ६२ ॥

भा०—हे पालक पितृ लोगो ! आप लोग (जानु आ अच्य) गोड़ों को कुछ सिकोड़ कर (दक्षिणतः) हमारे दायें ओर (निषद्य) बैठ कर (नः इदं हविः) हमारा यह अन्न (विश्वे) आप सब लोग (अभि-गृह्णन्तु)[1] खावें, स्वीकार करें । और हे (पितरः) पालक वृद्ध पुरुषो ! (वः) आप लोगों के प्रति हम लोग (यत्) जो (आगः) अपराध (पुरुषता) मनुष्य होने होने के कारण (कराम) करें ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (नः) हमें (मा हिंसिष्ट) पीड़ित न

५१–(च०) 'अधा' इति ऋ०, यजु० । 'अधास्मभ्य' तै० सं० । 'दधातन' इति मै० सं० ।

५२–(द्वि०) 'इमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे'

१. विकरण व्यत्ययः ।

करें । देश के रक्षक लोग प्रजा से अन्न रूप कर लें, परन्तु उनको मनुष्यता के कारण होनेवाले साधारण त्रुटियों पर पीड़ित न करें ।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ५३ ॥
ऋ० १० । १७ । १ ॥

भा०—(त्वष्टा) समस्त जगत् का स्रष्टा, (दुहित्रे) समस्त लोकों को पूर्ण करने वाली या कामधेनु के समान ईश्वर के लोक सर्जन की इच्छा को पूर्ण करनेवाली प्रकृति से (वहतुम्) इस महान् ब्रह्माण्ड रूप भार को जिसको वह स्वयं उठाये हैं (कृणोति) बनाता है । (तेन) उसी कारण (इदम्) यह (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) लोक (सम् एति) बना हुआ है । (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर की (माता) जगन्निर्मात्री प्रकृति (परि-उह्यमाना) सब प्रकार से धारण की गई वह (महः जाया) बड़ी भारी उत्पादक शक्ति (विवस्वतः) विविध रूपों में बने लोकों के स्वामी उस प्रभु की शक्ति से ही (ननाश) विकार को प्राप्त होती है, अर्थात् अप्रकट से प्रकट और सूक्ष्मरूप से स्थूल में आती है ।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥५४॥
ऋ० १० । १४ । ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (पूर्याणैः) पुर को जाने वाले मार्गों के समान पूर्ण ब्रह्म तक पहुंचा देनेवाले उन (पथिभिः) मार्गों से (प्र-इहि, प्र-

५३–'कृणोति इतीदं' इति ऋ० ।

५४–'पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रानः पूर्वे पितरः परेयुः ।' (तृ०) 'राजाना', 'मदन्ता' इति ऋ० ।

इहि) नित्य आगे बढ़ (येन) जिनसे (ते) तेरे (पूर्वे पितरः) पूर्व के गोत्रपरिपालक, पूर्व पुरुषा (परेताः) चल गये हैं । तू (उभौ) दोनों (राजानौ) प्रकाशमान (स्व-धया मदन्तौ) अपनी धारण शक्ति अमृत-मयी चेतना से आनन्द करते हुए (यमम्) सर्वनियामक यमस्वरूप और (वरुणम्) वरण करने योग्य सबसे श्रेष्ठ परमात्मा (देवम्) देव को भी (पश्यति) देख सकता है ।

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ५५ ॥

ऋ० १० १४ ९ ॥ यजु० १२ । ४५ ॥

भा०—(अतः) इस लोक से हे जीव ! तुम (अप इत) दूर जाते हो । (वि इत) नाना दिशाओं में जाते हो,(वि सर्पत च) और विविध प्रकारों से जीवन यात्रा करते हो । (पितरः) पालक, पूर्व पुरुषा लोगों ने (अस्मै) इस अपने उत्तराधिकारी के लिये ही (एतम् लोकम्) यह लोक भोगने के लिये (अक्रन्) बनाया है । (यमः) सर्वनियन्ता पर-मेश्वर (अहोभिः) दिनों (अद्भिः) जलों और (अक्तुभिः) रात्रियों से (वि-अक्तम्) विशेष रूप से कान्तियुक्त (अवसान्) इस भूलोक को (अस्मै) इन जीवों के निवास के लिये (ददाति) देता है ।

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! हम (त्वा) तेरी (उशन्तः) कामना करते हुए, तुझे चाहते हुए (इधीमहि) तुझे हो प्रदीप्त करते हैं, हृदय में तुझे चेताते हैं । और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए (सम् इधी मही)—

५५–(च०) 'ददात्ववसा'–तै० आ० । (द्वि०) 'यत्रस्य पुराणा येत्र नूतनाः' ।
५६–(प्र०) 'निधीमह्य–' इति ऋ० । हवामहे, मै० सं० ।

तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करते हैं। हे (उशन्) कान्तिमय, हे सर्वकाम! तू ही (उशतः) नाना कामना करते हुए (पितॄन्) सर्वपालक, पिता पितामह आदि को (हविषे अत्तवे) अपने प्राप्त कर्म फल के भोग करने के लिये (आ वह) अन्य लोक को प्राप्त करा, पहुँचा।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥

भा०—हे परमेश्वर! हम स्वयं (द्युमन्तः) तेजस्वी होकर (त्वा इधीमहि) तुझे प्रज्वलित करें। हम (द्युमन्तः) तेजस्वी होकर (सम्-इधीमहि) भली प्रकार प्रज्वलित, हृदय में प्रबोधित करते हैं, तेरी ज्योति जगाते हैं। तू (द्युमान्) स्वयं तेजस्वी (पितॄन् द्युमतः) तेजस्वी पूर्व पुरुषों को (हविषे अत्तवे) हवि अर्थात् स्वयंप्राप्त कर्मफल के भोग के लिये (आ वह) प्राप्त करा।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५८ ॥
ऋ० १०। १४। ६ ॥ यजु० १९। ५० ॥

भा०—(नः) हमारे (पितरः) पालक पूज्य, पुरुष (अंगिरसः) जलते अंगारों के समान तेजस्वी (नवग्वाः) सदा नवीन, हृदय ग्राहिणी स्तुतियों से पूर्ण वाणियों को बोलने हारे, (अथर्वाणः) अहिंसक, प्रजापति (भृगवः) पापों को भून डालने वाले और (सोम्यासः) सोम रस, ज्ञान और ब्रह्मानन्द का रस पान करनेवाले, सौम्य स्वभाव वाले हों। (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) श्रेष्ठ यज्ञ अर्थात् परमेश्वरोपासकों की (सुमतौ) शुभ मति में और उनकी (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम सुप्रसन्न चित्तता में (वयम्) हम सदा (स्याम) रहें।

५७–(प्र०) 'हवामहे' इति सायणः।

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेस्मिन् वर्हिष्या निषद्य ॥ ५९ ॥
ऋ० १० । १४ । ५ ॥

भा०—(यज्ञियैः) यज्ञ के उपासक ! (अंगिरोभिः) सूर्य के ब्रह्मज्ञानी, तेजस्वी पुरुष के साथ, हे (यम) नियन्ता वैज्ञानिक, राजन् ! (इह) इस लोक में (आगहि) तू आ, प्रकट हो । और (वैरूपैः) नाना रूपों से (इह) इस लोक में (मादयस्व) तू ही समस्त प्राणियों के सुख का कारण है । मैं उपासक (वर्हिषि) यज्ञ में या महान् ब्रह्म में या कुशासन पर (आ निषद्य) बैठकर उस (विवस्वन्तम्) नाना वसु-लोकों के स्वामी परमेश्वर को (हुवे) पुकारता हूं, उसका स्मरण करता हूं जो (ते) तेरा भी (पिता) पालक पिता है ।

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषो मादयस्व
॥ ६० ॥
ऋ० १० । १४ । ४ ॥

भा०—हे (यम) यम ! राजन् ! (अंगिरोभिः) आंगिरस वेद के ज्ञाता (पितृभिः) राष्ट्र के पालक, पिता के समान पूजनीय पुरुषों के साथ (सं विदानः) राष्ट्र-व्यवस्था की मन्त्रणा करता हुआ तू (प्रस्तरम्) उत्तम बिछे हुए आसन पर (हि) ही (आरोह) आरूढ़ हो । (कविशस्ताः) क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा उपदेश किये गये (मन्त्राः) नीति उपदेश (त्वा) तुझ को (आवहन्तु) आगे के उचित मार्ग पर ले जांय । हे (राजन्) राजन् ! (एना) इन

५९–(च०) 'अस्मिन् यज्ञे आ' (प्र०) 'अंगिरोभिरागहि यज्ञयेभिः' इति ऋ० ।

६०–'अतिसीद', 'हविषः' इति० ऋ० ।

विद्वान् पुरुषों को (हविषः) उत्तम अन्न और आदर से प्रदत्त पुरस्कारों से (मादयस्व) प्रसन्न रख।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥६१॥ (६) साम० १।९२॥

भा०—(यथा पथा) जिस तरह के मार्ग से (अङ्गिरसः) ज्ञानी पुरुष (भूर्जयः) इस भूलोक को या भूः अर्थात् जन्म ग्रहण करने रूप भव-बन्धन को विजय करके (द्याम्) प्रकाशस्वरूप द्यौः या मोक्ष में (प्र-ययुः) प्रयाण करते हैं उसी प्रकार के मार्ग से जो लोग (दिवः) प्रकाशमान तेजोमय (पृष्ठानि) लोकों को (आरुहन्) जाते हैं (एते) वे (इतः) इस लोक से ही (उत्-आरुहन्) ऊपर जाते हैं।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र एकं सूक्तं ऋचश्चैकषष्टिः]

[२] पुरुष को सदाचारमय जीवन का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। यमो मन्त्रोक्ताश्च बहवो दवताः। ४, ३४ अग्निः, ५ जातवेदाः, २९ पितरः। १,३,६,१४,१८,२०,२२,२३,२५,३०,३६,४६,४८,५०,५२, ५६ अनुष्टुभः, ४,७,९,१३ जगत्यः, ५,२६,३९,५७ भुरिजः,। १९ त्रिप-दार्ची गायत्री। २४ त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री। ३७ विराड् जगती। ३८, ४४ आर्षीगायत्र्यः (४०,४२,४४ भुरिजः) ४५ ककुम्मती अनुष्टुप्। शेषाः त्रिष्टुभः। षष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥ ऋ० १०।१४।१३॥

६१—(च०) 'उद्-धाम्' इति साम०।

[२] १—(प्र०) 'सोमं सुनुत' (द्वि०) 'जुहुता' इति ऋ०। (तृ०) 'गच्छतु'

भा०—(यमाय) यम, नियम व्यवस्था के करने हारे, राजा प्रभु के निमित्त (सोमः) सोम रस (पवते) छाना जाता है। (यमाय हविः क्रियते) यम-राजा के लिये ही हवि अर्थात् अन्न उत्पन्न किया जाता है। (यज्ञः) यज्ञ, राष्ट्र (अग्निदूतः) ज्ञानवान् पुरुषों को अपना दूत प्रतिनिधि बन कर और (अरंकृतः) सुभूषित, सुशोभित होकर (यमं ह गच्छति) नियामक राजा की शरण में आता है।

परमात्मा के पक्ष में—सर्वनियन्ता परमेश्वर की आज्ञा के निमित्त ही (सोमः-पवते) सोम, प्रेरक सूर्य गति करता है। उस नियन्ता के लिये ही (हविः) यज्ञ हवि तैयार की जाती है। अग्नि से प्रज्वलित यज्ञ भी परमेश्वर के निमित्त ही रचा जाता है।

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ २ ॥
ऋ० १० । १४ । १५ ॥

भा०—(यमाय) उस सर्वनियन्ता परमेश्वर के लिये ही (मधुमत् तमम्) अति मधुर वचन का (जुहोत) एक दूसरे के प्रति प्रदान करो। (च प्र तिष्ठत) एक दूसरे के देशों को प्रस्थान करो (पूर्वजेभ्यः) पूर्व उत्पन्न (ऋषिभ्यः) ऋषियों और (पूर्वेभ्यः) अपने पूर्व काल के (पथिकृद्भ्यः) मार्गविधाताओं, मार्गद्रष्टाओं को (इदम्) इस प्रकार से (नमः) आदर किया करो।

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥ ऋ० १०।१४।१४॥

इति तै० आ०। (च०) 'अलंकृतः' इति सायणाभिमतः।
२–(द्वि०) 'राज्ञे हव्यं जुहोतन' इति ऋ०।
३–(द्वि०) 'जुहोता प्र च तिष्ठता' (प्र०) 'घृतवद् हविः' इति ऋ०

भा०—हे पुरुषो ! (यमाय) सर्वनियन्ता (राज्ञे) राजा के समान सब के राजा प्रभु परमेश्वर के लिये (घृतवत्) घृत से युक्त (पयः) पुष्टिकारक दुग्ध और (हविः) अन्न आदि (जुहोतन) अग्नि और उसके समान विद्वान् तेजस्वी ब्राह्मण को प्रदान करो। (सः) वह सर्वनियन्ता परमेश्वर (नः) हमें और हमारे (जीवेषु) जीवों में (दीर्घम् आयुः) दीर्घ जीवन को (आ यमेत्) प्रदान करे और वह (जीवसे) जीवन के लिये हमें (प्र यमेत्) सब पदार्थ प्रदान करे।

आचार्य और शिष्य का कर्त्तव्य

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितॄँरुप ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १६ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! आचार्य ! (एनम्) इस शिष्य को (मा वि दहः) मत जला। (मा अभि शूशुचः) संतप्त मत कर (अस्य त्वचम्) इसकी त्वचा को (मा चिक्षिपः) मत काट फाट, और (शरीरम्) इसके शरीर को भी (मा चिक्षिपः) मत विनाश कर। हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ ! विद्वन् ! (यदा) जब इसको (शृतम्) परिपक्व, पूर्ण ज्ञानवान् (करसि) करदे (अथ) तब (ईम् एनम्) उस शिष्य को (पितॄन् उप) माता पिताओं के समीप (प्रहिणुतात्) भेज।

(तृ०) 'स नो देवेष्वायमद्।'

४-(तृ०) 'यदो शृतं कृणवो' (प्र०) 'मा विशोचः' (च०) 'पितृभ्यः' इति ऋ०। (च०) 'अथेमेम' इति क्वचित्। (प्र०) 'करवः' इति तै० आ०।

यदा शृतं कृणवो जातवेदोथेमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥५॥

ऋ० १० । १६ । २ ॥

भा०—हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ! विद्वन् आचार्य! (यदा) जब आप शिष्य को (शृतम्) ज्ञान में परिपक्व (कृणवः) कर देते हो (अथ) और (इम् एतम्) इसको (पितृभ्यः परिदत्तात्) इसके माता पिता और वृद्धजनों को सौंप देते हो और (यदो) जब वह (एताम्) इस प्रकार के (असु-नीतिम्) असत् आचार में (गच्छाति) चला जाय (अथ) तभी वह (देवानां) विद्वान् शासकों के (वशनीः) वश में जाने योग्य (भवाति) हो जाय। अथवा—(यदो असु-नीतिम् एताम् गच्छाति) जब तक प्राणों के अपहार को प्राप्त हो अर्थात् मरणकाल को प्राप्त हो तब भी वह (देवानां वशनीः भवाति) अपने देव-इन्द्रियों को वश में करने वाला ही रहे। अर्थात् गृहस्थ में भी पुरुष अपने मृत्यु पर्यन्त जितेन्द्रिय होकर ही रहे।

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १४ । १६ ॥

भा०—(एकम् इत् बृहत्) वह एक ही सब से महान् ब्रह्म तत्व (त्रिकद्रुकेभिः) तीन 'कद्रुक', गुणों से (षट् उर्वीः) छहों महान् दिशाओं में (पवते) व्याप्त हो रहा है। (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् और गायत्री आदि (छन्दांसि) छन्द (सर्वा) सब (ता) वे (यमे) उस नियन्ता परमेश्वर में (आ-अर्पिता) गतार्थ हैं।

५-१ 'शृतं यदा करसि' इति ऋ० ।
६-(प्र०) 'पतति' (च०) 'आहिता' इति ऋ० ।

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥७॥

ऋ० १० । १६ । ३ ॥

भा०—हे पुरुष (चक्षुषा) अपने चक्षु द्वारा (सूर्यम्) सूर्य के प्रकाश को (गच्छ) प्राप्त कर, आंख मे तेज का ग्रहण कर। (आत्मना) अपने शरीर मे (वातम्) प्राण वायु को ग्रहण कर। (धर्मभिः) शरीर के धारक वर्गों द्वारा (दिवम्) द्यौः-आकाश और (पृथिवीम् च) पृथिवी को भी (गच्छ) प्राप्त कर, अपने वश कर। (अपः वा गच्छ) तू जलों को भी प्राप्त कर। और (यदि) जो कुछ (तत्र) उन (ओषधीषु) ओषधियों में भी (ते) तेरे लिये (हितम्) हितकर पदार्थ विद्यमान है तो उसको भी प्राप्त कर। फलतः तू (शरीरैः) अपने आप्त शरीरों मे (प्रति तिष्ठाः) लोकों में प्रतिष्ठित होकर रह।

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥८॥

भा०—हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ परमात्मन्, आचार्य! (अजः भागः) अज, अजन्मा जीवात्मा ही शरीर में दुःख सुख का सेवन करता है। अतः तू उसे ही (तपसः) तप, ज्ञान, स्वाध्याय और प्रवचन और तपस्या द्वारा (तपस्व) सन्तप्त कर, उसको तपोमय आचरण करा। (तम्) उस आत्मा को ही (ते शोचिः) तेरी ज्ञान रूप ज्वाला या प्रकाश (तपतु) तप्त करे (तम्) उसको (ते अर्चिः) तेरी दीप्ति प्रकाशित करे। हे ईश्वर! (ते) तेरे (याः) जो (शिवाः) कल्याणकारी (तन्वः) रचित पदार्थ या देह हैं (ताभिः) उनसे (एनम्) इस जीव को

७-(प्र०) 'चक्षुर्गच्छतु', 'आत्मा' (द्वि०) 'द्यां', 'धर्मणा' इति ऋ०। 'सूर्यं ते' तै० आ०।

(सुकृताम्) पुण्यकर्त्ताओं के (लोकम् वह) लोक को प्राप्त करा। सायणादि ने इस मन्त्र में मृतशव के लिये बकरे या अनुस्तरणी नाम गौ को मार कर होमने परक अर्थ किया है जो असंगत है।

यास्ते॒ शोच॑यो॒ रंह॑यो जातवेदो॒ याभि॑रापृ॒णासि॒ दिव॑म॒न्तरि॑क्षम्।
अ॒जं यन्त॒मनु॒ ताः समृ॑ण्वता॒मथेत॑राभिः शि॒वत॑माभिः शृ॒तं कृ॑धि॥९॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमेश्वर! (ते) तेरी (याः) जो (शोचयः) ज्वालाएं और (रंहयः) वेगवती शक्तियां हैं और (याभिः) जिनसे (दिवम्) द्यौः और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (आपृणासि) सर्वत्र व्याप रहा है, पूर रहा है। (ताः) वे सब (अनुयन्तम्) उनके अनुकूल रहने वाले (अजम्) इस आत्मा को (सम् ऋण्वताम्) भली प्रकार सुख रूप से प्राप्त हों। (अथ) और (इतराभिः) उनसे दूसरी, प्रतिकूल, कष्टमय प्रतीत होने वाली परन्तु (शिवतमाभिः) अति कल्याणकारिणी शक्तियों से उस आत्मा को बराबर (शृतं कृधि) परिपक्व, सहनशील, तपस्वी बना।

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धावा॑न्।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ यातु॒ शेषः॒ सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ सु॒वर्चाः॑॥१०॥(७)

ऋ० १०। १६। ५॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् आचार्य! (यः) जो (स्वधावान्) स्व अर्थात् आत्मा या शरीर को धारण पोषण करने वाले वीर्य से युक्त होकर (ते) तेरे समीप (आहुतः) अपने को सर्वापंग करके (चरति) ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करे तू उसके (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पिता, माता

९-(च०) 'शिवं कृधि' इति ह्विटनिसम्मतः, बहुत्र च।
१०-(तृ०) 'वेतु' (द्वि०) 'स्वधाभिः', (च०) 'तन्वा जातवेदः' इति ऋ०। तत्रैव 'उपयातु शेषम्' इति तै० आ०।

भा०—हे (यम) सर्वनियन्तः ! (ते) तेरे (यौ) जो दो (चतुरक्षौ) चारों तरफ आंख फेंकने वाले, सावधान (रक्षितारौ) रक्षा करने हारे (पथिषदी) मार्ग में विराजने वाले (नृचक्षसौ) सब मनुष्यों को देखने वाले, (श्वानौ) सदा गतिशील रात्रि और दिन हैं। हे (राजन्) राजन्, सर्वोपरि विराजमान ! (ताभ्यां) उन दोनों से (एनम्) इस पुरुष को (परि धेहि) सब तरफ से रक्षा कर। और (अस्मै) इस पुरुष को (स्वस्ति) सुखपूर्वक और (अनमीवं च) नीरोग (धेहि) रख।

उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १३ ॥

भा०—(उरूणसौ=उरुनासौ) महान् शब्द करने हारे (असुतृपौ) सब प्राणियों के प्राणों से तृप्त होने वाले या सब प्राणियों को प्राणों से तृप्त करने वाले (उदुम्बलौ=उरुबलौ) अति बलवान् (यमस्य) नियन्ता परमेश्वर के (दूतौ) दो दूत, प्राणियों के ताप देने वाले रात और दिन (जनान् अनुचरतः) प्राणियों के सदा साथ २ चला करते हैं। (तौ) वे दोनों (अस्मभ्यम्) हमें (सूर्याय) सब के प्रेरक परमात्मा के (दृशे) दर्शन के लिये (पुनः) बार २ (अद्य इह) यहां, इस लोक में (भद्रम्) कल्याणकारी, सुखप्रद (असुम्) प्राण, जीवन (दाताम्) प्रदान करें।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १४ ॥

भा०—(एकेभ्यः) किन्हीं विद्वानों के लिये (सोमः पवते) सोम=

१२—(द्वि०) 'पथिरक्षी नृचक्षसौ' (तृ०) 'ताभ्यामेनं परिदेहि राजन्' (च०) 'स्वस्ति चा' ।

सोममय ब्रह्मरस बहता है। (एके घृतम् उपासते) और कोई विद्वान् 'घृत=आदित्य या यजुर्वेद प्रतिपादित तेजोमय ब्रह्म की उपासना करते हैं। (येभ्यः) जिनके लिये (मधु) मधु=अथर्व प्रोक्त ब्रह्मज्ञान (प्रधावति) प्रवाहित होता है। हे पुरुष! तू (तान् चित्) उन पूज्य पुरुषों के पास (अपि गच्छतात्) सत्संग लाभ किया कर और ज्ञान प्राप्त कर।

यत्सामानि सोम एभ्यः पवते...यद् यजूंषि घृतस्य कुल्याः। यद् अथर्वांगिरसो मधोः कुल्याः॥ इति तै० आ० २। १०। ३॥

ये चि॒त् पूर्व॑ ऋ॒तसा॑ता ऋ॒तजा॑ता ऋ॒ता॒वृधः॑।
ऋषी॑न् तप॑स्वतो यम तपो॒जाँ अपि॑ गच्छतात्॥ १५॥

भा०—हे (यम) यम नियम और ब्रह्मचर्य में निष्ठ ब्रह्मचारिन्! (ये) जो (पूर्वे चित्) पूर्व के या परिपूर्ण ज्ञाननिष्ठ (ऋतसाताः) तप और स्वाध्याय में संलग्न, (ऋतजाताः) ऋत=सत्य ज्ञान में उत्पन्न, प्रसिद्ध (ऋतावृधः) सत्य, ब्रह्मज्ञान को बढ़ाने, उपदेश करके उसकी वृद्धि करने वाले ऋषि लोग हैं उन (तपस्वतः) तपश्चर्या से युक्त, तपस्वी, (ऋषीन्) तत्त्वदर्शी (तपोजान्) तपोनिष्ठ महर्षियों को (अपि गच्छतात्) प्राप्त हो और उनसे ज्ञान प्राप्त कर।

तप॑सा ये अ॑नाधृ॒ष्यास्तप॑सा ये स्व॒र्य॒युः।
तपो॒ ये च॑क्रि॒रे मह॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥ १६॥

भा०—हे पुरुष! (ये) जो (तपसा) तप से (अनाधृष्याः) असह्य अजेय तेजवाले हैं और (ये) जो (तपसा) तप के बल से (स्वः) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हैं और (ये) जो (महः) महान् (तपः) तप (चक्रिरे) करते हैं (तान् चित् एव अपि) उन पूज्य पुरुषों के पास भी तू (गच्छतात्) जा।

ये युध्य॑न्ते प्र॒धने॑षु शूरा॑सो ये त॑नू॒त्यजः॑।
ये वा॑ स॒हस्र॑दक्षिणा॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥ १७॥

भा०—और हे पुरुष ! (ये) जो (शूरासः) शूरवीर पुरुष (प्रधनेषु) युद्ध के अवसरों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और (ये) जो (तनूत्यजः) अपने देहों को भी त्याग देने में समर्थ हैं (ये च) और जो (सहस्र-दक्षिणाः) सहस्रों धन सम्पत्ति दक्षिणा रूप में दान करने में समर्थ हैं (तान् चित् एव अपि गच्छतात्) तू उनको भी प्राप्त कर । उनका भी सत्संग कर और शिक्षा ले ।

सहस्रंणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।

ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १८ ॥

भा०—(सहस्रणीथाः) सहस्रों अपरिमित ज्ञान-चक्षुओं वाले (कवयः) परम प्रज्ञा से सम्पन्न विद्वान् लोग ये (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर को, उसके ज्ञान भण्डार को (गोपायन्ति) रक्षा करते हैं, उसका अध्ययन करते हैं। हे (यम) ब्रह्मचर्यपालक यम ! नियम में निष्ठ पुरुष! ऐसे (तपस्वतः) तपस्वी (तपोजान्) तप में निष्ठ (ऋषीन् अपि गच्छतात्) ऋषियों को भी प्राप्त हो और उनसे ज्ञान लाभ कर ।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।

यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (अस्मै) इस पुरुष के लिये तू (स्योना) सुखकारिणी (अनृक्षरा) कांटों से रहित (निवेशनी) बसने योग्य (भव) हो और अस्मै (सप्रथाः) अति विस्तृत होकर (शर्म यच्छ) सुखमय शरण प्रदान कर ।

असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।

स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥२०॥ (८)

१८—नीयते सनीथः नयनं वा । नयतेरौणादिकः क्थन् । उणा० २।२।

भा०—हे पुरुष! तू (पृथिव्याः) पृथिवी के (असंबाधे) पीड़ा और भय से रहित (उरौ लोके) बड़े विशाल लोक में (निधीयस्व) निवास कर। तू (जीवन्) जीता रह कर अपने जीवन काल में (याः) जो भी (स्वधाः) अपने धारण, पालन, पोषण और रक्षा के उपाय (चकृषे) करे (ताः) वे सब (ते) तुझे (मधुश्चुतः) आनन्द-रस बहाने वाले हों। वे तेरे लिये परिणाम में दुःखकर न हों।

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः॥२१॥

भा०—हे पुरुष! (मनसा) मन से (ते मनः) तेरे चित्त को (ह्वयामि) बुलाता हूं। तू (इमान् गृहान्) इन गृह के सम्बन्धियों को (जुजुषाणः) निरन्तर प्रेम करता हुआ (उप एहि) प्राप्त हो, उनके पास आ। और (पितृभिः) अपने बुजुर्ग, माता पिताओं से (संगच्छस्व) जाकर सत्संग लाभ कर, उनके दर्शन कर। (यमेन) सर्वनियन्ता राजा या प्रभु से भी (संगच्छस्व) भेंट कर। (त्वा) तेरे लिये (स्योनाः) सुखकारी (शग्माः) शान्तिदायक (वाताः) वायु (उपवान्तु) बहा करें।

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति॥२२॥

भा०—हे पुरुष! (उदवाहाः) जल उठाने वाले और (उदप्रुतः) जलों से पूर्ण (मरुतः) वायुएं, अथवा—(उदवाहा उदप्रुताः) जल को वाहन बनाने और जल के मार्ग से गति करने वाले (मरुतः) वैश्यगण (त्वा उद् वहन्तु) तुझे ऊपर प्रतिष्ठा-पद पर उठावें। और (अजेन वर्षेण) निरन्तर गति करने वाले, निरन्तर आने वाले धारा-वर्षण से (शीतम्) सर्वत्र शीत=ठण्डक (कृण्वन्तः) करते हुए मेघयुक्त वायुएं (बाल् इति उक्षन्तु) 'बाल' इस प्रकार के शब्द के साथ भूमि पर जल बरसावें।

उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।

स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितृँरुप द्रव ॥ २३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (आयुषे) दीर्घजीवन, (क्रत्वे) कर्म, (दक्षाय) बल और (जीवसे) आरोग्य जीवन के लिये (आयुः) प्राप्त करने का (उत्-अह्वम्) उपदेश करता हूं । (ते मनः) तेरा चित्त (स्वान्) अपने बन्धुजनों के प्रति (गच्छतु) जावे (अधा) और तू स्वयं भी (पितॄन्) माता पिता आदि वृद्ध पूज्य पुरुषों के पास जा और उनसे विद्या और अनुभव प्राप्त कर ।

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।

मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मनः) तेरा मन (मा हास्त) तुझे न छोड़े । (असोः) प्राण का (किंचन मा) कुछ भी अंश तुझे न छोड़े । (ते अङ्गानां किञ्चन मा) तेरे अंगों का भी कुछ अंश तुझे न छोड़े । (इह ते तन्वः किंचन मा हास्त) यहां तेरे शरीर का कोई भाग भी तुझसे न छूटे ।

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।

लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥

भा०—(वृक्षः) वृक्ष जाति (त्वा) तुझको (मा संबाधिष्ट) पीड़ा न दे । (मही पृथिवी देवी) बड़ी यह पृथ्वी देवी भी (मा) तुझे पीड़ा न पहुंचावे । तू (यमराजसु) यम-नियन्ता परमेश्वर को ही एकमात्र अपना राजा मानने वाले या नियामक राजा को राजा मानने वाले (पितृषु) पालक, देशरक्षकों में (लोकं वित्वा) स्थान पाकर (एधस्व) वृद्धि को प्राप्त हो ।

यत् ते अङ्गमतिंहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु ॥२६॥

भा०—अंग भङ्ग आदि विपत्ति और रोग आदि पर क्या करें । हे पुरुष ! (ते) तेरा (यत्) जो (अङ्गम्) अंग, शरीर का कोई भाग (पराचैः) दूर (अतिर्हितम्) चला गया है, कष्ट पा गया है (वा) या (अपानः) अपान (प्राणः) और प्राण (ते) तेरा (परा इतः) दूर हो गया है (तत्) तब (सनीडाः) एकही आश्रयस्थान में रहने वाले (पितरः) परिपालक वृद्ध लोग (संगत्य) मिलकर एकत्र होकर (घासात्) अपने भोग्य अन्न पदार्थों में से तेरे लिये पर्याप्त (घासम्) भोग्य अन्न पदार्थ (पुनः) पुनः (आ वेशयन्तु) प्रदान करें । यदि कोई पुरुष किसी अंग से रहित लंगड़ा लूला हो जाय या प्राण अपान बिगड़ कर बीमार हो जाय तो उसके आस पास के बड़े लोग मिलकर उसकी सहायता करें और अन्न वस्त्र ओषधि आदि अपने अंश में से जुटा देवें ।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥२७॥

भा०—मृत्यु होने पर क्या करें सो बतलाते हैं—(जीवाः) जीवित लोग (इमम्) इस प्राणापान रहित मृत पुरुष को (गृहेभ्यः) घरों से निकाल कर (अप अरुधन्) बाहर रक्खें। हे गृह के जीवित पुरुषो! (तम्) उस मृत शव को (इतः ग्रामात्) इस ग्राम से (परि निर्वहत) परे दूर ले जाओ । (मृत्युः) मृत्यु (यमस्य) सर्व नियन्ता परमेश्वर का (दूतः आसीत्) दूत, संतापकारी साधन है । वह (प्रचेताः) उत्तम ज्ञानवान् और ज्ञानप्रद, उपदेश देने और शिक्षा प्राप्त करने का भी साधन

२६–१. आङ् पूर्वका विश धातुर्दानेऽर्थे वर्तते 'पुष्ट वसु आवेशयन्ती' अथर्व० ७ । ७९ । ३ ॥ इत्यादि प्रयोगदर्शनात् ।

भा०—(नः) हमारे (स्वाः पितरः) अपने सम्बन्ध के पालक पिता, पितामह, माता, मातामही आदि वृद्धजन (स्योनम्) हमारे लिये सुख, आनन्द के कार्य (कृण्वन्तः) करते हुए (आयुः) जीवन को (प्र तिरन्तः) बढ़ाते हुए, दीर्घजीवन भोगते हुए (इह) इस लोक में (सं विशन्तु) सुखपूर्वक रहें, विराजें। हम (तेभ्यः) इनके लिये (हविषा) अन्न से (नक्षमाणाः) इनकी सेवा करते हुए (पुरूचीः) बहुत (शरदः) वर्षों तक (ज्योक्) खूब (जीवन्तः) जीते हुए (शकेम) शक्तिमान बने रहें।

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम्।
तेना जनस्यासो भर्ता यो्ऽत्रासदजीवनः ॥ ३० ॥ (६)

भा०—हे परम पूजनीय पुरुष! (ते) तुझे (याम्) जिस (धेनुम्) गौ और (यम् उ) जिस (क्षीरे ओदनम्) दूध में पके भात 'खीर' पकान्न को मैं (निपृणामि) प्रदान करता हूँ उससे तू (जनस्य) उन जनों का (यः) जो लोग (अत्र) इस लोक में (अजीवनः) जीवन, आजीविका रहित, वे रोज़गार असमर्थ लंगड़े, लूले, अपाहिज और बालक व्र आदि (असत्) हों (भर्ता असः) पालन पोषण कर।

अश्वावतीं प्र तर या सुशेवाऽर्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद्विदत भागधेयम् ॥ ३१

भा०—हे पुरुष! तू (अश्वावतीम्=अश्मावतीम्) प्रस्तरों से पूर्ण, तीव्र, उस नदी का (प्र तर) भली प्रकार पार कर (या) जो (सुशेवा) सुख से सेवन करने योग्य और सुख देनेहारी है। अथवा—हे पुरुष! तू (अश्वावतीं प्र तर या सुशेवा) जो सुख देनेवाली घोड़ों से युक्त शत्रु की सेना भी है उनको पार कर। (वा) और तू (नवीयः) नया अदृष्ट-

३१-(१०) 'अश्मन्वती प्रतरया सुशेवान्' इति ह्विटनि-अनुमितः।

पूर्व (ऋक्षाकम्) भल्लुओं से पूर्ण (प्रतरम्) अच्छी प्रकार पार करने योग्य वन को भी पार कर। अथवा-अध्यात्म में (अश्वावतीम्) अश्व-कर्मेन्द्रियों से युक्त इस कर्ममयी जीवन नदी को पार कर और (नवीयः) अति नवीन (प्रतरम्) उत्कृष्ट पथ में ले जाने वाले (ऋक्षाकम्) ऋक्ष= ज्ञानेन्द्रिय गण को भी (प्र तर) पारकर, वश कर, सुख से जीवन बिता। हे पुरुष ! (त्वा) तुझे (यः) जो (जघान) मारे (सः) वह (वध्यः) मारने योग्य, वध करने और दण्ड करने योग्य हो। (सः) वह (अन्यत्) और अधिक (भागधेयम्) भोग, जीवनभाग्य को (मा विदत) न प्राप्त करे। प्रत्येक पुरुष अपना जीवन पूर्ण भोगे, जो किसी का प्राण ले वह स्वयं जीवन का भोग न कर सके।

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥ ३२ ॥

भा०—(यमः) सर्वनियन्ता यम, परमेश्वर (परः) सबसे ऊंचा है। और (विवस्वान्) नाना प्रकार के वस्तु, लोकों का स्वामी यह सूर्य भी उससे (अवरः) नीचे, उससे कम शक्ति वाला है। (मे) मेरा (अध्वरः) न नष्ट होना या जीवन बना रहना भी (यमे) उस सर्व नियन्ता परमेश्वर पर ही (अधि निविष्टः) आश्रित है। (विवस्वान्) विविध लोकों का स्वामी सूर्य भी (भुवः) जीवों के उत्पत्तिस्थान रूप नाना लोकों को वह (अनु आततान) उस ईश्वर की आज्ञा के वशवर्ती रह कर वश करता है।

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीद् जहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ३३ ॥
ऋ० १० । १७ । २ ॥

३३–(प्र०) 'अमृतान्' इति सायणाभिमतः। 'कृत्वा', 'अदधुः' इति ऋ०। ऋग्वेदे देवश्रवा यामायन ऋषिः।

भा०—देव, दिव्य पदार्थों ने, जगत् के विधायक पञ्चभूतों में (मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा जीवों से उस (अमृताम्) कभी न मरने वाली अमर चेतनाशक्ति को (अप=अगूहन्) छिपा लिया और उसको (सवर्णाम्) समान वर्ण, कान्ति और तेज से युक्त चेतनाशक्ति को उन्होंने (विवस्वते) विविध लोकों और जीवों के स्वामी सूर्य के लिये (अदधुः) प्रदान किया। (उत) और (यत्) जो (तत्) अमृत रूप बल था वही (अश्विनौ) इन व्यापक द्यौ और पृथिवी को (अभरत्) पालन पोषण करता है। और (सरण्यूः) सर्वत्र व्यापक वही चिति शक्ति ही (द्वौ मिथुनौ) दोनों जोड़ों (मिथुनौ) जो परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं और दम्पति भाव से रहते हैं उन नर मादा, स्त्री पुरुषों को भी (अजहात्) अपने भीतर से बाहर किया। उत्पन्न किया, प्रकट किया है। व्यष्टिरूप से स्त्री पुरुष ही समष्टिरूप से द्यौः-पृथिवी हैं।

ये निखा॑ता॒ ये परो॑प्ता॒ ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः ।
सर्वां॒स्तान॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥ ३४ ॥

भा०—(ये) जो (निखाताः) निकट ही, दृढरूप से गड़े हुए अपना घर जमा कर बैठे हुए हैं और (ये परोप्ताः) जो दूर अपनी सन्तान उत्पन्न करते हैं। और (ये दग्धाः) दग्ध अर्थात् अपने पाप आदि मानसिक और कायिक, वाचिक मलों को भस्म कर चुके हैं (ये च) और जो (उद्-हिताः) जो उत्कृष्ट पदों पर पहुँचे हुए हैं (तान् सर्वान्) उन सब (पितॄन्) पिता के समान पूजनीय पालकों को (हविषे अत्तवे) पवित्र अन्न भोजन करने के लिये हे (अग्ने) गृहस्थ, अग्रणी नेता पुरुष! तू (आ वह) प्राप्त कर। उनको अपने घर ला और प्रेमसे उनको भोजन करा अथवा—(ये निखाताः) जो पृथ्वी में गाड़ दिये हैं ये (परा-उप्ताः) जो दूर युद्धक्षेत्र आदि देशों में कट गये हैं (ये च उद्-हिताः) और जो ऊर्ध्व गति को प्राप्त होगये हैं (तान् सर्वान् अग्ने! आवह हविषे अत्तवे)

हे अग्ने परमेश्वर! उन सब को हविः अर्थात् कर्मफल के भोग के लिये लोकान्तर को प्राप्त करा।

ये अ॒ग्निद॑ग्धा॒ ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
त्वं तान् वे॑त्थ॒ यदि॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम्॥

भा०—(ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्नि से दग्ध, भस्म कर दिये गये हैं और (ये अनग्नि-दग्धाः) जो अग्नि से दग्ध नहीं हैं अथवा (ये अग्निदग्धाः ये अनग्निदग्धाः) जो अग्नि के समान तीव्रताप से स्वयं जाज्वल्यमान और जो अग्नि से भिन्न शीतल पदार्थों के समान तेजस्वी होकर (दिवः मध्ये) आनन्द मय मोक्ष धाम में (स्वधया) अपने कर्मों से प्राप्त शक्ति से (मादयन्ते) आनन्द लाभ करते हैं हे (जातवेदः) पूर्णप्रज्ञ, सर्वज्ञ, परमात्मन्! (यदि) यदि (तान्) उन सबको तू (वेत्थ) अपनावे तो (ते) वे (स्वधया) निजी धारणाशक्ति से (स्व-धितिम्) वे स्वतः धारण शक्ति स्वरूप (यज्ञम्) उस उपास्य प्रभु को (जुषन्ताम्) प्राप्त करें, वे ब्रह्म को प्राप्त हों।

शं त॑प॒ माति॑ तपो॒ अग्ने॒ मा त॒न्वं१ तपः॑।
वने॑षु॒ शुष्मो॑ अस्तु ते पृथि॒व्याम॑स्तु॒ यद्धरः॑॥ ३६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! परमेश्वर! आचार्य! तू (शं तप) कल्याण के लिये तपा, दण्ड दे, हमें (मा अति तपः) अधिक संतप्त मत कर। (तन्वं) हमारे शरीर को (मा तपः) मत पीड़ित कर। (ते) तेरा (शुष्मः) बल (वनेषु) वनों में अग्नि के समान शिष्यों में (अस्तु) प्रकट हो और तेरा (यत् हरः) जो हरस् तेज है वह (पृथि-व्याम्) समस्त पृथिवी पर (अस्तु) विद्यमान रहे।

ददा॑म्यस्मा अव॒सान॑मे॒तद् य ए॒ष आग॒न् मम॒ चेदभू॑दि॒ह।
य॒मश्चि॑कि॒त्वान् प्रत्ये॒तदा॑ह॒ ममै॒ष रा॒य उप॑ तिष्ठतामि॒ह॥ ३७॥

भा०—मैं परमेश्वर और आचार्य (अस्मै) इस पुरुष को (एतत्) यह, ऐसा (अवसानम्) सुखमय, आश्रय, शरण (ददामि) प्रदान करता हूं (यः) जो (एषः) यह पुरुष (आगन्) यहाँ आता है (च) और (इह) यहाँ, इस लोक में (मम इत् अभूत्) मेरा ही भक्त होकर रहे । इस प्रकार (चिकित्वान्) सर्वज्ञ (यमः) सर्वनियन्ता, परमेश्वर या राजा या आचार्य मानो (एतत्) उसको इस प्रकार भी (प्रति आह) कह रहा है कि (एषः) यह पुरुष (मम) मेरे प्रिये (राये) धन ऐश्वर्य के उपभोग के लिये ही (इह) यहाँ (तिष्ठात्) विराजे ।

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥

भा०—(शते शरत्सु) सौ वर्षों में हम (इमाम्) जीवन के इस (मात्राम्) परिमाण को (मिमीमहे) ऐसी उत्तमता से मापें कि (यथा) जैसे (अपरं न मासातै) और किसी वस्तु को नहीं मापते । और (पुरा नो) पहले भी किसीने वैसा न मापा हो । अर्थात् हम अपने जीवन को बहुत उत्तमता से व्यतीत करें ।

प्रेमां मात्रां० । ० ॥ ३९ ॥ अपेमां मात्रां० । ० ॥ ४० ॥ (१०)
वी३मां मात्रां०।०॥४१॥ निरिमां मात्रां०।०॥४२॥ उदिमां मात्रां० । ०॥ ४३ ॥ समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४४ ॥

भा०—(शते शरत्सु) जीवन के सौ वर्षों में हम अपने जीवन की (इमां मात्राम्) इस मात्रा, काल परिमाण को ऐसी (प्र मिमीमहे) उत्तमता से मापें, व्यतीत करें (यथा अपरं न मासातै) जैसा दूसरा न माप सके, (नो पुरा) और न पहले किसी ने वैसा जीवन पूरा किया हो ।

३९—(द्वि०) 'यथेद' इति सायणाभिमतः ।

(अप इमां मात्राम् इत्यादि) हम अपने इस जीवन की कालमात्रा इतनी सुगमता से व्यतीत करें, (इमां मात्रां वि मिमीमहे) इस जीवन-यात्रा को ऐसे विशेष रूपसे व्यतीत करें (इमा मात्रां निर मिमीमहे) इस जीवनयात्रा को ऐसी पूर्णता या निर्दोषता से व्यतीत करं । (इमां मात्रां उत् मिमीमहे) इस जीवन की काल मात्रा को ऐसी उत्तमता से व्यतीत करें, (इमां मात्रां सम् मिमीमहे) इस जीवन यात्रा को ऐसी भली प्रकार से समाप्त करें कि जैसी कोई न व्यतीत कर सके और न किसी ने इससे पहले की हो । अर्थात् हम अपने जीवन को ऐसी उत्तम रीति से, सुगमता से, विशेष रूपसे, निःशेष या निर्दोषरूपसे, उन्नत रूप से, समान रूपसे व्यतीत करें कि आदर्श हों । लोग कहें कि 'न भूतो न भविष्यति' ।

अमा॑सि॒ मात्रां॒ स्व॑रगा॒मायु॑ष्मान् भूयासम् ।
यथाप॑रं॒ न मासा॑तै श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४५ ॥

भा०—मैं (मात्राम्) इस जीवन काल की मात्रा को (अमासि) पूर्ण रूपसे ऐसी उत्तमता से मापलूं, पूर्ण रूपसे व्यतीत करूं (स्वः अगाम्) सुखमय आनन्द-मय मोक्ष भी प्राप्त करूं और (आयुष्मान् भूयासम्) दीर्घायु होकर रहूँ । (यथापरं) जैसे—इत्यादि पूर्ववत् ।

प्रा॒णो अ॑पा॒नो व्या॒न आयु॒श्चक्षु॑र्दृ॒शये॒ सूर्या॑य ।
अप॑रिपरेण प॒था य॒मरा॑ज्ञः पि॒तॄन् ग॑च्छ ॥ ४६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) ये चक्षु आदि इन्द्रियगण सब (सूर्याय) उस सबके प्रेरक परमेश्वर रूप सूर्य के (दृशये) नित्य दर्शन करने के लिए बने रहें । हे पुरुष ! तू (यमराज्ञः) सर्वनियन्ता सब के राजा परमेश्वर के बनाये (अपरिपरेण) शत्रु से रहित अभय

और मित्र दृष्टिमय, द्वेष रहित (पथा) मार्ग से तू (पितॄन्) पूज्य पुरुषों के पीछे २ (गच्छ) गमन कर ।

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥४७॥

भा०—(ये) जो (अग्रवः) अविवाहित, आजन्म ब्रह्मचारी (शशमानाः) शम का अभ्यास करते हुए, तपः साधना से युक्त होकर सब प्रकार के (द्वेषांसि) द्वेष के भावों का (हित्वा) परित्याग करके (अनपत्यवन्तः) अपनी अगली सन्तति से रहित भी रहे (ते) वे भी (द्याम् उद् इत्य) दिव, स्वर्गलोक को जाकर (नाकस्य पृष्ठे) परम सुखमय धाम में, परमेश्वर के स्वरूप में (अधि दीध्यानाः) विराजते हुए उसी का ध्यान करते हुए (लोकम्) उस दर्शनीय परमेश्वर को (अविदन्त) प्राप्त करते हैं ।

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

भा०—(अवमा) सबसे नीचे की (द्यौः) भूमि (उदन्वती) जलवाली या भोगमय, तामसा है और (मध्यमा) बीच की अंगा की भूमि (पीलुमती इति) वृक्षों से हरी भरी या कर्मफल से युक्त, राजस है और (तृतीया) तीसरी सबसे उत्कृष्ट (प्रद्यौः इति) अति अधिक प्रकाश, शुद्ध ज्ञानवाली सात्विक 'प्रद्यौ' नाम से कहाती है । (यस्याम्) जिसमें (पितरः) पालक पूज्य पिता माता गुरु लोक विराजते हैं ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम॥४९॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिता के भी पिता हैं और (ये पितामहाः) जो पितामह, बाबा हैं (ये) जो (उरु

अन्तरिक्षम्) विशाल आकाश में (आविविशुः) प्रविष्ट हो गये हैं और (ये) जो (पृथिवीम्) इस पृथिवी (उत द्याम्) और स्वर्ग में (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः) उन सब (पितृभ्यः) पालक, पूजनीय पुरुषार्थों के लिये हम (नमसा) नमस्कार या अन्न द्वारा (विधेम) सत्कार करें ।

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्यैनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (११)

भा०—(इदम् इत् वा उ) इस लोक में हे पुरुष ! बस यही, अब ही जीवन है । (न अपरम्) और कुछ दूसरा पदार्थ भोग्य नहीं । परन्तु (दिवि) द्यौलोक में (सूर्यम्) सर्वप्रेरक सूर्य के समान उस परम प्रकाश परमेश्वर को भी (पश्यसि) देख रहा है । हे (भूमे) भूमे ! या सर्वोत्पादक ईश्वर ! (यथा) जिस प्रकार (माता) माता (पुत्रम्) पुत्र को (सिचा) अपने अंचरे से ढक लेती है उसी प्रकार तू (एनं) इस जीव को (अभि ऊर्णुहि) आच्छादित कर, सुरक्षित रख ।

इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोपरम् ।
जाया पतिमिव वाससाभ्ये/नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥

भा०—(इदम् इद् वा उ) इस लोक में बस यही भोग है (न अपरम्) दूसरा भोग नहीं । (जरसि) और बुढ़ापे के गुजर जाने पर (इतः अपरम् अन्यम्) इससे दूसरा और भी एक जीवन है । हे (भूमे) भूमे ! (पतिम्) पति को जिस प्रकार (जाया) उसकी स्त्री (वाससा) अपने वस्त्र से ढक लेती है उसी प्रकार (एनं अभि-ऊर्णुहि) इस पुरुष को आच्छादित कर । कदाचित् ५०, ५१, इन दो मन्त्रों के आधार पर ही भूमि में दफन करने की विधि वेद से ही यवनों ने ली हो ।

अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।

जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥५२॥

भा०—हे पुरुष ! मैं परमेश्वर (त्वा) तुझको (पृथिव्याः मातुः) माता पृथिवी के (वस्त्रेण) वस्त्र के समान निवास योग्य स्थान से ही (भद्रया) अति सुखकारी विधि से (ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं। (जीवेषु) समस्त जीवों में जो भी (भद्रम्) सुख और कल्याण है (तत्) वह सब (मयि) मेरे ही आधार पर है और (स्वधा पितृषु) स्वयं धारण करने योग्य अपने कर्मों का फल (पितृषु) तेरे परिपालक माता पितामों में है और (सा त्वयि) वही 'स्वधा' अर्थात् स्वयं कर्म द्वारा प्राप्तव्य कर्मफल (त्वयि) हे पुरुष ! तेरे ही अधीन है।

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम्।

उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम्

भा०—हे (अग्नीषोमा) अग्ने और हे सोम ! हे आग के समान शत्रुतापक, ज्ञानप्रकाशक और सोम, सर्वोत्पादक अग्नि और वायु ! ज्ञानी तपस्विन् और शमदमादि सम्पन्न योगिन् ! आप दोनों (पथिकृतौ) सब मार्गों को बनाने हारे हो। आप दोनों ही (देवेभ्यः) समस्त ज्ञानवान् पुरुषों के लिये (रत्नम्) रमण करने योग्य (लोकम्) लोक को (वि दधथुः) नाना प्रकार से धारण करते, विधान करते हो। (यः) जो (प्रे-

---

५३–(च०) 'गच्छतम्' (तृ०) 'उप प्रेष्यतं' (च०) 'अञ्जोयानैः' इति ह्विटनिकामितः। 'अजयानैः' इति च क्वचित्। 'अन्जयानैः' (ह्वि०) अञ्जोयानैः 'अञ्जः ऽयानैः' इति पदपाठः। अन्यत्रापि 'पथो देवत्रा अञ्जसेव यानान्' इति ऋ० १०। ७३। ७॥ प्राकृतेऽपि अंजसायान ऋजुमार्गापरपर्यायोदृष्टः। तथा च सायणः 'अञ्जसा आर्जवेन यान्ति गच्छन्ति एभिरिति। 'अञ्जोयानैरिलिव' पाठः सार्वा- यान्। 'दधतुः' इति क्वचित्।

ध्यन्तं) समस्त जगत् के प्रेरणा करने हारे, (पूषणम्) समस्त जगत् के पोषक परमेश्वर को (वहाति) प्राप्त करावे, (तत्र) वहां (भज्ञोयानैः) अति वेगवान् रथों, गमन साधनों से या अज्ञः=प्रकाशमय, ज्ञानमय गमन साधनों से सम्पन्न या सरलता और सुगमता से जाने योग्य, सीधे विशाल; राज कीय (पथिभिः) मार्गों से (गच्छतम्) वहां गमन करो।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥५४॥

ऋ० १० । १७ । ३ ॥

भा०—हे पुरुष, जीव ! (अनष्टपशुः) जिस परमेश्वर के जीव कभी मरते नहीं वह (गोपाः) उत्तम गोपाल के समान (भुवनस्य गोपाः) समस्त संसार का रक्षक है । वह (विद्वान्) सर्वज्ञ, (पूषा) सब का पोषक (त्वा इतः) तुझको इस लोक से (प्रच्यवयतु) निकालता है और दूसरे लोक में प्रवेश कराता है । (सः) वह ही (अग्निः) अगले लोकों में ले जाने हारा पथदर्शक होकर (सुविदत्रियेभ्यः) उत्तम ज्ञान वान् और दानशील (देवेभ्यः) सर्वद्रष्टा, सर्वप्रद (एतेभ्यः) उन २ नाना (पितृभ्यः) पूजनीय पालक पिता आचार्यों के हाथों (परिददात्) सौंपता है । ईश्वर की कृपा से उत्तम लोक और उत्तम माता, पिता, आचार्य आदि प्राप्त होते हैं ।

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥५५॥

ऋ० १० । १७ । ४ ॥

५४–(तृ०) 'ददात्', 'सुविदत्रेभ्यः' इति तै० आ० । ५४,५५ अनयो-ऋग्वेदे देवश्रवा यामायन ऋषिः । पूषा देवता ।

५५–(प्र०) 'परिपासति त्वा' (तृ०) 'ते ययुः' इति ऋ० ।

भा०—हे पुरुष ! हे जीव ! (विश्वायुः) समस्त संसार का आयु, जीवनस्वरूप (आयुः) साक्षात् जीवनस्वरूप सर्वव्यापक, परमेश्वर (त्वा) तेरी (परिपातु) सब प्रकार से रक्षा करे और (पुरस्तात्) आगे भी (प्रपथे) उत्तम मार्ग में (त्वा पूषा पातु) सर्वपोषक, परमात्मा तेरी रक्षा करे (यत्र) जिस लोक में (ते) वे विद्वान् प्रसिद्ध (सुकृतः) पुण्याचारी लोग (ईयुः) जाते हैं (तत्र) वहां (सविता देवः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (त्वा) तुझे भी (दधातु) रक्खे ।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥५६॥

भा०—जिस प्रकार मनुष्य राजा के द्वार पर या राजसभाओं में जाने के लिये अपने रथ में दो घोड़े या बैल लगाकर पहुंचता है उसी प्रकार सर्वनियन्ता परमेश्वर के घर तक पहुंचने के लिये भी प्राण और अपान रूप दो वाहनों को योगाभ्यास द्वारा जोड़ना आवश्यक है । हे जीव ! हे पुरुष ! (असुनीताय) असु प्राण द्वारा लोकान्तर में पहुंचने वाले (ते) तेरे आत्मा को (वोढवे) वहन करने के लिये (इमौ) इन दोनों प्राण और अपान को मैं (युनज्मि) एकत्र युक्त करता हूं (ताभ्याम्) उन दोनों से (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के रचे (सादनम्) आश्रयस्थान, शरण (सम्-इतीः च) सत् ज्ञानमय सत्संगों को (अवगच्छताम्) तू प्राप्त हो ।

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥५७॥

भा०—हे पुरुष ! जीव ! (यत्) जो तूने (पुरा) पहले भी, पूर्व जन्म में भी (अबिभः) धारण किया था (एतत्) वह (वासः) वस्त्र, चोला, यह देह (प्रथमं) सबसे उत्तम ही (नु त्वा आगत्) तुझे प्राप्त हुआ है । (एतत्) उसको तू (अप ऊह) दूर कर, त्याग दे । और

अपने किये (इष्टापूर्त्तम्) इष्ट, देव उपासना और 'आपूर्त्त' लोकोपकार के कार्यों के अनुसार (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर (अनुसंक्राम) अगले उस लोक में जा (यत्र) जहां (बहुधा) प्रायः (विबन्धुषु) विशेष बन्धन करने वाले लोकों में (ते) तेरा अपना मन (दत्तम्) दिया हुआ, समर्पित या लगा है ।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ गीता० ॥

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च ।
नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्खयाते ॥५८॥
ऋ० १० । १६ । ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (अग्नेः) अग्नि के समान संतापक ज्वर आदि से बचने के लिये (वर्म) कवच को (गोभिः) गौ आदि पशुओं के चर्मों या बालों से बने वस्त्रों से, वेद की वाणियों से (परिव्ययस्व) ढक ले और अपने को (मेदसा) परस्पर प्रेम और बुद्धि द्वारा और (पीवसा च) देह की पुष्टि से (सं प्र ऊर्णुष्व) अच्छी प्रकार ढकले, अपने बुद्धि और शरीर के बल से खूब सुरक्षित रख । (नेत्) नहीं तो (त्वा) तुझे (धृष्णुः) तेरे शरीर बल का नाश करने वाला रोग आदि (हरसा जर्हृषाणः) अपने हरणशील बल से तुझे हरण करने की इच्छा करता हुआ (दधृक्) अति निर्भय होकर (विधक्षत्) तुझे नाना प्रकार से संतप्त करता हुआ (परि-ईङ्खयाते) भय से कंपा देगा ।

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥५९॥

भा०—(गतासोः) मृत, प्राणों से रहित, शक्तिहीन पुरुष के (हस्तात्) हाथ से (दण्डम्) दमन करने के अधिकार को (श्रोत्रेण) कान

मृतपति स्त्री का अधिकार

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥१॥

भा०—(पुराणम्) अपने पुराण, पूर्व के ही पातिव्रत (धर्मं) धर्मं का (अनुपालयन्ती) पालन करती हुई (इयम्) यह (नारी) स्त्री (पतिलोकं) [1] पतिलोक, पति के रूप से पुरुष को (वृणाना) वरण करती हुई हे (मर्त्य) मरणधर्मा पुरुष ! (त्वा प्रेतम्) तुझ मृतपति के (उप) समीप (निपद्यते) प्राप्त होती है। (तस्यै) इस स्त्री को तू (प्रजाम्) अपनी प्रजा और (द्रविणं च) द्रविण; धन का (धेहि) प्रदान कर। अर्थात् मृत पुरुष के सन्तान और धन की स्वामिनी उसकी पत्नी हो।

पति के मरने पर पुत्र और स्त्री के लिये आज्ञा

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥

भा०—हे (नारि) नारि ! तू (उत्-ईर्ष्व) उठ। तू (गतासुम्) प्राण रहित (एतम्) इस पुरुष के पास (उप शेषे) सो रही है। यह क्या करती है ? (अभि जीवलोकम्) जीवित प्राणिलोक को (आ इहि) प्राप्त हो। हे स्त्रि ! तू (हस्तग्राभस्य) हाथ को ग्रहण करने वाले (दधिषोः) धारण-पोषणकारी (तव पत्युः) तेरे अपने पति के लिये ही (अभि इदम्) इस (जनित्वम्) जनित्व=भार्यापन को (अभि) लक्ष्य करके (संबभूथ) नियुक्त पति से सहवास कर। अथवा—(हस्तग्राभस्य पत्युः कृते दधिषोः=दिधिषोः तव स्त्रियां इदं जनित्वं पुत्रोत्पादनं स्यात् अतः

[३]१—'विश्वं पुराणमनुपालयन्ती' इति तै० आ० ।

त्वं गर्भसंबभूथ) पाणिग्रहण करने वाले पूर्व पति के लिये ही पुनः गर्भ धारण करना चाहने वाली तुझ स्त्री का यह पुत्रोत्पादन रूप कार्य हो । अतः तू पुनः नियुक्त पति से संगत हो सकती है ।

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥३॥

भा०—(मृतेभ्यः) मृत पुरुषों अर्थात् पूर्व पतियों के निमित्त (जीवां युवतिम्) जीवित युवति, जवान स्त्री को (नीयमानाम्) ले जाई गयी और (परिणीयमानाम्) पुनः परिणय या विवाह करती या दूर ले जाई जाती हुई को मैं गृह का व्यवस्थापक (अपश्यम्) देखूं । (यत्) जब वह (अन्धेन तमसा) अन्धेरे अन्धकार, शोक मोह से (प्रावृता) ढकी हुई (आसीत्) हो तो (एनाम्) उसको (प्राक्तः) आगे के कष्टदायी हृदय से हटाकर (अपाचीम्) दूसरी ओर (अनयम्) ले जाऊं । पतियों के मर जाने पर युवतियों का पुनः विवाह कर दिया जाय या पतिवियोग के मोह में ऐसी विलखती को जहां तक हो सके दूर रक्खें ।

प्रजानत्य/घ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (अघ्न्ये) अघ्न्या, कभी न मारने योग्य गौ के समान तू भी कभी न मारने योग्य, नित्य पालन करने योग्य स्त्रि ! तू (जीव-लोकं प्रजानती) जीवित लोगों को भली प्रकार जानती हुई और (देवानां) देव, दानशील, विद्वान् , श्रेष्ठ पुरुषों के (पन्थाम) मार्ग, शिष्टाचार को

३—(द्वि०) 'जीवमृतेभ्यः' (प्र० द्वि०) अपश्यं युवतिं आचरन्तीम् मृताय जीवां परिणीयमानाम् । (तृ०च०) अन्धेन या तमसा प्रावृतासि प्राचीमवाचीमवयन्नरिष्ट्यै इति तै० आ० ।

(अनु संचरन्ती) पालन करती हुई यदि तू अपने इन्द्रियों को वश न कर सके तो (अयम्) यह प्रत्यक्ष में स्थित नियुक्त पति (ते) तेरे लिये (गोपतिः) गोपति के समान स्वयं जितेन्द्रिय पुरुष है। (तं जुषस्व) उसको प्रेम से सेवन कर। और (एनम्) इसको ही (स्वर्गं लोकम् अधिरोहय) स्वर्गलोक, सुखमय लोक को प्राप्त करा।

परिपालक पुरुष का स्वरूप

उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम्। अग्ने पित्तमपामसि ॥ ५ ॥

यजु० १७। ६ म० द्वि० ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! ज्ञानमय परमेश्वर ! तू (अपाम्) जलों के समान स्वच्छ आप्त पुरुषों को (पित्तम्) पवित्र करने या पालन करने हारा (असि) है। तू (नदीनाम्) नदियों के (उप) समीप, उनके जलों में उतराने वाली (द्याम् उप) घौन्दीवार के समान व्यवस्था जाल फैला कर और (वेतसम् उप) वेत के समान तट पर अपने मूल फैला कर (नदीनां) नदियों के समान अति समृद्ध या स्तुतिशील प्रजाओं के भीतर रहता हुआ भी उनकी (अवत्तरः) बड़ी भारी रक्षा करनेहारा है।

इसका विनियोग अन्त्यकर्म है परन्तु विनियोग और कौशिक के विनियोग में बड़ा अन्तर है।

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
क्याम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्यल्कशा ॥ ६ ॥ ऋ० १०।१६।१३॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुसंतापक और अग्रणी ज्ञानमय राजन् ! परमेश्वर ! (त्वम्) तू (यम्) जिसको (सम् अदहः) आग के समान मृत्यु आदि दुःख से जलाता है, पीड़ित भी करता है,

५—(म० द्वि०) उपज्मन् उप वेतसेऽवतर नदीष्वा, इति यजु०।

दण्डित भी करता है, (तम् उ) उसको ही (पुनः) फिर (निर्वापय) जल के समान इतना शान्त कर कि (अत्र) यहां (क्याम्बूः) जिस प्रकार अधिक जल पड़ने पर काई (रोहतु) उग आती है और (व्यल्कशा) शाखावाली (शाण्डदूर्वा) बड़ी दूब पैदा हो जाती है उसी प्रकार जिस स्थान या प्रदेश या आत्मा में तैने यह कठोर दमन किया हो वहां भी ऐसी शान्ति स्थापन करता है कि नाना शाखाओं वाली (शाण्डदूर्वा) संघ बना कर रहने वाले प्राण और 'क्याम्बू' ज्ञान जल के धारक चिति-शक्ति की वृद्धि होती है । क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा । ऐ० ८ । ८॥ प्राणो दूर्वेष्टका ॥ श० ७।४ । २२०॥ पशवो वै दूर्वेष्टका ॥ श० ७ । ४ । २ । १० । १० ॥

राजा के पक्ष में भी स्पष्ट है । राजा को प्रायः चिताग्नि से उपमा दी जाती है । जैसे चिताग्नि पहले जलाती है और शव जल चुकने पर फिर वहां से उसे बुझा दिया जाता है उसी प्रकार राजा प्रथम कोप करके पुनः शान्त हो जाता है जैसे महाभारत में—

पाण्ड्यः, स्वधामिवाप्य ज्वलतः पितृप्रियः ।
ततः प्रशान्तः सलिलप्रवाहतः ॥ (महा० ८।२०।५०॥)

इदं त एकं पुर ऊं त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व ।
संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे ॥ ७ ॥
ऋ० १० । ५६ । १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (इदम्) यह (एक) एक ज्योति है । (परः) वह दूर (उ) भी (ते) तेरे लिये (एकम्) एक परमेश्वर की ब्रह्म ज्योति या आदित्य ज्योति है । तू यहां (तृतीयेन ज्योतिषा) तीसरी या प्राणों से भी उत्कृष्ट आत्माख्य ज्योति से (सं विशस्व) ऊंचे पद पर प्रवेश कर । (संवेशने) इस उच्च पद प्राप्ति में भी (तन्वा)

७–(तृ०) 'तन्वेः' (च०) 'परमे जनित्रे' इति ऋ० । 'प्रिये' इति तै०आ० ।

अपने शरीर से (चारुः) कर्मफल भोगने में अति समर्थ, शोभनरूप और उस (परमे) परम उत्कृष्ट (सधस्थे) उत्तम स्थान में भी (देवानां) विद्वानों का (प्रियः एधि) प्रिय होकर रह।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ ८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (उत्-तिष्ठ) उठ। (प्र इहि) आगे बढ़। (प्र द्रव) शीघ्रता से आगे बढ़। (सलिले) जल के समान शान्त एवं सबके समान रूप से लीन होने योग्य परम शरण (कृणुष्व) बना। (तत्र) उसमें हे (त्वं) तू अपने (पितृभिः) पूज्य पालक, गुरु माता पिता आदि के साथ (सं विदानः) भली प्रकार सत्संग और ज्ञान लाभ करता हुआ (सोमेन) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर के साथ (स्वधाभिः) अपने कर्मों से प्राप्त इष्ट फलों का (मदस्व) आनन्द लाभ कर, तृप्त हो।

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम्।
मनो निविष्टमनु संविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥

भा०—हे जीव आत्मन् ! पुरुष ! तू (तन्वम्) अपना शरीर (प्रच्यवस्व) उत्तम रूप से छोड़ और उसको (संभरस्व) फिर भली प्रकार से प्राप्त कर, उसे बना ले। (ते) तेरे (गात्रा) अंग (मा विहायि) छूट न जायँ। (मो शरीरम्) शरीर भी तेरा न छूटे। जहां तेरा (मनः) मन (निविष्टम्) लगा है वहां ही (अनु संविशस्व) अपनी इच्छानुकूल शरीर में प्रविष्ट हो। (भूमेः) भूमिलोक के (यत्र) जिस भाग में (जुषसे) प्रेम लगा हो (तत्र) तू वहां (गच्छ) चला जा।

८–(च०) 'मदस्व परमे व्योमन्' इति तै० आ०।

९–उविछातः तनुवं सम्भरस्व मेह गात्रमवहा मा शरीरम्। (च०) यत्र-भूम्यै वृणसेतत्र गच्छ' इति तै० आ०। 'भूमे र्जु'–इति क्वचित्।

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥१०॥ (१३)

भा०—(सोम्यासः) सोम, ब्रह्मानन्द रस का पान करानेहारे (पितरः) गुरु आदि वृद्धजन (मां) मुझको (वर्चसा) ब्रह्मवर्चस् से (अञ्जन्तु) युक्त करें। और (देवाः) देव, विद्वान्, विद्याप्रदाता जन मुझे (मधुना) मधुर ज्ञानमय (घृतेन) प्रकाश से (अञ्जन्तु) प्रकाशित करें। (चक्षुषे) साक्षात् दर्शन करने के लिये (प्रतरं) बहुत उत्कृष्ट रीति से अथवा पितृ-ऋण से तारने वाले पुत्र रूप (मा) मुझको (तारयन्तः) संसार-यात्रा के पार पहुंचाते हुए वे वृद्धजन (जरद्-अष्टिम्) वृद्धावस्था तक पहुंचने वाले (मा) मुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें।

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन् ।
रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥११॥

भा०—(अग्निः) ज्ञान से प्रकाशित, अग्नि के समान तेजस्वी आचार्य (माम्) मुझको (वर्चसा) तेज से (सम् अनक्तु) खूब प्रकाशित करे। (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर (मे आसन्) मेरे मुख में (मेधाम्) पवित्र बुद्धिपूर्वक वाणी को (नि अनक्तु) प्रकाशित करे। (विश्वेदेवाः) सब देवगण, इन्द्रियगण, प्राण और विद्वान्गण (मे) मेरे (रयिम्) बल को (नियच्छन्तु) पूर्ण रीति से संयम करें, वीर्य बल की रक्षा करें। और (आपः) जलों के समान स्वच्छ हृदय वाले आप्तजन (पवनैः) पवित्र करने वाले अपने उपदेशों से (मा पुनन्तु) मुझे पवित्र करें।

मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।

१०-(द्वि०) 'अजन्तु' इति क्वचित् ।

वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥१२॥

ऋ० १० । १४ । १ ॥ (तृ० च०) १८ । १ । ४९ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र मरण से रक्षा करने वाला और (वरुण) विघ्नों का विनाशक, सबसे वरण करने योग्य, मित्र और वरुण, माता पिता, दिन और रात (माम्) मुझे (परि अधाताम्) सब प्रकार से धारण पोषण करें। (आदित्याः) सूर्य के समान तेजस्वी (स्वरवः) उत्तम ज्ञान के उपदेष्टा गुरु लोग (मा) मुझे (वर्धयन्तु) ज्ञानोपदेश से बढ़ावें। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा और परमेश्वर (मा) मुझे (हस्तयोः) मेरे हाथों में (वर्चः) बल (नि अनक्तु) दे। (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर और प्रेरक सूर्य (मा) मुझे (जरदष्टिम्) भोजन को नित्य पचा लेने में समर्थ, एवं दीर्घायु (कृणोतु) करे।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥१३॥

ऋ० १० । १४ । १ ॥ अथर्व० १८ । १ । ४९ ॥

भा०—(यः) जो मनुष्य (मर्त्यानां) मरणधर्मा मनुष्यों में से (प्रथमः) सबसे प्रथम (ममार) अपने प्राण त्यागता है और (यः) जो (एतम् लोकम्) उस परलोक को (प्रथमः) सबसे पहले (प्र इयाय) प्राप्त होता है इस समस्त (जनानां) उत्पन्न होने वाले जनों के (संगमनम्) एकमात्र गमन करने योग्य, आश्रय स्थान (वैवस्वतम्) विशेष रूप से सबके आच्छादक, सर्वरक्षक, (यमं राजानम्) सबके राजा, सर्वनियामक 'यम' महापुरुष की (हविषा) स्तुति द्वारा आदर से (सपर्यत) पूजा करो, उसका आदर सत्कार करो। अथवा—जो पुरुष सबसे पहले मरा या जो सबसे पहले परलोक गया तबसे लेकर समस्त

१२–(प्र०) 'अधाथाम्' इति पैप्प० सं० ।

प्राणियों के शरण और सर्वनियन्ता राजा परमेश्वर की आप लोग स्तुति द्वारा उपासना करो । अथवा—(यः मर्त्यानां=मर्त्यान् प्रथमः सन् ममार=मारयति) जो सर्वश्रेष्ठ होकर प्रभु मरणधर्मा प्राणियों के प्राण त्याग कराता है और (यः प्रथमः) जो सर्वश्रेष्ठ होकर (एतम् लोकम् प्र इयाय) इस लोक में प्राणि को भेजता है। उस सर्वव्यापक सर्वनियामक प्रभु की उपासना करो ।

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ १४ ॥

भा०—हे (पितरः) पितृजनो, पूज्य वृद्ध पुरुषो ! (अयम्) यह (वः) आप लोगों का (यज्ञः) यज्ञमय आत्मा या दान (मधुना) मधु के समान मधुर ज्ञान से (सम्-अक्तः) भली प्रकार से प्रकाशित है आप (परा यात) दूर २ देश तक जाओ और (आयात च) दूर २ देशों से आओ भी । और (अस्मभ्यम्) हम लोगों को (द्रविणा) नाना प्रकार के ज्ञान और धनों को (दत्त) प्रदान करो और (इह) इस लोक में (भद्रम्) कल्याणकारी और सुखकारी (सर्ववीरम्) सब पुत्रों और वीरों सहित (रयिम्) ऐश्वर्य को (च) भी (दधात) धारण कराओ ।

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥ १५ ॥

भा०—(कण्वः) कण्व[1], ज्ञान का उपदेश करने वाला (कक्षीवान्)[2] प्राणरश्मियों को अपने वश करनेहारा, कक्षीवान्, (पुरुमीढः)[3] अति अधिक पुत्रों और धनों से युक्त, पुरुमीढ, अतिदानी (अगस्त्यः)[4]

[१५]—१. कणतेः शब्दार्थकात् क्वन् । २. 'कक्षं सेवते' इति यास्कः (नि० २।२)
३. पुरूणि मीढानि अपत्यानि धनानि वा यस्य इति सायणः ।
४. अगाद् वृक्षाद् अस्यति इति अगस्तिः, इति दयानन्द उणादि० ।

अगस्त्य, अग-वृक्ष पर्वतादि को भी बलपूर्वक उखाड़ देने में समर्थ, भौतिक बलों से सम्पन्न, (श्यावाश्वः) श्यावाश्व, ज्ञानशील इन्द्रियों से सम्पन्न, (सोभरी) उत्तम रीति से पुष्ट करने वाला, सोभरी (अर्चनानाः)[५] 'अर्चनानस्' पूजनीय उत्तम अनस् शकट आदि का रचयिता, (विश्वामित्रः) सबका मित्र विश्वामित्र, (जमदग्निः)[६] जमदग्नि, अग्नि को नित्य प्रज्वलित रखने वाला, तेजस्वी (अत्रिः)[७] 'अत्रि' त्रिविध तापों से मुक्त, (कश्यपः)[८] ज्ञान का पालक, ज्ञान का पानकर्त्ता या जगत् को सूक्ष्म रीति से देखने वाला पश्यक, सर्वद्रष्टा (वामदेवः)[९] देव परमेश्वर का उपासक, ये समस्त ज्ञानद्रष्टा समर्थ पुरुष (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

अथवा—कण्व आदि द्वादश नाम द्वादश प्राणों के समझने चाहियें। द्वादश प्राण के संग रहने से लक्षणावृत्ति से वह आत्मा भी इन १२ नामों से पुकारा जाता है और आत्मा की उन द्वादश शक्तियों के साधक भी कण्व आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

विश्वा॑मित्र॒ जम॑दग्ने॒ वसि॑ष्ठ॒ भर॑द्वाज॒ गोत॑म॒ वाम॑देव ।
श॒र्दिर्नो॒ अत्रि॑रग्रभी॒न्नमो॑भिः॒ सुसं॑शासः॒ पित॑रो मृ॒डता॑ नः ॥१६॥

भा०—हे (विश्वामित्र) विश्वामित्र, सबके मित्र ! हे (जमदग्ने) प्रज्वलित अग्नि वाले या अग्नि के समान दीप्तियुक्त ! हे (वसिष्ठ)[१] वसनेहारों में सबसे मुख्य ! हे (भरद्-वाज)[२] अन्न को भरनेहारे ! हे

५. 'अर्चनीयमनः शकटं यस्येति सायणः। ६. जमति र्ज्वलतिकर्मा। 'जमिताग्निः इति यास्कः। ७. तस्मादत्रिर्नत्रय इति यास्कः (नि० ३ । १७ ॥) ८. 'कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यति सौक्ष्म्यात्' (तै० आ० १ । ८ । ८) ९. वामः वननीयो देवः द्योतको बोधो यस्य सः' इति सायणः।

१६—'सुशंसासः' इति ह्विटनिकामितःसायणाभिमतश्च।

(वामदेव) ईश्वरोपासक ! आप लोग और (शर्दिः)[3] शरण देनेवाला बलवान् (अग्निः) त्रिविध तापों से मुक्त ये सब (नः) हमें (अग्रभीत्) ग्रहण करें, स्वीकार करें, अपनावें । ये सभी (सु संशासः) उत्तम रीति से शासन करने हारे (पितरः) सबके पालक, पूज्य वृद्धजन आप लोग(नमोभिः) अन्न और दुष्टों के नमाने वाले वलयुक्त साधनों से (नः) हमें (मृडत) सुखी करो । इस मन्त्र में ७ ऋषि सात मुख्य प्राणों के नाम हैं और उन शक्तियों के साधक पुरुष और व्यष्टिरूप से जीव आत्मा और समष्टिरूप से परमेश्वर के भी वे नाम हैं ।

कुस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥

भा०—(कस्ये) ज्ञानयोग्य, सर्वोपरि शासक, परम वेद्य, ब्रह्म के आश्रय पर विद्वान् लोग अपने आत्मा को (मृजानाः) शुद्ध करते हुए साधक जन वे (प्रतरम्) अति उत्तम, (नवीयः) नवीन (आयुः) जीवन को (दधानाः) धारण करते हुए (रिप्रम्) पाप और चित्त के मल को (अतियन्ति) दूर करते हैं । (प्रजया धनेन) प्रजा और धन से (आप्यायमानाः) खूब बढ़ते हुए, सम्पन्न और समृद्ध होते हुए हम लोग (अध) भी उसी प्रकार (गृहेषु) घरों में (सुरभयः) पुण्य कार्य करके कीर्तिमान् और सुगन्धित या उत्तम धन लाभयुक्त एवं सदाचारी होकर (स्याम) रहें ।

---

१. 'वसुमत्तमः' इति सायणः । २. भरणाद् भरद्वाजः इति यास्कः । शार्दिःछर्दिः । गृहनामैतत् । यद्वा शर्दतिर्बलकर्मा ।

१७–'कस्ये' इति 'कंस्ये' इति शब्दापभ्रंशः इति ग्रीफिथह्विट्न्यादयः । 'कीकस' इत्यस्य पूर्ववर्णलोपे कस्ये श्मशाने इति सायणः । कस-गतिशासनयो इत्यतो यगिति क्षेमकरणः । बाहुलको यदिति वयम् ।

अ॒ञ्जते॒ व्य॑ञ्जते॒ सम॑ञ्जते॒ क्रतुं॑ रिहन्ति॒ मधु॑नाभ्य॑ञ्जते।
सिन्धो॑रुच्छ्वा॒से प॒तय॑न्तमु॒क्षणं॑ हिरण्यपा॒वाः प॒शुमा॑सु गृह्णते॥१८॥

भा०—परमेश्वर के उपासक पुरुष (अञ्जते) प्रथम अपने नेत्रों को ज्ञानरूप अंजन से आंजते हैं, ब्रह्म को साक्षात् करते हैं। (वि-अञ्जते) फिर विशेष रूप से उसका साक्षात् करते हैं और फिर (सम् अञ्जते) निरन्तर भली प्रकार उसका साक्षात् करते हैं। और फिर (क्रतुं रिहन्ति) क्रतु=कर्त्ता आत्मा के स्वरूप को भी प्राप्त करते हैं, ब्रह्मानन्द ज्ञानरस का आस्वाद करते हैं। और उसको (मधुना) मधु=अमृत ब्रह्मरस से (अभि अञ्जते) साक्षात् रूप से प्रकाशित करते हैं। (सिन्धोः) स्यन्दनशील, या महासागर के समान सबके आश्रयभूत परमेश्वर के (उच्छ्वासे) दिये उच्चतम प्राण के आधार पर (पतयन्तम्) गति करते हुए (उक्षणम्) धर्ममेघरूप आनन्द जल की वर्षा करने वाले (पशुम्) ब्रह्मद्रष्टा आत्मा को (हिरण्यपावाः) अपने आत्मा को पवित्र करने वाले साधक योगीजन ही (आसु) इन भीतरी नाड़ियों में (गृह्णते) उसका साक्षात् करते हैं।

यद् वो॑ मु॒द्रं पि॑तरः सो॒म्यं च॒ तेनो॑ सचध्वं॒ स्वय॑शसो॒ हि भू॒त।
ते अ॑र्वाणः कवय॒ आ शृ॑णोत सुवि॒दत्रा॑ वि॒दथे॑ हू॒यमा॑नाः॥१९॥

भा०—हे (पितरः) पालक जनो! वृद्ध पुरुषो! माता पिता गुरुजनो! (वः) आप लोगों का (यद्) जो (मुद्रम्) हर्षजनक या मुद्रास्वरूप और (सोम्यं च) सोम्य, सोम, शिष्यों के देने योग्य ज्ञान या सोम, ब्रह्मानन्द परमेश्वर से प्राप्त भजन रस है (तेनो) उसके सहित आप लोग (स्वयशसः) स्वयं यशस्वी और वीर्यवान् होकर (सचध्वम्) हमें प्राप्त होओ और उसी से (हि) निश्चय से (भूत) आप सामर्थ्य-

१८–(प्र०) 'गृम्णते' इति ऋ०। 'पशुमप्सु' इति साय०।

वान् बने रहो । (ते) वे नाना प्रकार के आप लोग (अर्वाणः) उत्तम मार्ग से गति करने वाले (कवयः) क्रान्त प्रज्ञावान्, मेधावी (सुविदत्राः) उत्तम दानशील या उत्तम ज्ञानसम्पन्न आप लोग (विदथे) ज्ञानमय यज्ञ में (हूयमानाः) बुलाये जाकर (आ शृणोत) हमारे वचनों को सुनो ।

ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः ।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम्
॥ २० ॥ (१४)

भा०—(ये) जो (अत्रयः) अत्रि अर्थात् त्रिविध तापों से रहित (अंगिरसः) अंगारों के समान तेज से चमकने वाले, वर्चस्वी (नवग्वाः) नव-नवीन या नयी नयी वाणी, उत्तम ज्ञानोपदेशों को प्राप्त करने या प्राप्त कराने वाले अथवा नवों प्राणों के वश करने वाले, (इष्टावन्तः) यज्ञ करनेहारे (राति-साचः) दान देने, पवित्र दान ग्रहण करने हारे और सबको (दधानाः) धारण पोषण करने वाले हैं (ये उ स्थ) और जो आप में (दक्षिणावन्तः) दक्षिणा वाले, दानशील, क्रियाकुशल (सुकृतः) पुण्य-कर्मा (स्थ) हैं वे सब आप एकत्र विराज कर (अस्मिन् बर्हिषि) इस आसन या यज्ञ में (मादयध्वम्) प्रसन्न रहो ।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः ।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्
॥ २१ ॥　　ऋ० ६ । २ । १६ ॥ यजु० १९ । ६९ ॥

भा०—(अध) और (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे (परासः) अतिश्रेष्ठ (प्रत्नासः) पुरातन (पितरः) गुरुजन (ऋतम्) सत्य ज्ञान

१९—(द्वि०) 'भूतन्' इति सायणः । (तृ०) 'अर्वाञ्चः' इति ह्विटनि-कामितः ।

२१—(द्वि०) 'आशुषाणाः' (तृ०) 'दीधितम्' इति क्वचित् ।

को (आ शशानाः) प्राप्त करते हुए (शुचि इव) शुद्ध प्रकाश को (अयन्) प्राप्त होते हैं और (दीध्यतः) स्वयं प्रकाशमान होकर (उक्थ-शासः) उक्थ=ब्रह्म या वेद मन्त्रों का अनुशासन करते हुए (क्षाम) अन्धकार को (भिन्दन्तः) नाश करते हुए (अरुणीः) अरुण, तेजमय कान्तिमय, ज्ञानधाराओं को या वेदवाणियों को भी (अपव्रन्) प्रकट या-प्रकाशित करते रहे हैं उसी प्रकार हम भी किया करें।

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वी गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥२२॥
ऋ० ४ । २ । १७ ॥

भा०—(सुकर्माणः) उत्तम कर्म करनेवाले सदाचारी, परोपकारी, (सुरुचः) शुद्ध, सुन्दर कान्ति या रुचिवाले, उत्तम प्रवृत्ति वाले (देवयन्तः) देवोपासना करनेवाले, ईश्वरभक्त पुरुष स्वयं (देवाः) देव, विद्वान् होकर भी अपने (जनिमा) जन्म को या उत्पन्न देह को (अयः न) लोहार जिस प्रकार लोहे को आग में तपा २ कर शुद्ध करता है उसी प्रकार (धमन्तः) बराबर तपस्या द्वारा तप्त करते हुए और (अग्निं) अपने ज्ञानमय आत्मा को अग्नि के समान (शुचन्तः) प्रदीप्त करते हुए और (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (वावृधन्तः) स्तुतियों द्वारा महिमा बढ़ाते हुए (उर्वीम्) विशाल (गव्याम्) गो, वाणी के प्रकाश करने के लिये (नः) हमारी (परिषदम्) परिषद् (अक्रन्) बनावें।

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः।
मर्तानाश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥
ऋ० ४ । २ । १८ ॥

२२–'देवयन्तोऽयो' इति ऋ० । (च०) 'उर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन्' इति ऋ० ।

भा०—(उग्रः) उग्र, बलवान् गोपाल जिस प्रकार (क्षुमति) अन्न वाले स्थान पर (पश्वः) पशु के यूथों को (आ-अख्यत्) देखता है उसी प्रकार (उग्रः) उग्र सदा उद्यत दण्ड परमेश्वर भी उग्र होकर (देवानां जनिमा) अग्नि आदि देवों, विद्वानों और प्राणों के (जनिम) उत्पत्ति पर (अख्यत्) देखता है, उस पर सदा दृष्टि रखता है, उसी की रक्षा करता है। (मर्त्तासः चित्) मरणधर्मा पुरुष तो केवल (उर्वशीः) स्त्रियों का (अकृप्रन्) भोग करते हैं। परन्तु (अर्यः) वह सबका स्वामी परमेश्वर ही (उपरस्य) गर्भाशय में वपन किये हुए गर्भस्थ (आयोः) मनुष्य के (वृधे चित्) बढ़ाने के लिये समर्थ होता है।

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥२४॥

भा०—हे परमेश्वर ! हम (ते) तेरे लिये (अकर्म) नित्य कर्म करें। और तभी (सु अपसः) उत्तम कर्म और ज्ञान वाले होवें। (विभातीः) प्रकाशवान (उषसः) उषाएं (ऋतम्) हमारे यज्ञ या ज्ञान के कर्म में (अवस्रन्) नित्य आया करें। (देवाः) देवगण, विद्वान् जन (यद् अवन्ति) जिसकी रक्षा करते हैं। (तद् विश्वम्) वह विश्व (भद्रम्) अति सुखकारी हो। हम (सुवीराः) उत्तम वीर, वीर्यवान् होकर (विदथे) ज्ञानमय यज्ञ में (बृहत्) उस महान् परमेश्वर की खूब (वदेम) स्तुति करें, उसके गुणों का वर्णन करें।

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२५॥

२३–(द्वि०) 'देवानामहं जनि ' (तृ०) 'मर्त्तानां' इति ह्विटनिकामितः ।
ऋग्वेदे २१–२३ इत्यासां वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता ।
२४–(द्वि०) 'अवन्नन्नुष–' इति सायणाभिमतः ।
२५–(द्वि०) 'बाहुच्युताम्' इति वेबरकामितः पाठः ।

भा०—(मरुत्वान्) प्राणों और वायुओं या प्रजाओं का स्वामी (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् आत्मा, परमात्मा और राजा (मा) मुझे (प्राच्याः) प्राची (दिशः) दिशा की ओर से (पातु) रक्षा करे (उपरि) ऊपर से (द्याम् इव) द्यौलोक को जिस प्रकार पृथिवी रक्षा करती है उसी प्रकार (बाहुच्युता) हमारे बाहुबल से च्युत=सुरक्षित, बाहुओं के अधीन आई हुई या बाहुओं द्वारा विजय की हुई (पृथिवी) पृथिवी, भूमि लोक या उसमें रहनेवाली प्रजा (उपरि द्याम् इव) अपने ऊपर विद्यमान आकाश या सूर्य के समान आच्छादक या प्रकाशक या रक्षक राजा की रक्षा करती है। ये) जो (देवानाम्) देव-राजा और राजा के नियत अधिकारियों में से (इह) इस राष्ट्र में (हुतभागाः स्थ) आप लोग अपने भाग, वेतन या अंश को प्राप्त करने वाले हैं वे (लोककृतः) लोक, प्रजाओं के व्यवस्थाकर्त्ता और (पथिकृतः) मार्ग दर्शाने वाले या कानून बनाने वाले हैं, हम (यजामहे) उनकी पूजा, सत्कार करें।

अयं वै पृथिवीलोको मित्रः असौ द्युलोको वरुणः। वरुणो राजा। श० । १२ । ८ । २ । १२॥ एष वा वैश्वानरो यद् द्यौः । श० । ७० । ६ । १ । ९ ॥ असौ द्यौः पिता । है० ३ । ८ । ९ । १ ॥ ऐन्द्री द्यौः । तां० १५ । ७ । ८ ॥

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहु० । ० ॥ २६ ॥

भा०—(धाता) सबका पालक पोषक और धारण करने वाला परमेश्वर (मा) मुझको (निर्ऋत्या) घोर, बलवती और तीव्र तेजस्विनी विद्युत् शक्ति से (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण की दिशा से आने वाले उपद्रवों से अर्थात् मृत्यु के उपद्रवों से उसी प्रकार (पातु) बचावे। जिस प्रकार (बाहुच्युता पृथिवी उपरि द्याम् इव) अपने बाहुबल से सुरक्षित

१. दिवेर्वा द्योतनार्थस्य, ददातेर्वा दानार्थस्य दयतेर्वा पालनार्थस्य ।

२. च्युङ् गतौ । भ्वादिः । च्यु हसनसहनयोः । चुरादिः ।

पृथिवी अपने ऊपर के रक्षक राजा की रक्षा करती है (लोककृतः० इत्यादि) पूर्ववत् ।

अदितिर्माद्वित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहु० । ० ॥ २७ ॥

भा०—(अदितिः) अखण्डित, शासनवाला, नित्य, परमेश्वर (आदित्यैः) अपने उत्पन्न किये सूर्य आदि पदार्थों से (मा) मुझे (प्रतीच्या दिशः) प्रतीची दिशा से (पातु) रक्षा करे । (बाहुच्युता० इत्यादि) पूर्ववत् ।

सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहु० । ० ॥ २८ ॥

भा०—(सोमः) सर्वोत्पादक और सर्वप्रेरक प्रभु (मा) मुझे (विश्वैः देवैः) समस्त देव, जीवन दान करने वाले, दिव्य गुण वाले पदार्थों से (उदीच्याः दिशः) उदीची दिशा की ओर से (पातु) रक्षा करे (बाहुच्युता० इत्यादि) पूर्ववत् ।

धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि । लोककृतः० ॥ २९ ॥

भा०—(धर्ता) सब विश्व को धारण करने वाला (धरुणः) आश्रय-स्तम्भ के समान, सब विश्व का आधारभूत (त्वा) तुझे (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व, ऊँचे स्थानों में भी (धारयातै) उसी प्रकार धारण करता, पालन पोषण करता है जिस प्रकार (सविता) सर्वप्रेरक सूर्य (उपरि) ऊपर (भानुम्) प्रकाशमान (द्याम् इव) द्यौ लोक को धारण करता है । (लोककृतः) इत्यादि पूर्ववत् ।

अधिकारियों की पदों पर नियुक्ति ।

प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहु० । ० ॥ ३० ॥ (१५)

भा०—हे पुरुषो ! (प्राच्यां दिशि) प्राची दिशा में (पुरा) पालन

करने वाली पुरी या नगरी के चारों ओर लगी परिखा द्वारा (संवृतः) भली प्रकार आवृत, सुरक्षित होकर मैं राजा (त्वा) तुझ को (स्वधा-याम्) स्वयं धारण करने योग्य, अन्न आदि के वेतन या पृथिवी आदि पुरस्कार पर (आदधामि) स्थापित करता हूं। (बाहुच्युता इत्यादि) पूर्ववत्। अथवा मैं राजा (त्वा पुरा संवृतः १) तुझ को 'पुर्' नागरी से संवरण या गुप्त करके (स्वधायाम् आ दधामि) तुझे तेरे पद पर स्थापित करता हूं।

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा० । ० ॥ ३१ ॥ प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा० । ० ॥ ३२ ॥ उदीच्यां त्वा दिशि पुरा० । ० ॥३३॥ ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा० । ० ॥ ३४ ॥ ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतौ यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा ५) तुझको; (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशा में, (प्रतीच्यां दिशि) प्रतीची दिशा में (उदीच्यां दिशि) उदीची दिशा में (ध्रुवायां दिशि) ध्रुवा नीचेकी दिशा में (ऊर्ध्वायां दिशि) और ऊर्ध्व-ऊपर की दिशा में (पुरा संवृतः) पुर की-नगरकोट से सुरक्षित रहता हुआ मैं राजा तुझ पुरुष को (स्वधायाम् आदधामि) स्वयं धारण ग्रहण करने योग्य अन्न वेतन या भूमि पर अधिकारी रूप से नियत करता हूं (बाहुच्युता लोककृतः ० इत्यादि पूर्ववत्)

धर्तासि धरुणोसि वंसगोसि ॥ ३६ ॥
उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

भा०—हे राजन् ! प्रभो ! (धर्त्ता असि) प्रजाओं का धारण करने हारा, (धरुणः असि) सबका आश्रय या सबको अपने में धारण करने योग्य, सर्वतः उपास्य है। और (वंसगः) वृषभ के समान सुन्दर

मनोहर गति से चलने वाला नरपुंगव, नरश्रेष्ठ है। (दृद्रप्: असि) मेघ के समान जल द्वारा प्रजा का पालन करने वाला और (मद्रुप्: असि) अन्न द्वारा प्रजा का पालन करने वाला और (वातप्: असि) वायु द्वारा प्रजा का पालक है अथवा जल, मधु, अन्न और वायु इनको पवित्र करने वाला है।

राजा और प्रजा का परस्पर व्यवहार।

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम्।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने॥३८॥

हि० गृ० च० कृ० २० । १३ । १ प्र० द्वि० गृ० ॥

भा०—(यत्) जब तुम दोनों राजगण और प्रजागण माता और पिता, अन्न का धारण करने वाले आप दोनों (यमे) सुव्यवस्थित युगलरूप से (यतमाने) परस्पर के पालन में यत्न करते हुए (ऐतम्) जाते हो तब तुम दोनों (माम्) मुझको (इतः च) समीप के देश से और (अमुतः च) दूर के देश से भी (अवताम्) रक्षा करो। पृथ्वी समीप से और आकाश दूर के देश से रक्षा करे। (देवयन्तः) देव, चमकने वाले और शक्ति देने वाले पदार्थों को अपने वश करने वाले विद्वान् (मानुषाः) विचारशील लोग (वां) तुम दोनों का (भरन्) भली प्रकार पालन पोषण करें। आप दोनों (स्वं लोकम्) अपने २ स्थान, पद और प्रतिष्ठा को (विदाने) प्राप्त करते हुए (आसीदताम्) विराजमान रहो। द्यौर्हविर्धानम्। तै० २ । १ । ५ । १ ॥ द्यावा पृथिवी वै देवानां हविर्धाने आस्ताम्। ऐ० १ । २९ ॥

स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः।

---

१. स्वार्थे कः। संकुल इत्यर्थः।

३८-४१ पर्यन्तानामृचां ऋग्वेदे विवस्वानादित्य ऋषिः हविर्धाने देवते।

वि श्लोकं एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥३९॥
(तृ० च०) ऋ० १० । १३ । २ ॥ प्र० द्वि० तृ० ॥

भा०—हे अन्नों को धारण करने हारे राजागण और प्रजागण ! आप दोनों (नः) हमारे (इन्दवे) परम ऐश्वर्यवान् राजा के लिये (सु आसस्थे) सुखपूर्वक अपने २ आसन पर उपविष्ट (भवतम्) हो जाओ। (वां) तुम दोनों को मैं (नमोभिः) नमन करने वाले, वश करने वाले उत्तम नियमों से (पूर्व्यं ब्रह्म) पूर्ण या पुरातन ब्रह्म वेद का उपदेश (युजे) करता हूं। (सूरिः) सूर्य जिस प्रकार (पथ्या) उचित मार्ग के अनुसार आता है उसी प्रकार (श्लोकः) समस्त पदार्थों का दर्शन कराने वाला यह ज्ञानमय वेद भी (वि एति) विविध मार्गों में गति करता है। हे (अमृतासः) अमृत, अमर, दीर्घायु पुरुषो ! आप (विश्वे) सब लोग (एतत्) इस वेद ज्ञान का (शृण्वन्तु) श्रवण करें।

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद्व्रतेन ।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ ४० ॥
ऋ० १० । १३ । ४ ॥

भा०—(रुपः) बीज से उत्पन्न होने वाला जीव (त्रीणि पदानि) तीन पदों, ज्ञानमय वेद त्रयी को (अनु, अरोहत्) क्रम से चढ़ जाता है। (अनु एतत्) और उसके पश्चात् (व्रतेन) व्रत पूर्वक (चतुष्पदीम्) चार पदों वाली चतुर्वेदमय वेद वाणी को प्राप्त होता है, तब (अक्षरेण) अक्षर अविनाशी 'ओंकार' रूप से (अर्कम्) अर्चना, उपासना करने योग्य

३९-(तृ०) 'सूरेः' इति ऋ०।
४०-'पञ्चपदानि', 'अन्वरोहम्' (द्वि०) 'अन्वेमि' (तृ०) 'प्रतिमिमे' (च०) 'सम्पुनामि' इति ऋ०।

परमेश्वर का (प्रति मिमीते) प्रत्येक गुण से या प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान् शक्ति सहित ज्ञान करता है। और तब (ऋतस्य) ऋत-सत्य ज्ञान या समस्त संसार या यज्ञ के (नाभौ) एकमात्र आश्रयरूप परमेश्वर में ही मग्न होकर (अभि) उसको साक्षात् करके अपने को (सं पुनाति) भली प्रकार पवित्र कर लेता है।

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच ॥ ४१ ॥

ऋ० १० । १३ । ४ ॥

भा० (देवेभ्यः) देवों के लिये (कम्) किस प्रकार के या कौन से (मृत्युम्) मृत्यु को परमेश्वर ने (अवृणीत) दूर किया है? (प्रजायै) प्रजा से (किम्) किस प्रकार के (अमृतम्) अमृत को (न अवृणीत) नहीं दूर किया। अर्थात् देवों की कैसी मृत्यु दूर की है और प्रजा को किस प्रकार का अमृत प्रदान किया है? (बृहस्पतिः) महान् लोकों का पालक (ऋषिः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर (यज्ञम्) ऐसे प्रजातन्तु रूप यज्ञ को (अतनुत) विस्तारित करता है और (यमः) वह सर्वनियन्ता परमेश्वर जीव के (प्रियाम्) प्रिय शरीर को (आरिरेच) मृत्यु रूप अग्नि से हर लेता है अथवा (यमः) ब्रह्मचारी योषाग्नि में अपने (प्रियाम् तन्वं आरिरेच) सन्तति को गर्भाधान द्वारा वपन करता है। ईश्वर ने विद्वानों की मृत्यु को इसी प्रकार दूर किया है कि प्रजाओं को ही परमात्मा ने सन्तति रूप से अमर कर दिया है। यह परमात्मा का महान् यज्ञ है कि वह जीव के देह को नष्ट करता है और उसकी मृत्यु रूप अग्नि में आहुति देता है और नये २ जीवों को उत्पन्न करता है।

४१-(द्वि०) 'कममृतं' (तृ०) 'बृहस्पतिर्यज्ञमकृण्वत ऋषिम्' (च०) 'प्रारिरेचीत्' इति ऋ० ।

त्वमग्न ईडितो जातवेदो वाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥४२॥
ऋ० १० । १५ । १२ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त उत्पन्न पदार्थों को जानने हारे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक ! सब के अग्रणी ! (ईडितः) स्तुतिपात्र (त्वम्) तू (हव्यानि) अन्नों को (सुरभीणि) अति सुगन्धित, एवं पुष्टिकारक (कृत्वा) करके (अवाट्) प्रदान करता है। और (पितृभ्यः) प्रजा के पालन करने वाले गृहस्थ मा बाप को (प्रादाः) प्रदान करता है। (ते) वे (स्वधया) अपनी धारण और पालन करने की शक्ति से या स्वधा, अपने देहको पालन करने वाले पर्याप्त अन्न के रूप में (हव्यानि) उन नाना प्रकार के हव्य रूप अन्नों को (अक्षन्) प्राप्त करते, उनका उपयोग करते हैं। हे (देव) सब को देने वाले देव राजन् ! प्रभो ! (त्वं) तूही सब (प्रयता हवींषि) प्रदान किये हवियों अन्न। को (अद्धि) स्वीकार कर लेता है।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥
यजु० १९ । ६३ ॥ ऋ० १० । १५ । ७ ॥

भा०—हे (पितरः) राष्ट्र के पालक माता पिता गुरुजन एवं वृद्ध पुरुषो ! आप लोग (अरुणीनाम्) अरुण, लाल वर्णवाली माताओं या गौओं या पृथिवियों के (उपस्थे) समीप, उनके आश्रय में (आसीनासः) रहते हुए (दाशुषे) आपको अन्न आदि प्रेम से देने वाले (मर्त्याय) मरणधर्मा पुरुष को (रयिं धत्त) धन प्रदान करो। और (पितरः) पिता लोग जिस प्रकार (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को धनादि प्रदान करते हैं उसी प्रकार आप लोग भी (वस्वः) वसु-धन (प्रयच्छत) प्रदान करो । (ते)

४२—ऋग्वेदे ४२-४४ आसामृचां शंखो यामायन ऋषिः। पितरो देवताः।

वे नाना विभागों के अध्यक्ष, प्रजापालक अधिकारी पुरुषो ! आप लोग (इह) इस राष्ट्र में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक, बलकारक अन्न (दधात) प्रदान करो ।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४॥
यजु० १६ । ५६ ॥ ऋ० १० । १५ । ११ ॥

भा०—(अग्नि-स्वात्ताः) जिन गृहस्थ पुरुषों ने सोमपान नहीं किया वे 'अग्निष्वात्त' हैं अथवा जिन्होंने अग्नि, विद्युत आदि का विज्ञान प्राप्त किया है या अग्नि के समान तापदायक तेजों से सम्पन्न हैं वे आप (पितरः) प्रजाके पालक गण, (इह) इस यज्ञ में (आ गच्छत) आवें । हे (सुप्रणीतयः) भली प्रकार सब अनुष्ठान करने हारे और उत्तम फल प्राप्त करने में उत्तम नीति, साधना का उपदेश करने हारे विद्वान् लोगो ! आप (सदः सदः) प्रत्येक सभा गृह में (सदत) प्राप्त होओ । और (बर्हिषि) बर्हि, यज्ञ में (प्रयतानि) प्रदान किये (हवींषि) अन्न आदि पदार्थों को (अत्तो) प्राप्त करो, खाओ और (नः) हमें (सर्ववीरम्) सब प्रकार वीर पुरुषों से युक्त (रयिम्) धन सम्पत्ति का (दधात) प्रदान करो । ये वा अयज्वानो गृहमेधिनस्तेऽग्निष्वात्तास्ते पितरोऽग्निष्वात्ताः, इति तै० ब्रा १ । ६ । ९ । ६ ॥

उपहूताः नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्ये/षु निधिषु प्रियेषु ।
ते आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु ते/वन्त्वस्मान् ॥ ४५ ॥
ऋ० १० । १५ । ५ ॥ यजु० १६ । ५१ ॥

४४-(तृ०) 'अत्त' (च०) 'अथारयिं सर्ववीरं दधातन ।' इति ऋ० । अत्ता, (च०) 'दधातन' इति सायणाभिमतश्च ।

४५-(प्र०) 'उपहूताः पितरः' इति ऋ०, यजु० ।

भा०—(नः) हमारे (सोम्यासः) सोमपान करने वाले, पर ब्रह्मोपासक, एवं विद्वान् या राजा के हितकारी (पितरः) पालक जन (बर्हिष्येषु) यज्ञ सम्बन्धी (प्रियेषु) प्रिय (निधिषु) रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थों द्वारा (उपहूताः) आदर सत्कार पूर्वक अर्चित किये जायँ। (ते) वे (आगमन्तु) आवें (ते) वे (इह) इस यज्ञ या राष्ट्र या लोक में (श्रुवन्तु) हमारी प्रार्थनाओं को सुनें और (अस्मान्) हमें ते (अधि ब्रुवन्तु) उपदेश करें, आज्ञा दें और (अस्मान् अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ४६ ॥
ऋ० १० । १५ । ८ ॥ यजु० १ । ५१ ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पिता और (ये) जो (पितामहाः) बाबा हैं जो (वसिष्ठाः) वसु, बसने वाले बस्ती के निवासियों में सब से श्रेष्ठ, प्रतिष्ठित होकर (सोमपीथं) सोमपान या राष्ट्र के पालन कार्य को (अनु जहिरे) क्रम से एक दूसरे के बाद करते हैं। (तेभिः) उनके साथ (संरराणः) अच्छी प्रकार रमण करता हुआ, आनन्द प्रसन्न होकर (यमः) प्रजाओं का नियन्ता राजा (हवींषि उशन्) हविः श्रेष्ठ अन्नों को या योग्य पदार्थों को चाहता हुआ (उशद्भिः) नाना योग्य पदार्थों को स्वयं भी चाहने वाले प्रजारक्षक अधिकारियों के साथ (प्रतिकामम्) अपने इच्छानुसार इन (हवींषि) प्रजा से प्राप्त अन्न आदि भोग्य पदार्थों को (अत्तु) भोग करे।

४६–(४६) 'येनः पूर्वे पितरः सोम्यासः' इति ऋ०। (द्वि०) 'अनूहिरे' इति यजु०। 'अनुजहिरे', 'अनूजहारे', 'अनूजहिरे', 'अनुजहारे' इति नानापाठः।

ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविद स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥४७॥

ऋ० १० । १५ । ६ प्र० द्वि० तृ० च० ॥

भा०—(ये) जो (देवत्रा) देव विद्वान् परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (जेहमानाः) निरन्तर यत्नशील होते हुए (होत्राविदः) 'होत्र' त्यागपूर्वक दिये अन्नों को प्राप्त करने वाले (अर्कैः) स्तुति के वचनों से (स्तोमतष्टासः) स्तुतियों को बनाने वाले (तातृपुः) ईश्वर के रसके लिए पिपासा अनुभव करते हैं । इन (सत्यैः) सच्चे (घर्मसद्भिः) तेजःसम्पन्न या यज्ञ में बैठने वाले (ऋषिभिः कविभिः) मन्त्रद्रष्टा ऋषियों, क्रान्तदर्शी, विद्वान् (देववन्दैः) (सहस्रं) हज़ारों ईश्वर के उपासकों के साथ हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् या आचार्य ! (आ याहि) आप आवें ।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥४८॥

ऋ० १० । १५ । १० प्र० द्वि० तृ० ६ च० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! आचार्य ! परमेश्वर ! (ये) जो (सत्यासः) सत्यवादी, सत्यकर्म (हविः अदः) पवित्र अन्न को खानेवाले (हविष्पाः) पवित्र अन्न का पान करने वाले अथवा (हविरदः, हविष्पाः) हवि अर्थात् वेतन का भोग करने वाले और हवि अर्थात् आज्ञा का पालन करने वाले होकर (तुरेण) शत्रुनाशक या वेगवान् (देवैः) सामन्त राजाओं के साथ (सरथम्) उनके समान रथ पर सवार होकर चलते हैं उन

४७–(च०) 'कव्यैः पितृभिः' इति ऋ० । (प्र०) 'तातृपुः' इति तै० आ० । (द्वि०) 'होत्रावृधः'

४८–(द्वि०) 'सरथं दधानाः' (च०) 'पूर्वैः पितृभिः' इति ऋ० ।

(सुविदत्रेभिः) उत्तम ज्ञानी पुरुषों और (परैः) उत्कृष्ट, ज्ञानवृद्ध और (पूर्वैः) अपने कला और कौशल और ज्ञान में पूर्ण (घर्मसद्भिः) सूर्य के प्रखर धाम के समान तापकारी तेज में विराजमान (ऋषिभिः) ऋषि, ज्ञानद्रष्टा पुरुषों के साथ (आयाहि) हमें प्राप्त हो ।

उप॑ सर्प मा॒तरं॒ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म् ।
ऊर्ण॑म्रदाः पृथि॒वी दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु॒ प्रप॑थे पु॒रस्ता॑त् ॥४९

ऋ० १० । १८ । १ ॥

भा०—हे राजन् ! (एताम्) इस (उरु-व्यचसम्) विशाल विस्तार वाली (सुशेवाम्) सुखप्रद (पृथिवीम्) अति महान्, विस्तृत, (मातरम्) सब की माता, उत्पन्न करने वाली (भूमिः) सर्वाधार भूमि को (उपसर्प) तू प्राप्त हो (दक्षिणावतः) दक्षिणा या शक्ति से सम्पन्न अर्थ सम्पत्ति या कार्य को अधिक बलपूर्वक करने की शक्तियों से सम्पन्न पुरुष के लिए यह (पृथिवी) पृथिवी भी (ऊर्णम्रदाः) कठिन न होकर उनके समान अति कोमल है (एषा) वह (प्रपथे) सब मार्ग में (पुरस्तात्) तेरे आगे से (त्वा) तुझको (पातु) पालन करे ।

उच्छ्व॑ञ्चस्व पृथिवि॒ मा नि बा॑धथाः सूपाय॒नास्मै॑ भव सूपसर्प॒णा ।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑/नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)

ऋ० १० । १८ । ११ ॥ तृ० च० अथर्व० १८ । २ । ५० तृ० च० ॥

भा०—हे (पृथिवि) भूमि ! तू (उत्-श्वञ्चस्व) उन्नति को प्राप्त हो । ऊपर उठ । (मा नि बाधथाः) अपने ऊपर के निवासी प्रजा और राजा को पीड़ित मत कर । (अस्मै) इस उत्तम राजा के लिये (सु-

४९-(तृ०) 'ऊर्णम्रदाः युवतिर्द' (च०) 'पातु निर्ऋतेरुपस्थात्' इति ऋ० ।
५०-(द्वि०) 'सूपवञ्चना' इति ऋ० । (प्र०) 'उच्मत्चस्व', 'विबाधिताः सूपवञ्चना' (च०) 'भूमिवृणु' इति तै० आ० ।

उपायना) उत्तम रीति से प्राप्त करने योग्य एवं उत्तम उपहार के समान और (सु-उपसर्पणा) उत्तम रीति से उपसर्पण करने वाली उसके शरण में आनेवाली होकर (भव) रह । हे (भूमे) सर्वाश्रय भूमे ! (माता पुत्रं यथा) जिस प्रकार माता पुत्र को प्रेम से अपना दूध पिलाती है उसी प्रकार तू (एनम्) इस राजा को (सिच) सुखप्रद अन्नों से पूर्ण कर और (अभि ऊर्णुहि) सब प्रकार आच्छादित कर, सुरक्षित कर । यहां पृथिवी से पृथिवी और उसमें निवास करने वाली प्रजा दोनों का ग्रहण करना चाहिये ।

उ॒च्छ्वञ्च॑माना पृथि॒वी सु ति॑ष्ठतु स॒हस्रं॒ मित॒ उप॒ हि श्रय॑न्ताम् ।
ते गृ॒हासो॑ घृत॒श्चुतः॑ स्यो॒ना वि॒श्वाहा॑स्मै शर॒णाः स॒न्त्वत्र॑ ॥५१॥

ऋ० १० । १८ । १२ ॥

भा०—(उत् श्वञ्चमाना) ऊपर बढे शरीर वाली, खूब पुलकित शरीर-अर्थात् खूब ओषधि और कृषि आदि से सम्पन्न (पृथिवी) पृथिवी (सु तिष्ठतु) उत्तम रीति से विराजमान रहे । (सहस्रम्) हज़ारों लोग (मितः=मिथः) परस्पर मिलकर (उप) पास (श्रयन्ताम्) इस पर अपना बसेरा करें । (ते) वे (गृहासः) गृह (घृतश्चुतः) घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों को देने वाले (स्योनाः) सुखकारक और (अस्मै) इस स्वामी के लिये (विश्वाहा) सब प्रकार से (अत्र) इस लोक में (शरणाः) शरणप्रद (सन्तु) हों ।

उत् ते॑ स्तभ्नामि पृथि॒वीं त्वत् परी॒मं लो॒गं नि॒दध॒न्मो अ॒हं रि॑षम् ।
ए॒तां स्थूणां॑ पि॒तरो॑ धारयन्ति॒ ते तत्र॑ य॒मः साद॑ना ते कृणोतु ॥५२॥

ऋ० १० । १८ । १३ ॥

५१—(तृ०) 'घृतश्चुतो भवन्तु' इति ऋ० ।

५२—(तृ० च०) 'धारयन्तु तेऽत्र' (च०) 'मिनोतु' इति ऋ० । (प्र०)

भा०—हे राजन् ! (ते पृथिवीम्) तेरे निमित्त पृथिवी को (उत् स्तभ्नामि) उन्नत करता हूँ, और हे राजन् (त्वत् परि) तेरे इर्दगिर्द, तेरे आश्रय पर, तेरी रक्षा में (इमं लोगम्) इस लोकसमाज को (निदधत्) बसाता हुआ (अहम्) मैं (मा रिषम्) पीड़ित न होऊं। (पितरः) राष्ट्र के पालक लोग (एताम्) इस (स्थूणाम्) आश्रयभूत, राज्य के भार को उठाने वाली धुरा को (धारयन्ति) स्वयं धारण करते हैं। हे पुरुष ! (तत्र) उस कार्य में (यमः=मयः) नियामक, नियन्ता, शक्तियों को नियामक, व्यवस्थापक या शिल्पी (ते) तेरे लिये (सादना) आश्रयस्थान, गृहों, इमारतों को (कृणोतु) बनावे ।

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥५३॥
ऋ० १० । १६ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! सेनापते ! तू (इमम्) इस (चमसम्) पृथ्वी के भोग्य पदार्थों के भोग करने वाले राजा के प्रति (मा वि जिह्वरः) कुटिलता का वर्त्ताव मत कर। यह (देवानां प्रियः) देव, समस्त विद्वानों और राजाओं का (उत) और (सोम्यानाम्) सोम, ज्ञान से सम्पन्न विद्वानों का (प्रियः) प्यारा है। (अयम्) यह (यः) जो (देवपानः) देवों, विद्वानों का रक्षक (चमसः) स्वयं भी नाना भोग्य पदार्थों का भोक्ता है। (तस्मिन्) उसके आश्रय पर रहने वाले (अमृताः) अमृतरूप, मृत्युरहित दीर्घायु (देवाः) देवगण, विद्वान् पुरुष (मादयन्ताम्) हर्षित और आनन्दित हों। यज्ञ चमस में भी शब्दसाम्य से श्लेष पूर्वक इसकी योजना स्पष्ट है।

'स्तभ्नोमि' इति तै० आ० । (द्वि०) 'लोकं' (तृ०) 'धारयन्तु ते' इति ऋ० सायणाभिमतश्च ।

५३—(तृ०) 'इयं' (च०) 'मादयन्ते' इति ऋ० ।

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते।

तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ५४

भा०—(अथर्वा) सब का कल्याण करने हारा पुरोहित, अथर्वा, (यम्) जिस (पूर्णम्) पूर्ण (चमसम्) चमस पात्र को (वाजिनीवते) सेना से बल से युक्त (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् सेनापति के लिये (अबिभः) स्वयं धारण करता है (तस्मिन्) उसके आश्रय पर ही (सुकृतस्य) उत्तम कार्यों, पुण्यमय कार्यों के (भक्षं) भोग्य फलको (कृणोति) उत्पन्न करता है। (तस्मिन्) और उसके आश्रय पर ही (इन्दुः) पात्र में सोमके समान ज्ञान रससे सम्पन्न विद्वान् गण भी (विश्वदानीम्) नित्यकाल (पवते) उन्नति को प्राप्त करता है।

यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः।

अग्निष्टद् विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश॥५५॥

ऋ० १० । १६ । ६ ॥

भा०—हे पुरुष! (ते) तेरे शरीर में (यत्) यदि (कृष्णः शकुनः) काला पक्षी, काक आदि (पिपीलः) कीड़ी आदि जन्तु (सर्पः) सांप, (उत श्वापदः) और कुत्ता, वृक आदि हिंसक जन्तु (आ तुतोद) घाव करदे तो (तत्) उसको (विश्वात्) सब पदार्थों का भक्षक (अग्निः) अग्नि (अगदं कृणोतु) रोग रहित करे। और (यः) जो (सोमः) सोम ओषधि या शान्तिदायक पुरुष भी जो (ब्राह्मणान्) ब्रह्मके विद्वान् पुरुषों में (आविवेश) विद्यमान है वह वैद्य भी तुझ को (अगदं कृणोतु) रोग रहित करे।

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः।

५५-(तृ०) 'विश्वादनद्दं' इति तै० आ०।

आपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥ ५६ ॥

प्र० द्वि० अथर्व० ३ । २४ । १ प्र० द्वि ॥ ऋ० १० । १७ । १४ ॥

भा०—(ओषधयः) सब ओषधियां (पयस्वतीः) पुष्टिप्रद रस वाली हों और (मामकं पयः) मेरा प्राप्त किया सारभूत पदार्थ, वचन भी (पयस्वत्) पुष्टिकारक रस वाला हो और (यत्) जो (अपां) जलों के (पयसः) सारभूत पदार्थ का भी (पयः) पुष्टिप्रद रस है (तेन सह) उससे परमात्मा (मा) मुझे (शुम्भतु) सुशोभित करे ।

स्त्रियों के कर्त्तव्य

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥५७॥

ऋ० १० । १८ । ७ ॥ अथर्व० १२ । २ । ३ ॥

भा०—(इमाः) ये (अविधवाः) सधवायें (नारीः) नारियें (सुपत्नीः) उत्तम गृहस्वामिनी हैं । वे (सर्पिषा) घृत से मिले (आञ्जनेन) अंजन, लेपन द्रव्य से (संस्पृशन्ताम्) अपनी देह आंजें उस पर मलें । और वे (अनश्रवः) बिना आंसू के सुप्रसन्न, (अनमीवाः) रोगरहित, स्वस्थ शरीर रहती हुई (जनयः) स्त्रियां (सुरत्ना) सुन्दर रमणीय रूपवाली या उत्तम रत्नों को धारण करती हुई (अग्रे) प्रथम (योनिम्) निवासगृह या प्रतिष्ठा के पद या सेज को (आरोहन्तु) प्राप्त करें ।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।

५६-(च०) 'शुम्भत' इति क्वचित् । (द्वि०) 'मामकं वचः' (तृ०) 'अपां पयस्वदित् पयः' (च०) 'शुन्धत' इति ऋ० । (द्वि०) पयस्वद्वीरुधां पयः' (च०) 'तेन मामिन्द्र संसृज' इति तै० आ० ।

हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥

ऋ० १० । १४ । ८ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (पितृभिः) पालन करने वाले वृद्ध महानुभावों से (संगच्छस्व) सत्संग किया कर । (यमेन) इन्द्रियों का संयम करने वाले ब्रह्मचारी पुरुष से (सम्) संगति लाभ कर । (परमे व्योमन्) उस परम, रक्षास्थान, सब के शरण परमेश्वर का आश्रय लेकर (इष्टापूर्तेन सम्) इष्ट, यज्ञ आदि देव उपासना के कार्यों और 'आपूर्त' लोकोपकार के कार्यों के साथ (सं) अपने को संगत कर । और (अवद्यं हित्वा) निन्दा योग्य आचरण को छोड़ कर तू (पुनः) फिर (अस्तम्) अपने घर को आ । और (सुवर्चाः) उत्तम तेज से सम्पन्न होकर (तन्वा) देह से (सं गच्छताम्) सदा संयुक्त रहे । अर्थात् जबतक शरीर रहे तबतक शरीर में तेज भी बना रहे ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥५९॥

ऋ० १० । १५ । १४ ॥ यजु० १९ । ६० ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पिता लोग और (पितामहाः) उनके भी पिता पितामह लोग हैं और (ये) जो भी (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (आविविशुः) प्रविष्ट हैं अर्थात् देह छोड़ कर जो मोक्ष में आश्रय करते हैं (असुनीतिः) प्राणों को बाद में वायु में प्राप्त करानेवाला सर्व प्राणप्रद (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान परमेश्वर (यथावशम्) उनके अपने वश=

५८—(तृ०) 'हित्वाय' (च०) 'गच्छस्व' इति ऋ० । (द्वि०) 'सं त्वयाभिः समिष्टा' इति तै० आ० ।

५९—'तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेता यथावशं तन्वं कल्पयस्व' इति ऋ० ।

कामना या प्रबल इच्छाके अनुसार (अद्य) आज तक (तेभ्यः) उनके (तन्वः) शरीरों को (कल्पयाति) बनाता है।

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम्।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय ॥ ६० ॥ (१८)

तु०–प० ऋ० १० । १६ । १४ ॥ प्र० द्वि० तै० आ० ६ । ४ । १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (नीहारः) नीहार, कोहरा (शं) सुखकारक (भवतु) हो। (प्रुष्वा) जलबिन्दु के फुहार भी (ते) तेरे लिये (शम्) सुखकारी रूप से (अव शीयताम्) भूमि पर आवें। हे (शीतिके) शीत गुण वाली लते ! हे (शीतिकावति) शीतगुण वाली लता से युक्त भूमे और (ह्लादिके) आह्लाद, चित्त में हर्ष उत्पन्न करने वाली लते ! और हे (ह्लादिकावति) हर्ष उत्पन्न करने वाली ओषधियों से युक्त भूमे ! तू (मण्डूकी) मण्डूकी या मेंढ़की के समान जल में डूबी रहकर तू सदा (शंभुवः) कल्याणकारी हो और (इमम् अग्निम्) इस जीव रूप अग्नि को (सु शमय) भली प्रकार शान्त कर।

विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ६१ ॥

भा०—(यः) जो (सुत्रामा) उत्तम रीति से प्रजाके पालन में समर्थ (जीरदानुः) सब को प्राण और अन्न देने में समर्थ और (सुदानुः) उत्तम कल्याणमय दान करने हारा है वह (विवस्वान्) विशेष वसु, धनैश्वर्य सम्पन्न, महापुरुष राजा या प्रभु (नः) हम प्रजाओं

६०–'मण्डूक्याप्सु संगमः' (च०) 'इमं स्वग्निं हर्षय' इति ऋ० । 'शंभव' इति सायणाभिमतः। (च० , 'ह्लादुके ह्लादुकावति' (प्र०) 'नीहारो वर्षतु', 'शुमुप्रुष्वा' इति तै० आ० ।

के लिये (अभयम्) अभय (कृणोति) करे । (इह) इस राष्ट्र में (इमे) ये (बहवः) नाना प्रकार के बहुतसे (वीरा) वीर पुरुष (भवन्तु) रहें । और (मयि) मेरे पास (गोमत्) गौओं और (अश्ववत्) घोड़ों का जंगम धन बहुत (पुष्टम्) पुष्टिकारी या अति-पुष्ट (अस्तु) हो ।

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वे/षामसवो यमं गुः ॥६२॥

भा०—(विवस्वान्) विविध ऐश्वर्यों से युक्त राजा या परमेश्वर (नः) हमें (अमृतत्वे) अमृत=दीर्घजीवन के मार्ग में (दधातु) बनाये रक्खे । (मृत्युः) मृत्यु, प्राणों के देह से छुटने की घटना (परा एतु) दूर चली जाय । (अमृतम्) अमृत, दीर्घ सैकड़ों वर्षों का जीवन (नः) हमें (एतु) प्राप्त हो । वह प्रभु (इमान् पुरुषान्) इन राष्ट्रवासी पुरुषों को (आ जरिम्णः) वृद्धावस्था तक, शरीर के स्वयं जीर्ण होजाने के काल तक (रक्षतु) रक्षा करे । (एषाम्) इनके (असवः) पाप (यमम्) यम, प्राकृतिक नियमबन्धन करने वाले नियम, मृत्यु के वश (मो सुगुः) न हों । अर्थात् प्राणों का वश करना हमारे हाथ में हो, न कि नैसर्गिक बन्धन में हमारे प्राण फंसे रहें ।

यो दुध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितॄणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥६३॥

भा०—(यः) जो (मह्ना) महान् सामर्थ्य से (न) मानो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष आकाश में समस्त लोकों को (दध्रे) धारण करता है और जो (पितॄणां) पालन करने वाले समस्त पालकों में

६२–(द्वि०) 'अमृतं म आगात्' (प्र०) 'विवस्वतो नो' इति मै० ब्रा० ।
६३–'अन्तरिक्षेण' इति क्वचित् सायणाभिमतश्च ।

से (कविः) सब से अधिक प्रज्ञावान् , कवि और (मतीनाम्) मननशील पुरुषों में से (प्रमतिः) सबसे उत्कृष्ट मननशील है। हे (विश्वमित्राः) समस्त प्राणियों को स्नेह करने वाले सज्जन पुरुषो ! आप लोग (तम् अर्चत) उसकी अर्चना करो, उसके गुणानुवाद करो । (नः) हम सबका (यमः) नियन्ता यम वही है, जो हमें (जीवसे) जीवन भर (प्रतरम्) बड़ी ही उत्तम रीति से (धात्) पालन पोषण करता है।

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन ।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥६४

भा०—हे (ऋषयः) ऋषियो, वेद के मन्त्रों का साक्षात् करने हारे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (उत्तमाम्) सबसे उत्तम (दिवम्) प्रकाशमय तेजोमय भूमि को या सूर्य के समान प्रकाशमान द्यौ=मोक्ष पदवी को (आरोहत) प्राप्त करो । हे (सोमपाः) सोम रस, ब्रह्मानन्द रस का पान करने हारे योगिजनो ! और हे (सोमपायिनः) अन्यों को उस सर्वप्रेरक, सर्व जगत् के उत्पादक परमेश्वर के आनन्द रसको पान कराने हारे पुरुषो ! (वः) आप लोगों के लिये (इदम्) यह इस प्रकार का (हविः) ज्ञानमय अन्न, (क्रियते) तैयार किया जाता है। जिससे हम भी (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्ट (ज्योतिः) ज्योति, परम प्रकाश परमेश्वर को (अगन्म) प्राप्त हों ।

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥

ऋ० १० । ८ । १ ॥ साम० १ । ७१ ॥

भा०—(अग्निः) ज्ञानमय सूर्य के समान, सर्वप्रकाशक, सबका

६५–(प्र०) 'यात्यग्निः' इति ऋ० साम० । (तृ०) 'अन्तानुपमाद्' इति ऋ० । 'अन्तादुपमाम्' इति तै० आ० । अन्तामिति क्वचित् ।

अग्रणी, परमेश्वर (बृहता केतुना) बड़े भारी ज्ञान से (प्र भाति) प्रकाशित है । (रोदसी) और आकाश और पृथिवी भरको वह (वृषभः) सब सुखों का वर्षक मेघ के समान प्रजापति (आ रोरवीति) अपनी गर्जना से प्रतिध्वनित करता है । वह (दिवः) द्यौः, महान् आकाश के (अन्तात्) परले सिरे से (उपमान्) मेरे तक या आकाश के परले से परले सिरे तक के (उपमान्) जगत् के निर्माण करने वाली व्यापक शक्ति को (उद् आनट्) व्याप रहा है । वही (महिषः) महान् शक्तिमान्, सर्वव्यापक (अपाम्) समस्त 'आपः' मूल प्रकृति के परमाणुओं, लोकों और प्रजाओं के (उपस्थे) भीतर भी (ववर्ध) व्यापक है ।

नाके॑ सु॒प॒र्णमुप॒ यत् पत॑न्तं हृ॒दा वेन॑न्तो अ॒भ्यच॑क्षत त्वा ।

हिर॑ण्यपक्षं॒ वरु॑णस्य दू॒तं य॒मस्य॒ योनौ॑ शकु॒नं भु॑र॒ण्युम् ॥ ६६ ॥

ऋ० १० । १२३ ६ ॥ साम० १ । ३२० ॥

भा०—हे आत्मन् ! (यत्) जब (हृदा वेनन्तः) हृदय से कामना करते हुए, विद्वान् मेधावी ऋषि लोग (नाके) परम आनन्द-मय मोक्षधाम में (उपपतन्तः) गमन करते हुए (त्वा) तेरा (अभि अचक्षत) साक्षात् दर्शन करते हैं तब वे तुझको (हिरण्यपक्षम्) अतिरमणीय, तेजोमय स्वरूप को ग्रहण करने वाला (वरुणस्य) सर्व-श्रेष्ठ, सबके लिये वरणीय परमेश्वर का (दूतम्) दूत और (यमस्य) सर्वनियन्ता के (योनौ) परमधाम में विद्यमान और (शकुनम्) अति शक्तिमान् (भुरण्युम्) सबके भरण पोषण करने वाले तेरा ही साक्षात् करते हैं ।

इन्द्र॒ क्रतुं॑ न॒ आ भ॑र पि॒ता पु॒त्रेभ्यो॒ यथा॑ ।

६६–'भुरण्यम्' इति क्वचित् । ऋग्वेदेऽस्यावेन ऋषिर्वेनो देवता ।

शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥६७॥

ऋ० ७ । ३२ । २६ ॥ साम० १ । १५९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र, परमेश्वर! (यथा) जिस प्रकार (पिता) पालक पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को धनैश्वर्य और ज्ञान प्रदान करता है उसी प्रकार तू (नः) हमें (क्रतुम्) कर्म, कर्मफल और ज्ञान (आभर) प्राप्त करा। हे पुरुहूत ! समस्त मनुष्यों से पुकारे गये (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दो । (अस्मिन्) इस (यामनि) व्यवस्थित संसार में (जीवाः) हम जीवित रह कर (ज्योतिः अशीमहि) परम ज्योति का भोग करें ।

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥

अथर्व० १८ । ४ । २५ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) वे नाना (देवाः) देव, दिव्य पदार्थ, पञ्चभूत, सूर्य, चन्द्र, मेघ आदि नैसर्गिक शक्तिमान् पदार्थ या स्वयं प्राणगण (यान्) जिन (कुम्भान्) रस को गुप्तरूप से धारण करने हारे कलशों के समान रसपात्रों को (अपूप-अपिहितान्) अपूप=इन्द्रिय और तद् ग्राह्य विषयों से आच्छादित रूप से (अधारयन्) धारण करते हैं (ते ते) वे वे, नाना प्रकार के रसपूर्ण कलश (स्वधावन्तः) स्व=आत्मा के अपने धारण सामर्थ्य या शक्ति से युक्त (मधुमन्तः) मधु के समान मधुर आनन्द से युक्त और (घृतश्चुतः) घृत के समान पुष्टिकर और तेज को प्रदान करने वाले (सन्तु) हों ।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥६९॥

अथर्व० १८ । ४ । २६ ॥ १८ । ४ । ४३ ॥

अग्नि के समान ही भस्म कर डाल, जिनसे फिर कर्मबीज अंकुरित न हो। और (एनम्) इस पुरुष को (सुकृताम्) पुण्यकारी पुरुषों के (लोके) लोक में ही (धेहि) रख। लौकिक रीति से शवदहन इसी मन्त्र के आधार पर है।

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यै/तु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

भा०—(ये ते) वे जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष लोग (परागताः) हमसे परे चले गये हैं, बिछुड़ गये हैं और (ये) जो अपने दूसरे (पितरश्च) पालक पिता के समान पूजनीय पुरुष विद्यमान भी हैं (तेभ्यः) उन सबके लिये (घृतस्य कुल्या) घृत के समान पुष्टिकारक अन्न और आनन्द रस को नहर (शतधारा) सैकड़ों धारा होकर (व्युन्दती) नाना प्रकार से आर्द्र करती हुई (एतु) प्राप्त हो।

एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ ७३ ॥ (१६)

भा०—हे पुरुष ! (उन्मृजानः) तू ऊर्ध्व गति करता हुआ, (एतत् वयः) इस आयु का (आ रोह) प्राप्त कर। (इह) इस लोक में (स्वाः) तेरे अपने बन्धुजन (बृहत्) बहुत अच्छी प्रकार (दीदयन्ते) प्रकाशित हो रहे हैं। तू उनके (मध्यतः) बीच में से (अभि प्रेहि) उनके सामने ही प्रयाण कर। (पितॄणां लोकं) पालक पिता पितामह आदि के उस लोक को (मा अप हास्थाः) परित्याग मत कर (यः) जो (अत्र) इस लोक में (प्रथमः) सबसे प्रथम, सर्व श्रेष्ठ है।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[४] देवयान और पितृयाण ।

अथर्वा ऋषिः । यमः, मन्त्रोक्ताः बहवश्च देवताः (८१ पितरो देवताः ८८ अग्निः, ८९ चन्द्रमाः) १,४,७,१४,३६,६०, भुरिजः, २,५,११,२९,५०, ५१,५८ जगत्यः । ३ पञ्चपदा भुरिगतिजगती, ६,९,१३, पञ्चपदा शक्वरी (९ भुरिक्, १३ त्र्यवसाना), ८ पञ्चपदा बृहती, (२६ विराट्) २७ याजुषी गायत्री [२५], ३१,३२,३८,४१,४२,५५-५७,५९,६१ अनुष्टुप् (५६ ककुम्मती । ३६,६२,६३ आस्तारपंक्तिः (३९ पुरोविराड्, ६२ भुरिक्, ६३ स्वराड्), ६७ द्विपदा आर्ची अनुष्टुप्, ६८,७१ आसुरी अनुष्टुप्, ७२, ७४,७९ आसुरीपंक्तिः, ७५ आसुरीगायत्री, ७६ आसुरीउष्णिक्, ७७ दैवी जगती, ७८ आसुरीत्रिष्टुप्, ८० आसुरी जगती, ८१ प्राजापत्यानुष्टुप्, ८२ साम्नी बृहती, ८३, ८४ साम्नीत्रिष्टुभौ, ८५ आसुरी बृहती, (६७-६८,७१- (८६ एकावसाना), ८६,८७, चतुष्पदा उष्णिक् (८६ ककुम्मती, ८७ शंकुमती), ८८ त्र्यवसाना पथ्यापंक्तिः, ८९ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः, शेषा त्रिष्टुभः । एकोननवत्यृचं सूक्तम् ॥

आ रो॑हत॒ जनि॑त्रीं जा॒तवे॑दसः पितृ॒याणैः॒ सं व॒ आ रो॑हयामि ।
अ॒वाड्ढ॒व्येषि॒तो ह॑व्यवा॒ह ई॑जा॒नं यु॒क्ताः सु॒कृतां॑ धत्त लो॒के ॥१॥

भा०—हे (जातवेदसः) ज्ञान प्राप्त किये हुए, ब्रह्मज्ञानी विद्वानो ! आप लोग (पितृयाणैः) पिता, प्रजापति के योग्य मार्गों से (जनित्रीम्) प्रजा के उत्पन्न करने वाली उस परमेश्वरी जगदम्बा शक्ति को (आरोहत) प्राप्त करो। मैं (वः) आप लोगों को (आ रोहयामि) उस तक पहुंचाता हूं। उसका उपदेश करता हूं। हे (हव्यवाहः) हव्यों, ज्ञानों को वहन करने हारे विद्वानो ! (इषितः) कामना से प्रेरित पुरुष आत्मा (हव्या) स्तुतियों से (अयाट्) उस परमेश्वर की ही पूजा करता है। आप लग

(तु०) '–व्येषिता' इति सायणाभिमत पाठः ।

(ईजानम्) देवोपासना करने हारे आत्मा को :(युक्ताः) समाहित, एकाग्रचित्त होकर (सुकृतां लोके) पुण्याचरण करने वाले पुरुषों के लोक में (धत्त) रखो ।

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥ २ ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष और राजागण भी और (ऋतवः) ऋतुएं, प्राण और होतागण, दिशाएं आदि (यज्ञम्) यज्ञ (कल्पयन्ति) करते हैं । उसमें (हविः) हवि=अन्न (पुराडाशम्) 'पुरोडाश' है और (स्रुचः) आहुति देने के चमस, स्रुवे और प्राण और ये लोक (यज्ञायुधानि) यज्ञ करने के आयुध हथियार या उपकरण के समान हैं । (तेभिः) उनसे (देवयानैः) देवों के गमन करने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (ईजानाः) यज्ञद्वारा देव उपासना करने वाले लोग (स्वर्गं लोकम्) स्वर्ग, सुखमय लोक को (यन्ति) प्राप्त होते हैं ।

ऋतवः होत्राशंसिनः । कौ० २९।८॥ ऋतवो वा होत्राः । गो० ३। ६।६॥ सदस्या ऋतवोऽभवन् । तै० ३।१२॥ दिशः । गो०उ० ६।१२॥ पञ्च हि ऋतवः । तां० १२।४।८॥ त्रयो वा । श० ३।०।७।१७॥ याः षड् विभूतयः ऋतवस्ते । जै० २।१।२१।१॥ यानि भूतानि ऋतवस्ते । श० ६।१।३।८॥ पुरोडाशः । सः कूर्मरूपेणाच्छन्नः पुरोडाशः । स वा एभ्यः तत्पुरादशयत् । श० १।६।२।५॥ पुरो वा एतान् देवाः अक्रत । ऐ० २ । २३ ॥ आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः । कौ० १३।४।६॥ मस्तिष्को वै पुरोडाशः । ३० ३। २ । २ । ७ ॥ पुरोडाश शब्द से ब्रह्माण्ड, आत्मा मस्तिष्क और हवि आदि लिये जाते हैं ।

स्रुच,:—इमे वै लोकाः स्रुचः । तै० ३।३।१।२॥ प्राणो वै स्रुचः । है० ३।२।१।५॥ आधिदैविक, आध्यात्मिक आदि भेद से इनकी योजना कर लेनी चाहिये ।

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वाङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति ।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति
तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥

भा०—(ऋतस्य) सत्यस्वरूप यज्ञ, प्रजापति के उस (पन्थाम्) मार्ग को (साधु) भली प्रकार (अनुपश्य) साक्षात् कर (येन) जिससे (सुकृतः) उत्तम रूपसे योगादि कर्म को करने हारे (अंगिरसः) ज्ञानी पुरुष (यन्ति) जाते हैं । (तेभिः) उन (पथिभिः) मार्गों से हे पुरुष ! तू (स्वर्गम्) सुखमय उस स्वर्ग लोक को (याहि) प्राप्त हो (यत्र) जहां (आदित्याः) अदिति, अखण्ड ब्रह्मके पुत्र रूप परम योगी आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष (मधु) ब्रह्ममय, अमृत, अभय, आनन्द को (भक्षयन्ति) भोग करते हैं । हे पुरुष ! तू (तृतीये) उस तीर्णतम, सबसे उत्कृष्ट सर्वोच्च (नाके) सर्व दुःखरहित, निःश्रेयस पद में (अधि वि श्रयस्व) अपने आपको प्रतिष्ठित कर ।

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥ ४ ॥

भा०—(त्रयः) तीन (सुपर्णाः) सुपर्ण, अग्नि, सूर्य और सोम, उत्तम पालन शक्ति से युक्त (उपरस्य) उपर=उपल, मेघ के (मायू) शब्द या गर्जना कराने वाले वे (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्ग के स्थान पर (अधि विष्टपि) सूर्य में (श्रिताः) आश्रित हैं । (स्वर्गाः लोकाः) सुखमय लोक सब (अमृतेन) अमृत, जल से (विष्ठाः) व्याप्त हैं । वे (यजमानाय) यज्ञ करने वाले पुरुष के लिये (इषम् ऊर्जम्) अन्न और उत्तम रस का (दुह्राम्) प्रदान करते हैं ।

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।

३—(तृ०) 'तेभ्यः' इति क्वचित् ।

प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम् ॥५॥

भा०—विराट् यज्ञ का वर्णन करते हैं—(जुहूः) परमेश्वर के विशाल आदान करने वाली वशकारिणी शक्ति (द्याम्) द्यौः महान् आकाश जिसमें समस्त सूर्य और नक्षत्र विद्यमान हैं उसको (दाधार) धारण करती है। (उपभृत्) समस्त प्राणियों का भरण पोषण करने वाली महान् परमेश्वरी शक्ति (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, जिसमें वायु और मेघ विद्यमान हैं उसको धारण करती है। (ध्रुवा) परमात्मा की ध्रुवा, स्थिर करने वाली अचल शक्ति (प्रतिष्ठाम्) सब प्राणियों को अपने भीतर स्थित करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण करती है। (इमान् प्रति) इस पृथिवी के प्रति (घृतपृष्ठाः) घृत=घृत के समान पुष्टिकारक पदार्थ और जल से पूर्ण तल वाले (स्वर्गाः) सुखमय लोक या प्रदेश (यजमानाय) यजमान, देवोपासक के लिये (कामं कामम्) उसकी प्रत्येक कामना को (दुहाम्) पूर्ण करते हैं।

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः
सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥

भा०—हे (ध्रुवे) ध्रुवे ! अचलशक्ते ! (विश्वभोजसम्) समस्त भोग्य पदार्थ के आश्रयभूत (पृथिवीम्) इस पृथिवी पर तू (आरोह) अधिष्ठाता होकर रह। हे (उपभृत्) समस्त प्राणियों को भरण पोषण करने वाली शक्ते ! तू (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोकमें (आक्रमस्व) आ, सदा विद्यमान रह। हे (जुहु) भूमि से जल आदि

५—(तृ०) 'प्रातिमाम्' इति प्रायः पदपाठः। 'प्रति। इमान्' इति सायणाभिमतः। 'प्रतिमान्' इति क्वचित् पाठः। 'प्रति। मान्' इति ह्विटनिः।

देने और उस पर बरसाने वाली शक्ति ! तू (यजमानेन साकम्) यजमान, ईश्वर की यज्ञ द्वारा उपासना करने हारे पुरुष के साथ (द्याम् गच्छ) द्यौलोक, सूर्य में विद्यमान रह । (वत्सेन) बछड़े के समान दिशाओं के आश्रय में रहने वाले (सुवेण) निरन्तर गतिशील वायु से (दिशः) समस्त दिशाएं (प्रपीनाः) पूरी तरह से हृष्ट पुष्ट, दुग्धपूर्ण गौओं के समान भरी पूरी हैं । बछड़े को देखकर जैसे गौएं अपना दूध प्रेम से बहाती हैं उसी प्रकार वायु के द्वारा दिशाएं भी अपना रस पृथ्वी पर बरसाती हैं । हे पुरुष ! तू (सर्वाः) उन सबको (अहृणीयमानः) बिना किसी लज्जा और संकोच के (धुक्ष्व) दोहन कर ।

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥

भा०—जिस प्रकार (तीर्थैः) तरण करने के साधन नाव आदि से (महीः) बड़ी (प्रवतः) वेगवान् नदियां तरी जाती हैं उसी प्रकार (तीर्थैः) भवसागर से पार उतरने के साधनभूत अध्यात्म यज्ञ, तप आदि तीर्थों और तपस्वी आदि जंगम तीर्थों द्वारा (महीः प्रवतः) बड़ी २ भारी विपत्तियों को भी (तरन्ति) लोग तैर जाते हैं । (इति) इस प्रयोजन से (येन) जिस मार्ग से (सुकृतः) उत्तम कर्म करने हारे पुण्यात्मा और (यज्ञकृतः) ईश्वरोपासना करने वाले प्रदानशील पुरुष (यन्ति) गमन करते हैं (अत्र) उसी मार्ग में रहकर वे (दिशः) दिशा और (भूतानि) उत्पन्नशील प्राणी (यत्) जो २ भी (अकल्पयन्त) बनाये हैं वे (यजमानाय) परमेश्वर के उपासक यज्ञशील पुरुष के लिये (लोकम्) लोक, स्थान को (अदधुः) बनाते हैं । पुण्यात्माओं के मार्गगामी ईश्वरोपासक को समस्त प्राणी और दिशाएं आश्रय देते हैं । यज्ञों को कच्चा तरण साधन अर्थात् निर्बल जहाज माना गया है, जैसे—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । उप० ॥

दृढ़ साधन तो ब्रह्मज्ञान के साधन ही हैं ।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ॥ कठ उ० १।१॥

अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं

गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।

महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥८॥

भा०—(अङ्गिरसाम्) ज्ञानी पुरुषों का (अयनम्) गमन या परम चरम उद्देश्यरूप आश्रय (पूर्वः अग्निः) वह पूर्व दिशा से निकलने वाले सूर्य के समान सबसे पूर्व विद्यमान, आदि मूल, सबका प्रवर्त्तक नेता परमेश्वर है । (आदित्यानाम्) आदित्य के समान सब के पालक पोषक प्रजापतियों का (अयनम्) आश्रयस्थान (गार्हपत्यः) गार्हपत्य, गृहपति के समान होकर रहनेहारा प्रजापति है । और (दक्षिणानाम्) बलवान् पुरुषों का आश्रय वह (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि अर्थात् क्रिया-शक्ति प्रदान करने वाला वही परमेश्वर है । हे पुरुष (विहितस्य) नाना प्रकार से वर्त्तमान या व्यापक (अग्नेः) उस सर्वप्रकाशक, सर्वप्रवर्त्तक परमेश्वर के (महिमानम्) महिमा, महत्व को तू (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद से (सम्-अङ्गः) भली प्रकार ज्ञानवान् (सर्वः) सब प्रकार से पूर्ण और (शग्मः) शक्तिमान् होकर (उपयाहि) प्राप्त कर, जान, उस तक पहुंच ।

पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।

दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद्

दिशोदिशो अग्ने परि पाहि घोरात् ॥ ९ ॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझको (पूर्वः अग्निः) सबसे पूर्व और सबसे पूर्ण (अग्निः) ज्ञानी, अग्रणी, प्रवर्त्तक परमेश्वर (पुरस्तात्) तेरे

आगे (शं) तेरे कल्याण और शान्ति प्रदान करने के लिये (तपतु) प्रकाशित हो । और (पश्चात्) पीछे से (गार्हपत्यः) गृहपति के समान प्रजापति परमेश्वर (तपतु) सन्तप्त हो, प्रदीप्त हो । (दक्षिणाग्निः) बलप्रदाता परमेश्वर (ते) तुझे (शर्म) सुख और (वर्म) कवच के समान रक्षक होकर (तपतु) तपे । हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! तू (उत्तरतः) उत्तर से, बहुत ऊपर से (मध्यतः) बीच से (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से और (दिशः दिशः) प्रत्येक दिशा से आने वाले (घोरात्) घोर, कष्टदायी आक्रमण से (परि पाहि) रक्षा कर ।

यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति ॥१०॥(२०)

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर और उसकी प्रेरित नाना शक्तियो ! (यूयम्) तुम सब अपने (शतमाभिः) अत्यन्त कल्याणकारी (तनूभिः) स्वरूपों से (पृष्टिवाहः अश्वाः) पीठ पर लाद कर चलने वाले घोड़ों के समान (अश्वाः) व्यापक शक्ति (भूत्वा) होकर (ईजानम्) यज्ञ, दानशील, ईश्वर उपासक और दिव्यशक्ति, विद्युत्, जलवायु के साधक विज्ञानवान् पुरुष को (स्वर्गं लोकम् अभि) उस सुखमय लोक में (वहाथ) लेजाते हो (यत्र) जहां मुक्त आत्मा लोग (देवैः) देवों के साथ (सधमादं मदन्ति) आनन्द प्रसन्न रहते हुए उनके सुखका भोग करते हैं ।

शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥११॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! तू (पश्चात्) पीछे से (शं) कल्याणरूप होकर (तप) तप्त हो और आत्मा को तपा, परिपक्व कर, (पुरस्तात् शं तप) आगे से भी कल्याणकारी होकर तपा;

(उत्तरात् शम्) उत्तर, ऊपर से भी कल्याणकारी होकर तपा । और (एनम्) इस आत्मा को (अधरात् शं तप) नीचे से भी कल्याणकारी होकर तपा । हे (जातवेदः) सर्वज्ञ, सब पदार्थ के उत्पादक प्रभो ! आप (एकः) एक हैं और तो भी (त्रेधा) तीन रूप, तीन अग्नियों के रूप में (विहितः) विशेष रूप से बतलाये जाते हो । आप (एनं) इस आत्मा को (सुकृताम्) उत्तम कर्म करने वाले पुण्यात्माओं के (लोके) लोक में (सम्यग्) भली प्रकार (धेहि) स्थापित करो ।

शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥

भा०—(समिद्धाः) खूब प्रदीप्त (अग्नयः) ज्ञानी जन (जातवेदसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (प्राजापत्यं) प्रजापति परमेश्वर सम्बन्धी (मेध्यं) पवित्र यज्ञ कार्य को (आ रभन्ताम्) प्रारम्भ करें । आप लोग इस आत्मा को भी (शृतं कृण्वन्तः) पक्क करते हुए (इह) इस मर्त्यलोक में (मा अव चिक्षिपन्) न गिरने दें, अधःपतित न होने दें ।

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

भा०—(स्वर्गम् लोकम् अभि) स्वर्ग-सुखमय लोक को उद्देश्य करके (ईजानम्) यज्ञ करने हारे देव-उपासक पुरुष को स्वयं (यज्ञः) ब्रह्म, यज्ञमय प्रजापति, परमात्मा (कल्पमानः) सब प्रकार से समर्थ होकर (विततः) विस्तृतरूप में या व्यापकरूप में (एति) प्राप्त होता है । (तम्) उस (सर्वहुतम्) सर्वस्व को ईश्वर के निमित्त समर्पण कर देने वाले पुरुष को (अग्नयः) प्रकाशवान् (जातवेदसः) ज्ञानी पुरुष भी (प्राजापत्यं मेध्यम्) प्रजापति स्वरूप, पूजनीय जानकर (जुषन्ताम्)

प्राप्त होते हैं। वे इसको (ऋतं कृण्वन्तः) परिपक्व तपोनिष्ठ करते हुए (इह) इस संसार में (मा अव चिक्षिपन्) कभी नीचा न गिरने दें।

ई॒जा॒नश्चि॒तमारु॑क्षद॒ग्निं नाक॑स्य पृ॒ष्ठाद् दिव॑मुत्पति॒ष्यन् ।
तस्मै॒ प्र भा॑ति॒ नभ॑सो॒ ज्योति॑षीमान्त्स्व॒र्गः पन्थाः॑ सु॒कृते॑ देव॒यानः॑ ॥१४॥

भा०—(ईजानः) यज्ञशील, देव का उपासक जन (नाकस्य पृष्ठात्) सुखमय लोक से (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के प्रति (उत्पतिष्यन्) ऊपर उठने की अभिलाषा करता हुआ (चितम्) चित्स्वरूप (अग्निम्) ज्ञानमय परमेश्वर का (आरुक्षत्) आश्रय लेता है। (तस्मै) उसके लिये ही (नभसः) आकाश के बीच (ज्योतिषीमान्) ज्योतिर्मय, सूर्य के समान अति दीप्त परमेश्वर (नभसः) प्रकाश रहित अन्धकार के बीच में (प्र भाति) प्रकाशित होता है। यही वास्तव में (स्वर्गः) सुख से गमन करने योग्य (देवयानः पन्थाः) देवयान मार्ग (सुकृते) उत्तम काम करने हारे के लिये प्राप्त होता है।

अ॒ग्निर्होता॑ध्व॒र्युष्टे॒ बृह॒स्पति॒रिन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा द॑क्षिण॒तस्ते॑ अस्तु ।
हु॒तोऽयं संस्थि॑तो य॒ज्ञ ए॑ति॒ यत्र॒ पूर्व॒मय॑नं हु॒ताना॑म् ॥ १५ ॥

भा०—हे पुरुष (ते) तेरे यज्ञका (होता) होता, (अग्निः) अग्नि, ज्ञानवान् परमेश्वर ही है और वही (बृहस्पतिः) समस्त वेदवाणियों का स्वामी परमेश्वर (ते अध्वर्युः) तेरा अध्वर्यु अर्थात् रक्षक है। और (इन्द्रः) वही ऐश्वर्यवान्, इन्द्र, परमेश्वर (ते ब्रह्मा) तेरे यज्ञ का ब्रह्मा (ते) तेरे (दक्षिणतः) दक्षिण भाग में, दाईं ओर (अस्तु) सदा विद्यमान रहे। हे पुरुष (अयम्) यह तेरा देह (हुतः) अग्नि में आहुति कर दिया जाता है और तभी (यज्ञः संस्थितः) यह जीवनमय यज्ञ समाप्त हो जाता है। अथवा (संस्थितः) जीवन समाप्त करके मृत हुआ

(अयं) यह देह (हुतः) अग्नि में आहुति कर दिया जाता है और (यज्ञः) यज्ञ रूप आत्मा उस स्थान पर (एति) चलाजाता है (यत्र) जहां (पूर्वं हुतानाम्) पूर्व आहुति किये आत्माओं का (अयनम्) आश्रय लोक है ।

अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥ अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह ०।० ॥ १७ ॥ अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह ० । ० ॥ १८ ॥ अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह ० । ० ॥ १९ ॥ अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह ० । ० ॥ २० ॥ (२१) अपूपवानन्नवांश्चरुरेह ० । ० ॥ २१ ॥ अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह ० । ० ॥ २२ ॥ अपूपवान् रसवांश्चरुरेह ० । ० ॥ २३ ॥ अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥

भा०—(इह) यहां, इस लोक में (अपूपवान्) अपूप और (क्षीरवान्) क्षीर से युक्त (चरुः) भोग्य द्रव्य, अन्न, भात आदि (आ सीदतु) रक्खा जावे । (देवानां) देवों के निमित्त (ये) जो लोग (हुतभागः) उनके प्राप्त होने योग्य भोग्य अंशों को प्रदान करते (स्थ) हैं उन (लोककृतः) लोक-व्यवस्थापक पुरुषों और (पथिकृतः) मार्ग निर्माण करने वाले उपकारी पुरुषों को (यजामहे) हम उक्त पदार्थ प्रदान करें । ॥ १६ ॥ (अपूपवान् दधिवान् चरुः इह आसीदतु) इस लोक में अपूप और दधिवाला चरु अन्न द्रव्य रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥ १७ ॥ (अपूपवान् , द्रप्सवान् चरुः० इत्यादि) अपूप और रस वाला चरु यहां रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥ १८ ॥ (अपूपवान्

१६–'अपूपवान् क्षीरवांश्चचरुरेह' इति ह्विटनिकामितः ।

घृतवान्० इत्यादि) अपूप और घृत से युक्त चरु यहां रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥ १९ ॥ (अपूपवान् मांसवान् चरुः० इत्यादि) अपूपवाला और मांस=गूदेवाला चरु यहां रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥२०॥ (अपूपवान् अन्नवान् चरु० इत्यादि) अपूप और अन्न से युक्त चरु यहां रक्खा जाय, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २१ ॥ (अपूपवान् मधुमान् चरु० इत्यादि) अपूप और मधु से युक्त चरु यहां रक्खा जाय, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २२ ॥ (अपूपवान् रसवान् चरु० इत्यादि) अपूप और रसवाला चरु इत्यादि पूर्ववत् ॥ २३ ॥ (अपूपवान् अपवान् चरु० इत्यादि) अपूप और अपः से युक्त चरु यहां रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥ २४ ॥

क्षीर, दधि, द्रप्स, घृत, मांस, अन्न, मधु, रस, आपः, इन नौ पदार्थों का और अपूप और चरु का विवरण निम्नलिखित जानना चाहिये ।

(१) क्षीरं, पयः । यत् पयस्तद्रेतः । गो० उ० २ । ६ ॥ अग्निः तां गां सम्बभूव तस्यां गवि रेतः प्रासिञ्चत् तत् पयोऽभवत् । श० २ । २ । ४ । १५॥ क्षत्रं वै पयः । श० १२ । ७ । ३ । ८॥ प्राणः पयः । श० ५ । ५ । ४ । १५ ॥ अपामेव ओषधीनां रसो यत्पयः । कौ० २ । १ ॥ पयो वा ओषधयः । ऐ० ३ । ७। १५॥ सोमः पयः । श० १२ । ७ । ३ । १३॥

(२) दधि—इन्द्रो यदब्रवीत् धिनोति मेति तस्माद् दधि । श० १ । ६ । ४ । ८ ॥ ऐन्द्रं वै दधि । श० ७ । ४ । १ । ४२ । इन्द्रियं वै दधि । तै० २ । १ । ५ । ६॥ दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् । श० ७ । ५ । १ । ३ ॥ ऊर्जा अन्नाद्यं दधि । तै० २ । ७ । २ । २ ॥ सोमो वै दधि । कौ० ८ । ९ ॥

(३) द्रप्सः—असौ आदित्यो वा द्रप्सः । श० ७ । ४ । १ । २०॥ स्तोको वै द्रप्सः । जो० २ । १२ ॥

(४) घृतम्—अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः । मं० २ । ६ । १५ ॥

देवव्रतं वै घृतम् । तां० १८ । २ । ९॥ रेतः सिक्तिर्वै घृतम् । कौ० १६ । ५ ॥ उल्वं घृतम् । श० ६ । ६ । २ । १५ ॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम् श० ७ । ५ । १ । ३ ॥

(५) मांसं वै पुरीषम् । श० ८ । ६ । २ । १४ ॥ मांसं सादनं । श० ८ । १ । ४ । ५॥ एतद् ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम् । शं० ११ । ७ । १ । ३ ॥ अन्नम् उ पशोर्मांसम् । श० ७ । ५ । २ । ४२ ॥

(६) रसः—रसो वै मधु । श० ६ । ४ । ३ । २ ॥ रसो वा आपः । श० ३ । ३ । १८ ॥

(७) अन्नं—अर्को वै देवानामन्नं । श० १२ । ८ । १ । २ ॥ अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति । ता० १५ । ३ । २३॥ शान्तिर्वा अन्नम् । ऐ० ५ । २७ ॥ अन्नं प्राणमन्नमपानमाहुः अन्न मृत्युं तमु जीवातु-माहुः । अन्नं ब्रह्माणो जरसं वदन्ति अन्नमाहुः प्रजननं प्रजानाम् । तै० २ । ८ । ८ । ३॥ अन्नं पशवः । ऐ० ५ । १९॥ अन्नमु श्रीः । श० ८ । ६ । २ । १॥ अन्नमु चन्द्रमाः । तै० ३ । २ । ३४॥ अन्न वा अपां पाथः श० ७ । ५ । ३ । ६१ ॥

(८) मधुः—प्राणो वै मधु । श० १४ । १ । ३ । ३० ॥ ओषधी-नां वा एष परमो रसो यन्मधु । श० १ । ५ । ४ । १८॥ परमं वा एदन्नाद्यं यन्मधु । तां० १३ । ११ । १७॥ महत्यै वा एतद् देवतायै रूपं यन्मधु । तै० ३ । ८ । १४ । २ ॥ मधु अमुष्य स्वर्गस्य लोकस्य रूपम् । श० ८० । ५ । १ । २ ॥ सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्च । श० ३ । ७ । १ । ११ । १४ ॥

(९) अपः—अमृतं च वा आपः । कौ० १२ । १ ॥ शान्तिर्वा आपः । ऐ० ७ । २ ॥ श्रद्धा वा आपः । तै० । ६ । २ । ४ । १ ॥ आपो वै क्षीर आसन् । ता० १३ । ३ । ८ ॥ अन्नमापः । कौ० १२ । ३ । ८ ॥ वीर्यं वा आपः । श० २ । ३ । ४ । १ ॥ रेतो वा आपः । ए०

१ । ३॥ पशवो वा एते यदापः । रो० १ । ८॥ आपो वै सर्वे कामाः । श० १० । ५ । ४ । १५ ॥ आपो वै सर्वे देवाः । श० १० । ५ । ४ । १४ ॥ आपो वरुणस्य पत्न्य आसन् । तै० १ । १ । ३ । ८ ॥ योषा वा आपः । श० १ । १ । १ । १८ ॥

(१०) अपूपम्—इन्द्रियमपूपः । ऐ० २ । २४ ॥

(११) चरुः—ओदनो हि चरुः । श० ५ । ४ । २ । १ ॥ परमेष्ठी वा एष यदोदनः । तै० १ । ७ । १० । ६ ॥ प्रजापतिर्वा ओदनः । श० १३ । ३ । ६ । ७ ॥ रेतो वा ओदनः । श० १३ । १ । १ । ४ ॥ उक्त ब्राह्मण प्रोक्त अर्थों के अनुसार मन्त्रों का अर्थ नीचे लिखे अनुसार है ।

(अपूपवान्) इन्द्रिय शक्ति से युक्त (क्षीरवान्) वीर्य या बल से युक्त (चरुः) यह प्रजापति आत्मा (इह) इस शरीर में (आसीदतु) विराजे । (ये) जो पुरुष (देवानां) विषयों में क्रीड़ा करने और अर्थों के प्रकाश करने वाली इन्द्रियों के निमित्त (हुतभागाः) सेवन करने योग्य भोग्य अंशों का आदान प्रदान करते हैं वे (इह) इस लोक में (स्थ) सुखपूर्वक रहें । हम (लोककृतः) जो लोककृत् अर्थात् मनुष्यों को उत्पन्न करने वाले और उनके लिये (पथिकृतः) सन्मार्ग बनाने वाले हैं उनकी (यजामहे) उपासना करें या उनके प्रति दान करें ।

इसी प्रकार वह आत्मा इन्द्रिय, ध्यान धारणा शक्ति से युक्त हो । वह इन्द्रियां (द्रप्सवान्) और तेज से युक्त हो । (घृतवान्) वह अन्न से प्राप्त तेज या वीर्य से युक्त हो वह (मांसवान्) परमश्रेष्ठ मनोहारी उत्तम अन्नों से युक्त हो । वह (अन्नवान्) अन्नों से युक्त हो, वह (मधुवान्) आनन्द से युक्त हो, वह (रसवान्) अमृत से युक्त हो, वह (अपवान्) प्राणों से युक्त हो । इत्यादि शेष पूर्ववत् समान है ।

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।

ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ६८ ॥

भा०—(यान्) जिन (अपूप-अपिहितान्) अपूत इन्द्रिय या आत्मा की विषयग्राहक शक्तियों से ढके हुए, आवृत (कुम्मान्) रस के आश्रय स्थानों को (देवाः) ज्ञान को प्रकाशित करने वाले देवगण, पृथिवी, अप् , तेज, वायु, आकाश आदि अथवा चक्षु आदि प्राण (अधारयन्) धारण करते हैं (ते) वे (ते) वे, सब (स्वधावन्तः) स्व, अपने आत्मा की धारणा शक्ति से युक्त (मधुमन्तः) मधुर आनन्द से युक्त और (घृतश्चुतः) तेज, प्रकाश और ज्ञान को देने वाले हों।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ६३ ॥ ६ । ४ । ४ । ३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (याः धानाः) जो खीलों या फुल्लियों के समान उजले, प्रकाशवान् दिनों को (तिलमिश्राः) तिल के समान काली अन्धकार मय रात्रियों सहित मिलाकर (स्वधावतीः) उनको 'स्वधा', अन्न से या सूर्य चन्द्र की शक्ति से युक्त करके (अनुकिरामि) तेरी जीवन स्थिति के अनुकूल विस्तृत करता हूं। (ताः) वे दिन और रात्रियां (ते) तेरे लिये (उद्भ्वीः) उत्तम फलों को उत्पन्न करने वाली (प्रभ्वीः) प्रचुर फलजनक (सन्तु) हों। और (यमः) यम, सर्वनियन्ता (राजा) सर्वोपरि विराजमान परमेश्वर (ते) तुझे (ताः) उनको (अनुमन्यताम्) अनुकूल बनावे। अथवा— (या धानाः तिलमिश्राः स्वधावतीः ते अनुकिरामि) जिन स्वयं अपने को धारण करने में समर्थ शक्ति से

२६–(तृ०) 'अभ्वीः' इति सायणाभिमतः । 'विभ्वीः' इति अथर्व० ६ । ३ । ६३ ॥

सम्पन्न 'धाना' फुल्लियों के समान उज्ज्वल नक्षत्रों को तिल के समान प्रकाशरहित ग्रहों के साथ संसार में फैलाता हूं । वे हे पुरुष ! तेरे लिये (उद्भ्वीः प्रभ्वीः) उत्तम गतिप्रद और प्रचुर सम्पत्ति जनक हों । (यमः राजा ते अनुमन्यताम्) सर्वनियन्ता परमेश्वर तुझ पर सदा अनुग्रह करें ।

(१) धानाः—नक्षत्राणां वा एतद् रूपं यद् धानाः । तै० ३ । ८ । १४ । ५ ॥ अहोरात्राणां वा एतद् रूपं यद् धानाः । श० १२ । २ । १ । ४ ॥ पशवो वै धानाः । गो० ३० । ४ । ६ ॥

अथवा—(याः धानाः तिलमिश्राः) जो पशु तिल के समान स्वल्पशरीर वाले अपने बछड़ों और (स्वधावतीः) अन्न से सहित तेरे लिये हे पुरुष ! फैलाता हूं वे (उद्भ्वीः प्रभ्वीः) उत्तम फलजनक और प्रचुर सम्पत्तिजनक अति अधिक मात्रा में हों । (यमो, राजा) नियन्ता राजा तेरे अनुकूल बना रहे । इसी अर्थ को स्पष्ट करने वाली ऋचाएं आगे देखो ३२, ३३, ३४ ।

अक्षि॑तिं॒ भूय॑सीम् ॥ २७ ॥

भा०—हे पुरुष ! नियन्ता परमेश्वर की अनुमति से तू (भूयसीम्) बहुत (अक्षितिम्) कभी क्षय न होने वाली, अक्षय सम्पत्ति को चिरकाल तक भोग कर । तै०आ० में 'एषा ते यमसादने स्वधा निधीयते गृहे अक्षिति नाम ते असौ ।' (तै आ० ६ । ७ । २ ॥) गृह में संचित अन्न ही अक्षिति है ।

द्र॒प्सश्च॑स्कन्द पृथि॒वीमनु॒ द्यामि॒मं च॒ योनि॒मनु॒ यश्च॒ पूर्वः॑ ।
स॒मा॒नं योनि॒मनु॑ सं॒चर॑न्तं द्र॒प्सं जु॑हो॒म्यनु॑ स॒प्त होत्राः॑ ॥ २८ ॥

यजु० १३ । ५१ ॥ ऋ० १० । १७ । ११ ॥

२८—(प्र०) 'द्रप्समानहृयन्' इति ऋ० । (तृ०) 'तृतीयं योनिम्' इति तै० सं० तै० आ० ।

भा०—(द्रप्सः) आदित्य, (पृथिवीम् अनु, द्याम् अनु) पृथिवी और द्यौ=आकाश को (चस्कन्द) व्याप्त करता है अर्थात् वह (इमं योनिम् च) वह इस योनि=लोक को भी और (यः च पूर्वः) जो इस से पूर्व विद्यमान द्यौ लोक है (अनु) उसको भी अनुप्राणित करता है। (समानं योनिम्) दोनों लोकों में समानरूप से (अनु संचरन्तम्) व्याप्त होते हुए (द्रप्सम्) उस तेजःस्वरूप आदित्य के (अनु) आश्रय पर ही (सप्तहोत्राः) सात होत्र सबको अपने भीतर ले लेने वाले दिशाओं को (जुहोमि) अर्पित करता हूं।

अध्यात्म पक्ष में—(द्रप्सः) द्रवरूप भरण पोषण करने में समर्थ वीर्य (द्याम् अनु च पृथिवीम् च स्कन्द) प्रथम तेजो युक्त पुरुष और बाद में पुत्रोत्पत्ति में समर्थ पृथिवीरूप स्त्री को प्राप्त हुआ। (इमं च) इस पुरुष को (यः च पूर्वः) जो पूर्व विद्यमान था उसको प्रथम प्राप्त हुआ और बाद में (अनुयोनिम्) योनि-गर्भाशय में आया। (समानं) समानरूप से (योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं अनु) योनि में संचरण करने वाले वीर्य के आश्रय पर ही (सप्त होत्राः) सात प्राणों के रूप में मैं गृहस्थ योषाग्नि में (जुहोमि) वीर्य को आधान करता हूं। इसी प्रकार सर्व जगदुत्पादक परमेश्वरीय वीर्य की प्रकृति में आहुति का वर्णन भी इसी ऋचा से हुआ जानना चाहिये।

अग्नि में घृताहुति रूप द्रप्स प्रथम पृथ्वीपर पड़ कर अग्नि के तेज से आकाश में और अन्तरिक्ष में जाता और फैलता और सातों दिशाओं में चला जाता है। यह दृष्टान्त है। इसके दार्ष्टान्त आधिभौतिक में सूर्य पृथिवी की जीवनी शक्ति अध्यात्म में गर्भगत वीर्य के तत्व को उक्तरीति से समझना चाहिये। सायणकृत तै० आ० [६ । ६ । १] भाष्य और अथर्व भाष्य दोनों परस्पर असंगत हैं।

असौ वादित्यो द्रप्सः। स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दति। इमं च योनिम्

अनु यश्च पूर्वः इति इमं च लोकममुं चेत्येतत् । समानं योनिमनुसंचरन्तम् इति । समानं ह्येष एतं योनिमनु संचरति । द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इति असौ वा आदित्यो द्रप्सः दिशः सप्त होत्राः अमुं तदादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति । श० ब्रा० ७ । ४ । १२० ॥

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुहते दक्षिणां सप्तमातरम्
॥ २९ ॥   ऋ० १० । १०७ । ४ ॥

भा०—(शतधारं) सैकड़ों धार वाले मेघ के समान सैकड़ों के परिपोषक, (वायुम्) नित्यगतिशील, वायु के समान सर्वव्यापक (अर्कम्) सूर्य के समान तेजस्वी, एवं अर्चना करने योग्य और (स्वर्विदम्) स्वः—सुख के प्राप्त करने और कराने वाले परमानन्दमय परमेश्वर को (ते) वे (नृचक्षसः) उस परमपुरुष सर्वनेता परमेश्वर को साक्षात् करने वाले (रयिम्) सर्वैश्वर्यरूप, प्राणरूप, बलरूप ही (अभि चक्षते) साक्षात् करते हैं । और (ये) जो पुरुष (सर्वदा) सब कालों में (पृणन्ति) समस्त जीवों का पालन करते हैं और उनको (प्रयच्छन्ति च) अन्न, वस्त्र, आश्रय सुख प्रदान करते हैं (ते) वे (सप्त मातरम्) सातों प्रकार के अन्नों वाली अथवा सात निर्मातृ पदार्थों अर्थात् सप्त धातुओं वाली, (दक्षिणां) दक्षिणा रूप पृथिवी को (दुहते) दोहते हैं वे पृथिवी के समस्त जीवनोपयोगी उत्तम २ सार पदार्थों को प्राप्त करते हैं ।

'दक्षिणा वै यज्ञानां पुरोगवी ।' ऐ० ६ । ३५॥ अन्नं दक्षिणा । ऐ० ६।

२९—(द्वि०) 'चक्षतद्वविदं । (तृ०) यच्छन्ति संगमे' (च०) 'दुहते' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये ।' इति यजु० ।

३ ॥ तै० आ० में 'इमं समुद्रं शतधारमुत्सं'......'घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने' इत्यादि में शतधार उत्स=मेघ और अदिति=गौ और पृथिवी ।

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥३०॥(२२)

यजु० १३ । ४७ ॥

भा०—(चतुर्बिलम्) चार छिद्र या टूंटी वाले (कलशम्) बड़े जलपात्र या कलशे से जिस प्रकार लोग चारों तरफ से टूटी खोलकर जल लेते हैं उसी प्रकार विद्वान् लोग (चतुर्बिलम्) चार बिल या छिद्रों या चार द्वारों वाले (कोशं) ज्ञान, बल और अन्नके खजाने स्वरूप पृथ्वी और (मधुमतीम्) अन्न आदि मधुर पदार्थों से समृद्ध (धेनुम्) समस्त प्रजाको जीवन रस का पान कराने वाली गायके समान चतुस्तनी (इडाम्) इडा नाम पृथिवी को (दुहन्ति) दोहते हैं, उससे सारवान् पदार्थों का सग्रह करते हैं । हे (अग्ने !) अग्नि के समान ज्ञानवान् ! अग्रणी नेतः ! राजन् ! तू अपने परम, सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) विशेष रक्षा में रखकर (जनेषु) समस्त जनों में (अदितिम्) अखण्डनीय, भोग किये जाने पर कभी खण्डित या विनष्ट न होने वाली, अविनश्वर, सदा ध्रुव, ऊर्जम् अन्न आदि परम रससे सबको (मदन्तीं) संतृप्त करती हुई भूमि माता को (मा हिंसीः) कभी विनाश मत कर ।

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

३०-(तृ०) 'घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने ।' इति यजु० ॥ इमं समुद्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं भुवनस्यमध्ये घृतं दुहानामदितिं जनयाग्ने । इति तै० आ० ॥

३१-(द्वि०) 'ददातु' इति क्वचित् ।

भा०—हे पुरुष ! (सविता) सबका उत्पादक (देवः) देव, परमेश्वर (ते) तुझे (भर्तवे) धारण करने, अपने को बचाने के लिये (एतत्) यह (वासः) वस्त्र या निवासस्थान, देह (ददाति) प्रदान करता है। (त्वं) तू (यमस्य) सर्वनियन्ता, यम, परमेश्वर के (राज्ये) राज्य में (वसानः) निवास करता हुआ (तार्प्यं चर[1]) आत्मा को तृप्त कर सन्तुष्ट करने हारे प्रीति या भोग्य पदार्थों का भोग कर। अथवा (त्वं यमस्य राज्ये एतत् तार्प्यं वसानः चर) तू यम=नियन्ता के राज्य में तृपा, नाम तृण के बने वस्त्र को पहन कर विचर।

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥

भा०—पूर्वोक्त २५ में कहे 'तिलमिश्रा धाना' की व्याख्या करते हैं। (धानाः) 'धाना', लोक के धारण पोषण में समर्थ होने से ही (धेनुः अभवत्) धेनु है और (अस्याः वत्सः) उसका बछड़ा (तिलः अभवत्) स्नेह युक्त होने से तिल हैं। २७ मन्त्र में कहे 'अक्षिति' की व्याख्या करते हैं। (यमस्य राज्ये) नियन्ता परमेश्वर के राज्य में (ताम्) उस गो माता को (अक्षिताम्) सदा अक्षीण रूप में या अक्षय सम्पदा के रूप में प्राप्त करके उसके आधार पर (उप जीवति) यह लोक अपनी जीवन वृत्ति चलाता है।

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥३३॥

भा०—हे पुरुष ! (एताः धेनवः) ये रसपान कराने हारी धेनुएं

१. तर्पणार्हं प्रीतिकरमिति सायणः ।
३२–(च०) 'जीवति' इति सायणाभिमतः ।
३३–(द्वि०) 'भवन्ति' इति सायणाभिमतः ।

गौवें (ते) तेरे लिये (कामदुघाः भवन्तु) सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामदुघा हों। ये (एनीः) गेहुंऐ रंगकी कपिल और (श्येनीः) श्वेतवर्ण की, (सरूपाः) समानरूप की, (विरूपाः) विविध रूप की रहती हुईं भी (तिलवत्साः) खीलोंके साथ तिल के समान स्नेह युक्त छोटे २ बछड़ों वाली (त्वा) तुझे (अत्र) इस भूमिपर (उप तिष्ठन्तु) प्राप्त हों।

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥३४॥

भा०—(एनीः) गेहुंए रंग की, लाल या कपिला गौएं और (हरिणीः) हरित या नीले वर्ण की, (श्येनीः) श्वेत वर्ण की और (कृष्णाः) कृष्णा, काले रंग की (रोहिणीः) रोहिणी, लाल रंगकी गौवें जो (अस्य धानाः) इस लोक की धारण पोषण करने में समर्थ हैं वे ही (धानाः) 'धाना' शब्द से कही जाती हैं और वेही (धानाः) भरण पोषण में समर्थ (धेनवः) दुधार गौवें (ते) तुझे प्राप्त हों। और (तिलवत्साः) तिल के समान स्नेह से पूर्ण बछड़ों वाली गौवें (अस्मै) इस लोक के निमित्त (ऊर्जम्) परम पुष्टिकारक रसको (दुहानाः) प्रदान करती हुईं (विश्वाहा) सब प्रकार से (अनपस्फुरन्तीः) निर्भय, निराकुल, आपद्रहित, सुखी (सन्तु) होकर रहें।

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः॥३५॥

३४–१ तिलस्नेहने तुदादिः। तिल गतौ इति धातोरि-गुपध-लक्षणः कः।

(प्र० द्वि०) 'एणीर्धाना हारिणीरर्जुनीः सन्तुधेनवः' इति तै० आ०।
(च०) '–रन्तीः' इति क्वचित्।

३५–(द्वि०) 'सहस्रमुत्सं शतधारमेतम्' (तृ० च०) 'तस्मिन्नेवपितरं

भा०—(वैश्वानरे) समस्त मनुष्यों के हितकारी देव के निमित्त में (इदं हविः) इस अन्न आदि त्याग करने योग्य पदार्थ की (जुहोमि) आहुति करता हूं। यह (साहस्रं) सहस्रों फलों को देने वाला (शतधारम्) सैकड़ों धाराओं वाला (उत्सम्), स्रोत है। (सः) वह समस्त हितकारी, परम देव (पिन्वमानः) स्वयं प्रसन्न होकर (पितरं) पालक पिता को (पितामहान् प्रपितामहान्) पितामह और प्रपितामह आदि वृद्ध पूजनीय पुरुषों का (बिभर्ति) पालन पोषण करता है।

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥

(प्र० द्वि०) यजु० १३ । ४९ प्र० द्वि० ॥

भा०—'सहस्रधार और शतधार' उनका वर्णन करते हैं। (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल अर्थात् अन्तरिक्ष के पृष्ठ पर (वि-अच्यमानम्) विविध प्रकार से प्रकट होने वाले (सहस्रधारम्) सहस्रों धारण शक्तियों से या सहस्रों धाराओं से समृद्ध (शतधारम्) सैकड़ों का धारण पोषण करने वाले उस (अक्षितम्) अक्षय, अविनाशी, अगाध (उत्सं) जल आदि सुखकारी पदार्थों को बहाने वाले, (ऊर्जं दुहानम्) समस्त प्राणियों को सर्वोत्तम अन्नादि रस का प्रभूत मात्रा में प्रदान करने हारे (पितरः) नाना पालक जन (अनपस्फुरन्तम्) धीर, कभी भी न दुःखित होने वाले आदित्य और मेघ के समान राजा और परमेश्वर को (पितरः) प्रजापालक लोग (स्वधाभिः) स्वधा, अपनी धारणा शक्ति से और अन्नादि से (उपासते) उसकी उपासना करते हैं, उसकी अर्चना करते हैं।

पितामहं प्रपितामहं बिभरत् पिन्वमाने' इति तै० आ० ।

३६–(प्र०) 'इमं महस्र' इति यजु० । 'इमं समुद्रं शत'–तै० सं० । 'भुवस्य मध्ये' इति तै० सं० 'सरिरस्य मध्ये' इति यजु० ।

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत ।
मर्त्योयमृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥ ३७ ॥

भा०—पुरुषकी उत्पत्ति का रहस्य खोलते हैं । (इदं) यह 'कसाम्बु', विकस्वर 'अम्बु', वीर्य ही (चयनेन) 'चयन' अर्थात् अवयवों के एकत्र संगृहीत होजाने से (चितम्) संचित होकर उत्पन्न होजाता है । हे (सजाता) समान रूपसे इसके साथ उत्पन्न हुए बन्धुजनो ! (आ इत) आओ, इसे (अव पश्यत) देखो (मर्त्यः अयम्) यह मनुष्य अपनी (अमृतत्वम्) अमृतत्व–मोक्ष या पूर्णायु को (एति) प्राप्त कर लेता है । इसलिए (तस्मै) इस जीव के लिये (यावत् सबन्धु) जितने भी बन्धु जन हैं (तस्मै गृहान् कृणुत) उसके लिए गृह आदि बनाओ । अथवा–यह (कसाम्बु) पुरुष के शासन का जल है जो चयन या संग्रह द्वारा एकत्र है । हे (सजाताः) समानपद पर स्थित राजगण ! आओ और देखो । (मर्त्यः अयम् अमृतत्वम् एति) यह मर्त्य अब अमृतत्व, मानपद, राजपदको प्राप्त होता है उसके लिये समस्त बन्धुजन मकानात बनावें ।

इहैवैधि धनसानिरिहाचित्त इहक्रतुः ।
इहैधि वीर्य/वत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥

भा०—हे पुरुष ! राजन् ! तू (धनसनिः) धन ऐश्वर्य का प्रदान करने वाला, दानी बनकर (इह एव) यहां ही (एधि) रह । (इहचित्तः) इस लोक में सर्व प्रसिद्ध और (इहक्रतुः) इसलोक में प्रशस्त कर्मवान् और (वीर्यवत्तरः) अन्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक वीर्यवान्, (वयोधाः) अन्न और ऐश्वर्य को धारण करने वाला, (अपराहतः) शत्रु से अपराजित रहता हुआ ही (इह एधि) इस संसार में रह ।

३७–(प्र०) 'चितम्' इति बहुत्र । (द्वि०) 'पश्यत । आ । इत ।' इति पदपाठः ।

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥३९॥

भा०— (इमाः आपः) ये अन्न के समान स्वच्छ आचरणवाली (देवीः) दिव्य उपदेश प्रदान करने वाली (आपः) आप्त प्रजाएं (पुत्रं पौत्रम्) पुत्रों और पौत्रोंको भी (अभितर्पयन्तीः) सब प्रकार से तृप्त करती हुई और स्वयं (मधुमतीः) मधुर अन्न से समृद्ध होकर (पितृभ्यः) अपने पालक पितरों को (स्वधाम्) स्वयं धारण करने योग्य या स्व=शरीर का धारण पोषण करने में समर्थ अन्न और (अमृतम्) जल को (दुहानाः) प्रदान करते हुए (उभयान्) पुत्र, पौत्र और पालक पितृजनों को (तर्पयन्तु) सदा तृप्त, प्रसन्न किया करें ।

आपो अग्निं प्र हिणुत पितृँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् ।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान्
॥ ४० ॥ (२३)

भा०—हे (आपः) प्रजाओ ! या आप्तजनो ! आपलोग (पितृन् उप) पालक कर्त्ता रक्षकों और गुरु जनों के समीप (अग्निम्) अग्नि, अपने अग्रणी नेता पुरुष को (प्र हिणुत) भेजा करो । और (पितरः) पालक पितृजन (मे यज्ञम्) मेरे, मुझ राजा के यज्ञ या परस्पर मिल जुलकर संचालन करने योग्य राष्ट्र या यज्ञमय श्रेष्ठ कर्म में (जुषन्ताम्) प्रेम पूर्वक योग दें । (ये) जो लोग (आसीनाम्) बैठी हुई (ऊर्जम्) बल-कारिणी सेना शक्तिको (सचन्ते) सेवन करते हैं या उपयोग करते हैं (ते) वे वीर जन (नः) हमें (सर्ववीरम्) समस्त वीरों से युक्त (रयिम्) रयि, धनैश्वर्य (नि यच्छान्) प्रदान करें ।

४०–आपो देवीः प्रहिणुताग्निमेतं यज्ञं पितरो नो जुषन्ताम् । मासीनामूर्ज मुत ये भजन्ते ते नो रयिं सर्व वीरं नियच्छन्तु । इति हि० गृ०सू० ।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।

स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥

भा०—लोग (घृतप्रियम्) घृत के प्रिय अग्नि के समान तेजोमय पदार्थों को धारण करने वाला तेजस्वी (हव्यवाहम्) हव्य, चरु आदि के समान समस्त स्तुतियों और ज्ञानों को वहन करने वाले (अमर्त्यम्) मरण धर्म रहित, अविनाशी परमात्मा को यज्ञ के अग्नि के समान (समिन्धते) अपनी हृदय वेदि में प्रदीप्त करते हैं। वह परमेश्वर ही (निहितान्) गुप्तरूपसे रखे (निधीन्) खज़ानों को समस्त ऋद्धि सिद्धि आदि ऐश्वर्यों को भी (वेद) जानता है और वही (परावतः गतान्) दूर गये (पितॄन्) हमारे पूज्य पुरुषों को वेद जानता है।

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।

ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ४२ ॥

(तृ० च०) अथर्व० १८ । ३ । ६८ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरुष ! मैं परमेश्वर (यं) जिस (मन्थम्) मथे हुए दहि को (यम् ओदनम्) और जिस भात को और (यत् मांसम्) जिस मन चाहे परम अन्नादि पदार्थ को (ते) तेरे लिये (निपृणामि) प्रदान करता हूं (ते) वे समस्त पदार्थ (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) अपने शरीरों को पुष्टि देने वाले, (मधुमन्तः) मधुर रसवाले और (घृतश्चुतः) घृत के समान तेज, वीर्य के देने वाले (सन्तु) हों।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।

तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानुमन्यताम् ॥ ४३ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ६९ ॥

भा०—व्याख्या देखो इस सूक्त का मन्त्र [२६] और १८।३।६९॥ भा०।

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचौ अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥४४॥

भा०—हे पुरुष ! (इदं) यह मानुष देह ही वह (नियानम्) रथ है जो (पूर्वम् अपरम्) पहले रहा और बाद में भी विद्यमान् है। (येन) जिसके द्वारा (ते) तेरे (पूर्वे पितरः) पहले पालक, पिता, पितामह आदि (परा-इताः) अपना जीवन बिताकर इस लोक से चल बसे । (अस्य) इस देह में लगे ये (अभिशाचः) सब प्रकार से शक्तिमान् और (पुरोगवाः) आगे लगे बैलों के समान आगे २ जानेवाले इन्द्रिय रूप प्राण हैं (ते) वे (त्वा) तुझ को (सुकृताम्) पुण्याचारवान् पुरुषों के (लोकम्) लोकको (वहन्ति) लेजावें ।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

भा०—(देवयन्तः) देव, उपास्य परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा वाले विद्वान् पुरुष (सरस्वतीम्) परमेश्वर को रस से परिपूर्ण नदी के समान (हवन्ते) स्तुति करते हैं । और (अध्वरे) हिंसारहित, यज्ञ के (तायमाने) किये जाते हुए यज्ञकर्त्ता, उपासक जन भी (सरस्वतीम् हवन्ते) परमेश्वर को सरस्वती रूप से स्मरण करते हैं । (सुकृतः) पुण्य कर्म करने हारे पुरुष भी (सरस्वतीम् हवन्ते) सरस्वती का स्मरण करते हैं । (सरस्वती) वह आनन्द रसमयी ब्रह्मवेदमयी, प्रभु देवता (दाशुषे) दानशील, आत्मसमर्पक भक्त को (वार्यम्) वरण करने योग्य श्रेष्ठ धन का (दातु) प्रदान करती है ।

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥४६॥

४४–(तृ०) 'अभिशाचः' इति सायणाभिमतो ह्विटनिकाम्यतश्च ।

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० १८ । १ । ४२ । ४३ ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥४८॥
(प्र०) अथर्व० १२ । ३ । २२ ॥

भा०—हे स्त्रि ! पृथिवी ! (पृथिवीम्) के समान व्रतपालन में स्थिर रहने वाली (त्वाम्) तुझको (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (आवेशयामि) बसाता हूं । (धाता) सर्वपोषक (देवः) देव सब पदार्थों का प्रदाता परमेश्वर (नः) हमें (आयुः) दीर्घजीवन (प्र तिराति) प्रदान करे । हे प्रजागण ! (परापरैता) दूर दूर तक के देशों में जाने वाला व्यापारी (वः) तुम में से (वसुविद्) नाना वसु धनों को प्राप्त करने में समर्थ (अस्तु) हो । (अध) और (मृताः) जो पुरुष मर जायं वे पुनः (पितृषु) पुत्रों के पालक गृहस्थ मां बापों के घरों में पुत्र रूपसे पुनः (सं भवन्तु) उत्पन्न हों ।

आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः ।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विह भोजनौ मम ॥४९॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों जब (आ प्रच्यवेथाम्) धर्मयुक्त मार्ग से स्खलित होजाया करो (तत्) तभी (अभिभाः) सर्वतः प्रकाशमान, विद्वान् पुरुष (अत्र) इस विषय में (वाम्) आप दोनों के (यत्) जब २ जैसा (ऊचुः) उपदेश करें तब २ वैसे ही (तत्) उस स्खलित पाप कर्म को (अप मृजेथाम्) शुद्ध कर, दूर कर दिया करो

४८–(तृ०) 'परापरेताः' (च०) 'अधामृताः इति च सायणाभिमतः।
४९–(तृ०) 'वशीयः' इति सायणाभिमतः ।

उसका प्रायश्चित्त कर लिया करो। हे (अघ्न्यौ) अविनाशी आत्माओ! (अस्मात्) इस प्रकार के स्खलित पाप से तुम सदा (आ इतम्) पुनः लौट कर सत् पथ पर आजाओ। (तत्) तुमारा यह कर्म ही (वशीयः) तुमारे सब पाप प्रवृत्तियों पर वश करने में प्रशस्त है। और (मम दातुः) सब पदार्थ प्रदान करने वाले मुझ पुत्र के (पितृषु) पालक गृहस्थों के बीच (इह) इस लोक में तुम दोनों ही (भोजनौ) परिपालक होकर (एतम्) आओ।

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपराणयादिमान्
॥ ५० ॥ (२४)

भा०—(इयम् दक्षिणा) यह दक्षिणा, दक्ष=बल या शक्ति से पूर्ण दक्षिणारूपसे प्राप्त गौ (भद्रतः) कल्याणमय पुरुष से (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त हो। क्योंकि (अनेन) इस उत्तम यजमान से (दत्ता) प्रदान की हुई यह गौ (वयोधाः) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों की दात्री, (सुदुघाः) उत्तम २ पदार्थों को भी प्रदान करती है। और (यौवने) यौवन काल में और (जरा) बुढ़ापे के कालमें भी वर्त्तमान जवान और बूढ़े सभी (जीवान्) जीवों को (उपपृञ्चती) प्राप्त होती, उनसे प्रेम करती हुई (इमान्) इन समस्त जीवों को (पितृभ्यः) उनके पालकों के लिये (उप-सं-पराणयात्) पर्याप्त दीर्घ जीवन तक की यात्रा करा देती है, अर्थात् देरतक पालती रहती है।

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥५१॥

५१–(प्र०) 'भरेम' (द्वि०) 'देवेभ्यो जीवन्त उत्तरं भरेम' (तृ० च०) 'तत्त्वमारोहासो मेध्यो भव यमेन त्वं यम्या संविदानः' इति तै० आ०।

भा०—(पितृभ्यः) पालन करने हारे पिता पितामह आदि के लिये मैं (इदम्) यह (बर्हिः) कुश आदि का बना आसन (प्र भरामि) नित्य लाऊं और बिछाऊं। और (देवेभ्यः) देव, विद्याप्रदाता, गुरुजनों के लिये (जीवन्) स्वयं जीवित रहता हुआ (उत्तरम्) अपने मांबाप से भी ऊंचा 'आसन (स्तृणामि) बिछाऊं। हे (पुरुष) पुरुष ! तू (मेध्यः) मेध्य, पवित्र, (भवन्) होकर (तत्) उस आसनपर (आ रोह) चढ़, विराजमान हो। (पितरः) पालक पिता आदि गुरुजन (परा इतम्) दूर या उत्कृष्ट स्थान पर प्राप्त हुए या परलोक में गये हुए भी (त्वाम्) तुझको (प्रति जानन्तु) स्मरण करें। अर्थात् पुरुष ऊंचे पदों को पवित्र होकर प्राप्त करे कि जिससे उसके गुरुजन उसको अपने से दूर देश में रहते या मृत को भी प्रेम से स्मरण किया करें।

एदं ब॒र्हिर॑सदो॒ मेध्यो॑ऽभूः॒ प्रति॑ त्वा जानन्तु पि॒तरः॒ परे॑तम्।
यथाप॒रु त॒न्वं१॒ सं भ॑रस्व॒ गात्रा॑णि ते॒ ब्रह्म॑णा कल्पयामि ॥५२॥

भा०—हे पुरुष ! तू (इदं) इस (बर्हिः) कुशा के बने आसन पर (आ असदः) बैठ। और (मेध्यः अभूः) तू पवित्र, यज्ञयोग्य हो। (पितरः) तेरे पालक पिता माता आदि जन (परेतम्) लोकान्तर या देशान्तर में दूर चले जाने पर भी (त्वा) तुझे (प्रतिजानन्तु) स्मरण करें। तू (यथा परु) प्रत्येक पर्व २ या शरीर के प्रत्येक जोड़ की बिना उपेक्षा किये अपने (तन्वं) शरीर को (सं भरस्व) अच्छा प्रकार पुष्ट कर। मैं विद्वान् पुरुष या अमृत जीवन शक्ति (ते गात्राणि) तेरे समस्त गात्रों को (ब्रह्मणा) ब्रह्म, बल, वीर्य, सामर्थ्य से (कल्पयामि) युक्त करता हूं। यदमृतं तद् ब्रह्म। गो० ५।३।४॥

(द्वि०) 'जीवन् देवेभ्यः' इति सायणाभिमतः।
५२–(तृ०) 'यथा पुरु' इति सायणाभिमतः।

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥

भा०—प्रजा के रक्षक राजा का स्वरूप बतलाते हैं । (चरूणाम्) जिस प्रकार भात जो डेगची में पकते हैं उनको सुरक्षित रखने के लिये (पर्णम् अपिधानम्) पत्ते का ढक्कन धर दिया जाता है इसी प्रकार (चरूणाम्) संचरण करने वाले प्रजाओं, जीवों को (अपिधानम्) ढककर धरने वाला पुरुष (पर्णः) उनको पालन और पूरण करने वाला पुरुष ही उनका रक्षक है । वह ही (ऊर्जः) राष्ट्रका बल और प्राणरूप, (सहः) शत्रुओं को पराजय करना (ओजः) देह में कान्ति, वर्णकारी ओज के समान राष्ट्र में तेजः स्वरूप होकर (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त होता है । वह (शतशारदाय) सौ बरस तक के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के प्राप्त करने के लिये (जीवेभ्यः) समस्त राष्ट्र के मनुष्य प्रजाओं का (आयुः) जीवन (विदधत्) प्रदान करता है । उत्तम सुरक्षक राजा के राज्य में प्रजाएं दीर्घायु होती हैं ।

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥५४॥

(तृ० च०) अथर्व० १८ । २ । ६३ तृ० च० ॥

भा०—(ऊर्जः) अन्न, या बल और प्राण देनेवाले पदार्थ का (यः) जो (भागः) षष्ठ भाग (इमम्) इस राजा को (जजान) उत्पन्न करता है इससे ही वह (अश्मा अन्नानाम्) अन्नों को पीस डालने वाले चक्की के पाट के समान (अश्मा अन्नानाम्) प्रजाओं को दलन करने में समर्थ वीर्यवान् होकर (आधिपत्यम्) अधिपति पद को (जगाम) प्राप्त हो जाता है । हे (विश्वमित्राः) समस्त प्रजाओं के स्नेहपात्र, प्रतिष्ठित

५३—१. ऊर्ज बलप्राणनयोरेतस्माण्ण्यन्तात्पचाद्यच् । ऊर्जः ।

पुरुषो! आप लोग (हविर्भिः) उत्तम स्तुतियों और अन्नों द्वारा (तम् अर्चत) उसकी अर्चा या पूजा सत्कार करो। (सः) वह (नः) हमारा, हमारे राष्ट्र का (यमः) नियन्ता यम, राजा है, वह हमें (प्रतरं) खूब करके (जीवसे) जीवन के लिये (धात्) शक्ति प्रदान करे।

यथा॑ य॒माय॑ ह॒र्म्यमव॑पन् पञ्च॑ मान॒वाः।
ए॒वा व॑पामि ह॒र्म्यं यथा॑ मे॒ भूर॒योस॑त ॥ ५५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पञ्च मानवाः) पांच प्रकार के मनुष्य (यमाय) सर्व नियन्ता राजा के लिये (हर्म्यम्) हर्म्य, राजमहल (अवपन्) खड़ा कर देते हैं (एवा) उसी प्रकार मैं (हर्म्यम्) बड़ा महल अपने लिये भी (वपामि) खड़ा करूं (यथा) जिससे (मे) मेरे अधीन (भूरयः) बहुत से मिलने जुलने वाले मित्र, भृत्य आदि (असत) रहें। सायण के अनुसार इस मन्त्र में समाधें या कबरें बनाने परक अर्थ निकलता है।

इ॒दं हिर॑ण्यं बिभृहि॒ यत् ते॑ पि॒ताबि॑भः पु॒रा।
स्व॒र्गं य॒तः पि॒तुर्हस्तं॒ निर्मृ॑ड्ढि॒ दक्षि॑णम् ॥ ५६ ॥

भा०—हे पुरुष! (यतः) जिस सुवर्ण के आभूषण को (ते पिता) तेरे पिता ने (पुरा) पहले (अबिभः) धारण किया, तू (इदं) उसी इस (हिरण्यम्) सुवर्ण के बने आभूषण को (बिभृहि) धारण कर। (स्वर्गं) स्वर्गमय लोक में (यतः) प्रयाण करते हुए (पितुः) पिता के (दक्षिणम् हस्तम्) दायें हाथ को (निर्मृड्ढि) स्वच्छ कर। अर्थात्—उसके दायें हाथ का कर्तव्य अपने ऊपर ले।

५५–(प्र० तृ०) 'हार्म्यं' (तृ०) 'एवं' (च०) 'यथासो जीवलोके भूरयोसत' इति तै० आ०। (च०) 'असतः' इति क्वचित्।
५६–(च०) 'शतधारा' अथर्व०।

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ७२ तृ० च० ।

भा०—(ये च) जो भी (जीवाः) जीवित पुरुष हैं, और (ये च मृताः) जो मर गये हैं और (ये जाताः) जो उत्पन्न हुए, नवजात शिशु हैं, और (ये च) जो (यज्ञियाः) यज्ञ, आत्मा और पर ब्रह्म की उपासना में लगे हैं अथवा (यज्ञियाः=जज्ञियाः) जो उत्पन्न होते हैं (तेभ्यः) उन सब के लिये (घृतस्य कुल्या) घृत और अन्यान्य पुष्टिकारक पदार्थों की धारा और (मधुधारा) मधुर, मधु और आनन्द की धारा (विउन्दती) हृदय को आर्द्र करती हुई (एतु) प्राप्त हो ।

अध्यात्म ऊर्ध्वगति का वर्णन करते हैं ।

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

ऋ० ९ । ८६ । १९ ॥

भा०—(मतीनाम्) मनन करने योग्य ज्ञानों का (वृषा) वर्षण करने वाला (विचक्षणः) विविध प्रकार से ज्ञानों का द्रष्टा (अह्नाम्) दिनों का (सूरः) प्रेरक, उत्पादक (दिवः) प्रकाश और (उषसाम्) उषाओं के (प्रतरीता) प्रवर्त्तक सूर्य के समान (विचक्षणः) विविध

५७–१. 'जज्ञि' उत्पत्तिं यान्ति इति 'जज्ञियाः' इति सायणः । 'जज्ञियाः' इति सायणाभिमतः । (द्वि०) 'जन्त्या' इति तै० आ० ।

५८–(द्वि०) 'सोमो अह्नः प्रतरीतोषसो दिवः' (तृ०) 'क्राणा', 'अचीचदत्' (च०) 'हार्दि', 'मनीषिभिः' इति ऋ० । 'हार्दिम् विशन् मनी'-इति सायणाभिमतः ।

रूप से दर्शनीय (सिन्धूनाम्) निरन्तर विषयों में वहनेवाले इन्द्रियों का (प्राणः) जीवित, चेतन करने वाला मुख्य प्राण रूप आत्मा (कलशान्) कलश या घट रूप इन देहों को (अचिक्रदत्) प्राप्त होता और उनको भी सजीव करता है और (इन्द्रस्य) इन्द्र आत्मा के (हार्दिम्) हृदय में (मनीषया) मनकी प्रेरणा शक्ति द्वारा (आविशत्) प्रविष्ट होता है ।

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षञ्छुक्र आततः ।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥
ऋ० ६ । २ । ६ ॥ साम० १ । ८३ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे परम पुरुष ! (ते) तेरा (धूमः) धूमके समान नीला (त्वेषः) प्रकाश (ऊर्णोतु) सर्वत्र फैले । और (दिवि) प्रकाश स्वरूप मोक्ष में तू (शुक्रः) शुक्र, निष्पाप, कान्तिमान् होकर (आततः) व्याप्त हो । (त्वं) तू (द्युता) कान्ति से (सूरः न) सूर्य के समान प्रकाशवान् होकर (कृपा) अपने सामर्थ्य से हे (पावक) पवित्र करने हारे, आत्ममलशोधक अग्निस्वरूप आत्मन् ! (रोचसे) प्रकाशित हो ।

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥
ऋ० ९ । ८६ । १६ ॥

भा०—जीव ईश्वर के मोक्षमें मिलाप का वर्णन करते हैं । (इन्दुः) चन्द्र के समान आल्हादक गुणों से युक्त तथा पर प्रकाश से प्रकाशित होने वाला

५९–(प्र०) 'धूम ऋण्वति' इति ऋ० ।
६०–(प्र०) 'प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतम्' (द्वि०) संगिरं' (तृ०) 'युवतिभिः', 'अर्षति' (च०) 'शतयाम्ना' इति ऋ० ।

जीव मोक्षमें (इन्द्रस्य) उस महान् ऐश्वर्यवान्, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर के (निष्कृतिम्) उस परम मोक्ष धामको जिसमें और कोई कार्य करना शेष न रह जाय (प्र एति) प्राप्त होता है। तब (सखा सख्युः न) जिस प्रकार मित्र अपने परममित्र के स्थान को प्राप्त करता है और बराबर (संगिरः) उत्तम मित्रतायुक्त प्रेमोक्तियों को (प्रमि-नाति) कहता है उसी प्रकार वह जीव भी उस परमेश्वर के धाम को पहुंच कर उसके संग (सं-गिरः) उत्तम स्तुति वाणियों को (प्रमिनाति) उच्चारण करता है, उसकी बहुत २ स्तुतियां करता है। और फिर (मर्यः) हे परमेश्वर ! जिस प्रकार पुरुष, मर्द (योपाः इव) नाना स्त्रियों को भी स्वयं भोग लेता है उसी प्रकार प्रेम युक्त होकर तू एक होकर नाना जीवों का अपने अनन्त सामर्थ्य से सबको उसी आनन्दमय रूप में (शतया-मना पथा,) सैकड़ों पुरुषों से चलने योग्य मार्गद्वारा तू (सोमः) सर्व प्रेरक होकर (कलशे) हृदय कलश में (सम् अर्षसे) सबको एक साथ ही प्राप्त होता है, साक्षात् होकर आनन्दित करता है। इसी एक पुरुष के नाना स्त्री भोगने के दृष्टान्त से पद्मपुराण, भागवत आदि में कृष्ण गोपी आदि के रमण को प्रधानता देने का साम्प्रदायिकों ने यत्न किया है।

> अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
> अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

ऋ० १ । ८२ । २ ॥ यजु० ३ । ५१ ॥

भा०—(स्वभानवः) स्वयंप्रकाश, ज्ञानी (विप्राः) मेधावी पुरुष जब उस परम ब्रह्मके साक्षात्कार से प्राप्त सोम रस को (अक्षन्) आस्वा-दन करते हैं तब वे (अमीमदन्त) निरन्तर तृप्त रहा करते हैं, तब ही वे अपने (प्रियान्) प्रिय शरीर के भोगों को (अधूषत) कपांकर झाड़ देते हैं वे अपने कर्म बन्धनों और हार्दिक मलों का त्यागकर अवधूत पापरहित

६१—(द्वि०) 'प्रियाः' (च०) 'विप्रा न विष्ठयामती' इति ऋ० ।

भा०—(जातवेदाः) वेदों का जानने हारा जो पुरुष सूर्य के समान हमारे पास (दूतः) दूत, उत्तम संदेश पहुंचाने वाले के रूप में (प्रहितः) भेजा (अभूत्) जाता है। वह (सायं विन्द्यः) सायं प्रातः दोनों समय (नृभिः) पुरुषों द्वारा (उपवन्द्यः) सदा नमस्कार करने योग्य होता है। हे (जातवेदः) विद्वान्! तू (हवींषि) नाना अन्न (पितृभ्यः) अपने पूज्यपितरों को (प्र अदाः) प्रदान कर। (ते) वे (स्वधया) अपने प्राणशक्ति से या अपने शरीर के धारण के हेतु (हवींषि अक्षन्) उन अन्नों का भोजन करें। और हे (देव) देव! विद्वन्! तव (त्वम्) तभी (प्रयता) अति नियमित (हवींषि) अन्नों का स्वयं (अद्धि) भोगकर।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः।
अभ्ये/नं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

भा०—(हे असौ) हे परलोकगत और परदेशगत पुरुष! (इह ते मनः) तेरा मन उस लोक में ही लगा है। (जामय इवः) भगिनियें या स्त्रियें जिस प्रकार (ककुत्सलम्) अपने कन्धे के भाग को ढके रहती हैं, हे (भूमे) भूमे! तू भी (एनम्) उसको (अभि ऊर्णुहि) सब प्रकार से ढांक, सुरक्षित रख।

क्या यवनों और ईसाइयों में दफन करने का यही मूल तो नहीं है?

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥ यजु० ५। २६ ॥

भा०—(पितृषदनाः) पूज्य पालक पुरुषों के घर, निवास के

भजाति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत्' इति ऋ०।

६६–(द्वि०) 'ककुत्स्थलमिव' इति सायणाभिमतः।

६७–'शुन्धन्तां' इति यजु०।

जीव मोक्ष में (इन्द्रस्य) उस महान् ऐश्वर्यवान्, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर के (निष्कृतिम्) उस परम मोक्ष धाम को जिसमें और कोई कार्य करना शेष न रह जाय (प्र एति) प्राप्त होता है। तब (सखा सख्युः न) जिस प्रकार मित्र अपने परममित्र के स्थान को प्राप्त करता है और बराबर (संगिरः) उत्तम मित्रतायुक्त प्रेमोक्तियों को (प्रमिनाति) कहता है उसी प्रकार वह जीव भी उस परमेश्वर के धाम को पहुंच कर उसके संग (संगिरः) उत्तम स्तुति वाणियों को (प्रमिनाति) उच्चारण करता है, उसकी बहुत २ स्तुतियां करता है। और फिर (मर्यः) हे परमेश्वर ! जिस प्रकार पुरुष, मर्द (योषाः इव) नाना स्त्रियों को भी स्वयं भोग लेता है उसी प्रकार प्रेम युक्त होकर तू एक होकर नाना जीवों का अपने अनन्त सामर्थ्य से सबको उसी आनन्दमय रूप में (शतयामना पथा) सैकड़ों पुरुषों से चलने योग्य मार्गद्वारा तू (सोमः) सर्व प्रेरक होकर (कलशे) हृदय कलश में (सम् अर्षसे) सबको एक साथ ही प्राप्त होता है, साक्षात् होकर आनन्दित करता है। इसी एक पुरुष के नाना स्त्री भोगने के दृष्टान्त से पद्मपुराण, भागवत आदि में कृष्ण गोपी आदि के रमण को प्रधानता देने का साम्प्रदायिकों ने यत्न किया है।

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

ऋ० १ । ८२ । २ ॥ यजु० ३ । ५१ ॥

भा०—(स्वभानवः) स्वयंप्रकाश, ज्ञानी (विप्राः) मेधावी पुरुष जब उस परम ब्रह्म के साक्षात्कार से प्राप्त सोम रस को (अक्षन्) आस्वादन करते हैं तब वे (अमीमदन्त) निरन्तर तृप्त रहा करते हैं, तब ही वे अपने (प्रियान्) प्रिय शरीर के भोगों को (अधूषत) कपांकर झाड़ देते हैं वे अपने कर्म बन्धनों और हार्दिक मलों का त्यागकर अवधूत पापरहित

६१—(द्वि०) 'प्रियाः' (च०) 'विप्रा न विष्ठयामती' इति ऋ० ।

भा०—(जातवेदाः) वेदों का जानने हारा जो पुरुष सूर्य के समान हमारे पास (दूतः) दूत, उत्तम सदेश पहुंचाने वाले के रूप में (प्रहितः) भेजा (अभूत्) जाता है। वह (सायं विन्द्यः) सायं प्रातः दोनों समय (नृभिः) पुरुषों द्वारा (उपवन्द्यः) सदा नमस्कार करने योग्य होता है। हे (जातवेदः) विद्वान्! तू (हवींषि) नाना अन्न (पितृभ्यः) अपने पूज्यपितरों को (प्र अदाः) प्रदान कर। (ते) वे (स्वधया) अपने प्राणशक्ति से या अपने शरीर के धारण के हेतु (हवींषि अक्षन्) उन अन्नों का भोजन करें। और हे (देव) देव! विद्वन्! तत्र (त्वम्) तभी (प्रयता) अति नियमित (हवींषि) अन्नों का स्वयं (अद्धि) भोगकर।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः।
अभ्ये॒नं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

भा०—(हे असौ) हे परलोकगत और परदेशगत पुरुष! (इह ते मनः) तेरा मन उस लोक में ही लगा है। (जामय इवः) भगिनायें या स्त्रियें जिस प्रकार (ककुत्सलम्) अपने कन्धे के भाग को ढके रहती हैं, हे (भूमे) भूमे! तू भी (एनम्) उसको (अभि ऊर्णुहि) इस प्रकार से ढांक, सुरक्षित रख।

क्या यवनों और ईसाइयों में दफन करने का यही मूल तो नहीं है?

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥ यजु० ५ । २६ ॥

भा०—(पितृषदनाः) पूज्य पालक पुरुषों के घर, निवास के

भजाति मानवेभ्यः श्रेष्ठंनो अत्र द्रविणं यथा दधत्' इति ऋ०।
६६–(दि०) 'ककुत्स्थलमिव' इति सायणाभिमतः।
६७–'शुन्धन्तां' इति यजु०।

जीव मोक्षमें (इन्द्रस्य) उस महान् ऐश्वर्यवान्, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर के (निष्कृतिम्) उस परम मोक्ष धामको जिसमें और कोई कार्य करना शेष न रह जाय (प्र एति) प्राप्त होता है। तब (सखा सख्युः न) जिस प्रकार मित्र अपने परममित्र के स्थान को प्राप्त करता है और बराबर (संगिरः) उत्तम मित्रतायुक्त प्रेमोक्तियों को (प्रमिनाति) कहता है उसी प्रकार वह जीव भी उस परमेश्वर के धाम को पहुंच कर उसके संग (सं-गिरः) उत्तम स्तुति वाणियों को (प्रमिनाति) उच्चारण करता है, उसकी बहुत २ स्तुतियां करता है। और फिर (मर्यः) हे परमेश्वर ! जिस प्रकार पुरुष, मर्द (योषाः इव) नाना स्त्रियों को भी स्वयं भोग लेता है उसी प्रकार प्रेम युक्त होकर तू एक होकर नाना जीवों का अपने अनन्त सामर्थ्य से सबको उसी आनन्दमय रूप में (शतयामना पथा,) सैकड़ों पुरुषों से चलने योग्य मार्गद्वारा तू (सोमः) सर्व प्रेरक होकर (कलशे) हृदय कलश में (सम् अर्षसे) सबको एक साथ ही प्राप्त होता है, साक्षात् होकर आनन्दित करता है। इसी एक पुरुष के नाना स्त्री भोगने के दृष्टान्त से पद्मपुराण, भागवत आदि में कृष्ण गोपी आदि के रमण को प्रधानता देने का साम्प्रदायिकों ने यत्न किया है।

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

ऋ० १ । ८२ । २ ॥ यजु० ३ । ५१ ॥

भा०—(स्वभानवः) स्वयंप्रकाश, ज्ञानी (विप्राः) मेधावी पुरुष जब उस परम ब्रह्मके साक्षात्कार से प्राप्त सोम रस को (अक्षन्) आस्वादन करते हैं तब वे (अमीमदन्त) निरन्तर तृप्त रहा करते हैं, तब ही वे अपने (प्रियान्) प्रिय शरीर के भोगों को (अधूषत) कपांकर झाड़ देते हैं वे अपने कर्म बन्धनों और हार्दिक मलों का त्यागकर अवधूत पापरहित

६१–(द्वि०) 'प्रियाः' (च०) 'विप्रा न विष्ठयामती' इति ऋ० ।

भा०—(जातवेदाः) वेदों का जानने हारा जो पुरुष सूर्य के समान हमारे पास (दूतः) दूत, उत्तम सदेश पहुंचाने वाले के रूप में (प्रहितः) भेजा (अभूत्) जाता है। वह (सायं विन्द्यह्नः) सायं प्रातः दोनों समय (नृभिः) पुरुषों द्वारा (उपवन्द्यः) सदा नमस्कार करने योग्य होता है। हे (जातवेदः) विद्वान्! तू (हवींषि) नाना अन्न (पितृभ्यः) अपने पूज्यपितरों को (प्र अदाः) प्रदान कर। (ते) वे (स्वधया) अपने प्राणशक्ति से या अपने शरीर के धारण के हेतु (हवींषि अक्षन्) उन अन्नों का भोजन करें। और हे (देव) देव! विद्वन्! तब (त्वम्) तभी (प्रयता) अति नियमित (हवींषि) अन्नों का स्वयं (अद्धि) भोगकर।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः।
अभ्ये॒नं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

भा०—(हे असौ) हे परलोकगत और परदेशगत पुरुष! (इह ते मनः) तेरा मन उस लोक में ही लगा है। (जामय इवः) भगिनियें या स्त्रियें जिस प्रकार (ककुत्सलम्) अपने कन्धे के भाग को ढके रहती हैं, हे (भूमे) भूमे! तू भी (एनम्) उसको (अभि ऊर्णुहि) सब प्रकार से ढांक, सुरक्षित रख।

क्या यवनों और ईसाइयों में दफन करने का यही मूल तो नहीं है?

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥ यजु० ५ । २६ ॥

भा०—(पितृषदनाः) पूज्य पालक पुरुषों के घर, निवास के

मजति मानवेभ्यः श्रेष्ठनो अत्र द्रविणं यथा दधत्' इति ऋ०।
६६–(दि०) 'कक्कुरस्थलमिव' इति सायणाभिमतः।
६७–'शुन्धन्तां' इति यजु०।

(लोकाः) लोक (शुम्भन्ताम्) सुशोभित रहें । हे पूजनीय पुरुष ! (पितृषदने लोके) पितरों के विराजने के स्थान में (त्वा) तुझको (आसादयामि) प्राप्त करता हूं, आदर पूर्वक विठाता हूं ।

ये॒ऽस्माकं॑ पि॒तर॒स्तेषां॑ ब॒र्हिर॑सि ॥ ६८ ॥

भा०—(ये) जो (अस्माकं) हमारे (पितरः) पूज्य पालक गुरु-जन हैं हे आसन ! तू (तेषां) उनके (बर्हिः असि) वृद्धि को प्राप्त कराने वाला, प्रतिष्ठा का आसन है ।

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥ ६९ ॥

ऋ० १ । ५४ । १५ ॥ अथर्व० ७ । ८३ । ३ ॥

भा०—हे (वरुण) सब से वरण करने योग्य परमेश्वर ! आप हमारे (उत्तम) उत्कृष्ट (पाशम्) सात्विक कर्म बन्धन को (उत्-श्रथाय) ऊपर से खोल दे । (अधमं पाशं अव श्रथाय) नीचे के पाशको नीचे ढीला-कर, सरकादे और (मध्यमं) बीच के राजस कर्मबन्धन को भी (वि श्रथाय) विशेष रूप से ढीला कर । (अथा) और हे (आदित्य) सूर्य के समान सबके वशयितः । (तव व्रते) तेरे व्रत में निष्ठ होकर (वयम्) हम (अदितये) अखण्ड, अविनाशी पदकी प्राप्ति के लिये (अनागसः) पापरहित, (स्याम) हों । व्याख्या देखो (अथर्व० ७ । ८३ । ३ ॥)

प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मुञ्च॒ सर्वा॒न् यैः स॑मा॒मे ब॒ध्यते॒ यैर्व्या॒मे ।
अथा॑ जीवेम श॒रदं॑ श॒तानि॒ त्वया॑ राजन् गुपि॒ता रक्ष॑माणाः ॥ ७० ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! परमात्मन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान्) उन सब (पाशान्) कर्मबन्धनों को (प्रमुञ्च) छुड़ा (यैः) जिनों से यह जीव (समामे) समान रूप से (बध्यते) बांधा जाता है और जिनों से जीव (व्यामे) विशेष रूप से भी बन्ध जाता है । हे ! (राजन्) सबके

(वः यद्) आपलोगों का जो (घोरम्) भयंकर कार्य है (तस्मै नमः) उसका भी हम आदर करते हैं। (यत् वः क्रूरं तस्मै नमः) जो आपका युद्ध आदि के अवसर पर क्रूर शत्रुहिंसा आदि कर्म है उसका भी हम आदर करते हैं । हे (पितरः पितरः) प्रजाके पालक पुरुषो ! (वः यत् शिवम् तस्मै नमः) आपलोगों का जो शिव, मङ्गल, कल्याणकारी कार्य है उसका हम आदर करते हैं । (वः यत् स्योनं तस्मै नमः) आप लोगों का जो प्रजा को सुख पहुचाने वाला कार्य है उसका हम आदर करते हैं । हे (पितरः २) पालक पुरुषो ! (वः नमः) आपलोगों का हम आदर करते हैं और (वः स्वधा) आप लोगों के निमित्त शरीर पोषक यह अन्न प्रदान करते हैं ।

येऽत्र॑ पि॒तर॑: पि॒तरो॒ येऽत्र॑ यू॒यं स्थ ।
यु॒ष्मांस्तेऽनु॑ यू॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्थ ॥ ८६ ॥

भा०—हे (पितरः) माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजन (अत्र) इस लोक में (ये) जो भी (पितरः) पालन करनेहारे हैं और (ये) जो (अत्र) यहां (यूयं स्थ) आप लोग हैं उनमें से जो (युष्मान् अनु ते) आप लोगों के अनुगामी है वे पूजनीय हैं । और (तेषाम्) उनमें से (यूयम्) आप लोग ही (श्रेष्ठाः भूयास्थ) श्रेष्ठ, अधिक आदर और प्रशंसा के पात्र रहें ।

य इ॒ह पि॒तरो॑ जी॒वा इ॒ह व॒यं स्मः॑ ।
अ॒स्मांस्तेऽनु॑ व॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्म ॥ ८७ ॥

भा०—(इह) इस लोक में हे (पितरः) पालक जनो ! (ये)

८६–८७—'पितरो त्र' इति ह्विटनिकामितः । 'येत्र पितरः पितरःस्थ यूयं तेषां श्रेष्ठाःस्थ' । 'य इह पितरो मनुष्या वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म' इति शा० श्रा० सू० । य एतस्मिं लोके स्थ युष्मांस्ते ऽनु ।

(लोकाः) लोक (शुम्भन्ताम्) सुशोभित रहें । हे पूजनीय पुरुष ! (पितृषदने लोके) पितरों के विराजने के स्थान में (त्वा) तुझको (आसादयामि) प्राप्त करता हूं, आदर पूर्वक बिठाता हूं ।

ये ३ऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

भा०—(ये) जो (अस्माकं) हमारे (पितरः) पूज्य पालक गुरुजन हैं हे आसन ! तू (तेषां) उनके (बर्हिः असि) वृद्धि को प्राप्त कराने वाला, प्रतिष्ठा का आसन है ।

उदु॑त्तमं व॑रुण पाश॑मस्मदवा॑धमं वि म॑ध्यमं श्र॑थाय ।
अधा॑ वयमा॑दित्य व्रते तवा॑नागसो अदि॑तये स्याम ॥ ६९ ॥

ऋ० १ । २४ । १५ ॥ अथर्व० ७ । ८३ । ३ ॥

भा०—हे (वरुण) सब से वरण करने योग्य परमेश्वर ! आप हमारे (उत्तम) उत्कृष्ट (पाशम्) सात्विक कर्म बन्धन को (उत्-श्रथाय) ऊपर से खोल दे । (अधमं पाशं अव श्रथाय) नीचे के पाशको नीचे ढीला-कर, सरकादे और (मध्यमं) बीच के राजस कर्मबन्धन को भी (वि श्रथाय) विशेष रूप से ढीला कर । (अधा) और हे (आदित्य) सूर्य के समान सबके वशयितः । (तव व्रते) तेरे व्रत में निष्ठ होकर (वयम्) हम (अदितये) अखण्ड, अविनाशी पदकी प्राप्ति के लिये (अनागसः) पापरहित, (स्याम) हों । व्याख्या देखो (अथर्व० ७ । ८३ । ३ ॥)

प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मुञ्च सर्वा॑न् यैः स॑मामे बध्यते यैर्व्या॑मे ।
अधा॑ जीवेम शरदं॑ शता॑नि त्वया॑ राजन् गुपिता रक्ष॑माणाः ॥ ७० ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! परमात्मन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान्) उन सब (पाशान्) कर्मबन्धनों को (प्रमुञ्च) छुड़ा (यैः) जिनों से यह जीव (समामे) समान रूप से (बध्यते) बांधा जाता है और जिनों से जीव (व्यामे) विशेष रूप से भी बन्ध जाता है । हे ! (राजन्) सबके

(वः यद्) आपलोगों का जो (घोरम्) भयंकर कार्य है (तस्मै नमः) उसका भी हम आदर करते हैं। (यत् वः क्रूरं तस्मै नमः) जो आपका युद्ध आदि के अवसर पर क्रूर शत्रुहिंसा आदि कर्म है उसका भी हम आदर करते हैं। हे (पितरः पितरः) प्रजाके पालक पुरुषो ! (वः यत् शिवम् तस्मै नमः) आपलोगों का जो शिव, मङ्गल, कल्याणकारी कार्य है उसका हम आदर करते हैं। (वः यत् स्योनं तस्मै नमः) आप लोगों का जो प्रजाको सुख पहुंचाने वाला कार्य है उसका हम आदर करते हैं। हे (पितरः २) पालक पुरुषो ! (वः नमः) आपलोगों का हम आदर करते हैं और (वः स्वधा) आप लोगों के निमित्त शरीर पोषक यह अन्न प्रदान करते हैं ।

येऽत्र॑ पि॒तर॑: पि॒तरो॒ येऽत्र॑ यू॒यं स्थ ।
यु॒ष्मांस्तेऽनु॑ यू॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्थ ॥ ८६ ॥

भा०—हे (पितरः) माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजन (अत्र) इस लोक में (ये) जो भी (पितरः) पालन करनेहारे हैं और (ये) जो (अत्र) यहां (यूयं स्थ) आप लोग हैं उनमें से जो (युष्मान् अनु ते) आप लोगों के अनुगामी हैं वे पूजनीय हैं। और (तेषाम्) उनमें से (यूयम्) आप लोग ही (श्रेष्ठाः भूयास्थ) श्रेष्ठ, अधिक आदर और प्रशंसा के पात्र रहें ।

य इ॒ह पि॒तरो॑ जी॒वा इ॒ह व॒यं स्मः॑ ।
अ॒स्मांस्तेऽनु॑ व॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्म ॥ ८७ ॥

भा०—(इह) इस लोक में हे (पितरः) पालक जनो ! (ये)

८६–८७—'पितरो त्र' इति ह्विटनिकामितः। 'येत्र पितरः पितरःस्थ यूयं तेषां श्रेष्ठाःस्थ'। 'य इह पितरो मनुष्या वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म' इति शा० श्रौ० सू०। य एतस्मि लोके स्थ युष्मांस्ते ऽनु।

जो (जीवाः) जीव हैं और (इह) इस लोक में (ये वयं स्मः) जो हम लोग भी हैं। (ते) वे सब जीव (अस्मान् अनु) हम से उतर कर रहें। और (वयं) हम (तेषाम्) उन सब जीवों में (श्रेष्ठाः भूयास्म) श्रेष्ठ होकर रहें।

अर्थात् सब पालकों में से मां बाप, गुरुजन अधिक आदर योग्य हों और अन्य सब जीवों में हम श्रेष्ठ होकर रहें।

> आ त्वा॑ग्न इधीमहि द्युमन्तं॑ देवाजर॑म् ।
> यद् घ सा ते पनी॑यसी समिद् दीदय॑ति द्यवि॑ ।
> इषं॑ स्तोतृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ८८ ॥　　ऋ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! हे (देव) देव ! द्योतमान ! प्रकाश स्वरूप ! (द्युमन्तम्) प्रकाशमान् (अजरम्) अविनाशी (त्वा) तेरी (इधीमहि) उपसना करें । (यत्) क्योंकि (ते) तेरी ही (सा) यह जगत् प्रसिद्ध (पनीयसी) अति प्रशंसनीय, स्तुति करने योग्य (समित्) अति देदीप्यमान सूर्यरूप शक्ति (द्यवि) द्यौलोक में (दीदयति) प्रकाशमान है । हे परमेश्वर ! तू (स्तोतृभ्यः) गुण गान करने वाले उपासकों को (इषम्) अन्न और भीतरी मानस प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त करा ।

चन्द्रमा॑ अप्स्व१॒न्तरा सु॑प॒र्णो धा॑वते दि॒वि ।

---

* 'येऽस्मिं लोके मां तेऽनु । य एतस्मिन् लोकेस्थ यूयं तेषां वसिष्ठा भूयास्त । येस्मिं लोकेऽहं तेषां वसिष्ठो भूयासम्' । इति तै० आ० 'एत अस्माकं पितरः । इमा अस्माकम् । जीवा वो जीवन्त इह सन्तः स्याम । इति मै० सं० । 'एता युष्माकं पितरः । इमा अस्माकं ।' इति आ० श्री० । सू० ॥

८८–'त्वाग्न' (तृ०) 'यद्ध स्यात्' इति ऋ० । ऋग्वेदे वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः ।

करने वाले, लाने वाले हवि=आज्ञा या उपाय से इस यज्ञ में (जुहोमि) आहुति करता हूं, अपने आपको लगाता हूं।

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत ।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ २ ॥

भा०—हे (होमाः) होमो ! यज्ञो ! आप (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ की, यज्ञकर्त्ता पुरुष की या यज्ञमय राष्ट्र की (अवत) रक्षा करो । (उत) और हे (संस्रावणाः) समस्त ऐश्वर्यों को भली प्रकार प्राप्त करानेहारे उपायो ! तुम भी (इमम् अवत) इस यज्ञपति और राष्ट्रपति की रक्षा-करो । (यज्ञम् इमम् इत्यादि पूर्ववत्)

रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे ।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

भा०—(रूपंरूपं) प्रत्येक प्रकार का रूप अर्थात् पशु और (वयोवयः) प्रत्येक प्रकार के अन्न और बल को (संरभ्य) भली प्रकार प्राप्त करके मैं (एनम्) इस राष्ट्रपति और यज्ञपति को (परिष्वजे) सब ओर से आलिंगन करता हूं, सब ओर से उसकी रक्षा करता हूं। (चतस्रः प्रदिशः) चारों मुख्य दिशाएं, अर्थात् चारों दिशाओं के वासीजन (इमम्) उसको (वर्धयन्तु) बढ़ावें । (संस्राव्येण हविषा जुहोमि) मैं, धन ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले हवि=उपाय से राष्ट्र की रक्षा करता हूं।

[२] शान्तिदायक जलों का वर्णन ।

सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवता अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः ।

२-'होमा यज्ञ पचते इदं' इति पैप्प० सं० ।

[२] १-(द्वि०) 'शं ते' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'शं तापः (तृ०)

जो (जीवाः) जीव हैं और (इह) इस लोक में (ये वयं स्मः) जो हम लोग भी हैं। (ते) वे सब जीव (अस्मान् अनु) हम से उतर कर रहें। और (वयं) हम (तेषाम्) उन सब जीवों में (श्रेष्ठाः भूयास्म) श्रेष्ठ होकर रहें।

अर्थात् सब पालकों में से मां बाप, गुरुजन अधिक आदर योग्य हों और अन्य सब जीवों में हम श्रेष्ठ होकर रहें।

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद् घ सा ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि।
इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥　　ऋ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! ज्ञानवन्! हे (देव) देव! द्योतमान! प्रकाश स्वरूप! (द्युमन्तम्) प्रकाशमान् (अजरम्) अविनाशी (त्वा) तेरी (इधीमहि) उपसना करें। (यत्) क्योंकि (ते) तेरी ही (सा) यह जगत् प्रसिद्ध (पनीयसी) अति प्रशंसनीय, स्तुति करने योग्य (समित्) अति देदीप्यमान सूर्यरूप शक्ति (द्यवि) द्यौलोक में (दीदयति) प्रकाशमान है। हे परमेश्वर! तू (स्तोतृभ्यः) गुण गान करने वाले उपासकों को (इषम्) अन्न और आन्तरी मानस प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त करा।

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।

येऽस्मिं लोके मां तेऽनु। य एतस्मिन् लोकेस्थ यूय तेषां वसिष्ठा भूयस्त। येस्मिं लोकेऽहं तेषां वसिष्ठा भूयासम्'। इति तै० ब्रा० 'एत्त अस्माकं पितरः। इमा अस्माकम्। जीवा वो जीवन्त इह सन्तः स्याम। इति मै० स०। 'एता युष्माकं पितरः। इमा अस्माकं।' इति आ० श्रौ०। ८०॥

८८—'आते अग्न' (तृ०) 'यद्ध स्याते' इति ऋ०। ऋग्वेदे वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः।

करने वाले, लाने वाले हवि=आज्ञा या उपाय से इस यज्ञ में (जुहोमि) आहुति करता हूं, अपने आपको लगाता हूं।

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्ये/ण हविषा जुहोमि ॥ २ ॥

भा०—हे (होमाः) होमो ! यज्ञो ! आप (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ की, यज्ञकर्त्ता पुरुष की या यज्ञमय राष्ट्र की (अवत) रक्षा करो । (उत) और हे (संस्रावणाः) समस्त ऐश्वर्यों को भली प्रकार प्राप्त करानेहारे उपायो ! तुम भी (इमम् अवत) इस यज्ञपति और राष्ट्रपति की रक्षा करो । (यज्ञम् इमम् इत्यादि पूर्ववत्)

रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्ये/ण हविषा जुहोमि ॥३॥

भा०—(रूपंरूपं) प्रत्येक प्रकार का रूप अर्थात् पशु और (वयोवयः) प्रत्येक प्रकार के अन्न और बल को (संरभ्य) भली प्रकार प्राप्त करके मैं (एनम्) इस राष्ट्रपति और यज्ञपति को (परिष्वजे) सब ओर से आलिंगन करता हूं, सब ओर से उसकी रक्षा करता हूं। (चतस्रः प्रदिशः) चारों मुख्य दिशाएं, अर्थात् चारों दिशाओं के वासीजन (इमम्) उसको (वर्धयन्तु) बढ़ावें। (संस्राव्येण हविषा जुहोमि) मैं, धन ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले हवि=उपाय से राष्ट्र की रक्षा करता हूं।

[२] शान्तिदायक जलों का वर्णन।

सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवता अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।

२–'होमा यज्ञ पचते इदं' इति पैप्प० सं० ।

[२] १-(द्वि०) 'शं ते' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'शं तापः (तृ०)

शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः ॥ १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते) तुझे (हैमवतीः आपः) हिमवाले पर्वतों से बहने वाली जलधाराएं (शम्) सुखप्रद, कल्याणकारी हों । (ते) तुझे (उत्स्याः) सोतों से बहनेवाली जलधाराएं भी (शम् उ सन्तु) सुखकारी हों । (सनिष्यदाः आपः) विशेष वेग से बहने वाली जलधाराएं (ते शम्) तुझे कल्याणकारी हों, (वर्ष्याः) वर्षा से प्राप्त जलधाराएं भी (ते) तुझे (शम् उ सन्तु) शान्तिदायक हों ।

शं त आपो धन्वन्याः३ः शं ते सन्त्वनूप्याः ।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः ॥ २ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (धन्वन्याः) धन्व, मरुदेश में होनेवाली (आपः) जल धाराएं (ते शम) तुझे शान्तिदायक हों । (अनूप्याः) अनूपदेश में उत्पन्न जलधाराएं (ते शम् सन्तु) तुझे शान्तिदायक हों । (खनित्रिमाः आपः) खोदकर प्राप्त हुए जल (ते शम्) तुझे शान्तिदायक हों । और (याः) जो (कुम्भेभिः) घड़ों में (आभृताः) रखे हैं, या घड़ों द्वारा घरमें लाये हैं वे जल भी (शम्) शान्तिकारक हों ।

अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः ।
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि ॥ ३ ॥

भा०—(अनभ्रयः) खोदने के औज़ार, कुदाल आदि से रहित होकर (खनमानाः) तले को खोदते हुए (गम्भीरे) गंभीर, गहरे स्थान में

ष्यदा पाः इति पैप्प० सं० ।

२–(प्र०) 'शं तापो' (तृ०) –त्रिमायः इति पैप० सं० । (द्वि०) 'सन्त्वनूप्याः' इति तै० ब्रा० ।

३–'गम्भीरे-अपसः' इत्येकेपदे इति सायणः । (द्वि०) गम्भीरेऽपसा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! (ते) तेरा (यः) जो (अप्सु) जलों में (महिमा) महान्, महत्वपूर्ण सामर्थ्य है और (यः) जो (वनेषु) वनों में और वनस्पतियों में जो तेरा महान् सामर्थ्य है, (यः ओषधीषु) और जो ओषधियों में और (पशुषु) पशुओं में, और (अप्सु) प्रजाओं में या अपों, नदियों, जलधारा और लोक लोकान्तरों में तेरा महान् सामर्थ्य है हे अग्ने ! तू (सर्वाः) समस्त (तन्वः) रूपोंको (सरभस्व) उत्तम रीति से प्रकट कर। और (ताभिः) उन सहित (नः) हमें द्रविण, धन, ऐश्वर्य के प्रदाता और (अजस्रः) अविनाशी, रूपमें (एहि) प्राप्त हो।

यस्ते॑ दे॒वेषु॑ महि॒मा स्व॒र्गो या ते॑ त॒नूः पि॒तृष्वा॑वि॒वेश॑ ।
पुष्टि॒र्या ते॑ मनु॒ष्ये॑षु पप्र॒थेग्ने॒ तया॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! अग्ने ! (ते) तेरा (यः महिमा) जो महान् सामर्थ्य (देवेषु) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने और विज्ञान के प्रकाश करने और देखने वाले विद्वानों में, (स्वर्गः) सुख और प्रकाश को प्राप्त कराने वाला आनन्दमय है और (या ते तनूः) जो तेरा स्वरूप (पितृषु) प्रजा के पालन करने हारे वृद्ध अनुभवी शक्तिशाली पुरुष और ऋतु आदि पदार्थों में (आविवेश) आविष्ट है, उनमें विद्यमान है और (या ते) जो तेरा (पुष्टिः) पोषक स्वरूप से (मनुष्येषु) मनुष्यों में (पप्रथे) विस्तृत है (तया) उस सर्वपोषक, ज्ञानमय, रक्षामय, पुष्टिमय स्वरूप से (अस्मासु) हम में (रयिम् धेहि) सर्व प्रकार के ऐश्वर्य और बलों का प्रदान कर।

श्रुत्क॑र्णाय क॒वये॒ वेद्या॑य॒ वचो॑भिर्वा॒कैरुप॑ यामि रा॒तिम् ।
यतो॑ भ॒यमभ॑यं॒ तन्नो॑ अ॒स्त्वव॑ दे॒वानां॑ यज॒ हेडो॑ अग्ने ॥ ४ ॥

३—(प्र०) 'स्वर्गो' इति क्वचित्। (द्वि०) यस्त आत्म पशुषु प्रविष्टः (च०) तं नो अग्ने जुषमाण एहि इति तै० ब्रा०।

शं ते॑ सनिष्यदा आप॒ः शमु॑ ते सन्तु व॒र्ष्याः॑ ॥ १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते) तुझे (हैमवतीः आपः) हिमवाले पर्वतों से बहने वाली जलधाराएं (शम्) सुखप्रद, कल्याणकारी हों । (ते) तुझे (उत्स्याः) सोतों से बहनेवाली जलधाराएं भी (शम् उ सन्तु) सुखकारी हों । (सनिष्यदाः आपः) विशेष वेग से बहने वाली जलधाराएं (ते शम्) तुझे कल्याणकारी हों, (वर्ष्याः) वर्षा से प्राप्त जलधाराएं भी (ते) तुझे (शम् उ सन्तु) शान्तिदायक हों ।

शं त॒ आपो॑ धन्व॒न्या॒३ः शं ते॑ सन्त्वनू॒प्याः॑ ।
शं ते॑ खनि॒त्रिमा॒ आप॒ः शं याः कु॒म्भेभि॒राभृ॑ताः ॥ २ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (धन्वन्याः) धन्व, मरुदेश में होनेवाली (आपः) जल धाराएं (ते शम्) तुझे शान्तिदायक हों । (अनूप्याः) अनूपदेश में उत्पन्न जलधाराएं (ते शम् सन्तु) तुझे शान्तिदायक हों । (खनित्रिमाः आपः) खोदकर प्राप्त हुए जल (ते शम्) तुझे शान्तिदायक हों और (याः) जो (कुम्भेभिः) घड़ों में (आभृताः) रखे हैं, या घड़ों द्वारा घरमें लाये हैं वे जल भी (शम्) शान्तिकारक हों ।

अ॒न॒भ्रयः॒ खन॑माना॒ विप्रा॑ ग॒म्भी॒रे अ॒पस॑ः ।
भि॒षग्भ्यो॑ भि॒षक्त॑रा॒ आपो॒ अच्छा॑ वदामसि ॥ ३ ॥

भा०—(अनभ्रयः) खोदने के औज़ार, कुदाल आदि से रहित होकर (खनमानाः) तले को खोदते हुए (गम्भीरे) गंभीर, गहरे स्थान में

प्यदा पाः इति पैप्प० सं० ।

२—(प्र०) 'शं तापो' (तृ०) —त्रिमायः इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सन्त्वनूप्याः' इति तै० ब्रा० ।

३—'गम्भीरे-अपसः' इत्येकेपदे इति सायणः । (द्वि०) गम्भीरेऽपसः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! (ते) तेरा (यः) जो (अप्सु) जलों में (महिमा) महान्, महत्वपूर्ण सामर्थ्य है और (यः) जो (वनेषु) वनों में और वनस्पतियों में जो तेरा महान् सामर्थ्य है, (यः ओषधीषु) और जो ओषधियों में और (पशुषु) पशुओं में, और (अप्सु) प्रजाओं में या अपों, नदियों, जलधारा और लोक लोकान्तरों में तेरा महान् सामर्थ्य है हे अग्ने ! तू (सर्वाः) समस्त (तन्वः) रूपोंको (तरस्व) उत्तम रीति से प्रकट कर। और (ताभिः) उन सहित (नः) हमें द्रविण, धन, ऐश्वर्य के प्रदाता और (अजस्रः) अविनाशी, रूपमें (एहि) प्राप्त हो।

यस्ते॑ दे॒वेषु॑ महि॒मा स्व॒र्गो या ते॑ त॒नूः पि॒तृष्वा॑वि॒वेश॑ ।
पु॒ष्टिर्या ते॑ मनु॒ष्ये॑षु पप्र॒थेऽग्ने॒ तया॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! अग्ने ! (ते) तेरा (यः महिमा) जो महान् सामर्थ्य (देवेषु) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने और विज्ञान के प्रकाश करने और देखने वाले विद्वानों में, (स्वर्गः) सुख और प्रकाश को प्राप्त कराने वाला आनन्दमय है और (या ते तनूः) जो तेरा स्वरूप (पितृषु) प्रजा के पालन करने हारे वृद्ध अनुभवी शक्तिशाली पुरुष और ऋतु आदि पदार्थों में (आविवेश) आविष्ट है, इनमें विद्यमान है और (या ते) जो तेरा (पुष्टिः) पोषक स्वरूप से (मनुष्येषु) मनुष्यों में (पप्रथे) विस्तृत है (तया) उस सर्वपोषक, ज्ञानमय, रक्षामय, पुष्टिमय स्वरूप से (अस्मासु) हम में (रयिम् धेहि) सर्व प्रकार के ऐश्वर्य और बलों का प्रदान कर।

श्रुत्क॑र्णाय क॒वये॒ वेद्या॑य॒ वचो॑भिर्वा॒कैरुप॑ यामि रा॒तिम् ।
यतो॑ भ॒यमभ॑यं॒ तन्नो॑ अ॒स्त्वव॑ दे॒वानां॑ यज॒ हेडो॑ अग्ने ॥ ४ ॥

३– प्र०) 'स्वर्गे' इति क्वचित् । (द्वि० ; यस्त आत्म पशुषु प्रविष्टः च०) तं नो अग्न उपमाप एहि इति तै० ब्रा० ।

भा०—(श्रुत्कर्णाय) श्रवण करने हारे कान रूप, (कवये) क्रान्तदर्शी, (वेद्याय) परम रूप से ज्ञान करने योग्य, परमेश्वर से (वाकैः) नित्य पाठ करने योग्य अथवा (वाकैः=पाकैः) अच्छी प्रकार सुविचारित (वचोभिः) स्तुति वचनों और वेद मन्त्रों द्वारा (रातिम्) अभिलषित दान की (उपयामि) याचना करता हूं । और प्रार्थना करता हूं कि (यतः) जिधर से भी (भयम्) भय हो (तत्) उधर से (नः अभयम् अस्तु) हमें अभय हो । हे (अग्ने) अग्रणी, नेतः ! प्रभो ! आप (देवानां) दिव्य पदार्थों, और विद्वानों अथवा क्रीड़ाशील पुरुषों के (हेडः) क्रोध को (अवयज) दूर कर । राजा और ईश्वर के पक्षमें समान है ।

(४) वाणी और आकूति का वर्णन ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । अग्निरुत मन्त्रोक्ता देवता । १ पञ्चपदा विराड् अतिजगती, २ जगती ३,४ त्रिष्टुभौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यामाहु॑तिं प्रथ॒मामथ॑र्वा॒ या जा॒ता या ह॒व्यमकृ॑णोज्जा॒तवे॑दाः ।
तां त॑ ए॒तां प्र॑थ॒मो जो॑हवीमि॒ ताभि॑ष्टु॒प्तो व॑हतु ह॒व्यम॒ग्निर॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भा०—(अथर्वा) प्रजापति परमात्मा ने (याम्) जिस (आहुतिम्) आहुति=आहूति उपदेश रूप वेद वाणी को (प्रथमाम्) सब से प्रथम (अकृणोत्) बनाया । और (या) जो स्वयं प्रकट हुई और (या=यया) जिससे (जातवेदः) वेदों के उत्पादक, सर्वज्ञ परमेश्वर ने

[४] १–(द्वि०) 'अथर्वा या जाताय हव्याम्...' । (त्व०) 'ताभिः स्तुतः' इति सायणाभिमतः (च०) 'तया तृप्ता' इति ह्विटनिकामितः ।

(हव्यम्) आदान करने योग्य इस समस्त संसार को (अकृणोत्) प्रकट किया (ताम्) उस (एताम्) इस को ही मैं (प्रथमः) सब से प्रथम हे पुरुष! (ते) तुझे (जोहवीमि) प्रदान करता हूं, उपदेश करता हूं (वाभिः) उन वेद वाणियों से (स्तुतः) यथार्थ रूप से वर्णन करने योग्य (अग्निः) सर्वप्रकाशक, सब से पूर्व विद्यमान, परमेश्वर (हव्यम्) समस्त संसार, को (वहतु) धारण करता है। (अग्नये) उस अग्नि परमेश्वर की हम (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रशंसा करें, हम उसकी स्तुति उपासना करते हैं।

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्यं माता सुहवां नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥ २॥

भा०—(सुभगाम्) उत्तम ऐश्वर्य या समृद्धि से युक्त, (देवीं) सर्व गूढ़तत्वों को दर्शाने और प्रकाशित करने वाली, (आकूतिम्) आकूति मन की अभिप्रायज्ञापिका, वास्तविकरूप शक्ति को मैं (पुरः दधे) साक्षात् धारण करता हू, उसको ज्ञान करता हू। वह (चित्तस्य) चित्त, ज्ञान करने के साधन रूप अन्तःकरण की (माता) बनानेवाली स्वयं (सुहवा) उत्तमरीति से ज्ञान करने वाली (नः) हमें (अस्तु) प्राप्त हो। मैं (याम्) जिस (आशाम्) आशा या कामना को (एमि) प्राप्त करूं, वह (सा) वह (मे) मेरी (केवली) अवश्य शुद्धरूप से (अस्तु) पूर्ण हो। और (एनाम्) इस 'आकूति' नामक अन्तःकरण की विशेष, प्रबल धारणावती, साक्षात्कारशक्ति को

२—(प्र०) 'देवीं मनसः' (द्वि०) 'यज्ञस्य माता सुहवो मे अस्तु (तृ० च०) यदिच्छामि मनसा सकामो विदेयं मेनन् हृदये निविष्टम्।' इति तै० ब्रा०।

(मनसि) ज्ञान या मनन करने हारे आत्मा या मन में (प्रविष्टाम्) भीतर गुप्त रूप से विद्यमान को भी मैं (विदेयम्) जान लूं, उसका साक्षात् करूं।

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि।
अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव ॥ ३ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहती वेदवाणी के स्वामिन् ! आप (आकूत्या) आकूति, वाक्य के तात्पर्य रूप उच्चारण करने योग्य वाणी के मर्म या प्रथम उत्पन्न, मूल बुद्धि रूप से (नः) हमें (उप आगहि) प्राप्त हो। (आकूत्या नः उप आगहि) 'आकूति' रूप से आप हमें प्राप्त हों। (अथो) और (नः) हमें (भगस्य) ज्ञानरूप ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान कर। (अथो) और (नः) हमारे लिये (सुहवः) उत्तम रीति से स्तुतियोग्य, (भव) हो।

बृहस्पतिर्म आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम्।
यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान्
॥ ४ ॥

भा०—(आङ्गिरसः) अंग २ में रस, प्राण के समान प्रत्येक भौतिक देह में भी समष्टि चैतन्य रूप से विद्यमान (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर (मे) मुझे, (आकूतिम्) जो बात मेरे मुख से निकले उसका प्रथम स्पष्ट तात्पर्य रूप विचार और फिर (एताम्) तदनुरूप प्रकट होने वाली (वाचम्) व्यक्त रूप से उच्चारण

३–(तृ०) 'देहि' इति सायणाभिमतः। (च०) 'सुभगो भव' इति पैप्प० सं०।

४–'तस्य देवा देवता सम्बभूव शिशुप्रणीह' [?] इति पैप्प० सं०। (च०) 'अन्वेत्वस्मान्' इति सायणाभिमतः।

की जाने वाली अव्यक्त वाणी को भी (प्रति जानातु) मुझे प्रदान करे। (यस्य) जिसके अधीन (देवाः) सब बल प्रदान करने और बाह्य विषयों का दर्शन, और प्रकाश करने वाले इन्द्रिय आदि प्राण गण भी (सु प्रणीताः) उत्तम रीति से प्रयोग किये जाते हैं और (देवताः) शरीर में देवता, देव=आत्मा की विशेष शक्तियां, उसके ही विशेष रूप होकर (सं बभूवुः) प्रकट होते हैं (सः) वह (कामः) महान् 'काम' समष्टिकामना या महती इच्छा रूप, संकल्परूप, 'काम' परमात्मा (अस्मान्) हमें (अनु एतु) प्राप्त हो।

(५) उपास्य देव।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

इन्द्रो॒ राजा॒ जग॑तश्चर्षणी॒नामधि॑ क्षमि॒ विषु॑रूपं॒ यदस्ति॑।
ततो॑ ददाति दा॒शुषे॒ वसू॑नि॒ चोद॒द् राध॒ उप॑स्तुतश्चिद॒र्वाक्॥ १॥
ऋ० ७। २७। ३॥

भा०—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान्, परमात्मा (जगतः) समस्त जगत् का, (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजाओं का और (अधिक्षमि) इस पृथिवी पर (यत्) जो कुछ भी (विषुरूपम्) नाना प्रकार के पदार्थ हैं उन सबका (राजा) स्वामी, राजा है। वह (ततः) उस अपने खजाने में से ही (दाशुषे) दानशील पुरुष को (वसूनि) नाना जीवनोपयोगी धन, ऐश्वर्य (ददाति) प्रदान करता है। वह ही (चित् उपस्तुतः) भक्तिपूर्वक स्तुति करने योग्य है। वह हमें (अर्वाक्) नित्य हमारे प्रति (राधः) धन ऐश्वर्य और ज्ञान (चोदत्) प्रदान करे।

५—ऋग्वेदे वसिष्ठ ऋषिः।

(६) महान पुरुष का वर्णन ।

पुरुषसूक्तम् । नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । अनुष्टुभः । षोडशर्चं सूक्तम् ।

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९० । १ ॥ यजु० ३१ । १ ॥

भा०—(सहस्रबाहुः) हजारों बाहुओं वाला, (सहस्राक्षः) हजारों आखोंवाला, (सहस्रपात्) हजारों पैरोंवाला, (पुरुषः) पुरुष, जो इस समस्त ब्रह्माण्ड रूप पुर में व्यापक है। (सः) वह (विश्वतः) सब ओर से (भूमिम्) भूमि, समस्त प्राणियों और समस्त जगत् की उत्पत्ति करने वाली भूमिके समान उत्पादिका प्रकृति को भी (वृत्वा) स्वयं वरण करके, स्वयं व्याप्त करके (दशाङ्गुलम्) और भी दश अंगुल, अर्थात् और भी दश अंग=विकार भूत पदार्थों को (अतिष्ठत्) अति क्रमण करके, व्याप्त होकर विराजता है।

(अति अतिष्ठत् दशाङ्गुलम्) सायण—(१) सात समुद्रों वाली पृथ्वी को अपनी महिमा से व्याप्त करके पहले दशाङ्गुल=हृदयाकाश में परिच्छिन्न रह कर भी सर्व व्यापक होकर विराजता है। (२) वह पुरुष (भूमिम्) भूमि जल आदि पांचों भूतों को अर्थात् पंचभूतों के बने ब्रह्माण्ड और उसके भीतर विद्यमान भूमि, जल आदि विकारों को भी जैसे घड़े आदि पदार्थों में मिट्टी व्याप्त रहती है वैसे व्याप्त करके (दशांगुलम्) दश अंगुल और भी बाहर तक फैला हुआ है (३) एक अंश से ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके दश अंशों से कार्य प्रपंच से अछूता रह कर वह स्वप्रतिष्ठ होकर विद्यमान है।

महर्षि दयानन्द—(दशांगुलम्) पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म-

[६] १-(प्र०) सहस्रशीर्षा' (तृ०) 'सर्वतः' इति ऋ० 'स्पृत्वा' इति यजु० ।

भूत इन दस अंगुलियों अर्थात् अंगों से युक्त दशांग जगत् को व्याप्त करके भी उससे अतिरिक्त देश में भी व्याप्त है।

(सहस्रबाहु, सहस्राक्ष, सहस्रपात्) समस्त व्यष्टि प्राणियों की बाहु, आंखें और पैर उसी की बाहु, आंखें और पैर हैं, अथवा, अनेक कार्य सम्पादन करने से उसके असंख्यात बाहु आदि हैं।

जैसे गीता में—'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् ।' 'अनादिमध्यान्तमनन्त वीर्यमनन्तबाहुम्।' 'रूपं महत्ते बहु वक्त्रनेत्रम् महाबाहो बहुबाहूरुपादम् बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालम्।' इत्यादि । गी० (११ अ०)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै द्यावाभूमीजनयन् देव एकः ॥ ऋ० १० ।८१॥ ३॥

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः ।
तथा व्य/क्रामद् विष्वङशनानशने अनु ॥ २ ॥

ऋ० १० । ९० । ४ ॥ यजु० ३१ । ४ ॥

भा०—ब्रह्माण्ड में व्याप्त परम ब्रह्म शक्ति (त्रिभिःपद्भिः) तीन पाद या अंशों से (द्याम्) द्यौ, प्रकाश रूप मोक्ष को (आरोहत्) व्याप्त करता है और (अस्य) उसका (पात्) एक पाद, एक अंश (इह) इस दृश्य जगत् में (पुनः) वार २ सृष्टि और प्रलय के रूप में (अभवत्) प्रकट होता है। (तथा) इसी प्रकार से वह (विष्वङ्) सर्वत्र, नाना रूपों में (वि अक्रामत्) व्याप्त हो रहा है । और वह (अशन-अनशने) 'अशन' भोजन करने वाले प्राणियों, और 'अनशन' भोजन न करने वाले जड़, पर्वत समुद्र आदि समस्त पदार्थों के (अनु) भीतर भी व्याप्त है। अर्थात् परमेश्वर की महान् शक्ति का एक अंश

२–(प्र०) त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः (तृ०) 'ततोविश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि' इति ऋ० यजु०। (द्वि०) पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।

समस्त संसार को उत्पन्न करता, पालता और प्रलय करता है और शेष तीन अंश मोक्षमय, परम तेजोमय, असंग रूप से हैं। यही कहने का प्रयोजन है।

अध्यात्म में—स्थावर, जंगम आदि देह में आत्मा पुरुष का एक अंश है और शेष ३ अंश असंग, स्वभावतः तेजोमय हैं।

तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ९० । ३ ॥ यजु० ३१ । ३ ॥

भा०—(अस्य) इस महान् परमेश्वर के (तावन्तः महिमानः) वे सब लोक लोकान्तर और उसमें होने वाले बड़े २ कार्य सब उसकी असंख्य 'महिमा', महान् शक्ति के प्रदर्शनमात्र हैं (पूरुषः) विशाल ब्रह्माण्डपुरी से व्यापक वह परमेश्वर, महान् आत्मा (ततो ज्यायान् च) उन सब से कहीं बड़ा है। (विश्वा भूतानि) ये समस्त भूत, चर अचर प्राणि, एवं भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पंचभूत एवं उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थ (अस्य) इस महान् पुरुष के (पादः) एक अंश हैं। (अस्य) उसके (त्रिपात्) शेष तीन अंश (दिवि) द्यौ, परम तेजोमय स्वरूप में (अमृतम्) अमृतमय, परमसुखमय, मोक्षरूप है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ९० । २ ॥ यजु० ३१ । २ ॥

भा०—(इदं सर्वं) यह सब कुछ (यत् भूतम्) जो उत्पन्न हुआ और (यत् च) जो (भाव्यम्) उत्पन्न होने वाला है और (यत्) जो

३–(प्र० द्वि०) एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः इति ऋ० यजु०।
४–(तृ० च०) उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति । इति ऋ० यजु०।

(अन्येन) अन्यरूप से, ब्रह्म या चेतन रूप के अतिरिक्त जड़ प्रकृ (सह अभवत्) साथ रहता है (उत) अ जो स्वयं (अमृतत्वस्य) अमृत स्वरूप, अमृत का सत्ता का (ईश्वरः) स्वामी है वह (पुरुष एव) परम पूर्ण, सर्वव्यापक परमात्मा ही है। परमेश्वर ही जगत् का उत्पादक वही, प्रकृति के साथ अनादि रूप से वर्त्तमान, और वह परम अमृत मोक्ष का ईश्वर है। 'यद् अन्नेनाभवत् सह' इस पाठ के अनुसार वह ईश्वर ही है जो (अन्नेन सह) अन्न, समस्त जीवों के प्राणप्रद अन्नादि पदार्थों के साथ जीवनशक्ति देने वाले के रूप में विद्यमान है।

यत् पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।
मुखं॒ किम॑स्य॒ किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ९० । ११ ॥ यजु० । १० ॥

भा०—(यत्) जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (पुरुषम्) उस महान् पूर्ण पुरुष का (वि अदधुः) विधान करते हैं, विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं उसको उन्होंने (कतिधा) भला कितने प्रकार से (वि, अकल्पयन्) विविध रूपों में कल्पित किया है विभक्त किया है ? (अस्य) इसके (मुखम् किम्) मुख क्या पदार्थ है। (बाहू किम्) बाहुएं क्या हैं (ऊरू किम्) जांघें क्या पदार्थ हैं और (पादौ) उसके पैर भाग क्या (उच्येते) कहे जाते हैं ?

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीत् बा॒हू रा॑ज॒न्यो॑ऽभवत्।
मध्यं॒ तद॑स्य॒ यद् वैश्यः॑ प॒द्भ्यां शू॒द्रो अ॑जायत ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ९० । १२ ॥ यजु० ३१ । ११ ॥

५—(तृ०) 'मुखं' किमस्यासीत् किं' इति यजु०। 'कौबाहू' इति ऋ०। 'कावूरू' इति तै० आ० 'पादावुच्येते' इति पैप्प० सं०।

६—(द्वि०) 'राजन्य कृतः' (तृ०) 'ऊरूतदस्य' इति ऋ० यजु०।

भा०—(अस्य) इस पुरुष के बनाये महान् सृष्टिरूप समष्टि में या पुरुषरूप प्रजापति के ब्राह्मण, वेद और विद्वान् या ईश्वर के साक्षात् उपासकजन (मुखम् आसीत्) मुख हैं। वे मुखके समान ऊंचेपद पर स्थित, एवं समाज के अग्रणी और प्रमुख हैं। अर्थात् जिस प्रकार पुरुष के शरीर में मुख ऊंचा है उसी प्रकार वेदज्ञ और ब्रह्मोपासक जन समाज के शिरोमणि ज्ञान प्रद और ज्ञान के द्रष्टा हैं। (राजन्यः) राजा के पुत्रके समान पालित वीर योद्धा जन (बाहूकृतः) शरीर में विद्यमान बाहू के समान समाज के शत्रुओं के बाधक, समाज के रक्षक, और बलका कार्य करने में समर्थ बनाये गये हैं । (अस्य यद् मध्यम्) इस समाजरूप विराट् शरीर का जो मध्यभाग है वह भी शरीर में ऊरू, कटि, पेट के समान (तत् वैश्यः) वह वैश्य जन है। (पद्भ्याम्) पैरों से (शूद्र) शूद्र को (अजायत) प्रकट किया जाता है। अर्थात् शूद्रों को पैरों के समान दर्शाया जाता है।

किसी प्रजापति के शरीर के, मुख आदि अवयवों से गर्भ से बालक के समान ब्राह्मण आदि वर्णों के उत्पन्न होने का मत असम्भव होने से अप्रमाणित है। यह केवल समाज रूप प्रजापति पुरुष जिसकी हजारों आंखों और पैरों आदिका प्रथम मन्त्र में वर्णन किया है उस के ही समाजमय शरीर के अंगों का वर्णन किया गया है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ ७ ॥

ऋ० १० । १९ । १३ ॥ यजु० ३१ । १२ ॥

७–(तृ० च०) 'श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निर जायत' इति । यजु० । (द्वि०) 'चक्षुषोरधिसूर्यः' । नसो वायुश्चप्राणश्च मुखादग्निर जायत इति क० ब्रा० ।

भा०—प्रजापति के ब्रह्माण्डमय विराट् शरीर का वर्णन करते हैं। (चन्द्रमाः) चन्द्र (मनसः) मन से (जातः) कल्पना किया गया है अर्थात् चन्द्र उस विराट् शरीर के मन या मनन सामर्थ्य या हृदय खण्ड के समान है। (चक्षोः सूर्यः अजायत) चक्षु से सूर्य बना। अर्थात् चक्षु के स्थान में सूर्य को कल्पित किया। (मुखाद् इन्द्रः च अग्निः च) मुखसे इन्द्र, अर्थात् विद्युत् और अग्नि दो को कल्पित किया गया। (प्राणाद् वायुः अजायत) और प्राण, प्राण इन्द्रिय से वायु अर्थात् प्राण के स्थान में वायु को कल्पित किया। मानो उस विराट् शरीर में चन्द्र मन था, सूर्य आंख थी, इन्द्र और अग्नि, मुख के दो जबाड़े थे, वायु रूप नासिकागत प्राण था।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ ८ ॥
ऋ० १० । ६० । ७ ॥ यजु० ३१ । १४ ॥

भा०—(नाभ्या) नाभी से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (आसीत्) कल्पित था। (शीर्ष्णः) शिरसे (द्यौः) द्यौ, ऊपर का महान् आकाश (सम् अवर्तत) कल्पित था। (पद्भ्याम् भूमिः) पैरों से भूमि और (श्रोत्रात् दिशः) कानों से दिशाएं कल्पित की गयीं। (तथा) और उसी प्रकार विद्वान् पुरुषों ने (लोकान् अकल्पयन्) अन्य लोकों को भी प्रजापति शरीर के अन्य अंगों के रूप में कल्पना की। अर्थात् अन्तरिक्ष नाभि के समान. द्यौ शिर के समान, भूमि पैरों के समान, श्रोत्र दिशाओं के समान और अन्य लोक अभ्यन्तर अंगों के समान माने।

विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ९ ॥
ऋ० १० । ६० । ५ ॥ यजु० ३१ । ५ ॥

९–(प्र०) 'तस्माद् विराड जायत' इति ऋ० । 'ततो विराड्' इति

भा०—(ततः) उस पूर्ण पुरुष, परमेश्वर से (अग्रे) सब से प्रथम (विराट्) विराट्, नाना ज्योतिर्मय पदार्थों से प्रकाशमान् ब्रह्माण्ड (सम् अभवत्) उत्पन्न हुआ। उस (विराजः) विराट्, सर्व प्रथम उत्पन्न ब्रह्माण्ड के भी (अधि) ऊपर (पुरुषः) उस पुरी में भी व्यापक परमेश्वर अधिष्ठाता रूप से विराजमान रहा। (सः) वह (जातः) इतने विविध पदार्थों में नाना कार्यों में शक्ति रूप से प्रकट होकर भी (अति अरिच्यत) अभी बहुत अधिक शेष रहा अर्थात् संसार के संचालक अंश से भी अतिरिक्त शक्ति का बहुत बड़ा अंश और शेष था। वही (पश्चात्) इस प्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भ के बाद (भूमिम्) सब जंगम स्थावर सृष्टि के आश्रय और उत्पादक भूमि को उत्पन्न करता है (अथो) और (पुरः) उन सब से पहले विद्यमान् रहता है। अथवा (अथो पुरः) और नाना शरीरों को भी रचता है।

सायण ने कुछ एक अर्थ इस प्रकार किये हैं—(१) आगे विविध प्रदीप्त वस्तुओं का आश्रय विराट् नाम पुरुष हुआ। और (विराजः अधि) उस विराट् से अन्य पुरुष हुआ। वह तृतीय पुरुष यज्ञ रूप उत्पन्न होते ही (अति अरिच्यत) बहुत बड़ा। (भूमिम् पश्चात् अथो पुरः) वह भूमि आदि सब लोकों के पीछे के भाग में और आगे अर्थात् पीछे और आगे भी व्याप्त करके उनको लांघकर रहा। (२) अध्यात्म पक्षमें—सृष्टि के आदि में विराट्, मन नामक प्रजापति सहस्रबाहु, सहस्राक्ष पुरुष से उत्पन्न हुआ। उसके बाद (विराजः अधि) विराज् को आश्रय करके (पुरुषः) दूसरा प्रजापति समस्त भूत इन्द्रिय पुरुष समष्टि रूप हुआ। (सः जातः अति अरिच्यत) प्रकट होते ही उसने अपने आपको अनेक रूपों में बना लिया। अर्थात् भूत, इन्द्रिय आदि बनाये। (पश्चात् भूमिम् अति अरेचयत्) पीछे भूत समूह की सृष्टि के बाद भूमि को बनाया। इससे

यजु० । (द्वि०) 'पूरुषात्' (च०) 'पुरा' इति पैप्प० सं० ।

आकाश से लेकर पृथिवी तक की सृष्टि कर दी गयी। (अथो पुरः) भूमि के बाद सात धातुओं से पुरने वाले 'पुर' शरीर, देव, नर, तिर्यक् स्थावर आदि और भी बनाये। (३) अध्यात्म में ही-(तस्मै विराट् समभवत्) उस आदि पुरुष से प्रथम विराट्=ब्रह्माण्डरूप देह उत्पन्न हुआ (विराजः अधि पूरुषः) उसी विराट् देह के ऊपर उस देह का अभिमानी, कोई पुरुष हुआ। अर्थात् वेदान्तगम्य परमात्मा ही अपनी माया से ब्रह्माण्ड रूप बनाकर जीवरूप से ब्रह्माण्डाभिमानी देवता रूप जीव हुआ। (स जातः अति अरिच्यत) वह उत्पन्न होकर अतिरिक्त अर्थात् देव तिर्यङ्, नर आदि रूप हुआ। (पश्चात्) उसके पश्चात् उसने (भूमिम्) भूमि को बनाया। भूमि बनाने के बाद (पुरः) शरीर बनाये ॥ सायण के तृतीय अर्थ को ही महीधर ने अक्षरशः लिखा है।

उव्वट के मत में—पहले विराट् हुआ। विराट् से (पुरुषः) प्रधान, तेज हुआ। (सः जातः) उस ब्रह्मा सृष्टि के कर्त्ता ने उत्पन्न होकर (अति अरिच्यत) और अधिक सृष्टि की। पीछे भूमि और शरीर बनाये।

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १० ॥

ऋ० १० । ९० । ६ ॥ यजु० ३१ । ५ ॥

भा०—(यत्) जब (हविषा) हविः=स्वीकार करने योग्य, सब प्रकार से अपनाने योग्य, साक्षात् करने योग्य (पुरुषेण) ब्रह्माण्ड में व्यापक, पूर्ण पुरुष परमेश्वर से (देवाः) देव, विद्वान् गण (यज्ञम्) यज्ञ, मानस ज्ञानमय उपासना रूप या देवार्चना रूप यज्ञ (अतन्वत) करते हैं तब (अस्य) इस यज्ञ का (वसन्तः) वर्ष के प्रारम्भ काल के समान दिनका प्रारम्भ भाग (आज्यम्) यज्ञ में ही जिस प्रकार अग्नि को प्रदीप्त करता है उसी प्रकार आत्मा की शक्ति को प्रदीप्त करता है। (ग्रीष्मः) ग्रीष्म, वर्ष का ग्रीष्म काल जिस प्रकार सूर्य को प्रचण्ड करता

है उसी प्रकार दिन का मध्यान्ह काल मानस यज्ञ में आत्मा की जाठर अग्नि और ज्ञान को (इध्मः) अग्नि को काष्ठ के समान दीप्त करता है। और (शरत्) वर्ष का शरत् काल जिस प्रकार सूर्य के तेज को कुछ शीतल या सौम्य कर देता है, लोग उसके सेवन करने के उत्सुक हो जाते हैं, उसी प्रकार मानस यज्ञ करने वाले के लिये (शरत्) अर्ध, रात्रकाल अत्यन्त शान्तिमय होने से (हविः) आत्मा की समस्त शक्तियों को आत्मा में आहुति कर देने, उनको ध्यानबल से एकत्र कर आत्मा में अध्यय करा देने के लिये अति उत्तम है। इसी प्रकार जीवन का प्रारम्भ काल, बाल्यकाल वसन्त। आज्य=बल वीर्य के सम्पादन का काल है। ग्रीष्म यौवन, जीवन के लिये इन्धन के समान अधिक तेज, ज्ञान, ज्वाला, स्फूर्त्ति का काल है। शरत्, उतरता हुआ बुढ़ापा जब शरीर के बल शीर्ण हो रहे हों वह परिपाक काल ज्ञानानुभवों के भी परिपाक का काल है। संवत्सरमय यज्ञ में देव=दिव्यगुण के सूर्य, अग्नि, वायु आदि पदार्थ वसन्त को आज्य, ग्रीष्म को काष्ठ और शरत् को हवि के समान बनाकर यज्ञ कर रहे हैं।

उव्वट के मतमें—वसन्त=सत्वगुण, ग्रीष्म राजस, शरत् तमोगुण। तीनों गुणों को योगी आत्मयज्ञ में आहुति करते हैं।

तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥ ११ ॥

ऋ० १० । ९० । ७ ॥ यजु० ३१ । ९ ॥

भा०—(तम्) उस (यज्ञम्) पूजनीय यज्ञस्वरूप (अग्रशः) समस्त सृष्टि के भी पूर्व (जातम्) विद्यमान जगत् के कर्त्ता को योगिजन (प्रावृषा) वर्षा के समान आत्मरूप भूमि में ब्रह्मानन्द के वर्षण करने

११-(प्र०) 'तं यज्ञं बर्हिषि' (द्वि०) 'अग्रतः' (च०) 'साध्या ऋषयश्च ये' इति ऋ० यजु० । 'साध्याश्च' इति पैप्प० सं० ।

वाले धर्ममेघ समाधि द्वारा (प्र औक्षन्) खूब अभिषिक्त करते हैं, आप्लावित करते हैं। (देवाः) देव, ज्ञानी पुरुष, (साध्याः) योगाभ्यास आदि साधन के करने हारे और (ये च) जो (वसवः) प्राणों के वश करने वाले हैं वे (तेन) उसी यज्ञमय परम पुरुष से (अयजन्त) आत्मयज्ञ सम्पादन करते हैं।

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये च॒ के चो॑भ॒याद॑तः ।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॑त् तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वय॑ः ॥ १२ ॥

ऋ० १० । ९० । १० ॥ यजु० ३१ । ८ ॥

भा०—(अश्वाः) अश्व, घोड़े और (ये च के च) जो कोई भी (उभयादतः) ऊपर नीचे दोनों जबाड़े के दांतों वाले प्राणी हैं (तस्मात्) उस परम पुरुष से ही (अजायन्त) उत्पन्न होते हैं। और (तस्मात्) उससे ही (गावः) गौएं, दूध देने वाले वे पशु जिनके ऊपर के दांत नहीं होते वे भी उत्पन्न हुए। और (तस्मात्) उससे ही (अजावयः) बकरी और भेड़ें भी (जाताः) पैदा हुईं। अर्थात् नाना पशु भी उस ईश्वर के सामर्थ्य से ही पैदा हुए। अध्यात्म में सब पशु भी उस आत्मा के ही नाना शरीर हैं। उसी से उत्पन्न होते हैं।

तस्मा॑द् य॒ज्ञात् स॑र्व॒हुत॒ ऋच॒ः सामा॑नि जज्ञिरे ।
छन्दो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॑द् यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥ १३ ॥

ऋ० १० । ९० । ९ ॥ यजु० ३१ । ७ ॥

भा०—(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय, (सर्वहुतः) सर्वस्व रूप से आहुति कर देने योग्य अथवा सर्वत्र व्यापक, समस्त संसार के प्रलय काल में अपने भीतर लेने हारे परमात्मा से (ऋचः सामानि जज्ञिरे)

१२-(द्वि०) 'ये के चो' इति ऋ० यजु० ।
१३(तृ०)'छन्दांसि' ऋ० यजु० । क्वचित्‌य ।

जिस प्रकार यज्ञ के प्रज्वलित होने पर ऋक् साम आदि सब उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उससे भी ऋग्वेद के मन्त्र और साम के समस्त गान उत्पन्न हुए। अथवा (सर्वहुतः) सब को अपने भीतर आहुति रूप से लेने वाले अग्नि से ज्ञानमय ऋचाएं साम और गान के प्रकार भी पैदा हुए। (तस्मात्) उससे ही (छन्दः जज्ञिरे) छन्द, अथर्व के मन्त्र उत्पन्न हुए। और (तस्मात्) उससे ही (यजुः अजायत) यजुर्वेद के मन्त्र, उनमें कहे कर्मोपदेश भी उत्पन्न हुए। अध्यात्म में आत्मयज्ञ करने पर योगसाधना के बल से उसमें ऋग्, यजु, साम, अथर्व, आदि वेदों का भी ज्ञान प्रकट होता है (उव्वट)।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्य/म् ।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्या/नारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ १४ ॥

ऋ० १० । ९० । ८ ॥ यजु० ३१ । ६ ॥

भा०—(तस्मात्) उस (यज्ञात्) यज्ञमय, (सर्वहुतः) सर्व व्यापक, सर्वप्रद, एवं सर्वधारक परमेश्वर प्रजापति से (पृषद्-आज्यम्) दधि, घी आदि समस्त भोज्य पदार्थ (सम् भृतम्) प्राप्त हुआ है। वह ही (तान्) उन नाना प्रकार के (वायव्यान्) वायु के समान तीव्रगामी और (ये आरण्याः) आरण्य, जंगल के वासी, हरिण, सिंह, हस्ती आदि और (ग्राम्याः च) ग्राम के वासी गर्दभ, अश्व, गौ आदि उन सब को (चक्रे) उत्पन्न करता है।

अथवा—(सर्वहुतः पृषदाज्यम् संभृतम्) सब के जीवनदाता उस प्रजापति से ही वह 'पृ-षत्-आज्य' प्रत्येक 'पृ' शरीर में 'सत्' व्यापक आज्य=वीर्य बिन्दु (संभृतम्) प्राप्त हुआ है। उसी के द्वारा उसने समस्त पशु आदि प्राणियों की सृष्टि की।

१४–'आरण्यान्' इति तै० आ०।

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः ।
दे॒वा यद् य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

ऋ० १० । ९० । १५ ॥ यजु० ३१ । १५ ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् योगीजन (यद्) जब (यज्ञं तन्वानाः) यज्ञ, ज्ञानमय उपासना को करते हुए (पशुम्) दर्शनयोग्य, या सर्वद्रष्टा (पुरुषम्) देह और ब्रह्माण्ड में व्यापक आत्मा को (अबध्नन्) समाधि द्वारा साक्षात् करते हैं तो देखते हैं कि (अस्य) उसकी (सप्त परिधयः) सात परिधि, उसको सब ओर से बांधने वाले या घेरने वाले पदार्थ हैं और (त्रिः सप्त समिधः कृताः) तीन साते, इक्कीस पदार्थ इस यज्ञ के (सम् इधः) उत्तम रीति से प्रकाशक (कृतः) बनाये गये हैं।

सात परिधियें—गयत्री आदि सात छन्द, यज्ञ में आहवनीय की तीन परिधि, उत्तर वेदि की तीन और सातवां आदित्य । आत्मवाद में—पृथिवी, अप तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि, और शरीर योग में मांस त्वचा, मेद, अस्थि, शुक्र, शोणित, मज्जा ये सात धातुएं । २१ समिधें १२ मास, ५ ऋतुएं और आदित्य । आध्यात्म में—५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, और मन । ब्रह्माण्ड में प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, ५ महाभूत, ५ सूक्ष्मभूत, ३ गुण, ५ ज्ञानेन्द्रिय ।

मू॒र्ध्नो दे॒वस्य॑ बृह॒तो अं॒शवः॑ स॒प्त स॑प्त॒तीः ।
राज्ञः॒ सोम॑स्याजायन्त जा॒तस्य॒ पुरु॑षा॒दधि॑ ॥ १६ ॥

भा०—(पुरुषात्) व्यापक परमेश्वर से (अधि जातस्य) उत्पन्न (मूर्ध्नः) सब से ऊंचे शिरके समान सर्वोपरि विद्यमान, (बृहतः) महान्, (देवस्य) प्रकाशमान, (सोमस्य) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, बीजमय (राज्ञः) अति प्रदीप्त हिरण्यगर्भ के घटक (सप्त सप्ततीः) ४९०

चारसौ नव्वे (अंशवः) अंशु व्यापक सूक्ष्मतत्त्व (अजायन्त) उत्पन्न हुए। ब्रह्माण्ड और वीर्य के ४९० घटक सूक्ष्मतत्त्वों का विश्लेषण वैज्ञानिक करें।

[७] नक्षत्रों का वर्णन

गार्ग्य ऋषिः । नक्षत्राणि देवताः । त्रिष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

चि॒त्राणि॑ सा॒कं दि॒वि रो॑च॒नानि॑ सरीसृ॒पाणि॒ भुव॑ने ज॒वानि॑ ।
तु॒र्मिशं॑ सुम॒तिमि॒च्छमा॑नो॒ अहा॑नि गी॒र्भिः स॑प॒र्यामि॒ नाक॑म् ॥ १ ॥

भा०—(चित्राणि) चित्र विचित्र नाना वर्ण के (साकम्) एक साथ (रोचनानि) दीप्तिमान् (भुवने) उत्पन्न ब्रह्माण्ड में (जवानि) वेगवान्, (सरीसृपाणि) सदा गतिशील (अहानि) कभी नष्ट न होने वाले नक्षत्रों को और (नाकम्) सुखमय द्यौलोक को (गीर्भिः) उत्तम ज्ञानवाणियों से (तुर्मिशम्) हिंसाकारी, अनिष्ट के नाशक (सुमतिम्) शुभमति को (इच्छमानः) चाहता हुआ (सपर्यामि) उनका ज्ञान करूं, उनके द्वारा उचित कार्य और तदनुसार होने वाली अन्तरिक्ष और आकाश की घटनाओं के जानने का अभ्यास करूं।

सु॒ह॒वम॑ग्ने॒ कृत्ति॑का॒ रोहि॑णी॒ चास्तु॑ भ॒द्रं मृ॒गशि॑रः॒ शमा॒र्द्रा ।
पुन॑र्वसू सू॒नृता॒ चारु॒ पुष्यो॑ भा॒नुरा॑श्ले॒षा अय॑नं म॒घा मे॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) सूर्य ! विद्वन् ! (कृत्तिका रोहिणी च) कृत्तिका और रोहिणी दोनों नक्षत्र (सुहवं) उत्तम रीति से यज्ञ करने योग्य हों। (मृगशिरः) मृगशिरा नक्षत्र (भद्रम् अस्तु) सुखकारी हो । (आर्द्रा-शम्) आर्द्रा नक्षत्र शान्तिदायक हो । (पुनर्वसू) दोनों पुनर्वसु नक्षत्र

२-(प्र०) 'सुहवं मेकृ०' इति ह्विटनि कामितः। (द्वि०)'समार्द्रा' इति क्वचित्।

(सूनृता) शुभ, उत्तम वाणी और ज्ञान देने वाले हों। (पुष्यःचारु) पुष्य नक्षत्र उत्तम हो। (आश्लेषा) आश्लेषा नक्षत्र (भानुः) अति दीप्ति-जनक हो और (मघा) मघा नक्षत्र (मे) मेरे लिये (अयनम्) सब सम्पत्ति प्राप्त करने वाला या सूर्य की गति का चरमस्थान हो।

पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् ॥ ३ ॥

भा०—(पूर्वाफल्गुन्यौ) पूर्वा फल्गुनी के दो नक्षत्र (पुण्यम्) पुण्य, सुखकर हों। (अत्र) इस लोक में (हस्तः) हस्त नक्षत्र और (चित्रा) चित्रा नक्षत्र (शिवा) कल्याणकारी हो। (स्वाति) स्वाति नक्षत्र (मे सुखः अस्तु) मुझे सुखकारी हो। (राधे विशाखे) हे राधा नक्षत्र और विशाखा नक्षत्र तुम दोनों भी (सुहवा) उत्तम रीति से यज्ञ करने योग्य और (अनुराधा) अनुकूल सिद्धि देने वाले होवें। (ज्येष्ठा सु-नक्षत्रम्) ज्येष्ठा उत्तम नक्षत्र हो। (मूलम् अरिष्ट) मूल नक्षत्र भी कल्याणकारी हो।

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥४॥

भा०—(पूर्वा अषाढा) पूर्वा अषाढा नक्षत्र (मे अन्नम्) मुझे अन्न (रासताम्) प्रदान करे। (उत्तरा) उत्तरा अषाढा नक्षत्र (देवी) प्रकाशवान् होकर (ऊर्जम्) उत्तम अन्न रस और बल (आवहन्तु) प्राप्त करावें। (अभिजित्) अभिजित् नामक नक्षत्र (मे पुण्यम् रासताम्)

३–'पुण्यं ह्यफल्गुन्यौ' अथवा–'पूर्वाफल्गुन्यौ चोत्तरा', 'स्वाति' 'स्वाती वा क्वचित्। 'सुखा' 'सुखं' वा(तृ०)'राधा' अथवा 'राधो, विशाखो', 'अरिष्ट' इत्यादि ह्विटनिकामितानि संशोधनानि। 'सुखा' इति सायणाभिमतः।

मुझे पुण्य पवित्रता प्रदान करे । (श्रवणः श्रविष्ठाः) श्रवण और श्रविष्ठा दोनों नक्षत्र (सुपुष्टिम्) उत्तम पुष्टि प्रदान (कुर्वताम्) करें ।

आ मे महच्छतभिषग् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म ।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु ॥४॥

भा०—(महत् शतभिषग्) बड़ा भारी शतभिषग् नामक नक्षत्र मुझे (वरीयः) धन प्राप्त करावे । (द्वया प्रोष्ठपदा) दोनों प्रोष्ठपदा नाम के नक्षत्र (मे सुशर्म आवहताम्) मुझे उत्तम सुख प्रदान करें । (रेवती अश्वयुजौ च) रेवती और अश्वयुग् या अश्विनी के दोनों नक्षत्र (मे भगम् आ) मुझे ऐश्वर्य प्राप्त करावें । (भरण्यः) भरणी नाम के नक्षत्र (मे रयिम् आ वहन्तु) मेरे लिये ऐश्वर्य समृद्धि प्रदान करावें ।

[८] नक्षत्रों का वर्णन ।

गार्ग्य ऋषिः । मन्त्रोक्तानि नक्षत्राणि देवताः । ६ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । १ विराट् जगती । २, ५, ७ त्रिष्टुभः । ६ त्र्यवसाना षट्पदा अति जगती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥१॥

भा०—(यानि) जो नक्षत्र (दिवि) आकाश में विद्यमान हैं (यानि) और जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष, वायुमण्डल में, (अप्सु) जलों में या समुद्रों में, (भूमौ) भूमि पर (नगेषु) पर्वतों पर और (दिक्षु)

४–(प्र०) 'रासन्ताम्' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'देवुत्तरा' इति क्वचित् । 'देव्य उत्तरा' इति सायणाभिमतः । 'ये द्युत्तरे' इति क्वचित् । 'दा पुत्तरा वा' इति ह्विटनिकामितः । 'अनुराधा रासतां मे मघाने जैव्यु त्तरा वहन्तु' इति हेन्वनकामितः ।

या स्त्री और (पुण्यगः च) पुण्य पवित्र मार्ग से जाने वाला पुरुष अर्थात् उत्तम स्त्री पुरुष दोनों (मेहतात्) मूत्र करें अर्थात् तेरा अपमान करें तुझे मान आदर न दें ।

मु—इत्यन्तनाम [निघं० अ० ७ । ६]

इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते ।
सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥ ६ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के जानने हारे ब्रह्मन् ! विद्वन् ! तेरे (या इमाः) इन जिन (विषूचीः) नाना दिशाओं को (वातः) वायु प्रबल वात (ईरते) कंपा देता है (ताः) उनको हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् आचार्य या ईश्वर ! तू (सध्रीचीः) एक साथ अपने २ स्थान पर यथास्थान (कृत्वा) करके तू उनको (मह्यं) मेरे लिये (शिवतमाः कृधि) अत्यन्त कल्याणकारी बना ।

स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥७॥

भा०—हे ईश्वर ! (नः) हमारा (स्वस्ति अस्तु) कल्याण हो । (नः अभयम् अस्तु) हमें अभय हो, कहीं भी भय न रहे। (अहोरात्राभ्यां) दिन रात्रि पर (नमः) हमारा वश (अस्तु) हो ।

(९) सुख शान्ति की प्रार्थना

ब्रह्मा ऋषिः । शान्तिसूक्तम् । शान्तिर्देवता । १ विराड् उरो बृहती । ५ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः । ९ पञ्चपदा ककुम्मती । १२ त्र्यवसाना सप्तपदा अष्टिः । १४ चतुष्पदा संकृतिः । २, ४, ६, ८, १०, ११, १३ अनुष्टुभः । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम् ।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥

भा०—(द्यौः शान्तम् अस्तु) द्यौः, आकाश शान्त, शान्तिदायक, सुखप्रद हो (पृथिवी शान्ता) पृथिवी शान्तिदायक हो । (इदम्, उरु अन्तरिक्षम्) यह विशाल अन्तरिक्ष (शान्तम्) शान्तिदायक हो । (उदन्वतीः आपः) समुद्र के जल भी (शान्ताः) शान्तिदायक हों । (नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियें (शान्ताः) शान्तिदायक हों । ये सब पदार्थ हमारे लिये सुखकारी, शान्तिदायक हों और उपद्रवकारी, कष्टप्रद न हों ।

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥

भा०—(पूर्वरूपाणि) पहले २ प्रादुर्भूत हुए उपद्रवों और रोगों के पूर्व रूप हमारे लिये (शान्तानि) शान्तिदायक हों, कष्टजनक न हों । (नः) हमारे (कृताकृतम्) किये विरुद्ध कार्य और न किये या प्रमादवश न किये हुए अवश्य कर्तव्य कार्य भी (नः) हमें (शान्तम् अस्तु) शान्तिदायक हों, अर्थात् अनर्थजनक न हों । (भूतम् भव्यम् च शान्तम्) भूत, अतीतकाल और भव्य, भविष्यत् काल दोनों भी हमें सुखप्रद हों । (नः) हमारे लिये (सर्वम् एव) सब ही (शम्) शान्तिदायी, कल्याणकारी हों ।

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥ ३ ॥

भा०—(या) जो (इयम्) यह (परमेष्ठिनी) परम, सबके पालन में समर्थ, सर्वोपरि विद्यमान, परमेश्वर में स्थित (वाग्देवी) वाणी-रूप दिव्य शक्ति (ब्रह्मसंशिता) ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस, ब्रह्मचर्य के बल से अति बलवती है, (यया एव) जिससे ही (घोरम्) अति घोर, भयानक कार्य (ससृजे) किये जा सकते हैं (तया एव) उससे ही (नः) हमें (शान्तिः) सुखप्राप्ति (अस्तु) हो ।

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् ।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ ४ ॥

भा०—(यत्) जो (इदम्) यह प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करने योग्य (ब्रह्मसंशितम्) ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मचर्य के बल से तीक्ष्ण होकर (परमेष्ठिनम्) परम स्थान में स्थित (वां मनः) हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों का मन है (येन एव) जिससे ही (घोरं ससृजे) घोर, क्रूरकर्म भी किये जा सकते हैं, (तेन एव नः शान्तिः अस्तु) उससे ही हमें शान्ति सुख प्राप्त हो।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥

भा०—(इमानि यानि) ये जो प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त (मनः षष्ठानि) छठे मन सहित (पञ्च इन्द्रियाणि) पांच ज्ञानेन्द्रिय (ब्रह्मणा) ब्रह्मचर्य के बल से (संशितानि) अति उत्तम रूप से खूब तीक्ष्ण होकर (मे हृदि) मेरे हृदय में, आत्मा में आश्रित हैं (यैः एव घोरम् संसृजे) जिनके द्वारा घोर कार्य भी किया जाता है (तैः एव) उनसे ही (नः शान्तिः अस्तु) हमें शान्ति प्राप्त हो ।

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा ॥ ६ ॥

यजु० ३६ । ९ । ॥ ऋ० १ । ९० । ॥

भा०—(नः) हमें (मित्रः) सबका स्नेही, सबको मरण से त्राण करने वाला पुरुष (शम्) शान्तिदायक हो । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, सबके

४–'मनो वा' इति ह्विटनिकामितः ।

६–प्र० च० तृ० द्वि० इति पादानां क्रमः । ऋ० यजु० । शंनो विष्णुरुरुक्रमः इति ऋ०, यजु० ।

वरण करने योग्य, एवं सब शत्रुओं का वारक पुरुष (शम्) कल्याणकारी हो। (विष्णुः) व्यापक, सर्वत्र प्रभुता से सम्पन्न या व्यवस्थापक पुरुष हमें शान्तिदायक हो। (प्रजापतिः शम्) प्रजा का पालक पुरुष भी शान्ति-दायक हो। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) बृहती, वाणी का पालक विद्वान् पुरुष (अर्यमा) और दुखों का नियामक, न्यायकारी पुरुष ये सब (शम्) सदा हमें कल्याण सुख प्रदाता (भवतु) हो। अथवा ये सब विशेषण परमेश्वर के हैं। गुण भेद से सभी नाम परमात्मा के भी हैं।

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः शं वि॒वस्वा॒ञ्छमन्त॑कः।
उ॒त्पा॒ताः पार्थि॑वान्तरि॒क्षाः शं नो॑ दि॒विच॑रा ग्र॒हाः ॥ ७ ॥

ऋ० १ । ९० । ९ ॥ यजु० ३६ । ९ ॥

भा०—(मित्रः) सब का स्नेही, सबका मरण से त्राता (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, सब के वरण करने योग्य, सब दुःखों का वारक (शम् शम्) सुखकारी शान्तिदायक हो। (विवस्वान् शम्) विविध वस्तुओं, जीवों को प्राण देकर बसाने वाला या विविध ऐश्वर्यों का स्वामी पुरुष या सूर्य या परमेश्वर (शम्) शान्ति प्रदान करे। (अन्तकः) अन्त करने वाला मृत्यु भी (शम्) हमें शान्ति दे, हमारी पूर्णायु हो। (पार्थिवान्त-रिक्षाः) पृथिवी और अन्तरिक्ष में होने वाले (उत्पाताः) नाना उपद्रव और (दिविचराः) द्यौ, आकाश में विचरने वाले ग्रह भी (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों।

शं नो॒ भूमि॒र्वेप्य॑माना शमु॒ल्का निर्ह॑तं॒ च॒ यत्।
शं गावो॒ लोहि॑तक्षीराः॒ शं भूमि॒रव॑ तीर्य॑तीः ॥ ८ ॥

७–(तृ०) 'पार्थिवाऽन्तरिक्षाच्छं नो' इति क्वचित्।

८–(प्र०) 'वेपमाना' इति क्वचित्। 'उल्कानिहत' इति क्वचित्। (च०) भूमिर 'वतीर्यती' इति सायणाभिमतः।

भा०—(वेप्यमाना भूमिः शम्) किन्हीं भी प्राकृतिक उद्वेगों से कंपाई गयी भूमि (नः)हमारे लिये (शम्) सुखकारी हो, हमें हानिकारक न हो। (उल्का शम्) आकाश से भूमिपर गिरने वाले लघुग्रह (शम्) शान्तिदायक हों। और (यत् निर्हतम्) जो भी वेग से पृथ्वीपर आकर गिरें वह भी हमें शान्तिदायक हों।(गावः) गौएं जो (लोहितक्षीराः) विपरीतकाल या रोग के कारण रुधिर के समान दूध देती हों वे भी (शम्) शान्ति दें। और (अव तीर्यतीः) अचानक फट जाने वाली (भूमिः) भूमि भी (शम्) शान्ति सुखकारी हो, हानि न पहुंचावे।

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।
शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥९॥

भा०—(उल्काभिहतम्) उल्का उपग्रहों से अभिहत, क्षुब्ध (नक्षत्रम्) नक्षत्र (नः शम् अस्तु) हमारे लिये कल्याणकारी हो। (अभिचाराः) दूसरों के हमपर गुप्त अभिचार, आक्रमण भी (नः शम्) हमारे लिये शान्त ही रहें, न उठें, न सफल हों। (कृत्याः) घातक क्रियाएं भी (शम् उ सन्तु) शान्त ही रहें। (निखाताः) धोखा देकर गिरा कर मारने, या भीतर विस्फोटक द्रव्य भरकर उड़ा देने के लिये खोदे हुए स्थान सुरंग या Mines (नः) हमारे लिये शान्त, निरुपद्रव, हानिरहित रहें। (वल्गाः) अन्य कपट के हिंसा के कार्य भी हमारे लिये शान्त रहें। (उल्काः) पृथ्वीपर उल्काओं का गिरना (शम्) शान्त हो। (देशोपसर्गाः) देश में उत्पन्न होने वाले संहारक उपद्रव (नः) हमारे लिये (शं उ भवन्तु) शान्त ही रहें, उत्पन्न ही न हों।

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥१०॥

९-(तृ०) 'वल्गाः' इति क्वचित्।

१०-(द्वि०) आदित्यः राहुणा इति बहुत्र।

भा०—(चान्द्रमसाः) चन्द्रमा से सम्बद्ध, चन्द्रमा से युक्त या चन्द्रमा को ग्रहण करने वाले भूमि की छाया आदि (ग्रहाः) ग्रह (नः शम्) हमें शान्ति दें । (राहुणा) प्रकाश के नाशक, आवरण से युक्त (आदित्यः च) आदित्य भी (शम्) शान्ति दे । (मृत्युः) जनों के मृत्यु का कारण (धूमकेतुः) धूमकेतु ग्रह (नः शम्) हमारे लिये शान्त, हानिरहित रहे । (तिग्मतेजसः रुद्राः) तीक्ष्ण प्रकाश वाले, प्रजा को रुलाने वाले नाना 'रुद्र' नामक केतु ग्रह अथवा प्राण अपान आदि ११ रुद्र भी (शम्) शान्त रहें, उत्पात न करें ।

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः ।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥११॥

भा०—(रुद्राः शम्) प्रजा के रुलाने वाले, 'रुद्र' रूप ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य के पालक निष्ठ पुरुष हमारे लिये शान्तिदायक हों । (वसवः) वसु नामक २४ वर्ष के ब्रह्मचारी (शं) हमारे लिये कल्याणकारी हों । (आदित्याः) आदित्य, ४८ वर्ष के बाल ब्रह्मचारी गण हमें (शम्) सुख दें । (अग्नयः) अग्नि के समान तीक्ष्ण स्वभाव के पुरुष अथवा राजागण, क्षत्रियजन और अन्य विद्वान् लोग हमें (शम्) सुख दें । (देवाः) ज्ञान प्रकाशक, ज्ञानप्रद, तेजस्वी (महर्षयः) बड़े २ मन्त्रद्रष्टा ऋषिजन (नः शम्) हमारे लिये शान्तिदायक हों, (देवाः) देव, विद्वान्गण और संसार के दिव्य पदार्थ (शं) शान्तिदायक हों । (बृहस्पतिः शम्) महान् लोकों का पालक परमेश्वर हमें शान्ति दे । अथवा (रुद्राः) रुद्र ११–प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीव । वसु आठ—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौः, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और

११–'शं देवीः' इति ह्विटनिकामितः ।

१२ आदित्य, १२ मास (अग्नयः) अग्नियें वैतानिक आदि पांच इत्यादि सब हमें शान्ति दें।

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोग्नयः।
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु।
विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १२ ॥

भा०—(ब्रह्म) महान्, सच्चिदानन्द परमेश्वर (प्रजापतिः) प्रजा का पालक, (धाता) सबका पोषक हिरण्यगर्भ (लोकाः) समस्त लोक, (वेदाः) ज्ञानमय समस्त वेद, ऋग्, यजुः, साम, अथर्व एवं उनके व्याख्यान, (सप्त ऋषयः) सात ऋषि सात प्रकार के मन्त्रार्थद्रष्टा, अथवा शरीरस्थ सात इन्द्रियें और (अग्नयः) पांचों अग्नियें, अग्नि, विद्युत्, सूर्य, जाठर और ब्रह्म। (तैः) इन सब ने मेरे लिये (स्वस्त्ययनम्) कल्याण का मार्ग (कृतम्) बना हो। (इन्द्रः) इन्द्र, परमेश्वर (मे) मुझे (शर्म यच्छतु) सुख प्रदान करें। (ब्रह्मा) वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा (मे) मुझे (शर्म यच्छतु) सुख प्रदान करे। (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् ज्ञानप्रद पुरुष (मे शर्म यच्छन्तु) मुझे सुख शान्ति दें। (सर्वे देवाः मे शर्म यच्छन्तु) समस्त प्रकाशक पदार्थ या राजागण मुझे शान्ति प्रदान करें।

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥ १३ ॥

भा०—(लोके) लोक में (सप्त ऋषयः) शरीरगत सातों इन्द्रियें और उन द्वारा सूक्ष्म ज्ञान के प्राप्त करने वाले विद्वान् ब्राह्मण (यानि कानिचित्) जिन किन्हीं पदार्थों को भी (शान्तानि) शान्तिदायक (विदुः)

१२–(प्र०) 'ब्रह्मा प्र' 'लोका देवाः' इति हिटनिकामितः।
१३–'लोके सप्तर्षयो' इति क्वचित्।

जानें (सर्वाणि) वे सब (मे शं भवन्तु) मेरे लिये कल्याणकारी हों । (मे शम् अस्तु) मुझे शान्ति प्राप्ति हो, (अभयम् मे अस्तु) मुझे अभय प्राप्त हो ।

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः । ताभिः शान्तिभिः सर्वं शान्तिभिः शमयामोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ १४ ॥　　यजु० ३६ । १७ ॥

भा०—(पृथिवी, अन्तरिक्षम्, द्यौः, आपः, ओषधयः, वनस्पतयः, विश्वे देवाः, सर्वे देवाः) पृथिवी, अन्तरिक्ष=वायु, द्यौ, आकाश जल, ओषधियां, वनस्पति, बड़े वृक्ष, समस्त देव=विद्वान् लोग, सब देव=दिव्यगुणवान् पदार्थ (मे) मेरे लिये (शान्तिः) शान्ति उत्पन्न करें । (शान्तिभिः) समस्त प्रकार की शान्तियों के साथ २ (शान्तिः) मेरा शान्तिमय आत्मा भी (शान्तिः) शान्तरूप धारण करे । (ताभिः शान्तिभिः) उन शान्तियों से और अन्यान्य (सर्वं शान्तिभिः) सब प्रकार के शान्ति साधनों से (अहम्) हम लोग (शम् अयामः) शान्तिमय परम सुख को प्राप्त हों । अथवा (यत् इह घोरम्) जो पदार्थ इस लोक में (घोर) कष्टदायक, (यत् इह क्रूरम्) जो यहाँ क्रूर, हिंसाजनक, त्रासोत्पादक और (यद् इह पापम्) जो यहां पाप दूर करने योग्य आत्मा का नाशक (तत् शान्तम्) वह

१४—'शमय, मोहम्' इति पदपाठः । शमयामः । अहम् इति सायणाभिमतः । शम, । अयामः । अहम् । इत्यपि शं० पा० पदपाठः । द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिरापः......विश्वे देवा शान्तिर्ब्रह्म शान्ति सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्ति सा मा शान्तिरेधि । इति यजुः० ।

शान्त हो। (तत् शिवम्) वह सब कल्याणकारी हो। (नः) हमारे लिये (सर्वम् एव) सब ही (शम् अस्तु) शान्तिदायक हो।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र नवसूक्तानि एकोनषष्टिश्चर्चः]

[१०] सुख शान्ति का वर्णन।

शान्तिकामो ब्रह्मा ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुभः। दशर्चं सूक्तम् ॥

शं न॑ इन्द्राग्नी भ॑वतामवो॑भिः शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शमि॑न्द्रासो॒मा सु॑वि॒ताय॒ शंयोः शं न॒ इन्द्रा॑पू॒षणा॒ वाज॑सातौ ॥१॥

ऋ० ७। ३५ ॥ यजु० ३६। ११ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि वायु और राजा और सेनापति, प्राण, उदान (अवोभिः) रक्षा साधनों द्वारा (नः शम् भवताम्) हमें शान्तिदायक हों। (रातहव्या) अन्न आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त करके (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण, वायु और मेघ, राजा और दुष्टों का दमन करने हारा पुलिस विभाग का अध्यक्ष, प्राण और व्यान (नः शम्) हमें सुख और शान्ति दें। (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम, वायु और सूर्य राजा और न्यायाधीश, प्राण और समान (सुविताय) उत्तम सुख के लिये (शं योः) रोगों के शम, और भयों के दूर करने के लिये हों (इन्द्रापूषणा) इन्द्र और पूषा, वायु और अन्न, प्राण और अपान (वाजसातौ) बल और वीर्य के प्राप्त करने के कार्य में (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों।

शं नो॒ भगः॒ शमु॑ नः॒ शंसो॑ अस्तु॒ शं नः॒ पुरं॑धिः॒ शमु॑ सन्तु॒ रायः॑।
शं नः॑ स॒त्यस्य॑ सु॒यम॑स्य॒ शंसः॒ शं नो॑ अर्य॒मा पु॑रुजा॒तो अ॑स्तु ॥२॥

ऋ० ७। ३५। २ ॥

भा०—(भगः) भजन करने योग्य, ऐश्वर्यवान्, देव, परमेश्वर अथवा ऐश्वर्यवान् धनाढ्य लोग (नः शम्) हमें शान्ति सुख दें । (शंसः नः शम्) उत्तम उपदेश करनेहारा शास्त्रवक्ता पुरुष अथवा समस्त पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय पुरुष या परमेश्वर (नः शम् उ) हमें शान्ति सुख दें । (पुरन्धिः) पुर=राष्ट्र नगर का धारण करने वाला पुरुष (पुरंधिः) पुर देह को धारण करने वाली बुद्धि अथवा पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला पुरुष परमेश्वर, पुर=गृह को धारण करने वाला स्त्रीजन (नः शम्) हमें शान्ति सुख दें । (रायः) समस्त ऐश्वर्य (शम् उ सन्तु) हमें शान्तिदायक हों । (सुयमस्य) उत्तम नियमन, उत्तम रूप से संयमन करने वाले (सत्यस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर का या उत्तम संयम, ब्रह्मचर्य से युक्त सत्य ज्ञान का (शंसः) भजनकीर्त्तन, अथवा उपदेशक पुरुष (नः शम्) हमें शान्ति दें । (पुरुजातः अर्यमा) बहुत से प्रजाजनों में सब की सहमति से बनाया गया (अर्यमा) न्यायकारी पुरुष अथवा समस्त पदार्थों में व्यापक परमेश्वर अथवा पुरु=इन्द्रियों में सामर्थ्यवान् आत्मा (नः शम् अस्तु) हमें शान्ति-दायक हो ।

शं नो॑ धा॒ता शमु॑ ध॒र्त्ता नो॑ अस्तु॒ शं न॑ ऊरू॒ची भ॑वतु स्व॒धाभिः॑ ।
शं रोद॑सी बृह॒ती शं नो॒ अद्रिः॒ शं नो॑ दे॒वानां॑ सु॒हवा॑नि सन्तु ॥ ३ ॥

भा०—(धाता) पालन पोषण करनेवाला परमेश्वर, या दुग्ध आदि से पुष्ट करने वाला पिता (नः शम्) हमें शान्ति सुखदायक हो । (धर्त्ता नः शम्) आश्रय प्रदाता, परमेश्वर या संरक्षक हमें शान्तिदायक (अस्तु) हो । (ऊरूची) बहुत दूर २ तक फैली हुई पृथिवी, (स्वधाभिः) अन्नों द्वारा (नः शम् भवतु) हमें सुखप्रद हो । (बृहती) विशाल (रोदसी) द्यौ,

३–(द्वि०) 'उरुची' 'ऊरुची' 'उरूची' इति पाठाः ।

पृथिवी और अन्तरिक्ष (शम्) हमें सुख दें । (अद्रिः) पर्वत और मेघ (नः शम्) हमें सुख दे । (देवानाम्) देवों, विद्वानों की (सुहवानि) उत्तम स्तुतियें, उनके उत्तम ज्ञान और उत्तम उपदेश (नः शम् सन्तु) हमें सुखद और कल्याणकारक हों ।

शं नो॑ अ॒ग्निर्ज्योति॑रनीको अस्तु॒ शं नो॑ मि॒त्रावरु॑णाव॒श्विना॒ शम् ।
शं नः॑ सु॒कृतां॑ सुकृ॒तानि॑ सन्तु॒ शं न॑ इषि॒रो अ॒भि वा॑तु॒ वातः॑ ॥४॥

भा०—(ज्योतिः अनीकः) ज्योति, ज्वाला, दीप्ति के बने मुख वाला अर्थात् अपनी ज्वाला से सब पदार्थों को खाजाने या भस्म कर देने वाला (अग्निः) अग्नि और उसके समान ज्ञान ज्योति को अपने मुख में धारण करने वाला, अग्नि के समान ज्ञानप्रकाशक ब्राह्मण, ज्योति को अपने मुख में या अग्रभागमें रखने वाला मार्गदर्शक, ज्योतिर्मय दीपक को अपने मुख भाग या अग्रभाग में रखने वाला सूर्य या अग्नि के बलपर चलने वाला महायन्त्र या, ज्योतिर्मय तेज स्त्रेः पुरुषों के अनीक सेना बल से युक्त अग्नि—अग्रणी, सेनापति (नः) हमारे लिये (शम् अस्तु) कल्याण कारक हो । (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण, परस्पर स्नेह करने वाली धन और ऋण विद्युतें और वरुण अर्थात् समान जाति को परे-वारण कर देने वाली धन और ऋण दोनों (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों । (अश्विनौ) दो अश्वि, सूर्य रूप अश्वपर सदा आरूढ़ दिन और रात, एवं देह रूप रथ और एवं इन्द्रियरूप अश्वोंपर आरूढ़ प्राण और अपान, देह में व्यापक, अथवा स्त्री पुरुष (शम्) शान्तिदायक हों । (सुकृताम्) उत्तम सुन्दर कार्य करने वाले उत्तम शिल्पियों के (सुकृतानि) बनाये उत्तम प्रशंसनीय शिल्प के कार्य और पुण्यात्माओं के किये हुए उत्तम प्रशंसनीय परोपकार के कार्य (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (सन्तु)

४—(द्वि०)'णा अश्विना' इति पैप्प० सं० ।

हों। (इषिरः) निरन्तर गतिशील, सब पदार्थों का प्रेरक, (वातः) महान् वायु और देहों का प्रेरक प्राण वायु (नः) हमारे किये (शम्) कल्याणकारी, सुखकारी होकर (वातु) प्रवाहित हो।

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥५॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि (पूर्व-हूतौ) सबसे पूर्व समस्त पदार्थों को प्रदान करने में नः शम्) हमें शान्ति-दायक हों। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, मध्यमलोक, वातावरण भी (दृशये) हमारे दर्शन शक्ति को स्वतन्त्र व्यापार के लिये (शम् नः अस्तु) हमें कल्याणकारी हो। अन्तरिक्ष स्वच्छ रहे कि हम दूर २ तक देख सकें। (ओषधीः) ओषधियें (वनिनः) सेवन करने योग्य होकर (नः शं भवन्तु) हमें शान्तिदायक हों। (रजसःपतिः) लोकों का पालक सूर्य और सूर्य के समान तेजस्वी (जिष्णुः) विजयशील राजा (नः शम् अस्तु) हमें शान्तिदायक हो।

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥

भा०—(देवः) प्रकाशमान, तेजोमय, ऐश्वर्यवान् सूर्य (वसुभिः) प्राणियों को अपने में बसाने में समर्थ पृथिवी आदि लोक, वायु पर्जन्य आदि वसु पदार्थों सहित (नः शम्) हमें शान्तिदायक (अस्तु) हो अथवा (देवः) देव=राजा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् होकर (वसुभिः) वसु विद्वान् शासकों के साथ हमें शान्तिदायक हो और इन्द्र आत्मा वसुरूप प्राणों सहित हमें शान्तिदायक हो। (वरुणः) सबके वरण करने योग्य, राजा

६– (च०) 'त्वष्टा अग्नाभिः' इति पदपाठश्चिन्त्यः।

(आदित्येभिः) आदित्य के समान तेजस्वी पुरुषों के साथ (सुशंसः) उत्तम रीति से स्तुति करने योग्य, उत्तम गुणों से युक्त होकर बारह मासों सहित सूर्य के या पर्जन्य के समान (शन् अस्तु) हमें कल्याणकारी हों। (रुद्रः) सब दुष्टों को रुलाने वाले, दुष्ट दमनकारी पुरुष-सिंह (रुद्रेभिः) दुष्टों को रुलाने में समर्थ अन्य अधिकारियों सहित (जलाषः) सुखकारी होकर (नः शम्) हमें शान्तिदायक हो। (त्वष्टा) सर्वस्रष्टा परमेश्वर (ग्नाभिः) अपनी व्यापक दिव्य शक्तियों सहित (नः) हमारे लिये (शम्) शान्तिप्रद हो और (इह) इस लोक में हमारी सब प्रार्थनायें (शृणोतु) श्रवण करे।

अध्यात्म में आत्मा या पुरुष की तीन दशा हैं वयः क्रम से व्रत पालन में इन्द्र, वरुण और रुद्र उनके व्रत से परिपक्व हुए प्राणों के तीन नाम हैं वसुगण, आदित्यगण और रुद्रगण। त्वष्टा, कर्त्ता, आत्मा उसकी ज्ञान-शक्तियां 'ग्ना' हैं। अथवा त्वष्टा शिल्पी अपनी (ग्नाभिः) गमनशील, अति वेगवती विद्युत्, कला, यन्त्र आदि वैज्ञानिक शक्तियों सहित हमें सुख शान्ति दें। इन्द्र=राजा, वरुण जलाध्यक्ष, आदित्य, पानी सींचने के यन्त्र रुद्र, वैद्य, रुद्रगण=ओषधियां।

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः॥७॥

भा०—(सोमः) सोम, वायु और सोम ओषधि (नः शम् भवतु) हमें शान्तिदायक हो। (ब्रह्म) वेदज्ञान (न शम्) हमें शांतिदायक हो। (ग्रावाणः) उपदेशकर्त्ता गुरुजन (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों अथवा (ग्रावाणः) प्राणगण, पशुगण, प्रजागण, पत्थर या सिलबट्टे के समान शत्रुओं को पीसने वाले शत्रुघाती सिपाहीजन या वज्र आदि शस्त्र और शस्त्रधारी पुरुष (नः शम्) हमारे लिये शांतिदायक हों। (यज्ञाः

उ शम् सन्तु) यज्ञ भी शांतिदायक हो । (स्वरूणां मितयः) स्वरु, उपदेशप्रद मंत्रों के (मितयः) ज्ञान करने वाले विद्वान्‌जन या (स्वरूणां) उपदेशप्रदाता पुरुषों के (मितयः) नाना ज्ञान (नः शम्) हमारे लिये शांतिदायक (भवन्तु) हों । (प्रस्वः) नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाली ओषधियां या उत्कृष्ट पुत्रोत्पादक माताएं, और गौएं और पृथिविएं (नः शम्) हमें शांति सुख दें । (वेदिः) वेदि पृथिवी और यज्ञवेदि हमको (शम् अस्तु) हमें शांति दे ।

यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः । श० ३ । ७ । १ । ११ । वज्रो वै यूपशकलः । श० ३ । ८ । १ । ५ ॥ आदित्यो यूपः । तै० २ । १। ५ । ५ ॥ यूपात् वा एष शकलः स्वरुर्नाम । श० ३ । ७ । १ । २४ ॥ अथवा स्वृशब्दोपतापयोः । स्वरति उपादिशति उपादिश्यते इति वा स्वरुः । तेषामितयो ज्ञानानि ।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवतु प्रदिशश्चतस्रः ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥

भा०—(उरुचक्षाः) विस्तीर्ण तेज वाला, सर्व प्रत्यक्ष सर्वदर्शी (सूर्यः) सूर्य और उसके समान तेजस्वी आदित्य योगी (नः शम्) हमें शांतिदायक होकर (उत् एतु) उदय को, वृद्धि को प्राप्त हो (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) मुख्य दिशाएं (नः शंभवन्तु) हमें शांतिदायक हों । (ध्रुवयः) अचल, स्थिर खड़े (पर्वताः) पर्वत (नः शं भवन्तु) हमें शांति सुख देने हारे हों । (सिन्धवः) वेग से बहने वाले, नद महानद और (आपः) अन्य नाना जल भी (नः शम्) हमें शांतिदायक हों ।

८–(द्वि०) 'शंनश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु' इति ऋ० ।

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९॥

भा०—(अदितिः) अखण्ड पृथिवी (व्रतेभिः) नाना कार्य व्यवहारों द्वारा (नः शम् भवतु) हमें शान्तिदायक हो । अथवा सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष और उसमें रहने वाले पांचों प्रकार के जन और समस्त प्राणि अपने व्रतों, कर्मों और व्यवहारों द्वारा हमें शान्तिदायक हों । (स्वर्काः) उत्तम गति करने वाले (मरुतः) मरुद्गण वायुएं, प्राण और वैश्यजन (नः शम् भवन्तु) हमें शान्तिदायक हों । (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर, यज्ञ और सूर्य (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों । (पूषा) पोषक अन्न या सूर्य (नः शम् उ) हमें शान्तिदायक हो । (भवित्रम्) यह उत्पत्तिस्थान भुवन, जल या अन्तरिक्ष हमें (शं नः अस्तु) शान्तिदायक हो । (वायुः शम् उ अस्तु) वायु हमें शान्तिदायक हो ।

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः ॥ १०॥

भा०—(त्रायमाणः) सबका पालन करता हुआ (सविता) सर्व-प्रेरक सर्वोत्पादक (देवः) देव, प्रकाशक सूर्य (नः शम्) हमें शान्ति-दायक हो । (विभातीः) विविध और विशेषरूप से प्रकाशित (उषसः) उषाएं (नः शं भवन्तु) हमें शान्तिदायक हों । (पर्जन्यः) मेघ, रसों का देने वाला (नः) हमें प्रजाओं के लिये (शं भवतु) शान्तिदायक हो । (क्षेत्रस्य पतिः) क्षेत्र का स्वामी, आत्मा और क्षेत्र, प्रधान प्रकृति का स्वामी परमेश्वर (शंभुः) समस्त सुखों का उत्पादक अग्नि, जल या स्वयं क्षेत्र-पति-किसान (नः शम् अस्तु) हमारे लिये शान्तिदायक हो ।

[११] शान्ति की प्रार्थना ।

शान्तिकामा ब्रह्मा ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुभः । द्वृचं सूक्तम् ॥

शं नः सुत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥१॥

ऋ० ७ । ३५ । १२ ॥

भा०—(सत्यस्य पतयः) सत्य ज्ञानके पालक, सत्य की रक्षा करने वाले, प्राड्विवाक और धर्माधिकारी, न्यायकर्त्ता, व्यवस्थापक अथवा (सत्यस्य) सत्य, वर्त्तमान जगत् के (पतयः) पति, सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि, वायु आदि (नः) हमें (शम् भवन्तु) शान्तिदायक हों । (अर्वन्तः) शीघ्रगामी अश्व (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों । (गावः) गौएं (शम् उ सन्तु) हमें शान्तिसुख दें । (सुकृतः) उत्तम २ पदार्थ बनाने वाले (सुहस्ताः) शिल्प में सिद्धहस्त (ऋभवः) विद्वान्, शिल्पीजन (नः शम्) हमें शान्तिसुखप्रद हों । (हवेषु) यज्ञों और युद्धों में (पितरः) हमारे पालक, राष्ट्र के रक्षक अधिकारी लोग (नः शम् भवन्तु) हमें शान्तिदायक हों ।

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥२॥

ऋ० ७ । ३५ । ११ ॥

भा०—(विश्वदेवाः) समस्त प्रकार की क्रीड़ा करने में चतुर, विजयीपने में कुशल, व्यवहारों में निपुण, प्रकाशमान्, समस्त आमोद प्रमोद में कुशल, (देवाः) देव, विद्वान् लोग (नः शं भवन्तु) हमें शांति सुखदायक हों; और (सरस्वती) सरस्वती, वाणी (धीभिः सह) नाना उत्तम ध्यान-

---

[११] २-(च०) 'आप्याः' इति पैप्प० सं० ।

गम्य विचारों और शुभ चिन्तनाओं, स्तुतियों प्रज्ञा और कर्मों सहित (शम् अस्तु) शान्तिदायक हो । (अभिपाचः) चारों ओर से एकत्र होकर विराजने वाले प्रतिनिधि गण (शम्) शांतिदायक हों । (राति-पाचः) दान दक्षिणा के दान और प्राप्ति के लिये एकत्र होने वाले दाता और प्रति ग्रहीता, ऐश्वर्यवान् विद्वान् पुरुष (शम्) हमें शांतिदायक हों । (दिव्याः) दिव्य आकाश से प्राप्त होने वाले पदार्थ (पार्थिवाः) पृथिवी से उत्पन्न पदार्थ और (अप्याः) जल, समुद्र, नदी आदि से उत्पन्न पदार्थ सब (नः शम्, नः शम्) हमें शांतिप्रद हों ।

शं नो॑ अ॒ज एक॑पाद् दे॒वो अ॑स्तु॒ शमहि॑र्बु॒ध्न्य१॒ः शं स॑मु॒द्रः ।
शं नो॑ अ॒पां नपा॑त् पे॒रुर॑स्तु॒ शं नः॒ पृश्नि॑र्भवतु दे॒वगो॑पाः ॥ ३ ॥

ऋ० ७ । ३५ । १३ ॥

भा०—(एकपात्) समस्त स्थावर जंगम, चराचर प्राणियों को अपने चित्मय या आनन्दमय एक चरण में धारण करने वाला अथवा 'एक' ब्रह्मरूप से जानने योग्य (अजः) कभी उत्पन्न न होने वाला (देवः) प्रकाशमय परमेश्वर (नः शम् अस्तु) हमें शांतिदायक हो । (अहिर्बुध्न्यः) जो कभी नाश नहीं हो, वह सर्वाधार स्वरूप, सर्वाश्रय परमेश्वर (शम्) शान्ति प्रदान करे । (सम्-उद्रः) समस्त संसार का उत्पत्ति स्थान अर्थात् जैसे समस्त नदियां समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं ऐसे ही समस्त लोकों और आत्माओं के लीन होने के परमस्थान, महासमुद्र रूप परमेश्वर (शम्) हमें शान्ति प्रदान करे । (पेरुः) समस्त दुःखों से पार उतारने हारा (अपां नपात्) जलों को न गिरने देने हारा, मेघ के समान, समस्त आपोमय प्राणों को धारण करने वाला, प्रजाओं को न गिरने देने वाला, सबको जीवनप्रद परमेश्वर (नः शम्) हमें शांति दे । (देवगोपाः) समस्त देव, सूर्य, चन्द्र,

३–सस्पृष्टो ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्चेति । निरु० २ । ४ । २ ॥ (द्वि०) 'शं नो हिर्बुध्न्यः' (च०) 'देवगोपाः' इति ऋ० ।

नक्षत्र, ऋतु, दिन, मास, पक्ष, एवं पृथिव्यादि पांचभूत, १० इन्द्रिय, पञ्च प्राण आदि समस्त देवों का रक्षक एवं उन सबसे सुरक्षित (पृश्निः) समस्त रसों और ज्योतिर्मय पिण्डों का आश्रय, परमेश्वर (नः शम्) हमें शांति दे । अथवा एकपाद् अज=सूर्य, अहिर्बुध्न्य=वायु, समुद्र=पर्जन्य, अपां नपात्=अग्नि, पृश्नि=पृथिवी ये कल्याणकारी हों ।

आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥४॥

ऋ० ७ । ३५ । १४ ॥

भा०—(इदम्) इस (नवीयः) नये से नये (क्रियमाणं) बनाये गये (ब्रह्म) बृहत् जगत् को (आदित्याः) १२ आदित्य, १२ मास अथवा समस्त सूर्य (रुद्राः) नाना वायुगण या अग्नियें या प्राण (वसवः) जीवों के वास कराने हारे लोक (जुषन्ताम्) सेवन करें । (दिव्याः) दिव्य (पार्थिवासः) पृथिवी के स्वामी, राजा लोग और (गोजाताः) पृथिवी पर उत्पन्न अथवा गो वाणी में उत्पन्न वाग्मी, मेधावी पुरुष (यज्ञियासः) यज्ञ में विराजमान पुरुष भी (नः) हमारे वचनों को (शृण्वन्तु) श्रवण करें । अथवा (आदित्याः) आदित्य के समान परम तेजस्वी, आदित्य ब्रह्मचारी (रुद्राः) प्राणों के साधक रुद्र ब्रह्मचारी (वसवः) वसु ब्रह्मचारी ये सब (नवीयः) नये २ ही अर्थात् नित्य नवीन (क्रियमाणम्) किये जाते हुए अनुष्ठानरूप से प्रयोग और अनुभव द्वारा सिद्ध किये जाते हुए (ब्रह्म) ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानमय तपस्या और वेदाध्ययन का (जुषन्ताम्) सेवन करें । या (नवीयः ब्रह्म) नये बने ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण वर्ग या विद्वान् वर्ग से (जुषन्ताम्) प्रेम करें । (गोजाताः) वाग्मी और (यज्ञियासः) यज्ञ में पूजनीय दिव्य (पार्थिवासः) पृथिवी पर उत्पन्न प्राणी (नः) हमारा (शृण्वन्तु) उपदेश और ज्ञान सुनें ।

४–(प्र०) जुषन्त ।

ये देवानांमृत्विजो यज्ञियांसो मनोर्यजंत्रा अमृतां ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगाय मद्य यूयं पांत स्वस्तिभिः सदां नः ॥ ५ ॥

ऋ० ७ । ३५ । १५ ॥

भा०—(ये) जो (देवानाम्) देव, विद्वान् पुरुषों में से (ऋत्विजः) ऋतुओं ऋतुओं में यज्ञ करने वाले (यज्ञियासः) यज्ञों में पूजनीय (मनोः) मनु-मननशील पुरुष के (यजत्राः) यज्ञ करने वाले (अमृताः) अमृत, अमरणधर्मा (ऋतज्ञाः) ऋत्-वेद, सत्य ज्ञान के जानने वाले हैं (ते) वे (नः) हमें (उरुगायम्) विशाल ज्ञानोपदेश (अद्य) निरन्तर (रासन्ताम्) प्रदान करें । हे विद्वान् पुरुषो ! (यूयम्) आप लोग (स्वस्तिभिः) कल्याणकारक साधनों से (नः सदा पात) हमारी सदा रक्षा करें ।

तदंस्तु मित्रावरुणा तदंग्ने शं योरुस्मभ्यमिदमंस्तु शस्तम् ।
अशी महिं गाधमुत प्रंतिष्ठा नमों दिवे बृंहते सादंनाय ॥ ६ ॥

ऋ० ५ । ४७ । ७ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र, मरण से बचाने वाले और (वरुणा) सर्व दुःखवारक सर्वश्रेष्ठ प्राण और अपान और हे (अग्ने) अग्ने, जाठर शक्ते ! अथवा हे दिन और रात्रि ! और हे अग्ने ! सूर्य ! अथवा हे मित्र और वरुण, राजा और न्यायाधीश और हे अग्ने ! अग्रणी सेनापते ! (अस्मभ्यम्) हमें (तत्) वह (तत्) वह नाना प्रकार के पदार्थ (शम्)

५–१ उरुगायम् विस्तीर्णगमनमिति ग्रिफिथह्विट्नी । प्रभूतां कीर्तिमिति सायणः । कै गै रै शब्दे अतोथन् । गास्तुतौ गाङ्गतौ इत्यास्माद थन् वा ।

६–(तृ०) 'गातुमुत' (च०) 'साधनाय' इति पैप्प० सं० । 'तिस्रो द्यावः', 'त्रिदिव' इत्यादौ दिव् शब्दो लोकवचनः ।

शांतिदायक और (योः) रोग, विपत्तिनाशक (अस्तु) प्राप्त हों, (इदम्) यह प्राप्त पदार्थ भी (शस्तम् अस्तु) उत्तम, लाभदायक, श्रेष्ठ ही हो। हम (गाधम्) अपने अभिलषित ऐश्वर्य और (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा कीर्त्ति का (अशीमहि) लाभ करें और (बृहते) बड़े भारी (सादनाय) आश्रय प्राप्त करने के लिये (दिवं) द्यौलोक के समान विशाल पृथिवी को (नमः) हम अपने वश करें।

[१२]

शान्तिकामो। ब्रह्मा ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता।

अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ १ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० १० । १७२ । ४ प्र० द्वि० ॥ (तृ० च०) ऋ० ६ । १७ । १५ तृ० च० ॥

भा०—(स्वसुः) स्वयं सरण करने वाली, आप से आप हट जाने वाली रात्रि के (तमः) अन्धकार को (उषाः) उषा—प्रभात वेला (अप वर्तयति) दूर हटा देती है। और (सुजातता) अपने उत्तम, शुभ सुख-कर उत्पत्ति से (वर्तनिम्) उत्तम मार्ग को या लोक व्यवहार को (संवर्त्तयति) भली प्रकार चला देती है। (अया) इस उषा, मार्गप्रवर्तक प्रकाशमयी प्रवृत्ति से हम (देवहितम्) देवों, दिव्य पदार्थों में विद्यमान, देवों, प्राणों के हितकारी (वाजम्) बल, शक्ति को (सनेम) प्राप्त करें। और हम (सुवीराः) उत्तम वीर्ययुक्त, प्राणों से युक्त रह कर (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) हृष्ट पुष्ट, आनन्द प्रसन्न, सदा तृप्त रहें।

---

[१२] १–(द्वि०) 'सुजाततया' इति क्वचित् ॥

[१३]

भा०—अप्रतिरथ ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। एकादशर्चं सूक्तम्॥

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू।
तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्व१र्यत्॥१॥

साम० उ० ९।३।७।३॥

भा०—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यसम्पन्न राजा के समान इस आत्मा की (स्थविरौ) दृढ़, सदा स्थिर रहने वाली (वृषाणौ) सकल काम्य सुख की वर्षा कर देने वाली, अति बलवान् (चित्रा) विचित्र आश्चर्यजनक (वृषभौ) समस्त सुखों की वर्षक, बैलों के समान (पारयिष्णू) पूर्व मार्ग, जीवनयात्रा के पार पहुंचा देने वाली (बाहू) समस्त विघ्नों को दूर करने वाली दो बाहुओं के समान प्राण और अपान (तौ) उन दोनों को (योगे आगते) योग समाधि के प्राप्त हो जाने पर (प्रथमः) प्रथम अभ्यासी, साधक होकर (योक्षे) युक्त अर्थात् समाहित करूं। (याभ्याम्) जिनसे (असुराणाम्) प्राणों का (यत्) जो जितना भी (स्वः) स्वर अर्थात् प्रेरक बल है उसको (जितम्) जीता या वश किया जाता है।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनो निमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः॥२॥

ऋ० १०।१०३।१॥ यजु० १७।३३॥

---

[१३] १-(प्र० द्वि०) 'युवानावधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ' (तृ०) तौ युञ्जीत प्रथमौ (च०) 'असुराणां सहोमहत्'। (द्वि०) 'योक्ष्ये' इति ह्विटनिकामितः। 'ता योक्ष्ये' इति पैप्प० सं०। 'प्रथमो योग' इति साम०। 'प्रथमयोगागन्ते' इति पैप्प० सं०।

२-'वृषभो न युग्मः' इति वै० सं०।

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यशील राजा (आशुः) शीघ्रगामी (शिशानः) तीक्ष्णमति, तीक्ष्णस्वभाव एवं तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से युक्त (वृषभः न) वृषभ, बड़े सांड के समान (भीमः) अति भयंकर (घनाघनः) शत्रुओं को बराबर मारने और परास्त करने वाला (चर्षणीनां क्षोभणः) मनुष्यों और प्रजाओं के विक्षुब्ध करने, कंपा देने हारा (संक्रन्दनः) शत्रुओं को रुलाने वाला या उनको संग्राम के लिये ललकारने वाला (अनिमिषः) कभी आंख न झपकने वाला, कभी न चूकने वाला, प्रमादरहित, अत्यन्त सावधान (एकवीरः) समस्तसेना में एकमात्र वीर, सर्वोपरि सामर्थ्यवान् होकर (शतं सेनाः) सैकड़ों सेनाओं को (साकम्) एक साथ ही (अजयत्) विजय कर लेता है।

अध्यात्म में—(आशुः) व्यापक (शिशानः) तीक्ष्णमति ज्ञान और तपसे (वृषभः न भीमः) वृषभ के समान भयानक (घनाघनः) मेघ के समान आनन्दघन (चर्षणीनां क्षोभणः) विपद्रष्ट इन्द्रियों प्राणों का प्रेरक, (संक्रन्दनः) आनन्दमय, आह्लाद रूप (अनिमिषः) कभी न बुझने वाला, नित्यचेतन (एकवीरः) समस्त प्राणों का मुख्य प्राण होकर (शतं सेनाः) सौ सेनाओं के समान, सैकड़ों चित्तवृत्तियों को एकही वार (अजयत्) विजय करता है।

सं॒क्रन्द॑नेनानिमि॒षेण॑ जि॒ष्णुना॑योध्येन॑ दुश्च्यव॒नेन॑ धृ॒ष्णुना॑।
तदिन्द्रे॑ण जयत॒ तत्स॑हध्वं॒ युधो॑ नर॒ इषु॑हस्तेन॒ वृष्णा॑ ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १०३ । २ ॥ यजु० १७ । ३४ ॥

भा०—हे (नरः) नेता पुरुषो ! आप लोग (संक्रन्दनेन) शत्रुओं को ललकारने वाले (अनिमिषेण) निमेषरहित, बेचूक, अत्यंत साव-

३–'युत्कारेण' इति ऋ० ।

धान (जिष्णुना) विजयशील (अयोध्येन) जिसको कोई युद्ध में पराजय न कर सके ऐसे अजेय बलशाली (दुश्च्यवनेन) जिसको कोई सुगमता से पदच्युत न कर सके ऐसे अविकम्प, अविचल (धृष्णुना) शत्रुओं का धर्षण करनेहारे (इषुहस्तेन) बाण को हाथ में लिये या आज्ञा करने और प्रेरणा करने के कार्य को अपने हाथ में रखने वाले (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् राजा को साथ लेकर उसके द्वारा (तत्) उस अभिलषित राष्ट्र को (जयत) विजय करो और (तत् सहध्वम्) उस शत्रु राष्ट्र का दमन करो।

अध्यात्मविषयक विवेचन देखो सामवेद आलोक-भाष्य पृ० ८९२ ॥

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १०३ । ३ ॥

भा०—(सः सः) वह (निषङ्गिभिः) कवच धारण किये (इषुहस्तैः) धनुष्बाण हाथ में लिये (वशी) राष्ट्र और अपने देहेन्द्रियों पर वश करने वाला (युधः संस्रष्टा) युद्धों का करनेहारा (गणेन) सेना के सुभटों की श्रेणियों सहित (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा होता है। वह (संसृष्टजित्) भली प्रकार परस्पर दलबद्ध सेनाओं का जीतने वाला (सोमपाः) सोमरस का पान या शत्रुका भोग करनेहारा (बाहुशर्धी) अपने बाहुबलसे शत्रुओं को पराजय करनेहारा (उग्रधन्वा) उग्र, भयंकर धनुर्धर (प्रतिहिताभिः) प्रतिपक्ष के लिये खड़ी की गई सेनाओं और फेंकी गई बाण परम्पराओं से (अस्ता) शत्रुओं को उखाड़ डालने और धुनदेने में समर्थ होता है ।

४–(च०) 'ऊर्ध्वधन्वा' तै० सं० । (द्वि०) संस्रष्टायुधुरिन्द्रोगणेषु । इति मै० सं० । (च०) 'प्रतिहिताभिरस्तत्' इति साय० ।

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन् ॥५॥
ऋ० १० । १०३ । ४ ॥

भा०—(बलविज्ञायः) अपने और पराये के बल, सेनाबल को भली प्रकार जानने वाला अथवा सब द्वारा यही हमारा बल है ऐसा जाना हुआ (स्थविरः) युद्ध में स्थिर या पुराना अनुभवी (प्रवीरः) उत्कृष्ट वीर्यवान् सुवीर (सहस्वान्) बलवान् (वाजी) वीर्यवान् अन्न, बल से सम्पन्न (उग्रः) अति भयकारी (सहमानः) शत्रु को पराजित करता हुआ (अभिवीरः) साथ अपने दायें बायें वीर्यवान् नाना वीर पुरुषों को लिये हुए (अभिषत्वा) साक्षात् अधिक सत्व-बल को धारण करने वाला अथवा चारों तरफ़ अपने मोर्चे बैठाने वाला या मुकाबले पर डटने वाला, अथवा चारों ओर बलवान् पुरुषों से घिरा या बलवान् पुरुषों से भी बढ़कर बलवान् (सहोजित्) सबके बलों का विजेता ही राजा इन्द्र है । हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजन् ! हे (गोविदन्) गौ पृथिवी को अपने वश करने हारे तू (रथम् आतिष्ठ) विजयी रथ पर बैठ ।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १०३ । ९ ॥ अथर्व० ६ । ९७ । ३ ॥

भा०—हे (सखायः) इन्द्र के मित्र राजागण ! (इमम्) इस (उग्रम्) उग्र स्वभाव तीक्ष्ण, (इन्द्रम् वीरम् अनु) वीर इन्द्र के अनुकूल रह कर ही (हर्षध्वम्) तुम हर्ष उत्सव करो । (अनु) और

५-(तृ०) 'सहोजाः' (च०) 'गोवित्' इति साम० ऋ० । (च०) 'जैत्रायेरथमातिष्ठ कोविदन्' इति पैप्प० स० । 'गोविदन्' इति क्वचित् ।

उसकी आज्ञा में रह कर ही (संरभध्वम्) एकत्र होकर युद्ध आदि कार्य प्रारम्भ करो। (ग्रामजितम्) शत्रु समूहों के विजेता (वज्रबाहुम्) वज्र, तलवार एवं शक्ति को अपने हाथ में वश में किये हुए (अज्म जयन्तम्) युद्ध को विजय करने वाले (ओजसा) अपने बल, पराक्रम और प्रभाव से शत्रुगण को (प्रमृणन्तम्) खूब कुचलते हुए (इन्द्रम् अनुसंरभध्वम्) इन्द्र राजा के अनुकूल वशवर्ती होकर उसके कार्य में सहयोग दो।

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्योऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥७॥

ऋ० १० । १०३ । ७ ।

भा०—(गोत्राणि) गौ=पृथिवी को पालन करने वाले, राष्ट्रों को (सहसा) अपने बल से (अभिगाहमानः) अपने आक्रमण से पार करता हुआ (अदायः) शत्रुओं पर निर्दय (उग्रः) अति भयंकर (शतमन्युः) सैकड़ों शत्रुओं को अपने बाहुबल से स्तम्भन करने वाला (दुश्च्यवनः) बड़ी कठिनता से संग्राम से उखड़ने हारा, अविचल (पृतनाषाड्) शत्रु-सेना का पराजय करने में समर्थ (अयोध्यः) युद्ध में अजेय (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (अस्माकम्) हमारी (सेनाः) सेनाओं को (युत्सु) युद्धों में (प्रअवतु) अच्छी प्रकार सुरक्षित रक्खे।

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जञ्छत्रून् प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम् ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १०३ । ४ ॥

७–(द्वि०) 'अदय उग्रः' इति पदपाठः। ऋ० साम० यजु०। (तृ०) 'अयुध्यः' इति मै० सं०।

८–(तृ०) 'प्रभञ्जन सेना प्रमृणो युधाजयन्', 'अविता रथानाम्' इति ऋ० यजु० साम०।

भा०— बृहस्पते) बृहती-सेना के स्वामिन् ! शत्रुगण को (अपबाधमानः) दूर करता और रोकता हुआ, उनका विनाश करता हुआ (रक्षोहा) विघ्नकारी राक्षसों का नाश करता हुआ (रथेन) रथ से (परिदीयाः) चारों ओर आक्रमण कर । (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रभञ्जन्) खूब कुचलता हुआ (अमित्रान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) खूब मसलता हुआ (अस्माकं तनूनाम्) हमारे शरीरों का (अविता) रक्षक (एधि) होकर रह ।

इन्द्र॑ एषां ने॒ता बृह॒स्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒र ए॑तु॒ सोमः॑ ।
दे॒व॒से॒नाना॑मभिभञ्ज॒ती॒नां जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ य॒न्तु मध्ये॑ ॥ ६ ॥

ऋ० १०३ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा (एषां) इन वीरों का नेता हो और (बृहस्पतिः) बृहती, बड़ी भारी सेना का स्वामी सेनापति (दक्षिणा) दक्षिण हाथ में होकर चले । (यज्ञः) आज्ञा प्रदान करने वाला या समस्त सेनाओं को व्यूह में संगठित करने वाला। (सोमः) सब का प्रेरक आज्ञापक पुरुष (पुरः एतु) आगे २ चले । (अभिभञ्जतीनाम्) सब ओर शत्रुओं को कुचलने वाली (जयन्तीनाम्) विजय करती हुई (देवसेनानाम्) युद्ध विजयी लोगों की सेनाओं के (मध्ये) बीच में (मरुतः) वायुओं के समान तीव्र गतिशील अथवा मारने में चतुर वीर सुभट (यन्तु) चलें ।

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ आदि॒त्यानां॑ म॒रुतां॒ शर्ध॑ उ॒ग्रम् ।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वानां॒ घोषो॑ दे॒वानां॒ जय॑ता॒मुद॑स्थात् ॥१०॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील (वृष्णः) शत्रुओं पर अस्त्रों का वर्षण करने वाले, प्रजा पर सुखों के वर्षण, एवं बलवान् (वरुणस्य) सर्व दुःखों के निवारक एक सर्वश्रेष्ठ होने से प्रजा द्वारा वरण किये गये

९–(प्र० 'इन्द्र आसां' (च०) 'यन्त्वग्रम्' इति ऋ० यजुः साम० ।

(राज्ञः) राजा के और (आदित्यानाम्) सूर्य के समान तेजस्वी (मरुतां) शत्रुओं के मारने वाले सुभटों के (उग्रम् शर्धम्) अति भयंकर मारकाट हो । (महामनसाम्) बड़े विचारशील (भुवनच्यवानाम्) भुवन-जगत् को पलट देने वाले (जयताम्) विजयशील (देवानाम्) विजिगीषु राजाओं के (घोषाः) घोष, हर्षपूर्वक सिंहनाद (उद् अस्थात्) उठे ।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान् देवासोवता हवेषु ॥११॥

ऋ० १० । १०३ । ११ ॥ यजु० १७ । ४३ ॥

भा०—(अस्माकम् इन्द्रः) हमारा इन्द्र राजा (समृतेषु ध्वजेषु) जब युद्ध के झण्डे भी परस्पर मिल रहे हों तब भी रक्षा करे । (याः अस्माकं इषवः) जो हमारे बाण हैं (ताः जयन्तु) वे ही शत्रुओं पर विजय करें । (अस्माकं वीराः) हमारे वीरगण (उत्तरे भवन्तु) उत्कृष्ट बलशाली विजयी रहें । हे (देवासः) समस्त योद्धा और राजागण (हवेषु) युद्ध में (अस्मान्) आप लोग हमें (अवत) रक्षा करो ।

[१४] द्वेष रहित होकर अभय की प्राप्ति ।

अथर्वा ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ देवते । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

इदमुच्छ्रेयोवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥१॥

११-(च) 'अस्मान् उदेवाः' इति ऋ० यजु० ।

[१४] १-(प्र) 'इदमुश्रेय' इतिह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'शिवेते' (च) 'नोऽस्तु' इति क्वचित् । इदं श्रेयोऽवसानमगाम स्योनेमे द्यावापृथिवी अभूताम् । अनमीवाः प्रदिशः सन्तु मह्यं गोमद्—स्वाहेत्यवसितिंजुहोति इति कप०।

भा०—मैं (इदम्) यह इस प्रकार (उत् श्रेयः अवसानम्) सर्वोत्तम, परम कल्याणमय कार्य या मार्ग की समाप्ति तक या लक्ष्य तक या मोक्ष तक (आ अगाम्) पहुंचूं। (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और जमीन (मे) मेरे लिये (शिवे) अति कल्याणकर, सुखकारी (अभूताम्) हों। (प्रदिशः) मुख्य दिशाएं (मे) मेरे लिये (असपत्नाः) शत्रुरहित (भवन्तु) हों। हे शत्रो! या हे पुरुष! (त्वा) तुझसे हम (न वै द्विष्मः) द्वेष नहीं करते, इसलिये तेरे से (नः अभयं अस्तु) हमें सदा अभय रहे।

जिसके साथ संधि करनी हो उससे भी विजय कार्य के अवसान पर द्वेष न करने का वचन देकर उससे निर्भय होना उचित है।

[१५] अभय की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। १-४ इन्द्रः। मन्त्रोक्ता बहवो देवताः। १ पथ्या बृहती। २-५ चतुष्पदा जगत्यः। ३ विराट् पथ्यापंक्तिः। ४, ६ त्रिष्टुभौ। षड्चं सूक्तम्॥

यत॑ इन्द्र॒ भया॑महे॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यं कृधि।
मघ॑वञ्छ॒ग्धि तव॒ त्वं न॑ ऊ॒तिभि॒र्वि द्विषो॒ वि मृधो॑ जहि॥१॥

ऋ० ८। ६१। १३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजन्! या प्रभो! हम (यतः) जिससे (भयामहे) भय करें (ततः) उससे (नः) हमें (अभयं कृधि) अभय कर। हे (मघवन्) समस्त ऐश्वर्यों के स्वामिन्! (त्वम्) तू ही (शग्धि) ऐसा करने में समर्थ भी है। तू ही (तव ऊतिभिः) अपने रक्षाकारी उपायों, शक्तियों से (द्विषः) द्वेष करने वाले (मृधः) हिंसाकारी शत्रुओं को (वि वि जहि) विशेषरूप और विविध उपायों से विनाश कर।

---

[१५] १-(द्वि०) 'तव त्वं न ऊतये' इति सायणः। 'तव तन्न ऊ०' इति क्वचित्।

राजा प्रजा को अभय करे और प्रजा की रक्षा करने के नाना उपायों से रक्षा करे, शत्रु का विविध प्रकार से नाश करे। अर्थात् शत्रु का नाश करने में प्रजा की रक्षा का भाव मुख्य प्रयोजन होना चाहिये।

इन्द्रं व॒यम॑नुरा॒धं ह॑वाम॒हेनु॑ राध्यास्म द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा।
मा नः॒ सेना॒ अर॑रुषी॒रुप॑ गु॒र्विषू॑चीरिन्द्र द्रु॒हो वि ना॑शय ॥२॥

भा०—(वयम्) हम (अनुराधम्) आराधना करने योग्य, या कार्य सिद्ध करने हारे। (इन्द्रम्) इन्द्र की (हवामहे) स्तुति करते हैं। हम (द्विपदा) दो पाये, स्त्री, पुत्र भृत्य आदि और (चतुष्पदा) चार पाओं वाले पशुओं से (अनु राध्यास्म) सुखपूर्वक समृद्ध हों। (अररुषीः) अदान शील, कृपण, अनुदार (सेनाः) सेनाएं स्वामीसहित दलबद्ध श्रेणियां (नः) हम तक (मा उप गुः) न पहुंचे। हे (इन्द्र) राजन्! (विषूचीः) सब प्रकार की (द्रुहः) द्रोह करने वाली सेनाओं को (वि नाशय) विनाश कर। प्रजा अनुकूल राजा का आदर करे। जन, धन, पशुओं में समृद्ध हों। अनुदार सेनादल प्रजा का नाश न करे, द्रोहियों को राजा दण्ड दे।

इन्द्र॑स्त्रा॒तोत वृ॑त्र॒हा प॑र॒स्फानो॒ वरे॑ण्यः।
स र॑क्षि॒ता च॑रम॒तः स म॑ध्य॒तः स प॒श्चात् स पु॒रस्ता॑न्नो अस्तु ॥३॥

भा०—(वृत्रहा इन्द्रः) घेरने वाले मेघ को विनाश करने वाले सूर्य के समान घेरने वाले शत्रु का नाशक राजा (त्राता) प्रजा का रक्षक है (उत) और वही (परस्फानः) शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करने वाला, (वरेण्यः) सब के वरण करने योग्य, सर्व श्रेष्ठ, या उत्तम मार्ग में ले जाने वाला है। (सः) वही (चरमतः) अन्त में (मध्यतः) बीच में से, (पश्चात्), पीछे से (पुरस्तात्) आगे से भी (नः रक्षिता) हमारा रक्षक (अस्तु) हो।

२–(द्वि) 'परस्परं न' इति सायणाभिमतः। 'मदस्फानः' इति ह्विटनिकामितः। 'फस्फानो [मस्फानो ?] इति पैप्प० सं०। 'परस्फानो' इति क्वचित्।

उरु नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता ॥ ४॥

ऋ० ४ । ६७ । ८ ॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवान् राजन् ! तू (नः) हमें (उरुं लोकं नेषि) उस विशाल लोक या देश में लेजा (यत्) जहां (स्वः) सुखमय प्रकाशमय (ज्योतिः) ज्योति, सूर्य का प्रकाश और (अभयम्) अभय, भय रहित और (स्वस्ति) सुख, कल्याण हो। हे राजन् ! (स्थविरस्य) युद्ध में स्थिर रहने वाले (ते) तेरी (बाहू) सब विपत्तियों का बाध करने वाली बाहुओं को ही (बृहन्ता) बड़ी (शरणा) शत्रु के नाशक एवं शरण, आश्रयस्थान मानकर उनके आश्रय में (उप क्षयेम) सुख से रहें । राजा प्रजा को सुख, प्रकाश और कल्याणमय स्थिति और देश में रखे, प्रजा राजा के शत्रुनाशक बल की छाया में निर्भय होकर रहे ।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥५॥

भा०—(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वातावरण, (नः) हमें (अभयं करति) अभय प्रदान करे । (इमे उभे द्यावापृथिवी) ये दोनों द्यौ, आकाश और पृथिवी (अभयं करतः) अभय करें । (पश्चाद् अभयम्) पीछे से या पश्चिम से भय न रहे । (पुरस्तात्) आगे से या पूर्व से अभय हो । (उत्तरात् अधरात्) ऊपर से और नीचे से अथवा उत्तर और दक्षिण से (नः अभयम् अस्तु) हमें अभय हो। वायु मण्डल, जमीन, आसमान, पीछे, आगे, ऊपर, नीचे, सर्व ओर से हमें अभय रहे ।

४–(तृ०) 'उग्रा त' (च०) 'क्षयेम' (द्वि०) 'स्वर्ज्ज्यो' (इति ऋ०) 'स्वर्दृश्यो' इति पैप्प० सं० ।

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म॥२॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक, आकाश से (आदित्याः) आदित्य, १२ मास (मा रक्षन्तु) मेरी रक्षा करें। (भूम्याः) भूमि से (अग्नयः) अग्नि, अग्रणी नेता लोग (रक्षन्तु) रक्षा करें। (पुरस्तात्) आगे से (मा) मुझको (इन्द्राग्नी रक्षताम्) इन्द्र और अग्नि, वायु और आग, एवं राजा और सेनापति रक्षा करें। (अश्विनौ) दिन और रात दोनों, या सूर्य चन्द्र, या अश्व, अश्वारोही जन, (अभितः) इधर उधर से (शर्म-यच्छताम्) सुख प्रदान करें। (जातवेदाः) प्रज्ञावान् पुरुष (अघ्न्या न मारने योग्य (तिरश्चीन्=तिरश्चीः) तिर्यग् योनि के जन्तुओं की (रक्षतु) रक्षा करें। (भूतकृतः) प्राणियों के हितकारी जन अथवा भूत, पञ्चभूतों के नाना प्रकार के विकारों और विज्ञानों के आविष्कर्त्ता लोग (मे) मेरे (सर्वतः) सब ओर से (वर्म सन्तु) रक्षाकारी कवच के समान हों।

[१७] रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवताः। १-४ जगत्यः। ५, ७, १० अतिजगत्यः, ६ भुरिक्, ९, पञ्चपदा अति शक्वरी। दशर्चं सूक्तम्॥

अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्तात् तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥१॥

भा०—(अग्निः) अग्रणी, ज्ञानवान् (पुरस्तात्) आगे से या पूर्व की दिशा से (वसुभिः) वसुओं सहित (मा पातु) मेरी रक्षा करे। मैं (तस्मिन्) उसके बलपर या उसपर (क्रमे) आगे पग बढ़ाऊं या उसे वश करूं (तस्मिन् श्रये) मैं उसी में आश्रय लूं (तां) उसीको (पुरम्) अपनी पालक दुर्गनगरी समझकर (प्रैमि) उसको प्राप्त करूं। (स मा

रक्षतु) वह मेरी रक्षा करे। (स मा गोपायतु) वह मुझे बचाये रखे। (तस्मै) उसी के हाथों (आत्मानं परिददे) मैं अपने आपको सौंपता हूं। (सु-आहा) यही मेरी उत्तम आहुति है, या त्याग है।

इन दशों मन्त्रों में परमेश्वर से रक्षा की प्रार्थना है। राष्ट्र के पक्ष में भिन्न दिशा के भिन्न २ अधिकारियों या राजा के भिन्न २ गुणों द्वारा उनसे रक्षा की प्रार्थना है। या आधिभौतिक शक्तियों को वश करें, वह वास योग्य अन्नादि पदार्थों से हमारी रक्षा करें।

वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्यां दिशः पांतु तस्मिन् क्रमे०। ०॥२॥

भा०—(वायुः) सर्व व्यापक वायु, या वायु के समान तीव्र वेगवान् बलवान् पुरुष (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष या उसके समान सर्वाच्छादक पुरुष के बल से (एतस्या दिशः) इसी पूर्व दिशा से (पातु) मेरी रक्षा करे। (तस्मिन् क्रमे०) पूर्व कहे 'वायु' में मैं पैर जमाऊं, उसे वश करूं, (तस्मिन् श्रये) उसमें आश्रय पाऊं० इत्यादि पूर्ववत्।

सोमो मा रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पांतु०। ०॥३॥

भा०—(सोमः) सोम (रुद्रैः) रोदनकारी प्राणों, रुद्रों सहित (दक्षिणायाः दिशः पातु,) दक्षिण दिशा, से मेरी रक्षा करे। (तस्मिन् क्रमे०) इत्यादि पूर्ववत्।

वरुणो मादित्यैरेतस्यां दिशः पांतु०। ० ॥ ४ ॥

भा०—(वरुणः) वरुण, सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (मा) मुझे (आदित्यैः) आदित्य, १२ मासों द्वारा (एतस्याः) उसी दक्षिण दिशा से रक्षा करें। शेष पूर्ववत्।

सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्यां दिशः पांतु०। ०॥५॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य (मा) मुझे (प्रतीच्याः दिशः) प्रतीची, पश्चिम दिशा से (द्यावापृथिव्याम्) द्यौः और पृथिवी द्वारा (पातु) रक्षा करें। शेष पूर्ववत्।

आपो मौषधीमतीरेतस्यां दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि। ता मां रक्षन्तु ता मां गोपायन्तु ताभ्य आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—(ओषधीमतीः आपः) ओषधियों के रस से पूर्ण जल (एतस्याः दिशः पान्तु) उस प्रतीची दिशा से ही मेरी रक्षा करें। (तासु क्रमे०) उनके बलपर आगे बढ़ूं। इत्यादि पूर्ववत्।

विश्वकर्मा मा सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे०।०॥७

भा०—(विश्वकर्मा) विश्व का रचने वाला परमेश्वर (मा) मेरी (सप्तऋषिभिः) सात ऋषि, सात प्राणों द्वारा (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से (पातु) रक्षा करे। अथवा (विश्वकर्मा) शिल्पी जन सात ऋषियों, सात प्रकार के भिन्न ज्ञानवान शिल्पज्ञों से मेरी रक्षा करें। शेष पूर्ववत्।

इन्द्रो मा मरुत्वानेतस्यां दिशः पातु०। ॥८॥

भा०—(मरुत्वान् इन्द्रः) मरुत्, प्राणों से सम्पन्न इन्द्र, आत्मा (एतस्या दिशः) इसी उदीची दिशा से (मा पातु) मेरी रक्षा करे अथवा वायुओं से युक्त इन्द्र मेघ मेरी उत्तर से रक्षा करे। शेष पूर्ववत्।

प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवायां दिशः पातु०। ॥०६

भा०—(प्रजननवान्) प्रजाके उत्पन्न करने के सामर्थ्य से युक्त (प्रजापतिः) प्रजापति, परमेश्वर या प्रजा का पालक गृहस्थ (प्रतिष्ठायाः) जमकर या घर बसाकर बैठने अर्थात् प्रतिष्ठा देने वाली (ध्रुवाया दिशः) ध्रुवा, नीचे की आधार दिशा से (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत्।

बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिं छ्रये तां पुरं प्रैमि। स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का पालक, या बृहत्=महान् लोकों का पालक (विश्वैः देवैः) समस्त दिव्य पदार्थों द्वारा (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशाओं से (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत्।

ईश्वर पक्ष में—अग्नि, वायु, सोम, वरुण, सूर्य, आपः, विश्वकर्मा इन्द्र, प्रजापति, और बृहस्पति, ये दसों नाम ईश्वर के हैं, वह वसुओं वास योग्य पृथिव्यादि लोकों से, अन्तरिक्ष से, ११ रुद्र नाम प्राणों से, आदित्यनाम १२ मासों से, द्यौ, पृथिवी, औषधि, सप्त ऋषि मरुत्, प्राणों से मुक्त जीवकी रक्षा करें।

राजा पक्ष में—भिन्न २ विभाग की शक्ति प्राप्त करके राजा ही दश नामों को धारण करता है। अथवा उसीके अधीन सेनापति, आदि अधिकारी इन नामों से कहे जाने योग्य हैं। प्राची आदि दिशा, आगे पीछे दायें बायें, ऊपर नीचे के निदर्शक हैं। शैव आदि पाखण्ड धर्मों में भी एक ही देव के नाना गुणानुरूप नामों से नाना दिशाओं से रक्षा की प्रार्थना करने वाले कवच और स्तोत्र वेद के इस सूक्त का अनुकरण मात्र हैं।

[१८] रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवताः। १, ८ साम्न्यौ त्रिष्टुभौ, २, ६ साम्न्यनुष्टुभौ; ४, ५ सम्राड्=स्वराड्। ७, ९ १०, प्राजापत्यात्रिष्टुभः। दशर्चं सूक्तम्॥

अग्निं ते वसुवन्तमृच्छन्तु। ये माघायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात्॥

वायुं तेऽन्तरिक्षवन्तमृच्छन्तु। ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात्

भा०—(ये) जो (मा) मुझ पर (अघायवः) वध का प्रयोग करने वाले दस्यु लोग (प्राच्याः दिशः) प्राची, पूर्व की दिशा से (अभिदासात्) हिंसाकारी आघात करें (ते) वे (वसुवन्तम्) वसु अर्थात् नव युवक योद्धाओं सहित (अग्निम्) अग्रणी, सेनापति को (ऋच्छन्तु) पहुंचकर विनष्ट हो जावें।

---

[१८] १, २—'नभिदासात्' इति क्वचित्।

और (ये अधायव मा एतस्या दिशः अभिदासात्) उसी प्रकार जो मेरे द्रोही, आक्रामक लोग उसी दिशा से आवें (अन्तरिक्षवन्तम् वायुम्) अन्तरिक्ष सहित वायु को या अन्तरिक्षको वश करने वाले वायुके समान सेनापति को प्राप्त होकर (ऋच्छन्तु) नष्ट हो जांय।

सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु। ये माघायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात् ३
वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु। ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ४

भा०—(ये मा अघायवः दक्षिणायाः दिश अभिदासात्) जो मेरे द्रोही दक्षिण दिशा से, या दायें से आक्रमण करें (ते) वे (रुद्रवन्तं-सोमम् , रोदनकारी योद्धाओं के स्वामी सोम, उनके प्रेरक राजा को प्राप्त होकर (ऋच्छन्तु) विनाश को प्राप्त हों।

इसी प्रकार (ये मा अघायव इत्यादि) वे उसी दिशा के आक्रमक लोग (आदित्यवन्तम् वरुणम् , आदित्य के समान तेजस्वी, चमचमाते अग्निमय अस्त्रों के स्वामी, (वरुणं , शत्रुवारक, वरुण नाम सेनापति को प्राप्त होकर (ऋच्छन्तु) नष्ट हो जांय।

सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु।
ये माघायवः प्रतीच्या दिशोऽभिदासात् ॥५॥
अपन्त ओषधीमतीर्ऋच्छन्तु।
ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥६॥

भा०—(ये मा अघायवः प्रतीच्याः दिशः अभिदासात्) जो मेरे द्रोही, शुभ्रतर प्रतीची, पश्चिम दिशा से आक्रमण करें (ते) वे (द्यावापृथिवीवन्तम् सूर्यम्) आकाश और पृथिवी पर वश करने वाले सूर्य के समान, आकाश और पृथिवीके स्वामी तेजस्वी, 'सूर्य' नाम अधिकारी को ऋच्छन्तु) प्राप्त होकर नष्ट हो जांय। (ये मा अधाय० इत्यादि) और वे उसी

दिशा से आक्रमण करने वाले (ओषधिमतीः आपः प्राप्य ऋच्छन्तु) ओषधियों से समृद्ध जलों के समान सर्वरोग और कष्ट दूर करने में समर्थ पुरुषों को प्राप्त होकर नष्ट हो जांय।

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु।
ये माघायव उदीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ७ ॥
इन्द्रं ते मरुत्वन्तमृच्छन्तु।
ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ८ ॥

भा०—(ये अघायवः मा उदीच्याः दिशः अभिदासात् ते) जो द्रोही मेरे ऊपर उत्तर दिशा से आक्रमण करें वे (सप्तऋषिवन्तं विश्वकर्माणं ऋच्छन्तु) सात ऋषियों से युक्त विश्वकर्मा को प्राप्त होकर नष्ट हो जांय। (ये अघायवः मा एतस्याः दिशः अभिदासात्) जो द्रोही उसी दिशा से मुझ पर आक्रमण करते हैं (ते) वे (मरुत्वन्तम् इन्द्रम् ऋच्छन्तु) मरुतों या नाना वायु, शक्तियों या वायु के समान वेगवान् सैनिकों से सम्पन्न इन्द्र सेनापति को प्राप्त होकर नष्ट हों।

प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु।
ये माघायवो ध्रुवाया दिशोऽभिदासात् ॥ ९ ॥
बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु।
ये माघायव ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासात् ॥ १० ॥

भा०—(ये अघायवः मा ध्रुवायाः दिशः अभिदासात्) जो द्रोही लोग मुझपर नीचे की दिशा, पृथ्वी की ओरसे आक्रमण करें (ते) वे (प्रजननवन्तं प्रजापतिम् ऋच्छन्तु) सन्तानोत्पादन की शक्ति से युक्त प्रजा पालक गृहस्थ जन को प्राप्त होकर नाश हों। (अघायवः मा ऊर्ध्वायाः दिशः अभिदासात्) जो द्रोही लोग मुझपर ऊपर की दिशा से आक्रमण

करें वे (विश्वेदेववन्तम् बृहस्पतिम् ऋच्छन्तु) समस्त विद्वान् पुरुषों से युक्त बृहस्पति, वेदज्ञ विद्वान् के पास प्राप्त होकर नष्ट हों ।

इस सूक्तको विचारने से प्रतीत होता है कि विद्वानों की ओरसे होने वाला आक्रमण ऊर्ध्व दिशासे होनेवाला आक्रमण है । उसके निराकरण के लिये देववान् बृहस्पति उपयुक्त है । गृहस्थों की तरफ से होनेवाला आक्षेप या व्युत्क्रम, ध्रुवा दिशासे आक्रमण है उसको रोकने के लिये प्रजननवान् प्रजापति है ।ओषधिरसायन द्वारा आक्रमण पश्चिम दिशाका आक्रमण, है उसका प्रतीकार भी वही है । दूसरे अन्धकार में से होनेवाले आक्रमण भी प्रतीची या पीछे से होनेवाले आक्रमण के समान है उनका निराकरण सूर्य करे । शिल्पियों की ओर से उठा आक्रमण उत्तर दिशा से आक्रमण होने के समान है । व्यापारियों और सैनिकों की ओर से उठा द्रोह या आक्रमण दक्षिण दिशासे होने वाले आक्रमण के समान है क्योंकि वे राजा के दाहिने हाथ के समान शक्तिप्रद हैं । वैज्ञानिकों और धन अन्न आदि के स्वामियों की तरफ से उत्पन्न द्रोह पूर्व दिशा से होने वाले आक्रमण के समान है । क्योंकि सब से प्रथम वही कठिनाई है । परमेश्वर के विषय में इसे पूर्व सूक्त के समान जानो ।

[१९] रक्षा की प्रार्थना

अथर्वा ऋषिः चन्द्रमा उत मन्त्रोक्ता देवता १, ३, ९ भुरिग् बृहत्यः १० स्वराड् २, ४-८, ११, अनुष्टुब्गर्भा । शेषापंक्त्यः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विंशत तां प्र विंशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १ ॥

भा०—(मित्रः) प्रजा के साथ स्नेह करने वाला राजा (पृथिव्या) पृथिवी से, पृथिवी के ऊपर बसने वाली प्रजा, या पृथिवी के समान विस्तृत

[१९] १–मित्रोऽग्निरिति सायणः ।

साम्राज्य शक्ति ने (उद् अक्रामत्) ऊपर उठता है उच्च पद प्राप्त करता है । मैं (तान्) उसको (वः) तुम लोगों के लिये (पुरम्) पुर, पालक और रक्षक दुर्ग के समान (प्रणयामि) बनाता हूं । हे पुरुषो ! (ताम्) उसमें (आ विशत) आकर बसो । तां (प्र विशत) उसमें प्रवेश करो । और (सा) वह (वः) तुमको (शर्म) सुख और (वर्म च) दुःखों से बचने का साधन (यच्छतु) प्रदान करे ।

वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत् तां० । ० ॥ २ ॥ सूर्यो दिवोदक्रामत् तां० । ० ॥ ३ ॥ चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ४ ॥ सोम ओषधीभिरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ५ ॥ यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ६ ॥ समुद्रो नदीभिरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ७ ॥ ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ८ ॥ इन्द्रो वीर्येणोदक्रामत् तां० । ० ॥ ९ ॥ देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां० । ० ॥ १० ॥ प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ११ ॥

भा०—(२) (वायुः) व्यापन गुणवाला वायु (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष अर्थात् अन्तरिक्षस्थ मेघ, विद्युत् आदि शक्तियों से (उत् अक्रामत्) उच्च पद को प्राप्त है, उसको भी मैं तुम्हारे लिये पालक दुर्ग के समान बनाता हूं, उसमें आश्रित होकर रहो, उसमें प्रवेश करो, वह तुमको दुःख और विपत्तियों से बचने का कवच या साधन प्रदान करे । अन्तरिक्ष और वायु मण्डल प्रजाओं की आकाश से आने वाले नाना उत्पातों से रक्षा करता है । यदि यह न हो तो उल्काएं पृथ्वी के जीवों का नाश करदें । वायु मण्डल में भारी २ उल्काएं भी रगड़ से भुर भुराकर नष्ट हो जाती हैं ।

८-मम सांगो वेद इति सायनः ।

(३) सूर्य, द्यौलोक या तेजोमय सूक्ष्मतत्व से (उत् अक्रमत्) उच्च शक्ति को प्राप्त है। उसको भी हे जीव! तुम्हें एक दुर्ग के समान बनाता हूं। इत्यादि पूर्ववत्। (४) (चन्द्रमाः नक्षत्रैः उत्अक्रामत्) चन्द्रमा नक्षत्रों के संग से उत्तम पद को प्राप्त है। (तां वः पुरम् प्रणयामि) इत्यादि पूर्ववत्। (५) (सोमः ओषधीभिः उत् अक्रामत्) सोम लता ओषधियों के संग से उन्नत पद को प्राप्त है। हे प्रजाओं! (ताम् पुरम् वः प्रणयामि) इत्यादि पूर्ववत्। (६) (यज्ञः दक्षिणाभिः उद् अक्रामत्) यज्ञ दक्षिणाओं के संग से उन्नति को प्राप्त है। (ताम् पुरम्०) इत्यादि पूर्ववत्। (७) (समुद्रः नदीभिः उद् अक्रामत्) समुद्र नदियों के साथ उच्चगति को प्राप्त है। (ता पुरं वः०) इत्यादि पूर्ववत्। (८) (ब्रह्म ब्रह्मचारिभिः उद् अक्रामत्) ब्रह्म, वेद, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पुरुषों के योग से उन्नति को प्राप्त होता है (तां पुरम्०) इत्यादि पूर्ववत्। (९) (इन्द्रः वीर्येण उद् अक्रामत्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा वीर्य से उन्नत पद को प्राप्त है, (तां पुरं० इत्यादि) पूर्ववत्। (१०) (देवाः) देव, विद्वान जन (अमृतेन) अमृत, परमात्मा के ज्ञान या मोक्ष बल से उन्नति को प्राप्त होते हैं, (ताम्-पुरम्०) इत्यादि पूर्ववत्। (११) (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर या पिता गृहस्थ (प्रजाभिः) प्रजाओं, उत्कृष्ट सन्ततियों द्वारा (उद् अक्रामत्) उत्तम पद को प्राप्त होता है। (ताम् पुरं०) इत्यादि पूर्ववत्।

अर्थात्, अधीन, सहकारी पुरुषों के सहयोग से ही मुख्य पुरुष की उन्नति प्राप्त होती है इसलिये प्रजागण अपने मुख्य में मित्र का सा स्नेह, वायुका सा, व्यापक गुण, सूर्यका सा तेज, चन्द्रका सा मधुर प्रकाश, और आल्हादक गुण, सोमकासा उत्तेजक रस, यज्ञका सा संगठन, समुद्र की सी सर्वाश्रयता, वेदकासा ज्ञान, प्रजापति के समान उत्तम प्रजा आदि, उत्तम गुणों से युक्त पुरुषों के साथ रहकर स्वयं अन्तरिक्ष के समान अवकाश प्रदान, दिव, या आकाश के समान तेज, प्रसारक गुण, नक्षत्रों के समान

मधुर प्रकाश, ओषधियों के समान रोग नाशकता, नदियों के समान पति के सम्पत्ति की वृद्धि, ब्रह्मचारियों के समान तपस्या और ज्ञानप्रेम, वीर्य के समान पोषकता, अमृत के समान शान्तिप्रदता, प्रजाओं के समान स्नेह। तुर्वीत्तिता आदि गुणों को अपने में धारण करके अपनी उन्नति करें और अपने नेता पुरुष को अपने दुर्ग के समान समझकर उसके आधीन रहें और उसकी शक्ति बढ़ावें तभी वह अधीन प्रजाओं को सुख और शांति प्रदान करता और विपत्तियों से उनकी रक्षा करता है।

[२०] रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। नाना देवताः १. त्रिष्टुप्, २ जगती, ३. पुरस्ताद्बृहती, ४ अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

अप॒ न्य॑धुः॒ पौरु॑षेयं व॒धं यमि॑न्द्रा॒ग्नी धा॒ता स॑वि॒ता बृह॒स्पतिः॑।
सोमो॒ राजा॒ वरु॑णो अ॒श्विना॑ य॒मः पू॒षास्मान् परि॑ पातु मृ॒त्योः॥१॥

भा०—(यम्) जिस (पौरुषेयं) पुरुषों द्वारा किये जाने वाले (वधम्) मारने या घात प्रतिघातके साधन शस्त्र अस्त्रों को (अप नि अधुः) वे शत्रुगण दूर, गुप्त रूपमें ला रखते हैं उस (मृत्योः) मृत्यु प्राय घातक साधन से (इन्द्र-अग्नी) इन्द्र और अग्नि, विद्युत् और अग्नि, (धाता) पोषक वायु (सविता) सूर्य, (बृहस्पतिः) वाणीका स्वामी, ऋषि या वेदज्ञ, (सोमः) ओषधियों का स्वामी, सोम, (राजा) प्रजाका स्वामी राजा, (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, दुष्टों का वारक, (अश्विना) स्त्री पुरुष, या दिन और रात, (यमः) नियन्ता, या ब्रह्मचारी, (पूषा) सबका पोषक परमेश्वर या पृथिवि (अस्मान् परि पातु) हमारी रक्षा करें।

इन्द्र अग्नि आदि राष्ट्र के भिन्न २ पदाधिकारी भी हो सकते हैं। वे हमारी पुरुषकृत हत्या-साधनों से रक्षा करें।

यानि॑ च॒कार॒ भुव॑नस्य॒ यस्पति॑ः प्र॒जाप॑तिर्मात॒रिश्वा॑ प्र॒जाभ्य॑ः ।
प्र॒दिशो॒ यानि॑ वस॒ते दिश॑श्च॒ तानि॑ मे॒ वर्मा॑णि ब॒हुलानि॑ सन्तु ॥२॥

भा०—(भुवनस्य) समस्त भुवन, संसार का (यः) जो (पतिः) पालक (प्रजापतिः) प्रजा, उत्पन्न होने वाले प्राणियों का पालक, स्वामी (मातरिश्वा) सर्वनिर्मात्री प्रकृति के मूल परमाणुओं के भीतर भी व्यापक है, वह (यानि) जिन रक्षासाधनों को (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (चकार) बनाता है और (यानि) जो रक्षासाधन (प्रदिशः दिशः च) दिशाओं और उपदिशाओं तक को (वसते) आच्छादित कर रहे हैं (तानि) वे सभी (मे) मेरे लिये (बहुलानि) बहुत प्रकार के पदार्थ (वर्माणि) वर्म, कवच के समान मेरे जीवन के रक्षक (सन्तु) हों ।

यत् ते त॒नूष्वन॑ह्यन्त दे॒वा द्यु॒राज॑यो दे॒हिन॑ः ।
इन्द्रो॒ यच्च॒क्रे वर्म॒ तद॒स्मान् पा॑तु वि॒ष्वत॑ः ॥३॥

भा०—(यत् वर्म) जिस वर्म, रक्षाकारी साधन, कवच को (ते) वे (देवाः) दिव्य पदार्थ (द्युराजयः) प्रकाश और तेज से चमकने वाले (देहिनः) परमाणु पुञ्जों में उपचय प्राप्त करके स्थूल रूप में प्रकट होकर अपने (तनूषु) विस्तृत प्रकट स्वरूपों में (अनह्यन्त) धारण करते हैं और (यत्) जिसको (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर या आत्मा स्वयं (चक्रे) बनाता है (तत्) वह (अस्मान् विश्वतः पातु) हमें सब ओर से रक्षा करे अर्थात् दिव्य पदार्थ अग्नि जल आदि स्थूल पदार्थ भी अपनी सत्ता को स्थिर रखने के लिये जिन शक्तियों का प्रयोग करते हैं और ईश्वर या आत्मा जो बल या रक्षासाधन स्वयं बनाता है वह हमें बचावें ।

[२०] ३-(द्वि:) 'देवा आधिराज्याय योधिनः' इति ह्विटनिकामितः । 'देवाधिरी ज्योयोभेहि नः' इति कश्चित् । देव अधिराज यः येहिनः । इति क्वचित् पदपाठः । (च०) 'पातु सर्वतः' इति क्वचित् पदपाठः ।

अथवा—(द्युराजयः) प्रकाशमय ज्ञान से चमकने वाले (देहिनः) शरीरधारी (देवाः) विद्वान और योद्धा लोग पुरुष (यत् वर्म) जिस कवच को (तनूषु) शरीरों में धारण करते हैं वे कवच और (इन्द्रः, राजा (यत्) जिस (वर्म , वर्म रक्षा के साधन दुर्ग आदि को (चक्रे , बनवाता है (तत् अस्मान् विश्वतः पातु) वह हमारी सब ओर से रक्षा करे ।

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म मे विश्वे देवाः क्रन् मा मा प्रापत् प्रतीचिका ॥४॥

भा०—(द्यावा पृथिवी) आकाश और पृथिवी दोनों (मे वर्म) मेरे लिये रक्षाकारी कवच हों, (अहः) दिन (सूर्यः) सूर्य, और (विश्वेदेवाः) समस्त दिव्य पदार्थ या देव विद्वान् जन सभी (ये वर्म ३) मेरे रक्षाकारी कवच (क्रन) बनावें । जिससे (प्रतीचिका) मेरे विरुद्ध उठने वाली शत्रु सेना (या) गुप्तचक (मा प्रापत्) न पहुंच सके ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादशसूक्तानि द्वात्रिंशतिश्चर्चः]

[२१] छन्दों का वर्णन

ब्रह्मा ऋषिः । छन्दो देवता । एकावसाना द्विपदा बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै

भा०—(गायत्री,) गायत्री छन्द, (उष्णिग्) उष्णिग् छन्द, (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् छन्द, (बृहती) बृहती छन्द (पंक्तिः) पंक्ति छन्द (त्रिष्टुप्

४-(च०) 'योमा' इति क्वचित् । (तृ० च०) वर्म मे ब्रह्मणस्पतिर्मानाप्रा प्रतो भयन् इत्याप० ।

[२१] १-'गायत्र्युष्णिग-' इति क्वचित् । त्रिष्टुप् जगत्ये, त्यौ, ०त्ये इति नानापाठाः ।

जगत्यौ) त्रिष्टुप् छन्द और जगती छन्द । इन समस्त छन्दों का ज्ञान विद्वानों को करना चाहिये । ये क्रम से २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४, ४८ अक्षरों की संख्या से हैं । इनके अनुसार ही ब्रह्म अर्थात् वेद के स्वाध्याय के लिये मनुष्य अपने जीवन में २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४ और ४८ वर्षों का ब्रह्मचर्य धारण करें । इसके अतिरिक्त मानव शक्ति की वृद्धि के लिये गायत्री=पृथिवी, ब्राह्मण, प्राण, शिर, अग्नि, प्राची, वसुओं की पालक शक्ति । उष्णिक्=आयु, चक्षु, पशु, यजमान, नासिका या ग्रीवा । अनुष्टुप्=मित्र की पालक शक्ति, वाणी, ज्येष्ठता, पादभाग, गोड़े, प्रजापति राजन्य, अश्व, आपः, सत्यानृत । बृहती=पशु, स्वाराज्य, श्री, अन्तरिक्ष, वाणी, मन, प्राण, व्यान, आत्मा, द्यौः । पंक्तिः=विष्णु की पालक शक्ति, पक्ष, अन्न, अक्षि, ४४, पुरुष, पशु, यज्ञ, श्रोत्र । त्रिष्टुप्=वज्र, इन्द्र, वीर्य, ओजः, इन्द्रिय, उरस्, राजन्य, क्षेत्र, वायु, अन्तरिक्ष, पशु, अपान, आत्मा । जगती=पृथवी, सिनीवाली, पशु, ओषधि, अश्व, वैश्य, आदित्यों की पालक शक्ति, श्रोणिभाग, वर्षाऋतु, सत्य, अनूकभाग, अवाङ् प्राण, मध्यभाग, श्रोत्र, यश ।। अर्थात् आध्यात्म, में सप्तप्राण, आधियाज्ञिक में सप्त सोम याग, देह में सप्तधातु, राज्य में सप्त प्रकृति और त्रिभुवन में ५ सूक्ष्म भूत और महत् और अहंकार तत्व इत्यादि सातों छन्दों की योजना यथोचित रीति से जाननी चाहिये ।

[२२] अथर्व सूक्तों का संग्रह

अंगिरा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवताः । १ साम्न्युष्णिक् ३, १९ प्राजापत्या गायत्री । ४, ७, ११, १७, दैव्यो जगत्यः । ५, १२, १३ दैव्यस्त्रिष्टुभः, २, ६, १४, १६, २०, दैव्यः पंक्तयः । ८-१० आसुर्यो जगत्यः । १८ आसुर्यो अनुष्टुभः, (१०-२० एकावसानाः) २ चतुष्पदा त्रिष्टुभः । एकविंशत्यृचं समासमूक्तम् ॥

आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥१॥

भा०—(आङ्गिरसानाम्) आंगिरस वेद में कहे अनुवाकों में से (आद्यैः) आदि के (पञ्चानुवाकैः) पांच अनुवाकों से (स्वाहा) उत्तम ज्ञान प्राप्त करो।

षुष्ठाय स्वाहा॑ ॥ २ ॥ सुप्तमाष्टमाभ्यां॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भा०—(षष्ठाय स्वाहा) छठे अनुवाक से उत्तम शिक्षा ग्रहण करो। (सप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहा) सातवें और आठवें अनुवाकों से उत्तम ज्ञान प्राप्त करो।

नी॒लन॒खेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भा०—(नीलनखेभ्यः स्वाहा) 'नीलनख' नामक उन सूक्तों से उत्तम ज्ञान प्राप्त करो जिनमें शस्त्रास्त्रों द्वारा दुष्ट पुरुषों के दमन करने का उपदेश किया गया है।

ह॒रि॒तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

भा०—(हरितेभ्यः स्वाहा) हरितसूक्त जिनमें औषधि लता, वनस्पतियों का वर्णन है उनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करो।

क्षु॒द्रेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

भा०—(क्षुद्रेभ्यः स्वाहा) क्षुद्र नामक सूक्त जिनमें अति सूक्ष्म ब्रह्म का विवेचन किया है जैसे स्कम्भ सूक्त आदि, उनसे भी तुम उत्तम सुख जनक ज्ञान का लाभ करो।

प॒र्या॒यि॒केभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

भा०—(पर्यायिकेभ्यः स्वाहा) पर्याय सूक्तों से भी उत्तम ज्ञान करो।

प्र॒थ॒मेभ्यः॑ श॒ङ्खेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥ द्वि॒ती॒येभ्यः॑ श॒ङ्खेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ९ ॥ तृ॒ती॒येभ्यः॑ श॒ङ्खेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ १० ॥

भा०—(प्रथमेभ्यः, द्वितीयेभ्यः तृतीयेभ्यः शंखेभ्यः ३ स्वाहा ३) प्रथम, द्वितीय और तृतीय शंख सूक्तों का भी उत्तम ज्ञान प्राप्त करो। शंख सूक्त 'शंनोदेवी' आदि शान्तिगण में पठित सूक्त समझने चाहियें। वे तीन काण्डों में पृथक् वर्णित होने से प्रथम, द्वितीय, तृतीय नाम से कहे गये हैं।

उपोत्तमेभ्यः स्वाहा ॥११॥ उत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ १२ ॥
उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥

भा०—(उपोत्तमेभ्यः उत्तमेभ्यः उत्तरेभ्यः स्वाहा ३) उत्तमों के समीप उपोत्तम, उत्तम और उत्तर इन तीन प्रकार के सूक्तों का भी ज्ञान करना चाहिये, मोक्ष विषयक सूक्त उत्तम, साधना विषयक सूक्त उपोत्तम, और कर्मकाण्ड विषयक या यज्ञ विषयक सूक्त उत्तर प्रतीत होते हैं।

ऋषिभ्यः स्वाहा ॥१४॥ शिखिभ्यः स्वाहा ॥१५॥

भा०—(ऋषिभ्यः स्वाहा) वेदमन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के उत्तम ज्ञान को प्राप्त करो। (शिखिभ्यः स्वाहा) ब्रह्मज्ञान के प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारियों से प्राप्त ज्ञान को प्राप्त करो।

गणेभ्यः स्वाहा ॥१६॥ महागणेभ्यः स्वाहा ॥१७॥
सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥१८॥
पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा ॥१९॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥२०॥

भा०—(गणेभ्यः स्वाहा) गणों में पढ़े गये सलिल, शान्ति सूक्त आदि का उत्तम रीति से ज्ञान प्राप्त करो। (महागणेभ्यः स्वाहा) महागण, बड़े गणों में पढ़े गये पृथ्वीसूक्त आदि का भी उत्तम रीति से ज्ञान करो। (सर्वेभ्यः अंगिरोभ्यः विदगणेभ्यः स्वाहा) समस्त आंगिरसवेद के जानने हारे विद्वान् पुरुषों द्वारा देखे गये ज्ञानसूक्तों को भी उत्तम रीति से

१५–'शिपिभ्यः' इति क्वचित्।

मनन करो । 'पृथक् सूक्त' अर्थात् १८वां काण्ड और 'सहस्र सूक्त' अर्थात् पुरुष सूक्त इनका भी ज्ञान उत्तम रीति से प्राप्त करो । (ब्रह्मणे स्वाहा) समस्त ब्रह्मविषयक सूक्तों का स्वाध्याय करो ।

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान ।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥२१॥

भा०—(ब्रह्मज्येष्ठा) जिन समस्त वीर्यों या बलों में ब्रह्म ही सब से अधिक प्रबल और उत्कृष्ट बल है वे (वीर्याणि) समस्त वीर्य, बल से साधने योग्य कार्य (संभृता) उत्तम रीति से धारण करने चाहियें । (ज्येष्ठम्) उस सर्व से उत्तम (ब्रह्म) ब्रह्म, उस महान् ब्रह्म शक्ति ने ही (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ में (दिवम्) द्यौ, आकाश को या सूर्य को (आततान) विस्तृत किया था, रचा था ।

अथवा (ब्रह्म=ब्रह्मणि, ज्येष्ठानि वीर्याणि संभृतानि) ब्रह्म में ही समस्त वीर्य=बल एकत्र विद्यमान हैं । ब्रह्म ने ही (दिवम्) तेजोमय नक्षत्रों से युक्त आकाश या द्यौलोक अर्थात् तेजोमय सूर्यों से पूर्ण संसार और संसार के समस्त सूर्यों और नक्षत्रों को रचा । (भूतानां) समस्त उत्पन्न होने वाले प्राणियों और भुवनों में से (ब्रह्मा प्रथम उत) ब्रह्मा, वेदज्ञान या ब्रह्मज्ञान से युक्त पुरुष ही (जज्ञे) उत्पन्न हुआ । अर्थात् प्रथम आदि में जो लोग उत्पन्न हुए सबसे प्रथम ब्रह्मज्ञानी ऋषि-गण ही हुए । (तेन) उससे (ब्रह्मणा) उस महान् ब्रह्म से (कः स्पर्धितुम् अर्हति) कौन मुकाबला कर सकता है । उसकी बराबरी कौन कर सकता है ।

२१-(तृ०) 'प्रथमा उत इति पदपाठः क्वचित् । 'प्रथमोह' इति ह्विट्निकामितः । 'प्रथमोऽप' इति क्वचित् । ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि... (तृ०) भूतस्य ब्रह्म प्रथमोत जज्ञे इति पैप्प० सं० ।

[२३] अथर्व वेद के सूक्तों का संग्रह

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः उत चन्द्रमा देवता । १ आसुरी बृहती । २-७, २०, २३, २७ दैव्यस्त्रिष्टुभः । ८, १०, १२, १४, १६ प्राजापत्या गायत्र्यः । १७, १९, २१, २४, २५, २९ दैव्यः पंक्तयः, । १३, १८, २२, २६, २८ दैव्यो जगत्यः (१-२९ एकावसानाः) । त्रिंशदृचं द्वितीयं समासमूक्तम् ।

आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥१॥ पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा ॥२॥ षडृचेभ्यः स्वाहा ॥३॥ सप्तर्चेभ्यः स्वाहा ॥४॥ अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥५॥ नवर्चेभ्यः स्वाहा ॥६॥ दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥७॥ एकादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥८॥ द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥९॥ त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१०॥ चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥११॥ पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१२॥ षोडशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१३॥ सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१४॥ अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१५॥ एकोनविंशतिः स्वाहा ॥१६॥ विंशतिः स्वाहा ॥१७॥ महत्काण्डाय स्वाहा ॥१८॥ तृचेभ्यः स्वाहा ॥१९॥ एकर्चेभ्यः स्वाहा ॥२०॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥२१॥ एकानृचेभ्यः स्वाहा ॥२२॥ रोहितेभ्यः स्वाहा ॥२३॥ सूर्याभ्यां स्वाहा ॥२४॥ व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥२५॥ प्राजापत्याभ्यां स्वाहा ॥२६॥ विषासह्यै स्वाहा ॥२७॥ मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा ॥२८॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥२९॥

भा०—(आथर्वणानाम्) अथर्ववेद में आये सूक्तों में से (चतुर्ऋचेभ्यः) चार २ ऋचा के बने सूक्तों का स्वयं मनन करो । (पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा० इत्यादि २–१७ ।) इसी प्रकार ५, ६. ७, ८, ९, १०, ११, १२

२८–'मांगलिकेभ्यः स्वाहा' इति क्वचित् ।

१३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, और २० ऋचा वाले सूक्तों का भी ज्ञान करो। इसके अतिरिक्त (महत् काण्डाय स्वाहा) बड़े काण्ड का स्वाध्याय करो। (एकर्चेभ्यः स्वाहा) एक ऋचा के सूक्तों का भी स्वाध्याय करो। (क्षुद्रेभ्यः) क्षुद्र सूक्त [का० १० १०] अर्थात् स्कम्भ आदि सूक्तों का भी ज्ञान करो। (एकानृचेभ्यः) एक चरण के मन्त्र जो 'अनृच' अर्थात् पूर्ण ऋचा नहीं और जिनमें पाद की व्यवस्था नहीं है जैसे व्रात्य सूक्त उनका भी स्वाध्याय करो। (रोहितेभ्यः स्वाहा) रोहित देवता विषयक सूक्तों [१३ का०] का स्वाध्याय करो (सूर्याऽभ्यः स्वाहा) 'सूर्य' देवता के दो अनुवाकों [का० १४] का स्वाध्याय करो। (व्रात्याभ्यां स्वाहा) व्रात्य विषयक [का० १५] दो सूक्तों का स्वाध्याय करो । (प्राजापत्याभ्यां स्वाहा) प्रजापतिविषयक [का० १६] दो अनुवाकों का स्वाध्याय करो। (विषासह्यै स्वाहा) विषासहि सूक्त [१७ का०] का स्वाध्याय करो। (मंगलिकेभ्यः स्वाहा) मंगलिक, स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ [१९ का०] का भी स्वाध्याय करो। (ब्रह्मणे स्वाहा) शेष ब्रह्मवेद [२० का०] का भी स्वाध्याय करो।

ये दोनों समास सूक्त कहाते हैं। इनमें समस्त अथर्ववेद को संक्षिप्त करके उनके स्वाध्याय करने का उपदेश किया है। ज्ञान सूक्तों की आहुति स्वाध्यायमय ज्ञान यज्ञ है इसलिये 'स्वाहा' शब्द का सर्वत्र 'अध्ययन करो' ऐसा ही अर्थ किया गया है।

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥२०॥

भा०—व्याख्या देखो इसी सूक्त के मन्त्र २१ में।

[२४] राजा के सहायक रक्षक और विशेष वस्त्र ।

येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन ॥१॥

भा०—(येन) जिस प्रयोजन से (सवितारम्) सर्व प्रेरक (देवम्) विजिगीषु राजा को (देवाः) युद्धविजयी अन्य राजा लोग (परि अधारयन्) चारों ओर से रक्षा करते, उसे घेरे रहते हैं (तेन) उसी प्रयोजन या उद्देश्य से (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्म, वेद के पालक स्वामी, वेदज्ञ विद्वान् जन आप लोग भी (राष्ट्राय) राष्ट्र की रक्षा के लिये (परि धत्तन) उसकी रक्षा करो और उसके चारों ओर विराजो । प्रेरक अग्रणी नेता की बल वृद्धि के लिये योद्धाओं के समान वेदज्ञ विद्वान् भी राजा की रक्षा करें और उस का साथ दें । अथवा—(येन) जिस वस्त्र या पोशाक से विजयी योद्धागण अपने अग्रणी को (परि अधारयन्) सुशोभित करते हैं (तेन) उसी से हे (ब्रह्मणस्पते) वेदज्ञ विद्वान् तथा अन्य विद्वद्गण आप लोग मिलकर भी (राष्ट्राय) राष्ट्र के लिये (इमं) इस राजा को (परिधत्तन) आच्छादित करो ।

परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन ।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् क्षत्रेऽधि जागरत् ॥२॥

भा०—(इमम् इन्द्रम्) इस राजोचित गुणैश्वर्य से सम्पन्न राजा को (आयुषे) दीर्घ आयु प्राप्त कराने और (महे क्षत्राय) बड़े भारी क्षात्र-बल को प्राप्त कराने के लिये हे विद्वान् पुरुषो ! (परिधत्तन) सब प्रकार से पुष्ट करो (यथा) जिससे (एनम्) इसको हम (जरसे) वार्धक्य काल तक (नयान्) प्राप्त करा सकें । और वह (क्षत्रे अधि) राष्ट्र को क्षति से त्राण करने वाले बल के ऊपर (ज्योक्) चिरकाल तक (अधिजागरत्) जागृत सावधान होकर रहे ।

परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन ।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् श्रोत्रेऽधि जागरत् ॥३॥

भा०—हे विद्वानों और राज्य के प्रधान पुरुषो ! (इमम् सोमम्) इस सौम्य गुण और स्वभाव वाले राष्ट्र के संचालक न्यायाधीश को (आयुषे) राष्ट्र को दीर्घ आयु प्राप्त कराने और (श्रोत्राय) प्रजा के कष्टों के श्रवण करने के लिये (परिधत्तन) रक्खो, नियत करो या परिपुष्ट करो या तदुचित आसन वेष भूषा से युक्त करो, (यथा) जिससे (एनं) इसको (जरसे) बुढ़ापे तक के लिये (नयान्) प्राप्त करावें और (ज्योक्) चिरकाल तक वह (श्रोत्रे) राष्ट्र की आवश्यकताओं, त्रुटियों और प्रजा के कष्टों के श्रवण के कार्य पर (अधि जागरत्) सदा जागृत, सचेत रहे ।

परि॑ धत्त धत्त नो॒ वर्च॑सेमं ज॒रामृ॑त्युं कृणुत दी॒र्घमायुः॑ ।
बृह॒स्पतिः॒ प्राय॑च्छ॒द् वास॑ ए॒तत् सोमा॑य॒ राज्ञे॒ परि॑धात॒वा उ॑ ॥४॥

भा०—हे राष्ट्र के नेता पुरुषो ! (परिधत्त) आप लोग राष्ट्र की रक्षा करें । और (इमम्) इस राजा को भी (नः वर्चसे) हमारे ही तेज और बल, प्रभाव और आतङ्क के लिये (परिधत्त) इसको पुष्ट करो । और इसकी (आयुः) आयु को (जरामृत्युम्) बुढ़ापे के अन्त में मृत्यु प्राप्त कराने वाली और (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुत) बनाओ । (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक, विद्वान् पुरुष (एतत्) ऐसा प्रजा का बलरूप आच्छादन, रक्षा साधन (वासः) वस्त्र, (सोमाय राज्ञे) राजा सोम को (परिधातवा उ) धारण करने के लिये (प्रायच्छद्) प्रदान करता है जिससे वे सुरक्षित रह कर अपना कर्त्तव्य पूर्ण रीति से निभा सकें ।

राजाओं का लम्बा लटकता चोगा या गाउन दीर्घ आयु और विशाल प्रजाबल को धारण करने वाले राजा के विशेष सामर्थ्य को सूचित करने के लिये होता है यह अभिप्राय इस मन्त्र के भावार्थ से स्पष्ट है ।

ज॒रां सु ग॑च्छ॒ परि॑ धत्स्व॒ वासो॒ भवा॑ गृ॒ष्टीना॑मभिशस्ति॒पा उ॑ ।
श॒तं च॒ जीव॑ श॒रदः॑ पुरू॒ची रा॒यश्च॒ पोष॑मुप॒ सं व्य॑यस्व ॥५॥

भा०—हे राजन् ! तू (जरां) बुढ़ापे तक (सु) भली प्रकार, सुख से (गच्छ) पहुंच। (वासः) वस्त्र (परिधत्स्व) धारण कर और (गृष्टीनाम्=कृष्टीनाम्) समस्त प्रजा के पुरुषों की (अभिशस्तिपा उ भव) चारों ओर से होने वाले हिंसाकारी आक्रमणों या दुष्ट अपवादों से भी रक्षा करने में समर्थ हो। (शतम् शरदः जीव) तू सौ बरस तक प्राण धारण कर। (पुरूचीः) बहुत से सुखों से पूर्ण (रायः च) धन की (पोषम्) पुष्टि, समृद्धि को (उप सं व्ययस्व) अपने ऊपर धारण कर। अर्थात्-राजा के ऊपर प्रजा के विशाल, लम्बे चौड़े शरीर को बचाने का जो विस्तृत, विशाल कार्य है उसको सदा स्मरण दिलाने के लिये राजा को विशेष, असाधारण लम्बा चौड़ा वस्त्र पहनाया जाता है। इसी कारण उसको नाना प्रकार के धन, कोश समृद्धि रखने का भी वेद में आदेश है। यह मन्त्र की ध्वनि है।

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चारुर्वि भजासि जीवन् ॥६॥

भा०—हे राजन्! (इदम् वासः) तू इस वस्त्र को (परि अधिथाः) धारण कर और (वापीनाम्) अपने बीज वपन द्वारा खेतियों को बोने वाले कृषक प्रजाओं या (वापीनाम्) अपने बीजवपन द्वारा सन्तानों को उत्पन्न करने वाली प्रजाओं के (अभि-शस्तिपाः उ) ऊपर चारों ओर से होने वाले हिंसामय चोर डाकुओं के आघातों से रक्षा करने वाला होकर ही तू उनके (स्वस्तये) सुख कल्याण के लिये (अभूः) हो। और (पुरूचीः) पुरु-नाना अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले अनेक भोग्य पदार्थों से परिपूर्ण (शरदः शतम्) सौ बरसों तक (जीव) प्राण धारण कर। और (जीवन्) अपने जीते हुए ही तू (चारुः) पृथ्वी के उत्तम जीवन सुखों को यथावत् भोगता हुआ भी (वसूनि) प्रजा के जीवन और आवास के उपयोगी नाना धन सम्पत्तियों को (वि भजासि) विविध रूपों में बांटा कर।

योगेयोगे तुवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥७॥

भा०—हे (सखायः) मित्र जनो ! (योगे योगे) प्रत्येक नवीन पदार्थ के प्राप्त कर लेने के अवसर पर और (वाजे वाजे) बल के प्रत्येक कार्य या संग्राम में हम (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (तवस्तरम्) अति बलवान्, आक्रामक से अधिक शक्तिशाली (इन्द्रम्) राजा को (हवामहे) शरण के लिये बुलावें ।

अध्यात्म में—प्रत्येक योगाभ्यास काल में और प्रत्येक ज्ञान कार्य में हम परमेश्वर को स्मरण करें ।

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व ।
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ॥८॥

भा०—(हिरण्यवर्णः) हित और रमणीय वर्ण वाला, सुन्दर, कान्तिमान् अथवा हिरण्य=सुवर्ण के समान तेजस्वी अथवा सुवर्ण, ऐश्वर्य का सदा वरण करने वाले या सुवर्ण के समान सभी के द्वारा वरण करने योग्य श्रेष्ठ, (अजरः) जरा रहित, (सुवीरः) उत्तम वीर्यवान् या उत्तम वीर पुत्रों से युक्त या उत्तम वीर भटों से युक्त और स्वयं उत्तम वीर और (जरामृत्युः) बुढ़ापे के अनन्तर ही मृत्यु अर्थात् शरीर को त्याग करने वाला, अकाल मृत्यु से रहित होकर (प्रजया) प्रजा के साथ (सं विशस्व) पृथ्वी पर बस, नगर बसा कर रह । (अग्निः) ज्ञानी, परमेश्वर अथवा ज्ञानवान् पुरुषों का (तत्) यही (आह) उपदेश है । (सोमः तत् आह) सबके प्रेरक, शम दम आदि सम्पन्न योगिजन का यही आदेश है । (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक विद्वान् अथवा बृहती पृथ्वी के स्वामी महाराज (सविता) सबके प्रेरक और उत्पादक और (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा या परमेश्वर भी (तत् आह) उसी बात का उपदेश या आज्ञा करता है ।

[२५] अश्व या वेगवान् यन्त्र या मृत्यु का वर्णन ॥

गोपथ ऋषिः । वाजी देवता । अनुष्टुप् । एकर्चम् ॥

अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मि प्रथमस्य च ।
उत्कूलमुद्वहो भवोदुह्य प्रति धावतात् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझे मैं (अश्रान्तस्य) अनथक और (प्रथमस्य च) सबसे श्रेष्ठ पुरुष के लिये (मनसा) मनन, ज्ञानपूर्वक (त्वा युनज्मि) तुझे गाड़ी में घोड़े की तरह नियुक्त करता हूं। (उत्कूलम्) अपने करारों को भी लांघकर नदी जिस प्रकार वेग से उनपर उमड़ आती है उसी प्रकार तू कार्य को (उद् वहः भव) वेग से पहुंचाने वाला हो। और (उद् उह्य) स्वामी के कार्य को या स्वामी को ही अपने ऊपर लेकर (प्रति धावतात्) उसी स्थान की तरफ़ वेग से चल पड़। वेगवान अश्व या अग्नि, विद्युत् आदि यन्त्रमय रथ के पक्ष में भी-हे वेगवान् यन्त्र ! तू अनथक, सर्वश्रेष्ठ है इस विचार से तुझे मैं लगाता हूं तू उमड़ती नदी के समान भार को उठाकर चल और उसे उठाकर शीघ्र दौड़।

[२६] वीर्यरक्षा और आत्मज्ञान ॥

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्हिरण्यं च देवते । १, २ त्रिष्टुभौ । ३ अनुष्टुप् । ४ पथ्या पङ्क्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अग्नेः प्रजा॑तं॒ परि॒ यद्धिर॑ण्यम॒मृतं॑ द॒ध्रे अधि॒ मर्त्ये॑षु ।
य ए॑न॒द् वेद॒ स इदे॑नमर्हति ज॒राम॑त्युर्भवति॒ यो बि॒भर्ति॑ ॥१॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (हिरण्यम्) हित और रमणीय, स्वाभाविक तेज या बल (अग्नेः परि) अग्नि या नेता पुरुष से (प्रजातम्) अति उत्तम रूप में प्रकट होता है उसी प्रकार का (मर्त्येषु अधि) मरणशील प्राणियों में या प्राणियों के देहों में भी (अमृतम्) अमृत,

वीर्य या आत्मा के रूप में अविनाशी (दध्रे) धारण किया जाता है। (यः) जो पुरुष (एनद् वेद) इसको साक्षात् जान लेता है (स इत्) वह ही (एनम् अर्हति) इसको प्राप्त करने और धारण करने योग्य है और (यः) जो इस अमर आत्मा की शक्ति को स्वयं (बिभर्ति) धारण कर लेता है वही (जरामृत्युः) बुढ़ापा भोगकर शरीर को छोड़ने वाला चिरायु (भवति) होता है।

यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे।
तत् त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजात्यायुष्मान् भवति यो बिभर्ति ॥२॥

भा०—हे आत्मन् ! (यत्) जो या जिस प्रकार के (हिरण्यम्) सब प्रकार से रमणीय, मनोहर, हितकारी और सुन्दर दुःखनाशक बल (सूर्येण) सूर्य के समान (सुवर्णम्) उत्तम वर्ण और कान्ति को धारण करने वाले, उत्तम रीति से वरण करने योग्य, बल या आत्मा की ज्योति को (पूर्वे) पूर्व के, उत्तम श्रेणी के (प्रजावन्तः) प्रजाओं वाले (मनवः) मनुष्य प्रजाओं के स्वामी राजा लोग (ईषिरे) चाहते हैं (तत्) उसी प्रकार के (चन्द्रम्) आल्हादजनक, सुवर्ण के समान मनोहर (त्वा) तुझ आत्मा को (यः बिभर्त्ति) जो धारण करता है वह (वर्चसा) तेज से (संसृजाति) युक्त हो जाता है और (आयुष्मान् भवति) दीर्घायु हो जाता है। सुवर्ण के पक्ष में स्पष्ट है।

आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥३॥

भा०—हे पुरुष ! (आयुषे) आयु, (वर्चसे) तेज, (ओजसे) ओज, (च) और (बलाय च) बलके लिये (त्वा २) तुझे वह परम आत्मा रूप सुवर्ण प्राप्त है (यथा) जिसके कारण तू (जनान् अनु) जनों के

प्रति (हिरण्य-तेजसा) सुवर्ण के तेज से, क्षात्र तेज से या आत्मा के वास्तविक प्रकाश से (विभासासि) विशेष रूप से चमकने में समर्थ है। तू उस सुवर्ण की साधना कर और तेजस्वी बन।

यद् वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत् त आयुष्यं/भुवत् तत् ते वर्चस्यं/भुवत्॥४॥

भा०—(यत्) जिसको (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ (राजा) राजा (वेद) स्वयं साक्षात् करता या लाभ करता है। और जिसको (बृहस्पतिः) बड़े २ लोकों का पालक (देवः) विद्वान्, देदीप्यमान पुरुष (वेद) प्राप्त करता है और (यत्) जिसको (वृत्रहा) वृत्र, मेघ का नाशक (इन्द्र) तेजस्वी सूर्य और उसी प्रकार नगररोधी शत्रुका नाशक ऐश्वर्यवान् राजा (वेद) प्राप्त करता है (तत्) वह आत्मरूप सुवर्ण (ते) तेरे लिये (आयुष्यम्) दीर्घ आयुप्रद (भुवत्) हो और (तत्) वही (ते वर्चस्यं भुवत्) तुझे तेजस्वी बनाने वाला (भुवत्) हो।

हिरण्यम्—प्रजापतेः एतस्यां रम्यायां तन्वां देवाः अरमन्त । तस्माद् हिरम्यं । हिरम्यं ह वै तत् हिरण्यमित्याचक्षते । श० ७ । ४ । १ । १६ ॥ अग्निर्ह वा आपोऽभिदध्यौ मिथुनी आभिः स्याम् । इति ताः सम्बभूव । तासु-रेतः प्रासिञ्चत् । तत् हिरण्यमभवत् । श० २ । १ । १ । ५ ॥ अग्नेर्वा एतद् रेतो यत् हिरण्यं नाष्ट्राणां रक्षसामपहत्यै । श० १४ । १ । ३ । २६ ॥ क्षत्रस्यैतद् रूपं यत् हिरण्यम् । श० १३ । २ । २ । १७ ॥ आयुर्हिरण्यम् ॥ श० ४ । ३ । ४ । २४ ॥ अमृतं हिरण्यम् ॥ श० ६ । ४ । ४ । ५ ॥ प्राणो वै हिरण्यम् । श० ७ । ५ । २ । ८ ॥ शुक्रं हिरण्यम् । ऐ० ७ । १२ ॥ यशो हिरण्यम् । ऐ० ७ । १८ ॥ सत्यं हिरण्यम् । गो० उ० ३ । १७ ॥ अर्थात्—शरीर में जिस बल पर समस्त इन्द्रिय गण और ब्रह्माण्ड में जिस बल पर समस्त पञ्चभूत और १२ मास, ऋतु आदि उत्तम रीति से विहार

करते हैं वह हिरण्य है । अग्नि-नेता पुरुष का दुष्टों का नाशक बल, तेज 'हिरण्य' है । क्षात्रबल, आयु, अमृत=मोक्ष, वीर्य, यशः, और सत्य ये सब पदार्थ (वेद में) 'हिरण्य' शब्द से कहे हैं गये। उनको योजना भी प्रकरण वश कर लेनी चाहिये ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि सप्त । पञ्चषष्टिश्चर्चः]

[२७] जीवन रक्षा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । त्रिवृद् उत चन्द्रमा देवता । ३, ९ त्रिष्टुभौ । १० जगती । ११ आर्ची उष्णिक् । १२ साम्न्यनुष्टुप् । १३ साम्नी त्रिष्टुप् (११-१३ एकावसानाः)। शेषाः अनुष्टुभः ।

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः ।
वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः ॥१॥

भा०—हे मनुष्य ! (त्वा) तुझे (ऋषभः) वीर्य सेचन में समर्थ सांड (गोभिः) गौओं द्वारा (पातु) पालन करें । (वृषा) वीर्य सेचन में समर्थ अश्व (वाजिभिः) वेगवान घोड़ों से (त्वा पातु) तेरा पालन और रक्षण करे । (वायुः) विद्वान् पुरोहित या शिल्पी (ब्रह्मणा पातु) ब्रह्म=वेदज्ञान या शिल्प से (त्वा पातु) तुझे पालन करे । अथवा (वायुः) वायु अन्तरिक्षका स्वामी या प्राण (ब्रह्मणा) अन्न द्वारा तेरा पालन करे । (इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (इन्द्रियैः) इन्द्रियों से (त्वा पातु) तेरा पालन करे अथवा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, बलवान् पुरुष, राजा, परमेश्वर और विद्युत् प्राण और आचार्य ये सभी अपने (इन्द्रियैः) विशेष बलों या सेवित पदार्थों व अनुभूत ज्ञानों से (त्वा पातु) तेरा पालन करें । (वायु-

वैनभसस्पतिः । गो० उ० ४ । ६ ॥ वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः । तै० ३ । २ । १ । ३ ॥ वायुर्वा अध्वर्युः । गो० ५-२ । २४ ॥ वायुर्वाव पुरोहितः । ऐ० ८ । २७ ॥ अयं वै वायुर्विश्वकर्मा । श० ८ । ११ । ७ ॥

सोमस्त्वा पात्वोषधीभिर्नक्षत्रैः पातु सूर्यः ।
माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वातः प्राणेन रक्षतु ॥२॥

भा०—(सोमः) सोमलता (ओषधीभिः) अपने दोषनाशक शक्तियों से (त्वा पातु) तेरी रक्षा करे अथवा (सोमः) ओषधियों का निष्कर्ष या सार पदार्थ निकालने में चतुर वैद्य पुरुष (त्वा ओषधीभिः) तुझे रोगनाशक ओषधियों से (पातु) पालन करे । (सूर्यः) सूर्य तुझे (नक्षत्रैः पातु) अपने व्यापक अथवा नक्ष=नाश से त्राण करने वाले गुणों से पालन करे । (चन्द्रः) आल्हादकारी चन्द्र (त्वा) तुझे (माद्भ्यः) अपने मासों से रक्षा करे । और (वृत्रहा वातः) आवरणकारी मेघों का नाशक, मेघों को छिन्न भिन्न करने वाला (वातः) वायु अथवा मलशोधक रोगों का नाशक प्राणवायु (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे ।

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ३

भा०—(तिस्रः दिवः) तेज को तीन प्रकार का बतलाते हैं । (तिस्रः पृथिवीः) पृथिवी को भी तीन प्रकार का बतलाते हैं । (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्ष अर्थात् वायु को भी तीन रूप का बतलाते हैं । (समुद्रान् चतुरः आहुः) समुद्रों को चार प्रकार का बतलाते हैं । (स्तोमं त्रिवृतं) स्तोम लोक, प्राण, और वीर्य तीन प्रकार का है । (आपः त्रिवृतः) आपः-जल या प्रकृति सूक्ष्म परमाणुओं को भी तीन प्रकार का कहते हैं । (ताः) वे सब (त्वा) तुझको (त्रिवृता) तीन २ रूपों में परिणत होकर (त्रिवृद्भिः) तीन २ रूपों से (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें ।

१. दिवः तिस्रः-तीन द्यौः अर्थात् तेजोमय पदार्थ तीन प्रकार का है। शरीर, इन्द्रिय और अर्थभेद से। इसी प्रकार पृथिवी, वायु, आपः ये भी तीन २ प्रकार के हैं। पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश ये तीन प्रकार के स्तोम हैं। अथवा प्राण तीन प्रकार के, प्राण, अपान, उदान। मूल प्रकृति के परमाणु, सत्व, रजस्, तमस् भेद से त्रिविध हैं। समुद्र चार हैं अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत्। शरीर में आकर तेजः, अपः और पृथिवी तीनों तीन २ प्रकार के होजाते हैं। जैसे पृथिवी के तीन रूप-स्थूल रूप पुरीष, मध्यमरूप मांस, सूक्ष्म रूप मन। जल के तीन रूप-स्थूल मूत्र, मध्यम लोहित, सूक्ष्म प्राण। तेज के तीन रूप-स्थूल अस्थि, मध्यम मज्जा, सूक्ष्म वाणी। जिस प्रकार मथने से मक्खन ऊपर उठ आता है उसी प्रकार सूक्ष्मतम, मन, प्राण, वाणी और चौथी आत्मा ये चार ऊपर उठ आने से ही समुद्र कहाते हैं। वे चार प्रकार के हैं। इसी प्रकार पिण्ड रचना के अनुसार ब्रह्माण्ड में भी इन पृथिवी, अप् तेज के तीन २ रूप स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म भेद से जानने चाहियें।

(२) स्तोम-शरीर में 'वीर्य' पञ्चदश है। या त्रिवृत् आत्मा प्राण पञ्चदश अर्थात् पन्द्रहवां है। पीठ के मोहरे १४ और १५वां प्राण है। समाज में 'क्षत्र' या 'राजा' पञ्चदश स्तोम है।

'सप्तदश'-सोलह कला सतरहवां प्रजापति या प्रजनन शक्ति १७वीं कहाती है। १२ मास, पांच ऋतु इन सब का आश्रय प्रजापति 'सप्तदश' प्रजापति कहाता है। अथवा शरीर में दश प्राण, ४ अंग, १५ आत्मा, १६वीं गर्दन, १७वां सिर। समाज में वैश्य 'सप्तदश' है।

'एकविंश'=सूर्य, १२ मास, पांच ऋतु और तीन लोक इनके आश्रय 'एकविंश' सूर्य है। अथवा शूद्रवर्ण 'एकविंश' है।

त्रिवृत् प्रकरण देखो छान्दोग्य उप० ६। २। ३॥

त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान्।
त्रीन् मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान् गोप्तॄन् कल्पयामि ते ॥४॥

भा०—मैं तेरे लिये (त्रीन् नाकान्) तीन सुखमय लोकों को, (त्रीन् समुद्रान्) तीन समुद्रों को, (त्रीन् ब्रध्नान्) तीन बन्धनशील, बड़े शक्तिशाली पदार्थों को, (त्रीन् वैष्टपान्) तीन विशेष रूप से तपने या तपाने वाले लोकों को, (त्रीन् मातरिश्वनः) तीन वायुओं को (त्रीन् सूर्यान्) तीन सूर्यों को, हे राजन्! हे पुरुष! (ते) तेरे (गोप्तॄन्) रक्षक (कल्पयामि) बनाता हूं।

तीन नाक या तीन सुखमय स्थान, माता, पिता, आचार्य। तीन समुद्र आत्मा, परमात्मा, प्रकृति। तीन ब्रध्न, मनः, वाक्, काय। तीन विष्टप, आध्यात्मि, आधिदैविक, आधिभौतिक। तीन मातरिश्वा प्राण, अपान, उदान। तीन सूर्य अग्नि, विद्युत्, सूर्य, इन सबको हे पुरुष तेरा रक्षक बनाता हूं।

घृतेन त्वा समुक्षाम्यग्न आज्येन वर्धयन्।
अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन् ॥५॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! अग्रणी, राजन्! जिस प्रकार अग्नि को विलीन घृत से बढ़ाया जाता है और उसकी आहुति दी जाती है उसी प्रकार (आज्येन) आज्य, वीर्य या युद्धोपयोगी समस्त सामग्री और सेनाबल से तुझे (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ (त्वा) तुझको (घृतेन) क्षरणशील वेगवान् अथवा तेजस्वी बल से (सम् उक्षामि) भली प्रकार अभिषेचित करता हूं। (अग्नेः) अग्नि के समान शत्रुतापक (चन्द्रस्य) चन्द्र के और (सूर्यस्य) सूर्य के समान मनोहर और तेजस्वी तुझ राजा के (प्राणम्) प्राण को (मायिनः) मायावी पुरुष अथवा बुद्धिमान् शिल्पी लोग (मा दभन्) विनाश न करें।

मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन् ।
भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत ॥६॥

भा०—(मायिनः) मायावी पुरुष (वः) आप लोगों के (प्राणम्) प्राण को (मा दभन्) विनाश न करें । (वः अपानं मा) वे तुम्हारे अपान को नष्ट न करें । (मा हरः) तुम्हारे हरः अर्थात् बल को भी वे नाश न करें । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (विश्ववेदसः) सब प्रकार ऐश्वर्यवान् होकर (भ्राजन्तः) तेजस्वी होकर (दैव्येन) दिव्य पदार्थ, अग्नि, जल वायु आदि के वेग या वेगवान रथ से (धावत) शीघ्र गति से जाया करो ।

प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः ।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥७॥

भा०—जिस प्रकार मनुष्य (प्राणेन) अपने प्राण वायु से या फूंक से (अग्निम्) अग्नि को या आग को (संसृजति) उत्पन्न करता है, क्योंकि (वातः) यह बाह्य वायु ही (प्राणेन) शरीरगत प्राण के साथ (संहितः) सम्बद्ध रहता है, ठीक इसी प्रकार (देवाः) देव, दिव्य पदार्थ भी (विश्वतो मुखम्) सब ओर प्रकाशमान सूर्य को (प्राणेन) महा वायु या महान् चैतन्य के बल से (अजनयन्) दीप्त रूप में प्रकट कर रहे हैं । अथवा जिस प्रकार इस देहपिण्ड में (प्राणेन अग्निम् संसृजति) मनुष्य अपने प्राण से अपनी जाठराग्नि को उत्पन्न करता है और बाह्य वायु उस प्राण से जुड़ा है, इसी प्रकार (देवाः) दिव्य पदार्थ भी (विश्वतो मुखं) सब ओर प्रकाशित सूर्य को (प्राणेन) उस महान् जीवन प्रद शक्ति से उत्पन्न करते हैं और सूर्योत्पादक बल उस महान् परमेश्वर शक्ति से जुड़ा है ।

आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः ।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥८॥

भा०—(आयुःकृताम्) आयु को दीर्घ बनाने वाले पदार्थों के (आयुषा) जीवन वृद्धि करने वाले बल से, हे पुरुष ! तू (जीव) प्राण धारण कर । हे पुरुष ! तू (आयुष्मान्) आयु से सम्पन्न, दीर्घायु होकर (जीव) जीता रह । (मा मृथाः) मर मत । (आत्मन्वताम्) आत्म शक्ति से युक्त शूरवीर पुरुषों के (प्राणेन) प्राण-बल से तू (जीव) प्राण धारण कर । (मृत्योः वशम्) मृत्यु के वश में (मा उद् अगाः) मत जा ।

देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोन्वविन्दत् पथिभिर्देवयानैः ।
आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥९॥

भा०—(यम्) जिस (देवानाम्) देव, दिव्य पदार्थों, इन्द्रियों, दिव्य शक्तियों के भीतर (निहितम्) गुप्त रूप से रक्खे, सुरक्षित (निधिम्) खज़ाने को (इन्द्रः) इन्द्र-ऐश्वर्यवान् आत्मा (देवयानैः) देव, प्राणों द्वारा जाने योग्य (पथिभिः) मार्गों द्वारा (अनु अविन्दत) प्राप्त करता है । उस (हिरण्यम्) अति रमणीय आत्मारूप खज़ाने को भी (आपः) आप्त पुरुष (त्रिवृद्भिः) तीन प्रकार के प्राणों द्वारा (जुगुपुः) रक्षा करते हैं । अथवा उस हिरण्य या तेजोमय आत्मा को भी (आपः) सूक्ष्म प्राण या प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु अपने (त्रिवृद्भिः) त्रिगुण सामर्थ्यों से रक्षा करते हैं । (ताः) वे आप्त जन या सूक्ष्म परमाणु (त्रिवृद्भिः) तीन २ गुणों से (त्रिवृता) त्रिवृत् हुए देह या प्राण से (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें । त्रिवृत् के विषय में देखो इसी सूक्त का प्रथम मन्त्र ।

त्रयस्त्रिंशद् देवतास्त्रीणि च वीर्या/णि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्वन्तः ।
अस्मिंश्चन्द्र अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्या णि ॥१०॥

१–(प्र०) 'यमिन्द्रा'—इति क्वचित् । (च०) 'त्रिवृतास्त्रिवृद्भिः' । इति क्वचित् । 'निधिं देवानां विहितं यमिन्द्रो' इति ह्विट्निकामितः पाठः ।

भा०—(देवताः) देवता, दिव्य शक्तियां, दिव्य पदार्थ (त्रयः त्रिंशत्) तेंतीस हैं। और (वीर्याणि च) वीर्य विशेष रूप से अनेक बल (त्रीणि) तीन हैं। वे (अप्सु अन्तः) अप, प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के भीतर भी उस (हिरण्यम्) आत्मा को अति (प्रियायमाणा) प्रिय बनाते हुए (अस्मिन् चन्द्रे) इस आल्हादकारी आत्मा में (यत् हिरण्यम्) जिस 'हिरण्य' अर्थात् हित और रमणीय तेज को (जुगुपुः) सुरक्षित रखते हैं (तेन) उससे (अयं) यह आत्मा (वीर्याणि) बल, वीर्य को (कृणवत्) उत्पन्न करे।

त्रयस्त्रिंशद् देवताः—८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य प्रजापति और वषट्कार। अथवा ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य इन्द्र और प्रजापति। कायिक, वाचिक, मानस ये तीन वीर्य हैं।

ये दे॑वा दि॒व्येका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम् ॥११॥
ये दे॑वा अ॒न्तरि॑क्ष॒ एका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम् ॥१२॥
ये दे॑वाः पृथि॒व्यामेका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम् ॥१३॥

ऋ० १ । १३९ । ११ ॥ यजु० ७ । १९ ॥

भा०—हे (देवाः) देवगण! दिव्य पदार्थो! आप (दिवि) द्यौलोक में, (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ये) जो (एकादश ३) ग्यारह ग्यारह (स्थ) हो (ते) वे आप (देवासः) देव, दिव्य पदार्थ (इदं) इस (हविः) हवि-अन्न को (जुषध्वम् ३) सेवन करें ॥ (११-१३)

११-१३—ऋग्वेदे परुच्छेप ऋषिः। विश्वेदेवाः देवताः॥ ये देवासो दिव्ये-कादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ इति ऋ०। ११-(५०) 'ये देवा. दिव्यादिदिवि' इति सायणाभिमतः।

यजुर्वेद (७ । १७) में महर्षि दयानन्द के लेखानुसार-द्यौ में ११ देव प्राण अपान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीव। अप्सुक्षित एकादश देव-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घाण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और मन। भूमि पर एकादश देव-पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, आदित्य, चन्द्र, नक्षत्र, अहंकार, महत्तत्व और प्रकृति।

अथवा जैसे शरीर में दश प्राण, ११वां आत्मा, भौतिक में-पञ्च स्थूल भूत, ५ सूक्ष्मभूत और महत्तत्व हैं। और जिस प्रकार शरीर में दश इन्द्रिय और मन है उसी प्रकार समाज के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीनों क्षेत्रों में विद्यमान ११, ११ देव, राजसभा के विद्वान् जन मेरे इस अन्न को स्वीकार करें।

असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥१४॥

भा०—(नः) हमारे (पुरस्तात्) आगे और (पश्चात्) पीछे से भी (असपत्नम्) शत्रुओं से रहित (अभयम्) अभय (कृतम्) बना रहे। (मा दक्षिणतः) मेरे दायें तरफ़ (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक राजा और (मा उत्तरात्) मेरे उत्तर या बायें तरफ़ (शचीपतिः) शची, शक्तिवाली सेना का स्वामी, सेनापति रहे, दोनों मेरे दोनों ओर से रक्षा करें।

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥१५॥
अथर्व० १९ । १६ । २ ॥

भा०— (आदित्याः) आदित्य, १२ मास (मा) मुझे (दिवः) आकाश की ओर से (रक्षन्तु) रक्षा करें। (भूम्याः) भूमि की ओर

से (अग्नयः) अग्नि के समान शत्रुसंतापक राजा लोग और विद्वान् लोग मेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें । (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि राजा और सेनापति (मां) मुझे (पुरस्तात्) आगे से (रक्षताम्) रक्षा करें । (अभितः) दोनों ओर से (अश्विनौ) दिन रात के समान दो अश्वारोही मुझे (शम् यच्छताम्) शान्ति प्रदान करें । (जातवेदाः) धनाढ्य पुरुष (तिरश्चीन्) तिर्यग् योनियों में गये (अघ्न्या) न मारने योग्य पालतू पशुओं की (रक्षतु) रक्षा करें (भूतकृतः) पञ्चभूतों के यन्त्र आदि द्वारा अपने वश करने वाले प्राणियों के हितकारक विद्वान् पुरुष (सर्वतः) सब प्रकार के (मे) मेरे (वर्म) शरीर के कवच के समान रक्षक हों ।

[२८] शत्रुनाशक सेनापति दर्भ मणि का वर्णन

सपत्नक्षय कामो ब्रह्मा ऋषिः । मन्त्रोक्तो दर्भमणिर्देवता । अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ॥

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे ।
दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः ॥१॥

भा०—हे राजन् और प्रजाजन ! मैं (ते) तेरे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन और (तेजसे) तेज और पराक्रम के कार्य के लिये (सपत्नदम्भनम्) शत्रुनाशक , (द्विषतः) शत्रु के (हृदः) हृदय को (तपनम्) तपाने वाले (दर्भम्) दुष्टों के हिंसक (मणिम्) मननशील, शिरोमणि पुरुष को (बध्नामि) बांधता हूं, नियुक्त करता हूं ।

द्विषतस्तापयन् हृदः शत्रूणां तापयन् मनः ।
दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्म इवाभीन्त्संतापयन् ॥२॥

घर्म इवाभितपन् दर्भ द्विषतो नितपन् मणे ।
हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ॥३॥

भा०—(द्विषतः) प्रेम न करने वाले पुरुष के (हृदः) हृदयों को (तापयन्) सन्तप्त करता हुआ, और (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (मनः) मन को सन्तप्त करता हुआ और (सर्वान् दुर्हार्दः) सभी दुष्ट हृदय वाले (अभीन्) भय रहित पुरुषों को भी (घर्म इव) घाम के समान (अभि त्तपन्) खूब प्रतप्त, प्रचण्ड होकर हे (मणे) मननशील नर, रत्न ! (द्विषतः नितपन्) बहुत से शत्रुओं को भी खूब तपाता हुआ (इन्द्र इव) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा के समान या (वलम् इन्द्र इव विरुजन्) मेघ को सूर्य के समान या प्रचण्ड वायु या विद्युत के समान नाना प्रकार से छिन्न भिन्न करता हुआ (सपत्नानां) शत्रुओं के (हृदः) हृदयों को (भिन्धि) भेद और उनके (बलम्) बल-सेना बल को तोड़ डाल ॥ २, ३॥

भिन्द्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे ।
उद्यन् त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय ॥४॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुहिंसक दर्भ ! सेनापते ! हे (मणे) मनन-शील शिरोमणे ! सेनापते ! तू (सपत्नानां) हमारे राष्ट्र पर अपना अधिकार करने वाले और (द्विषताम्) द्वेष करने वाले पुरुषों के (हृदयं भिन्धि) हृदय को तोड़ दे । और (उद्यन्) ऊपर उठता हुआ सूर्य जिस प्रकार (भूम्या) पृथिवी के (त्वचम् इव) घेरने वाले मेघ को नीचे बरसा देता है उसी प्रकार तू (उद्यन्) ऊपर उठता हुआ (एषाम् शिरः) इन शत्रुओं के शिर को (वि पातय) नाना प्रकार से नीचे गिरा दे ।

हे सेनापते ! तू (उद्यन् एषां शिरः भूम्याः त्वचम् इव निपातय) उदित होता हुआ इन शत्रुओं के शिर को भूमि की त्वचा या धूल या तृण के समान विविध दिशाओं में गिरा २ कर बिछादे ।

भिन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे भिन्द्धि मे पृतनायतः ।
भिन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो भिन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥५॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रु नाशकारी पुरुष ! तू (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं और (मे पृतनायतः) मेरे राष्ट्र पर सेना लेकर चढ़ने वाले शत्रुओं को (भिन्धि) तोड़दे. नाश कर । और हे (मणे) मननशील शिरोमणि पुरुष ! तू (मे) मेरे प्रति (सर्वान् दुर्हार्दः) सब प्रकार के दुष्ट हृदय वाले (द्विषतः) द्वेषकारी पुरुषों को (भिन्धि) विनाश कर ।

छिन्धि दर्भ सपत्नान् मे छिन्धि मे पृतनायतः ।
छिन्धि मे सर्वान् दुर्हार्दान् छिन्धि मे द्विषतो मणे ॥६॥

भा०—(मे पृतनायतः मे सपत्नान्) हे दर्भ ! शत्रुनाशक सेनापते ! तू मेरे पर सेना लेकर चढ़ने वाले और द्वेष करने वाले पुरुषों को (छिन्धि) काट डाल, उनको फाड़ डाल, उनको फोड़ फाड़ कर दो कर दे। इसी प्रकार हे (मणे) शिरोमणि पुरुष ! (सर्वान् दुर्हार्दान् द्विषतः) सब दुष्ट हृदय वाले शत्रुओं को भी (छिन्धि) काट डाल या फोड़ डाल ।

वृश्च दर्भ सपत्नान् मे वृश्च मे पृतनायतः ।
वृश्च मे सर्वान् दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे ॥७॥
कृन्त दर्भ सपत्नान मे कृन्त मे पृतनायतः ।
कृन्त मे सर्वान् दुर्हार्दो कृन्त मे द्विषतो मणे ॥८॥
पिंश दर्भ सपत्नान् मे पिंश मे पृतनायतः ।
पिंश मे सर्वान् दुर्हार्दः पिंश मे द्विषतो मणे ॥९॥
विध्यं दर्भ सपत्नान् मे विध्यं मे पृतनायतः ।
विध्यं मे सर्वान् दुर्हार्दो विध्य मे द्विषतो मणे ॥१०॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुनाशक सेनापते ! (मे सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को और (मे पृतनायतः) मेरे ऊपर सेना से चढ़ाई करने वालों को

(वृश्च) फरसा जिस प्रकार लकड़ी को काटता है उस प्रकार काट डाल (कृन्त) कैंची जिस प्रकार कपड़े को काट डालती है उस प्रकार काट डाल। (पिंश) चक्की जिस प्रकार दानों को पीस डालती है उस प्रकार पीस डाल। (विध्य) बाण जिस प्रकार लक्ष्य को वेधता है उस प्रकार वेध डाल। इसी प्रकार (सर्वान् द्विषतः दुर्हार्दः) समस्त द्वेष करने वाले, दुष्ट हृदयों से युक्त, कुटिल पुरुषों को भी (वृश्च, कृन्त, पिंश विध्य) फरसे के समान काट, कैंची के समान कतर, चक्की के समान पीस, बाण के समान वेध अथवा फरसों से काट, कैंचियों से कतर, चक्कियों से पिसवा, बाणों से वेध।

[२९] शत्रु का उच्छेदन

सपत्नक्षयकामो ब्रह्मऋषिः। दर्भो देवता। अनुष्टुभः। नवर्चं सूक्तम्॥

निक्ष दर्भ सपत्नान् मे निक्ष मे पृतनायतः।
निक्ष मे सर्वान् दुर्हार्दो निक्ष मे द्विषतो मणे॥१॥

तृन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे तृन्द्धि मे पृतनायतः।
तृन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे॥२॥

रुन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे रुन्द्धि मे पृतनायतः।
रुन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो रुन्द्धि मे द्विषतो मणे॥३॥

मृण दर्भ सपत्नान् मे मृण मे पृतनायतः।
मृण मे सर्वान् दुर्हार्दो मृण मे द्विषतो मणे॥४॥

मन्थ दर्भ सपत्नान् मे मन्थ मे पृतनायतः।
मन्थ मे सर्वान् दुर्हार्दो मन्थ मे द्विषतो मणे॥५॥

पिण्ड्ढि दर्भ सपत्नान् मे पिण्ड्ढि मे पृतनायतः।
पिण्ड्ढि मे सर्वान् दुर्हार्दः पिण्ड्ढि मे द्विषतो मणे॥६॥

ओष दर्भ सपत्नान् मे ओष मे पृतनायतः ।
ओष मे सर्वान् दुर्हार्दो ओष मे द्विषतो मणे ॥७॥

दह दर्भ सपत्नान् मे दह मे पृतनायतः ।
दह मे सर्वान् दुर्हार्दो दह मे द्विषतो मणे ॥८॥

जहि दर्भ सपत्नान् मे जहि मे पृतनायतः ।
जहि मे सर्वान् दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे ॥९॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुहिंसन करने में कुशल पुरुष ! तू (मे सपत्नान् पृतनायतः) मेरे शत्रुओं और मुझसे सेना द्वारा युद्ध करने वालों को (निक्ष) भाले के समान कोंच डाल । हे (मणे) नरमणे ! (मे द्विषतः) मेरे से द्वेष करने वालों को और (सर्वान् दुर्हार्दः) समस्त दुष्ट हृदय वालों को भी (निक्ष) कोंच डाल, छेद डाल ॥१॥ इसी प्रकार (छिन्धि) उनको तिनके की तरह तोड़ डाल ॥ २ ॥ (रुन्धि) उनको हाथी के समान पैरों तले रौंद डाल ॥ ३ ॥ (मृण) कुम्हार जिस प्रकार मट्टी को मसलता है उस प्रकार मसल डाल ॥ ४ ॥ (मन्थ) जिस प्रकार मक्खन के लिये दही को मथा जाता है उसी प्रकार मथ डाल या आटे के समान गूंथ डाल ॥ ५ ॥ (पिण्ड्ढि) सिल पर चटनी के समान पीस डाल या कुम्हार के समान गीली मिट्टी की तरह मल २ कर पिण्डे बना डाल ॥६॥ (ओष) हांडी में दाल की तरह पका डाल ॥ ७ ॥ (दह) भट्टी में लकड़ी के समान जला डाल ॥८॥ (जहि) उनको नाना प्रकार से हनन कर ॥ ९ ॥

---

[३०] शत्रु का उच्छेदन

सपत्नक्षयकामो ब्रह्मा ऋषिः । दर्भो देवता । अनुष्टुप् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यत् ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते ।
तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नान् जहि वीर्यैः ॥१॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुनाशक सेनापते ! (यत्) जो (जरामृत्युः) उन सबको (ते) तेरे (शतं) सैकड़ों प्रकार के (वर्मसु) कवचों में सब से उत्तम (वर्म) कवच या रक्षा साधन है । वृद्धावस्था के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त कराने वाला है । (ते) उस रक्षाकारी कवच से (इमं) इस पुरुष को (वर्मिणं कृत्वा) कवचवान् सुरक्षित करके (वीर्यैः) नाना वीर्यों—सामर्थ्यों से (सपत्नान्) शत्रुओं को (जहि) नाश कर ।

शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते ।
तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ॥२॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुनाशक सेनापते ! (ते वर्माणि शतम्) तेरे सैकड़ों वर्म, रक्षा साधन हैं । (ते वर्माणि सहस्रम्) तेरे वीर्य सामर्थ्य भी सहस्रों हैं । इसीलिये (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् पुरुष (तं) उस (त्वां) तुझ वीर्यवान् पुरुष को (अस्मै) राजा की (जरसे) जरा, वृद्धावस्था तक (भर्तवे) भरण पोषण के निमित्त (अदुः) सौंपते हैं, प्रदान करते हैं ।

त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम् ।
त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि ॥३॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुहिंसक पुरुष (त्वां) तुझको (देववर्म आहुः) देव राजा और विद्वानों को वर्म रक्षक कवच के समान कहते हैं । और (त्वा) तुझे (ब्रह्मणः पतिम्) ब्रह्म वेद का या विशाल राष्ट्र का रक्षक

---

[३०] १–(प्र० द्वि०) 'जरामृत्युशतं मर्मसु वर्म ते' इति सायणाभिमतः पाठः ।
जरामृत्यु शतं वर्म सु वर्म ते इति ह्विट्निकामितः पाठः ।

पालक कहते हैं। (त्वाम्) तुझको (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा या धन-वान् समृद्ध राष्ट्र का (वर्म आहुः) रक्षक कवच कहते हैं। क्योंकि (त्वं) तू तो (राष्ट्राणि) राष्ट्रों की (रक्षसि) रक्षा करता है।

सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः।
मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते ॥ ४ ॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुओं को नाश करने वाले पुरुष ! (द्विषतः) शत्रु के (हृदः) हृदय को (तपनम्) तपाने और (सपत्नक्षयणम्) शत्रु का क्षय करने वाले और (क्षत्रस्य वर्धनं) क्षत्रियों के क्षात्र-बल को बढ़ाने वाले तुझ (मणिम्) शिरोमणि पुरुष को हे राजन् ! (ते) तेरे (तनूपानं) शरीर की रक्षा करने वाला (कृणोमि) नियत करता हूं।

यत् समुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥ ५ ॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (समुद्रः) जलों का बरसाने वाल (पर्जन्यः) मेघ (विद्युता) विद्युत के (सह) साथ (अभि अक्रन्दत्) खूब गरजता है, उससे (ततः) उस (हिरण्मयः) हिततम और रम-णीय (बिन्दुः) जलबिन्दु उत्पन्न होता है और उससे (दर्भः) दर्भ कुश घास (अजायत) उत्पन्न होता है। उसी प्रकार (समुद्रः) प्रजाओं पर नाना उपकारों की वर्षा करने वाला, समुद्र के समान गम्भीर और (विद्युता सह पर्जन्यः) विशेष शोभा सहित पर्जन्य=प्रजा को सन्तुष्ट करने वाला राजा (अभि अक्रन्दत्) गर्जना करता है और उससे (हिरण्ययः-बिन्दुः) प्रजा के हितकारी और सबको प्रिय, एवं सुवर्ण धन ऐश्वर्य से युक्त राष्ट्र लाभ करने वाला राजा उत्पन्न होता है (ततः) और उससे (दर्भः) शत्रुनाशक पुरुष भी उत्पन्न होता है।

[३१] औदुम्बर मणि के रूप में अन्नाध्यक्ष, पुष्टपति का वर्णन ।

पुष्टिकामः सविता ऋषिः । मन्त्रोक्त उदुम्बरमणिर्देवता । ५, १२ त्रिष्टुभौ । ६ विराट् प्रस्तार पंक्तिः । ११, १३ पञ्चपदे शक्वर्यौ । १४ विराड् आस्तारपंक्तिः । शेषा अनुष्टुभः । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

औदुंम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा ।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥१॥

भा०—(औदुम्बरेण) उत्तम पुष्टि कराने वाले या पापों से ऊंचे उठाने वाले या अन्नाध्यक्ष (वेधसा) विद्वान् (मणिना) नरशिरोमणि, उत्तम पुरुष द्वारा (सविता) सर्वोत्पादक, सर्व प्रेरक राजा (पुष्टिकामाय) पुष्टि की कामना करने वाले (मे) मेरे (गोष्ठे) गोष्ठ, गोशाला में भी (सर्वेषां पशूनाम्) समस्त पशुओं की (स्फातिम्) वृद्धि (करत्) करे । राजा अपने राज्य में राष्ट्र के पशुओं की वृद्धि और पुष्टि का काम एक पशु पुष्टिवित् विद्वान् नरशिरोमणि द्वारा संचालित करे ।

सोऽब्रवीत् अयं वाव स मा सर्वस्मात् पाप्मन उद् अभार्षीत् । तस्मात् उदुम्भरः । उदुम्बर इति आचाते परोक्षम् । श० ७ । ५ । १ । २२ ॥ अन्नं वा ऊर्ग उदुम्बरः । श० ३ । २ । १ । ३३ ॥

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।
औदुंम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्ट्या ॥२॥

भा०—(यः) जो (अग्निः) अग्रणी नेता (गार्हपत्यः) गृहपति के पद पर नियुक्त होकर (नः) हमारे (पशूनाम्) पशुओं के (अधिपाः)

[३१] १–(द्वि०) 'वेधसे' इति ह्विटनिकामितः ।
२–(च०) 'स मा सृजतु' इति सायणाभिमतः । 'सः । मा' इति पदपाठः । 'सं मा सृजतु' इति ह्विटनिः । पैप्प० सं० ।

पालक अधिष्ठाता (असत्) है वही (औदुम्बरः) औदुम्बर अर्थात् पुष्टि-कारक, अन्न उत्पन्न करने में कुशल, (वृषा) सब सुखों का वर्षक (मणि) नरश्रेष्ठ (मा) मुझको (पुष्ट्या) धन ऐश्वर्य और पशु सम्पत्ति की वृद्धि से (सं सृजतु) युक्त करे।

क॒री॒षिणीं॒ फल॑वतीं स्व॒धामिरां॑ च नो गृ॒हे।
औदु॑म्बरस्य॒ तेज॑सा धा॒ता पु॒ष्टिं द॑धातु मे ॥३॥

भा०—(धाता) सबका पोषक परमेश्वर या राजा अपने नियत किये हुए (औदुम्बरस्य) औदुम्बर अर्थात् अन्न और पुष्टि के अध्यक्ष के (तेजसा) तेज, पराक्रम से, प्रयत्न से (नः गृहे) हमारे घरों में (करीषिणीम्) लक्ष्मी समृद्धि से युक्त और (फलवतीम्) खूब उत्तम फल से युक्त (स्व-धाम्) अन्न और (इराम्) जलको या स्वधा=अन्न और भूमि को प्रदान करे और (मे) मुझे (पुष्टिम्) पुष्टि, पशु समृद्धि प्रदान करे।

पुरीष्य इति वै तमाहुः यः श्रियं गच्छति।
समानं वै पुरीषं च करीषं च ॥ श० २ । १ । १ । ७ ॥

यद् द्वि॒पाच्च॒ चतु॑ष्पाच्च॒ यान्यन्ना॑नि॒ ये रसाः॑।
गृ॒ह्णे॒३॒॑हं त्वे॑षां भू॒मानं॑ बिभ्र॒दौदु॑म्बरं म॒णिम् ॥४॥

भा०—(अहम्) मैं (औदुम्बरम् मणिम्) 'औदुम्बर' नामक श्रेष्ठ पुरुष को अपने राष्ट्र में भृति या वेतन पर नियुक्त करता हुआ ही (यत् द्विपात् च) जो दो पाये और (चतुष्पात् च) चौपाये जन्तु हैं और (यानि अन्नानि) जितने अन्न और (ये रसाः) जितने रस हैं (एषाम्) उन सबकी (भूमानम्) बहुत भारी संख्या को (गृह्णे) प्राप्त करने में समर्थ हूं।

३–(प्र०) 'करीषिणं फलवतीम्' इति पैप्प० सं०।

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्य/म् ।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥५॥

भा०—(सविता) सबका प्रेरक और उत्पादक (बृहस्पतिः) बड़ों २ का स्वामी, पालक राजा या परमेश्वर (मे) मुझे (पशूनाम्) पशुओं के (पयः) दूध और (ओषधीनाम्) ओषधियों के (रसम्) रस का (नियच्छात्) प्रदान करे और (अहम्) मैं (पशूनाम्) पशुओं की और (द्विपदाम् चतुष्पदाम्) दो पाये और चौपायों की (पुष्टिम्) पुष्टि और (यत् च धान्यम्) जो उनके खाने योग्य धान्य है वह भी मैं (परि जग्रभ) सब प्रकार से प्राप्त करूं ।

अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ।
मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु ॥६॥

भा०—(अहम्) मैं (पशूनाम्) पशुओं का (अधिपाः) राजा, स्वामी (असानि) होऊं । (पुष्टपतिः) पुष्ट=पोषणकारी अन्न, रस, पशु आदि का पालक पुरुष (मयि) मुझ में (पुष्टम्) पोषणकारी अन्न आदि पदार्थ (दधातु) प्रदान करे । (औदुम्बरः) वही अन्न और बलका वृद्धि-कारी (मणि) सर्वश्रेष्ठ अध्यक्ष (मह्यम्) मुझे (द्रविणानि) नाना प्रकार के धन (नियच्छतु) प्रदान करे ।

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च ।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा ॥७॥

भा०—(इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् राजा द्वारा (जिन्वितः) वेतन आदि द्वारा सन्तुष्ट करके नियुक्त हुआ (मणिः) शिरोमणि पुरुष (वर्चसा सह) अपने तेज सहित (मा आ अगन्) मुझे प्राप्त हो, और वही (औदुम्बरः

७–(तृ०)'जिन्वतः' इति प्रायः । पंप्प० सं० ।

मणिः) (अस्मान्) नामक नरश्रेष्ठ (प्रजया च धनेन च) प्रजा, उत्तम सन्तान और धनके सहित (मा उप आगन्) मेरे पास आवे ।

देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये ।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥८॥

भा०—पूर्वोक्त (देवः) सब पदार्थों का प्रदाता (मणि) नर शिरोमणि पुरुष (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशकारी होकर और (धनसा) नाना प्रकार के धन ऐश्वर्यों का प्रदाता होकर (धनसातये) हमें ऐश्वर्य लाभ के लिये उपयोगी है । वह हमें (पशोः) पशु (अन्नस्य) अन्न और (गवां) गो आदि नाना पशुओं की (भूमानम्) बहुत भारी (स्फातिम्) वृद्धि को (नियच्छतु) प्रदान करे ।

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे ।
एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥९॥

भा०—हे (वनस्पते) वनों के पालक (यथा) जिस प्रकार (त्वं) तू (अग्रे) सबसे प्रथम स्वयं (पुष्ट्या) पोषणकारी शक्ति के साथ (जज्ञिषे) प्रकट होता है उसी प्रकार (सरस्वती) समस्त रसों का प्रदान करने वाली, पुष्टि की स्वामिनी स्त्री भी (मे) मेरे (धनस्य स्फातिम्) धन की वृद्धि (आ दधातु) करे ।

१ सरस्वती पुष्टिःपुष्टि पत्नी । तै० २ । ५ । ७ । ४ ।

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥

८–(च०) 'स्फातिर्नि' इति क्वचित् । (द्वि०) 'धीं नाम' इति पैप्प० सं० ।
९–(च०) 'भाद्यातिं' इति पैप्प० सं० ।
१०–(द्वि०) 'भावहत्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सरस्वती) उत्तम रस प्रदान करने वाली और (सिनीवाली) अन्न प्रदान करने वाली स्त्री, गौ या पृथिवी (मे) मुझे (धनम्) धन (पयः स्फातिम्) खूब अधिक पुष्टिकारक दूध घी आदि पदार्थ, (धान्यम् च) अन्न आदि धान्य (उपवहाद्) प्राप्त करावे। और इसी प्रकार (अयम्) यह (औदुम्बरः मणिः) अन्नों का और रसों का स्वामी पुरुष मुझे धन, दूध, अन्नादि प्रदान करे।

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान।
त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत् सहस्वारादरातिममतिं क्षुधं च ॥११॥

भा०—हे मणे! नरशिरोमणि! (त्वं) तू (मणीनाम्) अन्य समस्त नर-रत्नों का भी (अधिपाः) पालक और (वृषा) अन्नादि पदार्थों का प्रदाता (असि) है। (पुष्टपतिः) पोषणकारी समस्त पदार्थों का स्वामी राजा (त्वयि) तेरे बलपर (पुष्टम्) समस्त पोषणकारी पदार्थों को (जजान) उत्पन्न करता है। (त्वयि) तेरे ही बलपर (इमे) ये सब (वाजाः) अन्न, (द्रविणानि) समस्त धन ऐश्वर्य उत्पन्न किये जाते हैं। इसीलिये तू (औदुम्बरः=उरुम् भरः) सबको उत्पन्न करने वाला या प्रजा को बहुत पुष्ट करने वाला अधिकारी होकर (सः त्वम्) वह तू (अरातिम्) शत्रु या कृपणता, (अमतिम्) अविवेक और (क्षुधम् च) भूख और प्यास को भी (अस्मत् आरात्) हमसे परे ही (सहस्व) दूर कर।

११–(प्र०) 'अधिपः' इति सायणाभिमतः। (द्वि०) 'पुष्टिपतिः इति पैप्प० सं० (तृ०) 'त्वया मे' इति सायणाभिमतः। 'अमृतं क्षुधं च' इति क्वचित् 'अवर्तिम्' इति क्वचित्। आरादरातिमभितिक्षुधं च इति पैप्प० सं०।

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोभि मां सिञ्च वर्चसा ।
तेजोसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि ॥१२॥

भा०—हे शिरोमणि पुरुष ! तू (ग्रामणीः असि) ग्रामका नेता है इस कारण तू (उत्थाय) उच्च पद प्राप्त करके स्वयं (ग्रामणीः) 'ग्रामणी' अर्थात् ग्राम के प्रमुख नेतृत्व के पदपर (अभिषिक्तः असि) अभिषेक किया जाता है । तुझे ग्राम के प्रमुख नेता एवं शासक की गद्दीपर बिठलाया जाता है । तू (मा) मुझ प्रजाजन या राजा को भी (वर्चसा सिञ्च) तेज से युक्त कर । तू स्वयं (तेजः असि) तेजस्वरूप है तू (मयि) मुझ में भी (तेजः अधि धारय) तेज धारण करा । तू (रयिः असि) साक्षात् 'रयि', धनैश्वर्यमय है । तू (मे) मुझे (रयिं धेहि) ऐश्वर्य प्रदान कर ।

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु ।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ।
रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥१३॥

भा०—तू (पुष्टिः असि) साक्षात् पुष्टिमय है (मा) मुझको (पुष्ट्या) पुष्टि, पोषणकारी अन्न आदि की समृद्धि से (सम् अङ्ग्धि) युक्त कर । तू स्वयं (गृहमेधी) गृहमेधी, गृह को पुष्ट करने वाला है (मा) मुझको (गृहपतिं कृणु) गृह का स्वामी बना । (त्वम्) तू (सः) वही (औदुम्बरः) बहुतों को अन्न आदि से पुष्ट करने में समर्थ है । (त्वम्) तू (अस्मासु) हममें भी बहुतों का पालन और भरण पोषण के सामर्थ्य को (धेहि) स्थापन कर और (नः) हमें (सर्ववीरं रयिम् च) समस्त वीर्यों

१२–'उक्थाया,' 'उक्थ्याया,' 'उच्छाया,' 'ग्रामणी छाया,' 'उच्छ्राय,' इति नाना पाठाः । (च०) धारयाध्यधिरयिरसि इति शं० पा० अनुमितः पाठ० ।

१३–(प्र०) 'समिन्धि' इति क्वचित् । 'समधि' इति पैप्प० सं० ।

वीर पुरुषों से युक्त ऐश्वर्य (नियच्छ) प्रदान कर । (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (रायस्पोषाय) धन ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये (प्रति मुञ्चे) धारण करता हूं, अपने राष्ट्र में नियुक्त करता हूं, तुझे स्वीकार करता हूं ।

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥१४॥

भा०—(अयम्) यह (औदुम्बरः) बहुतों के पालन पोषण में समर्थ (मणिः) शिरोमणि पुरुष (वीरः) वीर, वीर्यवान् होकर (वीराय) वीर्यवान् राजा के उपकार के निमित्त (बध्यते) बांधा जाता है, वेतन आदि द्वारा नियुक्त किया जाता है । (सः) वह (नः) हमारी (सनिम्) धन प्राप्ति को (मधुमतीम्) आनन्द और सुखसे युक्त (कृणोतु) करे । और (नः सर्ववीरं च रयिम् नियच्छात्) हमें सब सामर्थ्यों से युक्त धन ऐश्वर्य प्रदान करे ।

[३२] शत्रुदमनकारी 'दर्भ' नामक सेनापति ।

सर्वकाम आयुष्कामोऽस्य ऋषिः । मन्त्रोक्तो दर्भो देवता । ८ परस्ताद् बृहती । ९ त्रिष्टुप् । १० जगती । शेषा अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ।

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः ।
दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे ॥१॥

भा०—(शतकाण्डः) जिस प्रकार दाभ बहुतसे काण्ड अर्थात् पोरुओं वाला होता है उसी प्रकार (शतकाण्डः) सैकड़ों काण्ड अर्थात्

१४–'वीराय उच्यते' इति पैप्प० सं० ।

[३२] १–(प्र०) 'दुश्चवनः' इति क्वचित् । (द्वि०) 'उत्तरः' इति सायणाभिमतः । (च०) 'तत्ते' इति क्वचित् । 'तेन' इति सायणः । 'यो ओषधि' इति पैप्प० सं० ।

काम्य, अभिलाषा करने योग्य पदार्थों से सम्पन्न, अथवा सैकड़ों काण्ड अर्थात् बाणों से युक्त, (दुश्च्यवनः) संग्राम में शत्रु द्वारा न डिगाये जाने वाला, स्थायी, दुःसाध्य योद्धा, (सहस्रपर्णः) सहस्रों 'पर्ण' अर्थात् शीघ्रगामी बाणों या रथों वाला, (उत्तिरः) शत्रुओं को उखाड़ देने में समर्थ, (उग्रः) भयानक (ओषधिः) शत्रुओं के संतापकारी, पराक्रम को धारण करने वाला, (दर्भः) उनका हिंसक 'दर्भ' नामक सेनापति है हे राजन् ! (तम्) उसको (ते) तेरे (आयुषे) आयु, जीवन की रक्षा के लिये (बध्नामि) नियुक्त करता हूं । वेतनादि से उसे तेरे साथ बांधता हूं ।

नास्य केशान् प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते ।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति ॥२॥

भा०—(अच्छिन्नपर्णेन) अविच्छिन्न, निरन्तर चलने वाले बाणों से युक्त, (दर्भेण) शत्रुहिंसक सेनापति द्वारा (यस्मा) जिसको (शर्म) सुख, शरण (यच्छति) प्रदान किया जाता है, (अस्य) उसके (केशान्) केशों को शत्रु लोग (न) कभी नहीं (प्र वपन्ति) काट सकते और शत्रु लोग उसके (उरसि) उसकी छाती पर भी (ताडम् न आघ्नते) प्रहार नहीं करते । अथवा, (अस्य) उसके सम्बन्धी लोग (केशान् न प्रवपन्ति) अपने बाल नहीं नोंचते और (न असिताडम् आघ्नते) न छाती पीट २ कर दुहत्थड़ मार कर रोया करते हैं । अर्थात् वे सुखी रहते हैं ।

दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः ।
त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे ॥३॥

२–(द्वि०) 'घ्नन्ति' (तृ०) 'यस्माच्छिन्न' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'निष्ठितः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (ओषधे) शत्रुओं को संतापदायक पुरुष ! (ते) तेरा (तूलम्) तूल, मुख्य बल (दिवि) आकाश में सूर्य के समान सभा में विद्यमान है । और तू स्वयं (पृथिव्याम्) पृथिवी में (निष्ठितः, असि) दृढ़ता से स्थित है । (सहस्रकाण्डेन त्वया) सहस्रों बाणों से युक्त तेरे द्वारा हम राष्ट्र के (आयुः) आयु, जीवन को (प्र वर्धयामहे) बढ़ाते हैं ।

तिस्रो दिवो अत्यतृणत् तिस्र इमाः पृथिवीरुत ।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणाद्मि वचांसि ॥४॥

भा०—शत्रुनाशकारी पुरुष (तिस्रः दिवः) तीनों द्यौलोक और (इमाः तिस्रः पृथिवीः) इन तीनों पृथिवियों को (अति अतृणत्) पारकर जाता है । (त्वया) तेरे बल से (अहम्) मैं राजा (दुर्हादः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष के (जिह्वां) जीभ और (वचांसि) वचनों को (नि तृणद्मि) सर्वथा नाश करूं ।

त्वमसि सहमानोहमस्मि सहस्वान् ।
उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा सपत्नान् सहिषीमहि ॥५॥

अथर्व० ३ । १८ । ५ ॥ ऋ० १० । १४५ । ५ ॥

भा०—हे शिरोमणे ! (त्वम्) तू (सहमानः) शत्रुओं को निरन्तर दबाता रहता (असि) है । और (अहम्) मैं राजा भी (सहस्वान्) शत्रुओं को पराजित करने वाले बल से युक्त (अस्मि) हूं । (उभौ) हम दोनों (सहस्वन्तौ भूत्वा) बलवान् होकर (सपत्नान्) शत्रुओं को अपने सेनाओं सहित (सहिषीमहि) दबाने में समर्थ होवें ।

४–(द्वि०) 'तिस्रो द्यां पृथिवीरुत', (च०) 'नितृणद्मि वचांसि च' इति पैप्प० सं०, क्वचित् च । (प्र०) 'अत्यतृणः । इति सायणाभिमतः ।

५–अहमस्मि सहमाना त्वमसि सासहिः । उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै । इति । (च:) 'सहिषीवहि' इति पैप्प० सं० ।

सहस्व नो अभिमातिं सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वान् दुर्हार्दः सुहार्दो मे बहून् कृधि ॥६॥

भा०—हे (मणे) शत्रुओं को स्तम्भन करने हारे पुरुष ! तू (नः) हमारे प्रति (अभिमातिम्) अभिमान करने वाले, गर्वीले शत्रु को (सहस्व) पराजित कर । और (पृतनायतः) सेना से आक्रमण करने वाले शत्रुओं को भी (सहस्व) पराजित कर । (सर्वान् दुर्हार्दः) समस्त दुष्ट चित्त वालों को भी (सहस्व) पराजित कर । (मे) मेरे (बहून्) बहुत से (सुहार्दः) उत्तम चित्त वाले मित्रों को (कृधि) उत्पन्न कर, बना ।

दर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित् ।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥७॥

भा०—(दिवि) द्युलोक, महान् आकाश में जिस प्रकार सूर्य अपनी शक्ति से समस्त ग्रहों को थामे रहता है उसी प्रकार (शश्वत् इत्) निरन्तर ही (स्तम्भेन) राष्ट्र के उत्तम भाग में स्थित होकर सबको थामने वाले (दर्भेण) शत्रु नाशक (तेन) उस पुरुष द्वारा (शश्वतः) निरन्तर रहने वाले, दीर्घजीवी (जनान्) जनों को (असनम्) प्राप्त करूं, अपने वश करूं और (सनवानि च) अपने वश किये रहूं ।

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥८॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुनाशन ! तू (मा) मुझको (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मणों और क्षत्रियों, (शूद्राय च अर्याय च) शूद्रों और वैश्यों

६-(प्र० द्वि०) नोऽभि० 'स्वा०' । इति पैप्प० सं० । (च०) 'बहून्' इति क्वचित् ।

७-(च०) 'असनान्', 'असनान्त्स', 'असनात्', 'जनानसनम्' इति पाठाः ।
८-(द्वि०) 'सूर्याय चार्याय च' इति बहुत्र ।

का भी अथवा (शूद्राय च आर्याय च शूद्रों) और आर्य श्रेष्ठ पुरुषों का और (यस्मै ह) जिसको हम (कामयामहे) चाहते हैं और जो (विनश्यते) अपने विपरीत शत्रु भाव से हमें रखते हैं (सर्वस्मै च) उन सब का भी (मा) मुझे (प्रियं कृणु) प्रिय बना सबका प्रेमपात्र बनादे ।

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद् यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च ।
यं विभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोयं दर्भो वरुणो दिवा कः ॥९॥

भा०—(यः) जो (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ स्वयं (पृथिवीम्) पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ करता है और जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को वायु के समान अपने वश करता और (दिवम् च) द्यौलोक या विद्वानों की सभा को सूर्य के समान प्रकाशित करता है (बिभ्रतम्) भरण पोषण करने वाले (यम्) जिसको अथवा (यं बिभ्रतम्) जिस भरण पोषण करने वाले पुरुष को (पाप्मा) पाप (न विवेद) नहीं न छूता (स दर्भः) वह दर्भ, शत्रु नाशक सेनापति साक्षात् (वरुणः) सब पापों का निवारक होकर (दिवा) दिन के समान प्रकाश करता है अर्थात् अन्धेर मिटाकर व्यवस्थित राज्य की स्थापना करता है ।

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वानोषधीनां प्रथमः सं बभूव ।
स नोयं दर्भः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः॥१०॥

भा०—जो (सपत्नहा) एक ही देश पर समान रूप से अपना स्वामित्व चाहने वाले अन्य शत्रुओं का हनन करने वाला, (शतकाण्डः) सैकड़ों बाणों से युक्त, (सहस्वान्) शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ होकर (ओषधीनाम्) शत्रु और दुष्टों को सन्ताप देने में (प्रथमः) सब

९–(च०) 'वरुणोधिवाकः' इति ह्विटनिकामितः । 'वरुणोऽधिवाकः' इति राथकामितः । (तृ०) 'नानुपा'-इति ह्विटनिकामितः । 'ननु' इति क्वचित् ।

से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (सं बभूव) है, (सः) वह (अयम् दर्भः) यह 'दर्भ' नाम से विख्यात शत्रुनाशक पुरुष (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से और सब प्रकार से (परि पातु) रक्षा करे । (तेन) उसके बल से मैं (पृतन्यतः) सेना द्वारा आक्रमण करने वाले शत्रु की (पृतनाः) समस्त सेनाओं को (साक्षीय) विजय करने में समर्थ होऊं ।

[३३] 'दर्भ', 'अग्नि' नामक अभिषिक्त राजा ।

सर्वकामो भृगुर्ऋषिः । दर्भो देवता । १ जगती । २, ५ त्रिष्टुभौ । ३ आर्षी पंक्तिः । ४ आस्तारपंक्तिः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम् ।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥१॥

भा०—(सहस्रार्घः) सहस्रों के बराबर अकेला बलशाली या सहस्रों पुरुषों और राजाओं से सहस्रों प्रकार के सम्मान प्राप्त करने वाला. (शत-काण्डः) सैकड़ों बाणों या बाणधारियों का स्वामी, (पयस्वान्) समुद्र के समान गम्भीर और स्वयं 'पयः' अर्थात् पुष्टिकारक सामर्थ्य वाला (अपाम्) समुद्र के जलों के बीच में भी (अग्निः) दहकने वाले और्वानल के समान प्रजाओं के बीच में (अग्निः) अग्रणी नेता के समान और (वीरुधाम्) बढ़ते शत्रु बलों को विशेष रूप से रोकने वाले योद्धाओं का (राजसूयम्) राजारूप से प्रेरक (सः अयं) वह यह (दर्भः) शत्रुनाशक 'दर्भ' सेनापति, (देवः) सबको शान्तिदायक, देव, राजा (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परि पातु) रक्षा करे और वह (मणिः) मननशील और शत्रुस्तम्भन में समर्थ या उज्वलमणि, रत्न का धारक होकर (नः) हमें (आयुषा संसृजाति) दीर्घ आयु से युक्त करे ।

---

[३३] १–(प्र०) 'सहस्राघ्यः' (च०) 'देवः', 'संसृजतु' इति पैप्प० सं० ।

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान् भूमिदृंहोऽच्युतश्च्यावयिष्णुः ।
नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन् दर्भारोह महतामिन्द्रियेण ॥२॥
अथर्व ५ । २८ । १४ ॥

भा०—(घृतात्) घृत=तेज या प्रजा के प्रति स्नेह से (उल्लुप्तः) आवृत, व्याप्त (मधुमान्) मधु-अन्न आदि समृद्धि से युक्त (पयस्वान्) पुष्ट वीर्य से समर्थ, (भूमिदृंहः) भूमि, राष्ट्र को दृढ़ करने वाला, (अच्युतः) युद्धमें स्वयं अविचलित और (च्यावयिष्णुः) शत्रुओं को पदच्युत करने वाला, (सपत्नान्) शत्रुओं को (नुदन्) पीछे हटाता हुआ और उनको (अधरान् च कृण्वन्) नीचे गिराता हुआ, हे (दर्भः) शत्रुनाशक सेनापते तू (महताम्) बड़े नरपतियों, महापुरुषों के (इन्द्रियेण) बल वीर्य से (आ रोह) सबसे ऊंचे पद पर आरूढ़ हो ।

त्वं भूमिमत्येष्योजसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे ।
त्वां पवित्रमृषयो भरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् ॥३॥

भा—(त्वम्) तू (भूमिम्) इस भूमि को अपने (ओजसा) ओज तेज, पराक्रम से (अति एषि) अतिक्रमण कर जाता है । और तू (अध्वरे) अहिंसामय, अजेय राष्ट्र पालनरूप यज्ञ में (चारुः) अति उत्तम होकर (वेद्याम्) वेदि, यज्ञवेदि, पृथिवी पर (सीदसि) विराजता है । (पवित्रम् त्वाम्) सबको पवित्र करने वाले तुझको (ऋषयः) साक्षात् मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषिगण (प्र भरन्त) भरण करते, तुझे पुष्ट करते या तुझे लाकर सत्यासत्य विवेक करने के लिये न्यायासन पर ला बिठलाते हैं । (त्वं) तू (दुरितानि) दुष्टाचरणों को (अस्मत्) हमसे दूर करके हमें (पुनीहि) पवित्र कर ।

२–(च०) 'महता महेन्द्रियेण' इति पैप्प० सं० ।

३–(तः) 'तेजो देवानां', (च) 'तत् ते' इति पैप्प० सं० ।

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः ।
ओजो देवानां बलमुग्रमेतत् तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये ॥ ४ ॥

भा०—(तीक्ष्णः) अति तीक्ष्ण, दूसरे के अत्याचार को सहन करने में असमर्थ (राजा) सर्वोपरि राजमान् प्रजा का अनुरञ्जक सबका स्वामी, (विषासहिः) विविध उपायों से शत्रु को पराजय करने वाला, (रक्षोहा) राष्ट्रव्यवस्था में विघ्नकारी, दुष्ट पुरुषों का नाशक, (विश्वचर्षणिः) समस्त राष्ट्र का द्रष्टा, (देवानाम्) देवों विद्वान् पुरुषों का (ओजः) पराक्रमस्वरूप और (एतत्) ये मूर्त्तिमान् (उग्रम् बलम्) उग्र भयंकर बल है (तम्) उसको हे राजन् ! और राष्ट्रवन् ! (ते) तेरे (जरसे) वृद्धावस्था तक के (स्वस्तये) कल्याण के लिये (बध्नामि) नियुक्त करता हूं ।

दर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याणि दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः ।
अतिष्ठाया वर्चसा धान्यान्त्सूर्यं इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥५॥

भा०—हे राजन् ! (त्वम्) तू (दर्भेण) शत्रुनाशक सेनापति के बल से (वीर्याणि) वीर्य, पराक्रम के विजय आदि (कृणवद्) कार्य करता हुआ और (आत्मना) अपने बलसे (दर्भम्) उस शत्रुनाशक सेनापति को (बिभ्रत्) भरण पोषण करता हुआ (मा व्यथिष्ठाः) कभी दुःखित मत हो । (अथ) और (वर्चसा) अपने तेज से (अन्यान्) अन्य शत्रु

५-(प्र०) 'कृणवः' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) 'वर्चसेऽन्यां', 'वर्चसेऽन्यां', 'वर्चसधन्यां', 'वर्चसधन्यां', 'वर्चसीधन्यां', 'वर्चसोध्यन्यां', इति नानापाठाः । 'धाहि । अन्यान् । ', 'एधि । अन्यान्' 'धन्यान्', इति नाना पदपाठाः । 'अतिष्ठापो वर्चसेऽन्या सूर्यवाभाहि' इति पैप्प० सं० ।

राजाओं पर (अतिष्ठाय) प्रबल राजा होकर (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं को (सूर्य इव) सूर्य के समान (आ भाहि) प्रकाशित कर ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सप्तसूक्तानि अष्टाषष्टिश्च ऋचः ।]

[३४] जंगिड़ नामक रक्षक का वर्णन

अंगिरा ऋषिः । वनस्पतिर्लिंगोक्तो वा देवता । अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ॥

जुङ्गिडोऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः ॥१॥

भा०—हे जंगिड ! वनस्पते! आश्रय वृक्ष के समान प्रजाके रक्षक ! तू (जंगिडः असि) जंगिड अर्थात् शत्रुओं के निगलने वाला अतएव (जंगिडः) 'तू सचमुच' जंगिड है । तू (जंगिडः) जंगिड होकर ही (रक्षिता असि) प्रजा का रक्षक है (अस्माकम्) हमारे (द्विपात्) दो पाये और (चतुष्पाद्) चौ पाये (सर्वम्) सबको (जंगिडः रक्षतु) जंगिड ही रक्षा करे ।

'जंगिड' के विषय में विशेष विवरण देखो अथर्व० का० २ । सू० ४॥

'जातानां निगरणकर्त्ता असि अतो 'जंगिड' इत्युच्यते । यद्वा जंगम्यते शत्रून् बाधितुम् इति जंगिडः । [१] अथवा जनेर्जयतेर्वा डप्रत्यये 'ज' इति भवति । जं गिरतीति जंगिरः । कापिलकादित्वात् लत्वम् । पूर्वपदस्थस्य सुपो लुगभावश्छान्दसः । खच् प्रत्ययो वा द्रष्टव्यः । इति सायणः ॥ उत्पन्न हुए प्राणियों को निगलने वाला या शत्रुओं पर चढ़ाई करने वाला या विजयी लोगों को भी निगलने वाला वीर पुरुष 'जंगिड' कहाता है ।

---

[३४] १-गमेर्यङ्लुन्ताद्रूपसिद्धिः ।

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये ।
सर्वान् विनक्तु तेजसोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥२॥

भा०—(याः) जो (त्रिपञ्चाशीः) तिरेपन ५३ या १५० प्रकार की या सैंकड़ों (गृत्स्यः) लोभकारिणी या विषय विलास में फंसी स्त्रियें या जन श्रेणियां और (शतं) सौ प्रकार के या बहुत से (कृत्याकृतः) घातक प्रयोग करने वाले (ये) जो दुष्ट पुरुष हैं (सर्वान्) उन सबको (तेजसा) अपने तेज या पराक्रम से (जंगिडः) जंगिड नामक शत्रुनाशक सेनापति (विनक्तु) हमसे दूर करे और उनको (अरसान्) निर्बल (करत्) करे ।

'त्रिपञ्चाशीः'–सायण के मत में त्रेपन ५३ । ह्विटनि के मत में 'त्रिपञ्चाशीः' अर्थात् त्रिःपञ्चाशत् अर्थात् १५० ।

या 'त्रिपञ्चाशीः गृत्स्यः'–१५० या ५३ लोभ की चालें चलने वाली मनुष्यों की श्रेणियां हैं जो जुएखोरी का पेशा करती हों । जैसा लिखा है कि-

त्रिपञ्चाशः क्रीडति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा ।
उग्रस्य चिन्मन्यवे नानमन्ते राजाचिदेभ्यो नमइत्कृणोति ॥
ऋ० १० । ३४ । ८ ॥

इन जुवाखोरों के ५३ या १५० का समूह जूआ खेला करता है । वे उग्र पुरुष के गुस्से की भी परवाह नहीं करते । परन्तु सत्यधर्म के पालक सूर्य के समान तेजस्वी राजा इनको दण्ड से वश करता है । जूआखोरी

२–(तृ० च०) 'सर्वान् विनष्टतेजसोऽरसाञ्जङ्गिडस्करत्' । इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'जागृत्स्यस्त्रिः', 'यागृत्स्यस्त्र', 'ज्यागृत्स्यस्त्रि' । इति नानापाठाः । (तृ०) 'विनब्धि तेजसा', भनक्ति तेजसा, विनक्ति तेजसो, भिनक्ति तेजसा, भिनक्तु, विनक, विनक्ति, इत्यादि नाना पाठाः । 'याः कृत्स्याः=त्रिपञ्चाशीदृष्टाः' इति पैप्प० सं० । 'सर्वांग्यनक्तु तेजसः' इति पैप्प ।

तथा विषय विलास में फंसी स्त्रियां या जनश्रेणी यहां 'गृत्सी' शब्द से कही गई हैं। यजुर्वेद (१६। २५) में 'नमो गृत्सेभ्यः गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो' लिखा है। वहां गृत्स शब्दों के अर्थों में विवाद है। 'गृत्सो मेधावी' इति उव्वटः। गृत्साः विषयलम्पटाः मेधाविनो वा इति महीधरः।' उव्वट के मत में गृत्स का अर्थ मेधावी विद्वान् है। और महीधर के मत में वैकल्पिक अर्थ मेधावी और धात्वर्थ विषयलम्पट है। अथर्ववेद के इस प्रयोग से 'गृत्स, गृत्सी' विषय लम्पट और धन तृष्णालु के अर्थ में आया है। जिसका शब्दान्तर पैप्पलाद ने 'कृच्छ्राः', 'पीड़ाकारिणी' किया है। सायण ने कृत्याः का विशेषण माना है। ह्विटनी के अनुमान से यह पाठ 'याः कृत्याः त्रिपञ्चाशीः' ऐसा सम्भव है। उत्तरार्ध में-'सर्वान् विनष्टतेजसोरसां जंगिडस्करत्' यह पाठ भेद है, अर्थात् जंगिड उन सबको तेजोहीन और निर्बल करे।

अ॒र॒सं कृ॒त्रिमं॒ ना॒दम॑र॒साः स॒प्त वि॒स्रसः॑ ।
अपे॒तो ज॑ङ्गि॒डाम॑ति॒मिषु॒मस्ते॑व शातय ॥३॥

भा०—हे (जंगिड) शत्रुनाशक ! तू (कृत्रिमं) कृत्रिम साधनों द्वारा उत्पन्न किये (नादम्) शंख के विस्फोटकअस्त्रों के नादको (अरसम्) निर्बल कर देता है अथवा तू शत्रु के (कृत्रिमं नादम् अरसं) कृत्रिम नाद अर्थात् सम्पन्न या समृद्ध रूप को या परिवर्धित आडम्बर को निर्बल कर देता है। तेरे सामने (सप्त) सातों (विस्रसः) विविध दिशाओं से आने वाले शत्रु (अरसाः) निर्बल होजाते हैं। (अमतिम्) अदम्य शत्रु को भी (इतः) यहां से (अस्ता इषुम् इव) धनुर्धारी जिस प्रकार बाण को दूर फेंक देता है उसी प्रकार (अप शातय) दूर मार भगा।

३-(प्र०) 'कृत्रमनादं' इति क्वचित्। 'कृत्रिन् अनादं' इति पदच्छेदः क्वचित्। सप्त विस्रुहः इति पीट० लाक्ष० कामिलः। (प्र० द्वि०) रसं कृत्रिमं नाद अरसः' (च०) 'साशय' इति पैप्प० सं०।

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥४॥

भा०—(अयम्) यह (कृत्यादूषणः) घातक गुप्त प्रयोगों को नाश करने वाला (अथो) और (अरातिदूषणः) शत्रुओं का नाश करने वाला है। (अथो) और (जंगिडः) शत्रुओं को निगलने में समर्थ वीर राजा (सहस्वान्) शक्तिशाली होकर (नः आयूंषि) हमारे जीवनों को (प्रतारिषत्) बढ़ावे ।

स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः ।
विष्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज ओजसा ॥५॥

भा०—(सः) वह (जङ्गिडस्य) पूर्वोक्त शत्रुविजयी राजा का (महिमा) महान् सामर्थ्य है जो (नः) हमें (विश्वतः परिपातु) सब ओर से रक्षा करे। (येन) जिस सामर्थ्य से (विष्कन्धं) सेना के पृथक् २ निवेशों या दस्तों को और (संस्कन्धम् ओजः) शत्रु सेना के संयुक्त सेनाबल के वीर्य को भी अपने (ओजसा) वीर्य से (सासह) धर दबाता है।

त्रिष्ट्वा देवा अजनयन् निष्ठितं भूम्यामधि ।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥६॥

४-(नः) त'पित्' इति क्वचित् । (प्र० द्वि०) 'कृत्यादूषण वायमथोऽ०' इति पैप्प० सं० ।

५-(तृ०) 'ससहे' इति क्वचित् । 'सासहा' (च०) 'सासोजसा' इति पैप्प० सं० । 'येन सहसं–' इति सायणाभिमतः ।

६-(द्वि०) 'तिष्ठन्तं' इति सायणाभिमतः । 'तृष्ट्वा' इति क्वचित् । 'निष्ट्वा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे जंगिड ! शत्रुनाशक राजन् ! (देवाः) विद्वान् युद्धक्रीड़ी पुरुष (भूम्याम् अधि) भूमि पर (त्वा) तुझको (त्रिः) तीन वार (निष्ठितम्) स्थापित (अजनयन्) करते हैं । (तम् उ त्वा) उस तुझको ही (पूर्व्याः ब्रह्मणाः) पूर्व काल के, तुझ से पूर्व विद्यमान वृद्ध विद्वान् पुरुष (अङ्गिराः) 'अङ्गिरा' अङ्गार के समान प्रदीप्त या अङ्ग अर्थात् शरीर में रस के समान प्राण रूप (विदुः) जानें ।

अध्यात्म में—हे जंगिडि ! आत्मन् ! तुझको पूर्व के विद्वान् 'अंगिरा' ज्ञानवान् प्रकाशमय जानते हैं । भूमि=शरीर में स्थित तुझको देव-प्राणों ने तीन वार उत्पन्न किया । पुरुष देह से स्त्रीयोनि में आना प्रथम जन्म है, स्त्री-योनि से बाहर आना द्वितीय जन्म है । इस भौतिक शरीर से मुक्त होना तीसरा जन्म है । शक्ति, अधिकार और मान तीनों द्वारा राजा को स्थापित किया जाता है ।

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वां तरन्ति या नवाः ।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥७॥

भा०—(पूर्वाः) पूर्वकाल में या, तुझसे पूर्व उत्पन्न हुई (ओषधयः) सन्तापदायी शक्तियां और (याः नवाः) जो नयी शक्तियां भी उत्पन्न हैं वे भी (त्वा) तुझको (न तरन्ति) पार नहीं करतीं । तू स्वयं (उग्रः) उग्र, अति तीव्र और बलवान् होकर (जंगिडः) शत्रुओं की शक्तियों को निगल जाने वाला (परिपाणः) सब ओर से अपनी रक्षा करता हुआ और (सुमङ्गलः) शुभ, मङ्गलस्वरूप होकर शत्रुओं को (विबाध) विविध प्रकार से पीड़ित कर, नाश कर ।

७–(द्वि०) 'नवा' इति क्वचित् । 'नङ्गिड' इति सायणाभिमतः ।

अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य ।
पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥८॥

भा०—(अथ) और हे (उपदान) अपने समीप प्राणों के रक्षक ! हे (भगवः) ऐश्वर्यशील ! हे (जंगिड) शत्रु को अपने भीतर निगल जाने में समर्थ ! हे (अमित वीर्य) असीम बलशालिन् ! (उग्रा) उग्र उद्धत बलशाली होकर (पुरा) पहले ही से (ग्रसते ते) शत्रुओं को ग्रास कर जाने में समर्थ होते हुए तुझे तेरी रक्षा के लिये (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष राजा या राष्ट्र के सन्त्रिहितमान लोग अपना (वीर्यं) बल भी तुझे (उपददौ) प्रदान करता है । अर्थात् तुझे बलवान् देखकर ही राजा पदाधिकार देता है ।

पैप्पलाद पाठ—(पुरा ते उग्रान सते इन्द्रः वीर्यं उपददौ) पूर्व उग्र होते हुए तुझे इन्द्र राजा वीर्य अर्थात् अधिकार प्रदान करता है । (पुरा उग्रा ते ग्रसते इति इन्द्रः वीर्यं उपददौ) कहीं बलवान् पुरुष तुझको न ग्रस जायं इस भय से इन्द्र ने तुझे वीर्य या बल दिया । इति सायणः ।

उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ॥९॥

भा०—(उग्रः इन्द्रः) उग्र, भयंकर, बलशाली (इन्द्रः) इन्द्र राजा, हे (वनस्पत) महा वृक्ष के समान प्रजा पालक । (ते) तुझे (ओज्मानम्) बल (दधौ) प्रदान करता है । तू (सर्वान्) समस्त (अमीवाः) पीड़ा

८—'अथो इति पदा । न । भगवः' इति क्वचित् पदपाठः । 'अथवोपवानि म—' इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) 'पुरा त उग्राय सतो पेन्द्रो' इति पैप्प० सं० । अत्र 'सते । इन्द्रः' । इति पदच्छेदः । १ देङ् रक्षणे भ्वादिः । ९(तृ०) अमीवाः सर्वा रक्षांसि चातयं नशोषधे, इति पैप्प० सं० ।

कारी शत्रुओं को (चातयन्) विनाश करता हुआ, हे (ओषधे) दुष्टों के तापकारिन् ! रोगनाशक ओषधि के समान ! तू भी (रक्षांसि) विघ्नकारियों को (जहि) विनाश कर, मार, दण्ड दे ।

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् ।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥१०॥

भा०—(जंगिडः) पूर्वोक्त शत्रुनाशक, वीर पुरुष (आशरीकम्) चारों ओर से राष्ट्र पर आघात करने वाले, (विशरीकम्) नाना प्रकार से पीड़ा देने वाले, (बलासम्) बलके नाशक (पृष्ट्यामयम्) पीठ में विद्यमान रोग के समान, राष्ट्र के धारण करने में समर्थ, (पृष्ट्यामयम्) पीठ की पसुलियों के से दृढ़ राज्य के मुख्य पुरुषों में विद्यमान (तक्मानम्) अति कष्टदायी, ज्वर के समान पीड़ाकारी, (विश्वशारदम्) समस्त आयु भर लगे हुए या समस्त वर्ष भर दुःखदायी, या सब प्रकार से देह को तोड़ने वाले शत्रुओं को भी (अरसान्) निर्बल (करत्) कर देता है ।

इस सूक्त में साथ ही 'जङ्गिड'[1] नामक ओषधि का वर्णन भी होगया है । जैसे—

१-जंगिड़ नाम ओषधि हमारे दोपाये चौपाये सबकी रक्षा करे ।

२, ३-प्रकार की गृत्सी या गृध्रसी नामक वात रोग और सब कृत्याकृत अर्थात् विष के उपचारों से उत्पन्न रोगों को नाश करें ।

३-जंगिड़ शिर के भीतर उठने वाले नाद और सातों धातुओं के विपरीत रूप में बहने या नष्ट होने के रोगों को दूर करे ।

४-वह वीर्यवान् ओषधि, विष आदि कूट प्रयोगों को दूर करे ।

५-वह अपने वीर्य से कंधों की फूटन को दूर करे ।

१-जंगिड़ोऽर्जुन वृक्षः इति दारिलः ।

६–वह 'अंगिरा' अंगों में रस के समान व्यापक या अग्नि के गुण वाला है। अतएव वात नाशक है।

७–वह सब ओषधियों से अधिक वीर्यवान् है। इसीसे सब रोगों का नाशक है। उसमें इन्द्र=सूर्य ने तेज प्रदान किया है।

१०–वह देह की व्यापक पीड़ा या स्थानिक पीड़ा, कफजन्य रोग पीठ के पसुलियों के दर्द को, ज्वर को और समस्त शरीर में शीत लगने के रोग को नाश करता है।

[३५] पूर्वोक्त जङ्गिड़ सेनापति का वर्णन।

अंगिरा ऋषिः। जंगिडो देवता। ३ पथ्यापंक्तिः। ४ निचृत् त्रिष्टुप्। शेषा अनुष्टुभः। पञ्चर्चं सूक्तम्।

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम् ॥१॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् इन्द्र या राजा का नाम (गृह्णन्तः) ग्रहण करते हुए, अर्थात् उस जङ्गिड, शत्रुनाशक पुरुष के लिये 'इन्द्र' राजा का नाम, उपाधि स्वीकार करते हुए (ऋषयः) ऋषि, तत्वदर्शी लोग प्रजा के लिये (जङ्गिडं) शत्रुनाशक उस पुरुष को ही (ददुः) प्रदान करते हैं, प्रस्तुत करते हैं। (यम्) जिसको (देवाः) देव, विद्वान् पुरुष (अग्रे) सब से आगे, सर्वप्रथम (विष्कन्धदूषणम्) शत्रु के विविध सेनाओं को नाश करने वाला (भेषजम्) उपाय (चक्रुः) बनाते हैं।

स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव।
देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम् ॥२॥

[३५] १–(द्वि०) 'ददुः' इति क्वचित्।
२–(द्वि०) 'धनेव' इति ह्विट्नि० कं०।

भा०—(धनपालः) धन का पालक, राजा का धनाध्यक्ष (धना० इव) जिस प्रकार धनों की रक्षा करता है ऐसे ही (जङ्गिडः) वह शत्रु नाशक पुरुष भी हमारी (रक्षतु) रक्षा करे (यं) जिसको (ब्राह्मणाः) ब्रह्म-वेद के विद्वान् पुरुष और (देवाः) दानशील राजा लोग (परिपाणम्) चारों ओर से रक्षा करने, (अरातिहम्) और शत्रुओं को नाश करने में समर्थ (चक्रुः) बनाते हैं । अर्थात् उसको रक्षा करने और शत्रुनाश करने के समस्त उपाय और अधिकार प्रदान करते हैं ।

दुर्हार्दः सं घोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम् ।
तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतीबोधेन नाशय परिपाणोऽसि जंगिडः ॥३॥

भा०—यदि मैं (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय के पुरुष के (घोरं चक्षुः) घोर (चक्षुः) चक्षु को और (पापकृत्वानम्) अपने ऊपर पाप, अत्याचार करने वाले को (सं आ अगमम्) प्राप्त हो जाऊं तो हे (सहस्रचक्षो) सहस्रचक्षो हजारों आंखों वाले ! हज़ारों गुप्तचरों की चक्षुओं से युक्त या (सहस्रचक्षो) बलवान् शत्रु को पराजित करने में समर्थ चक्षु वाले राजन् ! तू (तान्) उन दुष्ट हृदय वाले अत्याचारी पुरुषों को (प्रतिबोधेन) अपने प्रतिबोध, सावधान, खतरे या उनपर सदा सतर्क रहने की प्रवृत्ति से उनको (नाशय) विनाश कर क्योंकि तू (जंगिडः) शत्रुनाश करने वाला और सब ओर से (परिपाणः असि) रक्षा करने हारा है ।

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् परि मा वीरुद्भ्यः ।
परि मा भूतात् परि मोत भव्याद् दिशोदिशो जंगिडः पात्वस्मान् ॥४॥

३–'दुर्हार्द घोरचक्षसं' इति ह्विटनिकामितः । 'दुर्हार्दसं घोरचक्षुम्' इति पैप्प० सं० ।

(द्वि०) 'मागतम्', 'मादयन्' इति च क्वचित् ।

भा०—(जङ्गिडः) जङ्गिड नाम राजा (मा) मुझको (दिवः परि-पातु) द्यौः, सुदूर आकाश से रक्षा करे। (मा पृथिव्याः परि पातु) मुझे पृथिवी से रक्षा करे। (अन्तरिक्षात् परि पातु) अन्तरिक्ष से रक्षा करे। (वीरुद्भ्यः परि पातु) लताओं से रक्षा करे। (मा भूतात् परि पातु) मुझे अतीत से रक्षा करे। (उत मा भव्यात् परिपातु) और मुझे वह भावी काल से रक्षा करे और (अस्मान्) हम सबको (दिशोदिशः) प्रत्येक दिशा से (परि पातु) रक्षा करे।

य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेऽन्यः।
सर्वांस्तान् विश्वभेषजोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥५॥

भा०—(ये) जो (देवकृताः) देव, राजा या विद्वान् पुरुषों द्वारा बनाये गये या नियुक्त किये हुए (ऋष्णवः) हिंसाकारी पदार्थ या पुरुष हैं, (उतो) और (ये) जो (अन्यः) हमारा शत्रु (ववृते) है। (तान् सर्वान्) उन सबको (विश्वभेषजः) समस्त रोग पीड़ाओं का उपाय करने वाला (जंगिडः) शत्रुनिवारक पुरुष (अरसान्) निर्बल (करत्) करे।

[३६] 'शतवार' नामक वीर सेनापति का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः। शतवारो देवता। अनुष्टुभः। षड्चं सूक्तम् ॥

शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥१॥

* भा०—(शतवारः) शत, सैकड़ों शत्रुओं को वारण करने में समर्थ पुरुष, (मणिः) शत्रुओं का स्तम्भन करने वाला और (दुर्नामचातनः) दुष्ट

५–'यः कृष्णावो' इति बहुत्र। 'यतो' इति क्वचित्। 'देवकृताय', 'वभृथेन्यः,' 'वभृतेभ्यः,' इति क्वचित् पाठाः।

[३६] १–(च०) 'मणि' इति बहुत्र। 'मणिं चातनम्' इति पैप्प० सं०।

ख्याति वाले दुर्दान्त, बदनाम जीव पुरुषों का नाशकारी, अपने (वर्च-सा सह) तेज से (आरोहन्) उन्नति को प्राप्त होकर (तेजसा) पराक्रम और तेज से (यक्ष्मान्) रोगकारी-पीड़ाकारी पुरुषों और (रक्षांसि) विघ्न-कारी पुरुषों को (अनीनशत्) विनाश करे।

शृङ्गा॑भ्यां॒ रक्षो॑ नुदते॒ मूले॑न यातुधा॒न्यः॑ ।
मध्ये॑न॒ यक्ष्मं॑ बाधते॒ नैनं॑ पा॒प्माति॑ तत्रति ॥२॥

भा०—वह शतवार नाम शिरोमणि, शत्रुनाशक पुरुष (शृङ्गाभ्याम्) सींगों के समान हिंसाकारी साधनों से (रक्षः नुदते) राक्षसों दुष्ट पुरुषों को भगाता है। और (मूलेन) अपनेमूल, स्थिर स्थिति से (यातुधान्यः) प्रजा को पीड़ाकारी स्त्रियों से बचाता है। (मध्येन) अपने बीच के भाग से (यक्ष्मं) यक्ष्म, रोगजनक कारणों को (बाधते) दूर करता है और (एनम्) इसको (पाप्मा) कोई भी पाप और पापकारी पुरुष (न अति तत्रति) नहीं दबा सकता।

ये यक्ष्मा॑सो अर्भ॒का म॒हान्तो॒ ये च॑ श॒ब्दिनः॑ ।
सर्वा॑न् दुर्णाम॒हा म॒णिः श॑तवा॒रो अ॑नीनशत् ॥३॥

भा०—(ये) जो (यक्ष्मासः) रोग, दुःखदायी कारण (अर्भकासः) छोटे हैं और (ये) जो (महान्तः) बड़े और (शब्दिनः) विकराल शब्द करते हैं, (सर्वान्) उन सबको (शतवारः) सैकड़ों को वारण करने में समर्थ (मणिः) शत्रुस्तम्भक (दुर्नामहा) दुष्ट नाम वाले, दुर्दान्त पुरुषों का नाशक पुरुष (अनीनशत्) नाशकरे।

२-(च०) 'तरति' इति ह्विटनिकामितः ।

३-(प्र०) 'अर्भकः' इति क्वचित् । (द्वि०) 'शपथिनः' इति पैप्प० सं० ।

शतं वीरानंजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत् ।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥४॥

भा०—वह (शतं वीरान्) सैकड़ों वीर पुरुषों को (अजनयत्) उत्पन्न करता है और (शतं यक्ष्मान्) सैकड़ों कष्टदायी पुरुषों को (अपावपत्) उखाड़ने में समर्थ है । वह (सर्वान्) समस्त (दुर्नाम्नः) बुरे पुरुषों को (हत्वा) मारकर (रक्षांसि) विघ्नकारी पुरुषों को (अव धूनुते) नीचे गिरा देता है, धुन डालता है ।

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः ।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्ढ्वाव रक्षांस्यक्रमीत् ॥५॥

भा०—(हिरण्यशृङ्गः) हिरण्य अर्थात् धातु के बने अति प्रदीप्त शृङ्ग अर्थात् हिंसा साधन शस्त्रों वाला, (ऋषभः) नरश्रेष्ठ (अयं) यह (शातवारः मणिः) सैकड़ों का वारण करने में समर्थ शत्रुस्तम्भक पुरुष (सर्वान्) समस्त (दुर्णाम्नः) दुर्दमनीय, दुर्दान्त पुरुषों को (तृड्ढ्वा) नाश करके (रक्षांसि) प्रजा के कार्यों में विघ्नकारी पुरुषों को भी (अव अक्रमीत्) दबाता है ।

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् ।
शतं च श्वन्वतीनां शतवारेण वारये ॥६॥

४–(प्र०) 'वीरा अजन–' 'वीरान् जन–' इति च क्वचित् । 'शतं वीराणि जनयच्छ–' इति पैप्प० सं० । 'वीराणि जनयन्', 'शतंवीरा अजनयन्' इत्युभयथा ह्विट्न्यनुमितौ पाठौ ।

५–(द्वि०) 'शतवारो' इति क्वचित् । 'दुर्णाः त्रिः सर्वांस्तिड्वा अवरक्षां-स्यक्रमीत्' इति पैप्प० सं० ।

६–(तृ०) 'शतं शश्वन्वतीनां । इति शं० पा०, सायणाभिमतश्च । 'शतं च शुन्वतीनां' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(शतं) सैकड़ों (दुर्णाम्नीनाम्) दुर्दान्त और सैकड़ों (गन्धर्वाप्सरसां) कामी पुरुष और कामिनी स्त्रियों को और (शतं च) सैकड़ों (श्वन्वतीनां) कुत्तों को साथ लिये आने वाली मांसभक्षिणी स्त्रियों को या कुत्तों के स्वभाव वाली अति कामुक स्त्रियों को मैं प्रजापालक पुरुष (शतवारेण) सैकड़ों को वारण करने में समर्थ पुरुष के द्वारा ही वारण करूं ।

श्वन्वती अप्सराएं—जैसे 'श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे' । अथर्व० ११।९।१५
कामी पुरुष-जैसे 'श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः' । अथर्व० ४ । ३७ । ११ ॥

ओषधि पक्ष में-शतवार नामक ओषधि 'शतवार' इसलिये है कि १म वह सैकड़ों रोग को वारण करने वाली और २य वह सैकड़ों कांटों वाली है । (१) वह यक्ष्मा=रोगों को और कुष्ठ को नाश करे । (२) वह कांटों से दुष्ट पुरुषों को मूल से पीड़ाओं को और मध्यभाग=काण्ड से राजयक्ष्मा को नाश करता है । (३) वह छोटे बड़े और रुलाने वाले सब रोगों को नाश करे । (४) सैकड़ों वीर्यों को उत्पन्न करती और सैकड़ों रोग को शरीर से नाश करती है । वह बुरे नाम के कुष्ट आदि त्वचा के रोगों को भी दूर करती है । (५) उसके पीले कांटे हैं । वह त्वचा के रोगों को दूर करता है । (६) सफेद कोढ़, दाद, खाज आदि दुष्ट नाम के रोग गन्धर्व और अप्सरा अर्थात् गन्ध या वायु द्वारा या जल द्वारा मनुष्य को लग जाने वाली बीमारियों को और श्वन्वती अर्थात् कुत्तों द्वारा फैल जाने वाली कौलिक, दुःसाध्य पीड़ाओं को भी वह सैकड़ों की संख्या में दूर करती है । ऐसी 'शतवार' नामक ओषधि वैद्यों को तैयार करनी चाहिये ।

[३७] वीर्य, बल की प्राप्ति ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ त्रिष्टुप् । २ आस्तारपंक्तिः । ३ त्रिपदा महाबृहती । ४ पुरोष्णिक् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।
त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥१॥

भा०—(इदं) यह (वर्चः) तेज जो (अग्निना) अग्नि ने (दत्तम्) प्रदान किया है वह मुझे (भर्गः) तेज, (यशः) यश, (सहः) शत्रु-धर्षक बल, (ओजः) ओज, (वयः) दीर्घ आयु और (बलम्) बल रूप में (आ अगन्) प्राप्त हो । (यानि) जो (त्रयः त्रिंशत् वीर्याणि) तेंतीस वीर्य, अधिकार हैं (तानि) उन सबको वह (अग्निः) अग्नि, परमेश्वर, राजा, आचार्य और विद्युत् (मे प्रददातु) मुझे प्रदान करे ।

वर्च आ धेहि मे तन्वां३ सह ओजो वयो बलम् ।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥२॥

भा०—हे पूर्वोक्त अग्ने ! तू (मे) मेरे (तन्वां) शरीर में (वर्चः) ब्रह्मवर्चस वीर्य, (सहः) सहनशक्ति, (ओजः) तेज, ओज, (वयः) जीवन शक्ति और (बलम्) बल, ताकत (आ धेहि) प्रदान कर । (त्वा) तुझको मैं (इन्द्रियाय) इन्द्रियों के बल के लिये (कर्मणे) कर्म या क्रिया शक्ति को प्राप्त करने और (वीर्याय) वीर्य प्राप्त करने के लिये और (शतशारदाय) सौ वर्ष के जीवन के लिये (प्रति गृह्णामि) स्वीकार करता हूं ।

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ॥३॥

[३७] १–(प्र०) 'आगात्' तै० ब्रा० । 'इदं राधो' इति आश्वौ० सू० । 'यशो भर्गः सह ओजो बलं च' इति तै० ब्रा० । महि राधः सह ओजो बलं यत् । मं० स० ।

२–(प्र०) 'तन्वं' इति क्वचित् । दीर्घायुत्वाय शतशारदाय प्रतिगृह्णामि, इति तै० ब्रा० ।

भा०—हे अग्ने ! (त्वा) तुझको (ऊर्जे) अन्न से पुष्टि प्राप्त करने के लिये, (बलाय) बल की वृद्धि करने के लिये, (ओजसे) ओज, पराक्रम के लिये, (सहसे) शत्रुधर्षण के लिये, (अभिभूयाय) शत्रुओं का पराजय करने के लिये और (राष्ट्रभृत्याय) राष्ट्र के भरण पोषण के लिये और (शतशारदाय) प्रजाओं के सौ २ वर्षों तक के दीर्घ जीवन के लिये (पर्यूहामि) स्वीकार करता हूं। यहां अग्नि शब्द से राजा का ग्रहण है।

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥४॥

अथर्व० ३ । १० । १० ॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् (त्वा) तुझको (ऋतुभ्यः) ऋतुओं अर्थात् राजसभा के सदस्यों के लिये, (आर्तवेभ्यः) उनके समान अन्य प्रजाधिकारियों के लिये (माद्भ्यः) संवत्सर प्रजापति के अधीन मासों के समान आदित्य प्रजा के अधिकारियों के लिये और (संवत्सरेभ्यः) वर्ष के समान अन्य प्रजापतियों, प्रजापालक भूपतियों के लिये अर्थात् उनपर शासन करने के लिये वरण करता हूं। और (धात्रे) राष्ट्र के धारण करने वाले, (विधात्रे) कानून विधान करने वाले, (समृधे) देश को सम्पन्न करने या राज्य कार्य में शत्रुओं को वश करने वाले (भूतस्पतये) समस्त प्राणियों के पालक उस परमेश्वर या महान् राजा का (यजे) मैं संगति-लाभ करूं। देखो अथर्व० ५ । २ । ८ । ३१॥

प्रायः हस्तलिपियों में इस मन्त्र की प्रतीक मात्र दी है 'ऋतुभिष्ट्वे-' का सायण ने भाष्य में ३ । १० । १० को दो हराया है। ह्विटनि ने ४।

४–अस्याः स्थाने ह्विटनिग्रीफिथादयः अथर्व० ५ । २८ । १३ इति ऋचं पुनरावर्त्तयन्ति । तदसत् । 'ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यः' इति स्पष्टमनुक्रमणिका वचनात् । सायणोल्लेखाच्च ।

२८ । १३ को दो हराया है । अथर्व सर्वानुक्रमणी में 'ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यः' लिखा है । अतः जो मन्त्र दिया है वही ठीक है ।

[३८] राज यक्ष्मा नाशक गुल्गुलु ओषधि

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता गुल्गुलुर्देवता । १ अनुष्टुप् । २ चतुष्पदा उष्णिक् । ३ एका वसाना प्राजापत्यानुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥१॥
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते ।

भा०—(यम्) जिसके शरीर को (भेषजस्य) रोग नाशक (गुल्गुलोः) गूगल का (सुरभिः) उत्तम (गन्धः) गन्ध (अश्नुते) व्यापता है (तम्) उसको (यक्ष्मा) राजयक्ष्मा के रोग (न अरुन्धते) नहीं पीड़ा देते, नहीं घेरते । और (एनं) उसको (शपथः) दूसरे की निन्दा वचन भी (न अश्नुते) नहीं लगता है । वह सदा स्वस्थ प्रसन्न रहने से दूसरे के कहे बुरे वचनों को बुरा नहीं मानता । (तस्मात्) उससे (विष्वञ्चः) सब प्रकार के (यक्ष्माः) राजयक्ष्मा रोग (अश्वाः मृगा इव) शीघ्रगामी हरिणों के समान (ईरते) कांपते हैं, डरकर भागते हैं ।

यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ॥२॥
उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ॥३॥

---

[३८] १–'अरुंधत' इति क्वचित् । 'शपथोऽश्नु०' इति क्वचित् ।
२–'गुग्गुलु', 'यद्वास्यसि' इति क्वचित् । 'यस्माद् मृगानश्वाय वेभते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यद्) जो (गुल्गुलु) गूगल (सैन्धवं) सिन्धु से उत्पन्न है अर्थात् नदी के तटों पर उत्पन्न होता है और (यद् वा अपि) और जो (समुद्रियम् असि) समुद्र के तट पर उत्पन्न होता है । (उभयोः) उन दोनों के (नाम) नाम, स्वरूप का (अस्मै) इस पुरुष के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (अग्रभम्) उपदेश करता हूं ।

[३९] कुष्ठ नामक ओषधि

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । मन्त्रोक्तः कुष्ठो देवता । २, ३ पथ्यापंक्तिः । ४ षट्पदा जगती । (२–४ त्र्यवसाना) ५ सप्तपदा शक्वरी । ६–८ अष्टयः (५-८ चतुरवसानाः) । शेषा अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ।

ऐतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥१॥

भा०—(त्रायमाणः) रक्षा करने वाला (देवः) दिव्य गुणवान्, हर्षोत्पादक (कुष्ठः) कुष्ठ नामक वनस्पति (हिमवतः परि) हिम वाले पर्वत से (आ एतु) हमें प्राप्त होता है । हे कुष्ठ ! (सर्वम्) सब प्रकार के (तक्मानं) पीड़ादायी ज्वरों को और (सर्वाः च यातुधान्यः) सब प्रकार की पीड़ाकारिणी यातनाओं को (नाशय) नाश कर ।

त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः । नद्यायं पुरुषो रिषत् ।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥२॥

---

[३९] १–'नाशयत्' इति ह्विटनिकामितः ।

२–नद्यमारो, नद्यारिषः नद्यायः इति बहुत्र पाठः । धद्ययोरविवेकः । 'नद्यारिषं' इति पूर्वत्रापि ७ । २ । ६ ॥ ७ । ७ । ६ ॥ प्रयोगदर्शनात् घः साधुः । 'अस्मै' 'दिवः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (कुष्ठ) कुष्ठ ! (ते) तेरे (त्रीणि) तीन प्रकार के (नामानि) रोगों को दमन करने के सामर्थ्य हैं। एक तो (नघमारः) पुरुष को कभी मरने नहीं देता, दूसरा (नघ-आरिषः) कभी कोई अरिष्ट या रोग नहीं होने देता। अथवा कुष्ठ के तीन नाम हैं कुष्ठ, नघमार और नघारिष, इसी कारण हे कुष्ठ ! (यस्मै) जिस पुरुष को भी (त्वा) तेरा (परि ब्रवीमि) मैं उपदेश करूं। (अथं) वह (पुरुषः) पुरुष चाहे (सायं प्रातः अथो दिवा) सायंकाल, प्रातःकाल, मध्याह्न हो, कभी भी, (नघ रिषत्) रोग पीड़ा आदि कष्ट को प्राप्त नहीं होता।

'नघसारो, नघारिषः, नघायं' यह पाठ प्रायः सर्वत्र छपी पुस्तकों में है। परन्तु 'नघारिषाम्' आदि प्रयोग (अथर्व० ८। २। ६॥ ८। ७। ६॥) देखने से शुद्ध पाठ 'नघमारो नघारिषः नघायं' यही है। शंकर, पाण्डुरंग और ह्विटनी को इस पाठ में संदेह है। परन्तु बनारस संस्कृत कालिज के पण्डित ग्रीफिथ को इस पाठ में कोई संदेह नहीं। उसको प्राप्त हस्तलिपि में 'नघमारो नघारिषः, नघायं' यही पाठ रहा प्रतीत होता है। यही पाठ पैप्पलाद का भी है।

जी॒व॒ला नाम॑ ते मा॒ता जीव॑न्तो॒ नाम॑ ते पि॒ता। न॒घायं पु० । ० ॥३॥

भा०—(ते माता) तेरी माता, तेरी रचना करने वाली शक्ति (जीवला नाम) प्राण धारण करने वाली होने से 'जीवला' कहाती है। इसी प्रकार (ते) तेरा (पिता) पिता, पालक शक्ति भी (जीवन्तः) जीवनप्रद होने से 'जीवन्त' नाम से कहाती है। (नघ अयम्० इत्यादि) पूर्ववत्।

३–'जीवलो नाम ते पिता' इति ग्रीफिथसम्मतः। 'जीवन्तः'–इत्यत्र रुहि नन्दि जीवि प्राणिभ्यः षित् आशिषि, इत्यौणादिकः प्रत्ययः। जीवति स जीवन्तः। औषधं वा। इति दया० उ० व्या०।

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । नघायं पुरुषो रिषत् । यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायं प्रातरथो दिवा ॥ ४ ॥

भा०—हे कुष्ठ नामक ओषधे ! तू (ओषधीनाम्) दोषों को नाश करने या वात, पित्त, कफ आदि को पुष्ट करने वाली ओषधियों में से (उत्तमः) सब से उत्तम (असि) है । और (जगताम्) जंगम संसार में (अनड्वान् इव) बैल जिस प्रकार हृष्ट पुष्ट एवं गाड़ी खींचने में समर्थ होता है उसी प्रकार यह ओषधि शरीर को चलाने में समर्थ है । (श्वपदाम्) नख वाले कुत्ते की जाति के प्राणियों में से (व्याघ्रः इव) जिस प्रकार व्याघ्र, सिंह बलवान् होने से सब से श्रेष्ठ है उसी प्रकार बलकारी यह ओषधि भी सब से श्रेष्ठ है । (नघ अयम्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि । त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः । स कुष्ठो विश्वभेषजः । साकं सोमेन तिष्ठति । तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ५ ॥

भा०—(सः) वह (कुष्ठः) कूठ नामक (विश्वभेषजः) समस्त रोगों को दूर करने वाली ओषध (शाम्बुभ्यः=साम्बुभ्यः) साम्बु अर्थात् जल सहित नदी, समुद्र और मेघ इनसे (त्रिः) तीन प्रकार का, तीन भेदों वाला (जातः) उत्पन्न होता है । इसी प्रकार (अङ्गिरेभ्यः) अग्नियों के भेदों से भी वह (त्रिः) तीन प्रकार का होता है (आदित्येभ्यः) आदित्य अर्थात् वर्ष के मासों के भी तीन प्रकार ग्रीष्म, वर्षा और

४–'उत्तमोस्योष' इति पैप्प० सं० ।

५–'त्रिर्भृगुभ्योऽङ्गिरेभ्यः' इति ह्विट्नि-अनुमितः । 'अंगिरसेभ्यः' इति क्वचित् । 'तिष्यामिविश्चोङ्गिरेयभ्यः' इति पैप्प० सं० । (पं०) 'तिष्ठसि' इति पैप्प० सं० ।

शीत ऐसे ऋतु भेद होने से भी वह कुष्ठ (त्रिः परि जातः) तीन प्रकार का होजाता है। और (विश्वदेवेभ्यः) समस्त अन्य देव अर्थात् जल, वायु, पृथिवी आदि भेद से भी (त्रिः जातः) वह तीन प्रकार का होजाता है। इसी कारण से (सः) वह (कुष्ठः) कुष्ठ ओषधि या (कुष्ठः) कु-ष्ठ=पृथिवी पर विद्यमान नाना प्रकार के औषध (विश्वभेषजः) सभी रोगों के औषध होजाते हैं। यह समस्त वनस्पति (सोमेन) प्रेरक, उत्तेजक रस के साकं) साथ (तिष्ठति) विद्यमान है। इनकी सहायता से हे पुरुष ! तू (सर्वं तक्मानं) सब कष्टदायी रोगों को और (सर्वाः च यातुधान्यः) सब प्रकार की पीड़ा प्रदान करने वाली दशाओं को भी (नाशय) विनाश कर।

कौ पृथिव्यां तिष्ठतीति कुष्ठः। पृथिवी पर स्थित समस्त वनस्पतियों के लिये भी कुष्ठ शब्द सामान्य से आया प्रतीत होता है। जल भेद से, अग्नि भेद से, रस भेद से, सूर्य के भिन्न २ प्रकार के आतपभेद या मास भेद और ऋतु भेद से वायु, पृथिवी आदि पदार्थ भेद से उनके नाना भेद होजाते हैं। और एक २ जाति की वनस्पति के भी भिन्न २ भेद, गुणभेद प्रभाव भेद होने से वे सर्व रोग हरण करने वाली होजाती हैं।

अ॒श्व॒त्थो दे॑व॒सद॑नस्तृ॒तीय॑स्यामि॒तो दि॒वि।
तत्रा॒मृत॑स्य॒ चक्ष॑णं॒ तत॒ः कुष्ठो॑ अजायत० । ० ॥ ६ ॥

अथर्व० ५ । ४ । ३ ॥

भा०—(देवसदनः) दिव्य गुणों का आश्रय (अश्वत्थः) अग्नि का महान् आश्रय सूर्य (इतः) इस लोक से (तृतीयस्याम् दिवि) तीसरे द्यौलोक में विद्यमान है (तत्र) वहां ही (अमृतस्य) अमृत, परम जीवनप्रद रस का (चक्षणम्) स्रोत है। (ततः) उससे ही (कुष्ठः) कुष्ठ नाम

६–(च०) 'देवाः कुष्ठमवन्वत' इति पूर्वत्र पाठभेदः।

ओषधि, या समस्त पृथिवीस्थ वनस्पति (अजायत) उत्पन्न होते हैं। (सः कुष्ठः०) इत्यादि पूर्ववत् ।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत० । ० । ॥७॥
अथर्व० ५ । ४ । ४ ॥

भा०—व्याख्या देखो का० ५ । ४ । ४ ॥ (स कुष्ठः) इत्यादि पूर्ववत् ।

यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥८॥

भा०—(यत्र) जहां (अवप्रभ्रंशनम्) नीचे फिसलना अर्थात् हिमका पिघलना (न) नहीं होता, अथवा (यत्र नावः प्रभ्रंशनम्) जहां नौ अर्थात् सूर्य का 'प्रभ्रंशन' तेज अति न्यून होजाता है (यत्र) जहां (हिमवतः) हिमवाले पर्वत का (शिरः) शिर या शिखर भाग है। (तत्र अमृतस्य चक्षणम्) वहां अमृत का स्रोत है। (ततः) वहां (कुष्ठः) कुष्ठ (अजायत) उत्पन्न होता है। (सः कुष्ठः० इत्यादि) पूर्ववत् ।

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः ।
यं वायसो यं मात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥९॥

८–(प्र०) 'भावः प्र–' इति क्वचित् ।

९–(प्र०) 'इक्षाकुर्यं' इति सायणाभिमतः । 'इष्वाक' इत्येव प्रायः । 'इक्ष्वाकः । यं' इति प्रायः पदपाठः । कुष्ठकाम्यः' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'यं वायसो यमात्स्यस्ते' इति प्रायः । 'यं वायसो यंमात्स्यस्ते' इति ग्रिफिथकामितो ह्विटनिकामितश्च (प्र–तृ०) यं त्वा वेद पूर्वं इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठिकाश्च महिस्वायस्तो अनुमारिन्छ स्तेना, इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (कुष्ठ) कुष्ठ ! (यं) जिस (त्वा) तुझको (पूर्वः) पूर्व का या पूर्ण (इष्वाकः) 'इष्वाक' नामक पक्षी बाण के समान वेग से जाने वाला (वेद) प्राप्त करता है और (वा) या (यं त्वा) जिस तुझको (काम्यः) कामना या आवश्यकता वाला पुरुष या 'काम्य' नाम पक्षी (वेद) प्राप्त करता है। (वा) और या (यं) जिस तुझको (वायसः) वायस नाम पक्षी और (यं मात्स्यः) जिसको 'मात्स्य' नामक पक्षी (वेद) जानता है। (तेन) उससे तू (विश्वभेषजः असि) सब रोगों को दूर करने वाला औषध है।

ग्रीफिथ के मत से—पूर्व, इक्ष्वाकु, काम्य, वायस और मात्स्य ये राजाओं के नाम हैं। शंकर या पाण्डुरंग सम्मत पाठ इस प्रकार है-'यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः। यं वावसो यं मात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः'।

सायण के मत से-इक्ष्वाकु नाम राजा, काम्य, कामनायुक्त (यमास्य वसः) यममुख 'वस' नामक देव। हमारे विचार में यह पाठ विकृत है। पूर्व इक्ष्वाकु, काम्य, वायस और मात्स्य ये पक्षियों के नाम प्रतीत होते हैं। वाचस्पत्य और शब्द कल्पद्रुम महाकोशों के अनुसार मात्स्यरंग 'मच्छरंग' नाम जल पक्षी है। काम्य या कामान्ध नाम श्येन का है। कामी नाम चकवा, कबूतर, चटक और सारस का वाचक है। वायस काक या कौआ है। इक्ष्वाकु-इष्वाकु भी किसी तीव्रगति पक्षी का नाम प्रतीत होता है।

शीर्षलोकं तृतीयकं सद्रन्दिर्यश्च हायनः।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परां सुव ॥१०॥

१०-(प्र०) 'शीर्षालाकम्', 'सदन्ति (तृ०) 'विश्वधावीर्यमधरा' इति पैप्प० सं०।

भा०—(शीर्षलोकं=शीर्षरोगम्[1]) सिरके रोग को (तृतीयकम्) तीसरे दिन आने वाले ज्वर को, (सदान्दिः) और निरन्तर चढ़े रहने वाला जो ज्वर है उस (तक्मानं) कठिन ज्वर को भी हे (विश्वधावीर्यम्) सब प्रकार के वीर्यवाले ओषधे ! तू (अधराञ्चम्) नीचे गति वाला करके (परा सुव) सर्वथा दूर कर ।

गले सड़े मांस खाने वाले गीध आदि, मलिन पदार्थ के खाने वाले काक, मत्स्य खाने वाला मछरंगा और इसी जाति के जल-जन्तु और निराक्र कीटों को खाने वाला पक्षी पारावत आदि उस कुष्ठ नाशक कुष्ठ ओषधि का ज्ञान रखते हैं वे उसी के बलपर सब रोगकारी पदार्थ खाकर भी स्वस्थ रहते हैं। उनके द्वारा मनुष्य को कुष्ठ ओषधि का ज्ञान करना चाहिये।

[४०] निर्दोष, मेधावी, ज्ञानी, होने की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । बृहस्पतिर्विश्वेदेवाश्च देवताः । १ परानुष्टुप् । २ त्रिष्टुप् पुरः ककुम्मती उपरिष्टाद् बृहती । ३ बृहतीगर्भा अनुष्टुप् । ४ त्रिपदा आर्षी गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ॥१॥

यजु० । ३६ । २ ॥

१—स्त्वं लत्वं च छान्दसम् ।

[४०] (द्वि०) सरस्वती मन्युमन्त' इति बहुत्र । 'हरस्वन्तं मायुमन्तं' इति ह्विटन्यनुमितः । सरस्वतीमन्युमतीम्' इति ह्विटनिसम्मतः । 'सरस्वतीमन्वविन्तं जगाम' इति पैप्प० सं० । (च०) 'संदधातु' इति पैप्प० सं० । यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । इति यजुः ।

भा०—(मे) मेरे (मनसः) मनका (यत्) जो (छिद्रम्) छिद्र दोष या त्रुटि और (यत्) जो (वाचः) वाणी का (छिद्रं) छिद्र, दोष हो जब कि (सरस्वती) सरस्वती वाणी (मन्युमन्तम्) क्रोधवाले पुरुष को (जगाम) प्राप्त हो (तद्) तब उस दोष को (विश्वैः देवैः सह) समस्त विद्वान् पुरुषों के साथ (संविदानः) विचार करके (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक विद्वान् पुरुष (संदधातु) उस छिद्र को या त्रुटि को पूर्ण करे। मानसिक त्रुटि की और वाणी की त्रुटि को और यदि कोई व्यक्ति क्रोध में कुछ कहता हो तो उसके दोष को विद्वान् पुरुष मिलकर विचारें और उस त्रुटि को दूर करलें।

मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्र मथिष्टन ।
सुष्यदा यूयं स्यन्दध्वमुपहूतोऽहं सुमेधा वर्चस्वी ॥२॥

भा०—(नः मेधाम्) हमारी मेधा, तीव्र बुद्धि को हे (आपः) आप्त-पुरुषो ! आप लोग (मा प्र मथिष्टन) विनष्ट मत होने दो। (नः) हमारा (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान, वेदाभ्यास भी (मा) मत नष्ट करो। (यूयम्) तुम (सुष्यदाः) सुख से बहते जलों के समान, सु-उत्तम ज्ञान-प्रवाह से युक्त होकर (स्यन्दध्वम्) प्रवाहित होवो, मेरे समीप आओ। अथवा पाठान्तर से (शुष्यद् । आ । यूयं । स्यन्दध्वम्) अर्थात् आप लोग मेरे सूखते हुए ब्रह्म वेदाभ्यास को पुनः (आस्यन्दध्वम्) प्रवाहित करो। (अहम्) मैं (उपहूतः) आप लोगों द्वारा स्वीकृत या अनुगृहीत होकर (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त और (वर्चस्वी) तेजस्वी होकर रहूं।

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत् तपः ।
शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥३॥

(द्वि०) 'मा ब्रह्म प्रमथिष्ट नः' इति च क्वचित् । 'शुष्यदा' इति च पाठः । स्वदध्वं०, स्यन्दध्व० स्वन्दध्वं, स्यंदध्वं०, इति च पाठाः ।

भा०—हे माता और पिता आप लोग ! (नः मेधाम्) हमारी मेधा बुद्धि को, (नः दीक्षाम्) हमारी दीक्षा, व्रत ग्रहण की प्रतिज्ञा को और (यत् तपः) जो तप हम कर रहे हैं उसको (मा हिंसिष्टम्) मत नष्ट करो । (नः) हमारे (शिवाः) कल्याण चाहने वाले हितैषी जन (नः) हमारे लिये (शं सन्तु) शान्तिप्रद सिद्ध हों । और (मातरः) हमारी माताएं हमारे (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिये (शिवा, भवन्तु) हमारी कल्याणचिन्तक हों ।

माता पिता और नाना हितू बन्धू जन ही प्रायः शिक्षा, दीक्षा और तपः साधन में बाधक होकर बच्चों को गुरु-गृह में शान्ति से तपस्या पूर्वक शिक्षाभ्यास नहीं करने देते । उनसे विघ्न न करने की प्रार्थना है ।

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः ।
तामस्मे रासतामिषम् ॥४॥ ऋ० १ । ४६ । ६ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्विजनो ! माता पिताओ ! (या) जो (ज्योतिष्मती) प्रकाश से युक्त उषा या प्रकाशवती प्रज्ञा (तिरः) बहुत लम्बे चौड़े, उपस्थित (तमः) अन्धकार से (नः) हमें (पीपरत्) पार करदे (ताम्) उस (इषम्) प्रेरणा करने वाली प्रज्ञा या शुभ कामना को आप दोनों हमें (रासताम्) प्रदान करें ।

[४१] लोकोपकारी महापुरुषों का कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । आपो देवताः । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥१॥

[४१] १-(च) 'अग्ने' इति ह्विटनिकामितः । भद्रं पश्यन्त उपसेदुरग्रे तपो दीक्षां ऋषयः सुवर्विदः । 'ततः क्षत्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा अभि संनमन्तु' इति तै० आ० ।

भा०—(स्वर्विदः) ज्ञान और प्रकाश को प्राप्त करने वाले (ऋषयः) ऋषि, मन्त्रद्रष्टा पुरुष (भद्रम् इच्छन्तः) संसार का कल्याण और सुख चाहते हुए (अग्रे) सब से प्रथम, (स्वयं तपः) तपस्या और (दीक्षाम्) व्रत पालन की दीक्षा लेकर (उपनिषेदुः) परमेश्वर की उपासना करते या गुरु के समीप ज्ञान का उपदेश लेते हैं। (ततः) तब उस तप और दीक्षा से (राष्ट्रम्) राष्ट्र (बलम्) बल और (ओजः च) ओज, तेज (जातम्) उत्पन्न होता है (तत्) तब (अस्मै) उसके लिये (देवाः) सब देव विद्वान् प्रतिष्ठित पुरुष भी (उप संनमन्तु) आदर करते हैं।

[४२] ईश्वरोपासना।

ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्म देवता। १ अनुष्टुप्। २ त्र्यवसाना ककुम्मती पथ्या पंक्तिः। ३ त्रिष्टुप्। ४ जगती। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोन्तर्हितं हविः॥१॥

भा०—(ब्रह्म होता) ब्रह्म स्वयं होता, संसार की आहुति स्वयं अपने भीतर लेने वाला है। (ब्रह्म यज्ञाः) ये समस्त यज्ञ ब्रह्म के ही स्वरूप, ब्रह्म की नाशक्तियों के अनुकरण हैं। (स्वरवः) जितने स्वरु अर्थात् तेजोमय सूर्य हैं सब (ब्रह्मणा) ब्रह्म, परमेश्वर रूप महान् शक्तिमान् ने (मिताः) रचे हैं। (अध्वर्युः) कभी पराजित न होने वाला, या समस्त यज्ञों का अनुष्ठाता अध्वर्यु भी (ब्रह्मणः) ब्रह्मवेद से ही (जातः) उत्पन्न होता है। (हविः) समस्त हवि, ज्ञान, चरु पुरोडाश और अन्न आदि पदार्थ (ब्रह्मणा अन्तर्हितम्) ब्रह्म की चेतन या जीवनप्रद शक्ति से व्याप्त हैं।

[४२] १–(द्वि०) 'स्वरवामिता,' 'स्वरगामिता' इति पाठभेदौ। स्वः। अवामिता इति पदच्छेदः। 'स्वरगामिता' इति सायणाभिमतः। (तृ०) अध्वर्युब्रह्मणो इति क्वचित। (च०) 'ब्रह्मण्यन्तर्हितं' इति सायणाभिमतः।

ब्रह्म स्रुचो॑ घृतव॑तीर्ब्रह्म॑णा वेदि॒रुद्धि॑ता ।
ब्रह्म॑ य॒ज्ञस्य॑ तत्वं॑ च ऋ॒त्विजो॒ ये ह॑वि॒ष्कृत॑ः । श॒मि॒ताय॒ स्वाहा॑ ॥२॥

भा०—(स्रुचः) यज्ञ में घृत चुश्राने वाले स्रुचों के समान (घृतवतीः) घृत अर्थात् अन्न से सम्पन्न, पृथिवी लोक पर जीवनशक्ति की आहुति देने वाले ये प्रकाशमय सूर्य आदि लोक सब (ब्रह्म) उस महान् ब्रह्म की शक्ति हैं। (वेदिः) यह वेदी, उसके समान सकल पदार्थों को प्राप्त कराने वाली पृथिवी (ब्रह्मणा) उस महान् ब्रह्म परमेश्वर ने (उत् हिता) थाम रक्खी है। (यज्ञस्य) समस्त यज्ञ का (तत्वम्) वास्तविक स्वरूप ही (ब्रह्म) ब्रह्म है। और (ये) जो (हविष्कृतः) हवि, अन्न, ज्ञान आदि के सम्पादन करने वाले (ऋत्विजः) प्रति ऋतु में यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के समान ही प्रति ऋतु में प्रवृत्त होकर मेघ वायु आदि ऋतु-अनुकूल पदार्थ जो पृथिवी पर अन्न उत्पन्न करने हारे हैं वे सब (ब्रह्म) परमेश्वर की ही शक्तियां हैं। यह उस (शमिताय) महान् सुख, शान्ति प्रदान करने वाले परमेश्वर की ही सब (सु-आहा) सुख्याति, महान् कीर्त्ति या महिमा है।

अं॒हो॒मुचे॒ प्र भ॑रे मनी॒षामा सु॒त्राव्णे॑ सुम॒तिमा॑वृणा॒नः ।
इ॒ममि॑न्द्र॒ प्रति॑ ह॒व्यं गृ॑भाय स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामा॑ः ॥३॥

२—(तृ०) 'ब्रह्मयज्ञस्य तन्तवः' इति तै० ब्रा० । (द्वि०) 'उद्धृता' इति सायणाभिमतः । 'उद्धता' इति क्वचित् । (तृ०) 'ब्रह्मयज्ञश्च सत्रं च' इति ह्विट्न्यनुमितः । (च०) 'संमिताय' इति सायणाभिमतः ।

३—(द्वि०) 'सुमतिं मा' इति बहुत्र । (प्र०) 'प्रभरेमा मनीषाम्' इति पैप्प० सं०, तै० सं० । (द्वि०) 'ओषिष्ठ दाव्ने सुमतिं गृणानः' इति तै० सं० । 'भूयिष्ठ दाव्ने सुमतिमावृणानः' इति मै० सं० । 'हव्यं-जुषस्व' इति मै० सं० । 'हव्या' इति पैप्प० सं० । (तृ०) इदमिन्द्र इति क्वचित् । (द्वि०) सुमतिं गृणानः । 'हव्या' इति सायणाभिमतः ।

भा०— मैं (सुमतिम्) शुभ, उत्तम मति, ज्ञान, मानस प्रवृत्ति को (आवृणानः) चाहता हुआ, उसकी याचना करता हुआ (आसुत्राण्णे) सबसे उत्तम रक्षक, (अंहोमुचे) सब पापों और कष्टों से छुड़ाने वाला परमात्मा के लिये (मनीषाम्) अपनी मानस इच्छा या स्तुति को (प्रभरे) भेटरूप में रखता हूं। हे (इन्द) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! परमेश्वर ! तू (यमं हव्यं) इस ज्ञानमय स्तुति को (प्रति गृभाय) स्वीकार कर। (यजमानस्य) देवोपासना करने वाले मेरी (कामाः) सब काम संकल्प कामनाएं (सत्याः) सत्य रूप से सफल (सन्तु) हों।

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धियं इन्द्रियेण तं इन्द्रियं दत्तमोजः॥४॥

भा०—(अंहोमुचम्) सब पापों और कष्टों से मुक्त करने वाले, (यज्ञियानाम्) समस्त उपासनीय, पूजा करने योग्य, पूजनीय, आदरणीय माता पिता, गुरु आचार्य इत्यादियों में से भी (वृषभम्) सबसे श्रेष्ठ (अध्वराणाम्) समस्त यज्ञों में से या कभी पराजित न होने वालों में से (प्रथमम्) सबसे प्रथम, सर्वोत्तम पद पर (विराजन्तम्) विराजमान, प्रकाशस्वरूप, (अपां नपातम्) अपः अर्थात् प्रजाओं को न नाश होने देने हारे, सर्वोत्पादक परमेश्वर की (धियः) ध्यानमय स्तुतियों को (हुवे) उच्चारण करता हूं। हे (अश्विनौ) माता पिताओ ! या हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (इन्द्रियेण) इन्द्र, आत्मासम्बन्धी बल के साथ २ (इन्द्रि-

४—'प्र सम्राजे प्रथममध्वराणामंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां। अपांनपातमश्विनाहयन्तांमस्मिन्नरइन्द्रियं धत्तमोजः।' इति तै० सं०। (तृ०) 'हवे' इति क्वचित्। 'धियेन्द्रेण मा' इति ह्विटनिकामितः। 'अश्विनौ हुवे इन्द्रियेण न इन्द्रियं धत्तमोजः।' इति पैप्प० सं०।

यम्) इन्द्रिय अर्थात् इन्द्र, राजा ईश्वर के दिये बलको और (ओजः) तेज को भी (दत्त) धारण करो या प्रदान करो।

[४३] ईश्वर से परमपद की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्म, बहवो वा देवता । त्र्यवसानाः । ककुम्मत्यः पथ्यापंक्तयः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे । अग्नये स्वाहा ॥१॥

भा०—(यत्र) जिस पद पर (दीक्षया) दीक्षा, दृढ़ व्रत पालन की प्रतिज्ञा और (तपसा) तपस्या के (सह) साथ (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यान्ति) जाते हैं (तत्र) उसी पदपर (अग्निः) ज्ञानवान् आचार्य, सर्वप्रकाशक परमेश्वर (मा नयतु) मुझे लेजाय, वही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (मे) मुझे (मेधाम्) नाना उत्तम वाक्शक्ति और बुद्धि (दधातु) धारण करावे, प्रदान करे। (अग्नये स्वाहा) उस ज्ञानवान् परमेश्वर से मैं यह उत्तम प्रार्थना करता हूं, या उस परमेश्वर की यह उत्तम महिमा और स्तुति है।

यत्र० । वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे। वायवे स्वाहा ॥२॥ यत्र० । सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥३॥ यत्र० । चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ ४ ॥ यत्र० । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा ॥५॥ यत्र० । इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥६॥ यत्र० । आपो

[४३] १–'मेधः दधातु' इति क्वचित् सायणसम्मतश्च ।

मा तत्रं नयत्वमृतं मोपं तिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहां ॥ ७ ॥ यत्रं ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपंसा सह । ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहां ॥८॥

भा०—(यत्र) जहां (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (दीक्षया तपसा सह) दीक्षा और तप के सहित (यान्ति) जाते हैं (तत्र) वहां (सूर्यः) सूर्य और सूर्य के समान प्रकाशमान परमेश्वर और आचार्य (मा नयतु) मुझे लेजाय । और वह (सूर्यः) सर्व प्रकाशक सूर्य के समान ही (मे चक्षुः) मुझे चक्षु (दधातु) प्रदान करे । (३) (चन्द्रः मा तत्र नयतु) चन्द्र के समान आह्लादकारी परमेश्वर मुझे वहां ले जाय (चन्द्रः मे मनः दधातु) चन्द्र, वह आह्लादकारी प्रभु मुझे मन, मननशक्ति प्रदान करे। (चन्द्राय स्वाहा) उस चन्द्र परम आह्लादकारी की मैं स्तुति करता हूं। उसके प्रति अपने को अर्पण करता हूं। (४) (सोमः मा तत्र नयतु) सोमलता के समान सब लोकों का प्रेरक प्रभु मुझे उस पद पर लेजावे (सोमः मे पयः दधातु, सोमाय स्वाहा) सोम, सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक प्रभु मुझे पय, पुष्टिकारक अन्न, वीर्य, तेज प्रदान करे। उस सोम की मैं उत्तम स्तुति करता हूं। (५) (इन्द्रः मा तत्र नयतु) इन्द्र ऐश्वर्यवान् वायु या विद्युत् के समान बलशाली ईश्वर मुझे उस पद पर लेजावे। (इन्द्रः मे बलं दधातु) वह इन्द्र ही मुझे बल प्रदान करे। (इन्द्राय स्वाहा) उस इन्द्र की मैं उत्तम गुणस्तुति करता हूं। (६) (आपः मा तत्र नयतु) जलों के समान स्वच्छ या सबसे आप्ततम परमेश्वर मुझे उस पद पर लेजाय और (मा अमृतम्=उपतिष्ठतु) मुझे अमृत प्राप्त हो। (अद्भ्यः स्वाहा) उन आप्तों और परमेश्वर की व्यापक शक्तियों की मैं स्तुति करता हूं। (७) (ब्रह्मा मा तत्र नयतु) मुझे उस पद पर (ब्रह्मा)

७–'नयन्त्वम्–' इति ह्विटनिकामितः ।

वेद का परम विद्वान् लेजाय और ब्रह्मा (ब्रह्म मे दधातु) ब्रह्मा, चतुर्वेदज्ञ परमेश्वर और वेदज्ञ ब्रह्म का प्रदान करे, ब्रह्मज्ञान उपदेश करे। (ब्रह्मणे स्वाहा) उस महान् ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म की मैं स्तुति करता हूं।

इस सूक्त में अग्नि, सूर्य, चन्द्र, सोम, इन्द्र, आपः और ब्रह्मा ये भौतिक रूप से जब अपनी २ शक्ति के प्रतिनिधि हैं और उन २ शक्तियों के देने में समर्थ हैं वे सब भी हमें उस ब्रह्मवेत्ता के पद पर लेजायं अर्थात् वे सब भौतिक शक्तियां हमें उस ब्रह्म के महान् अनन्त शक्ति का बोध करावें। इसके अतिरिक्त ये सब नाना लक्षणों से ईश्वर के नाम हैं। वह हमें सब शक्ति दें और मोक्षपद प्राप्त करावें। परमात्मा के उन सभी अनन्त मात्रा में विद्यमान गुणों को ये भौतिक पदार्थ तो नमूने के रूप में दर्शाते हैं। इसलिये ये परमेश्वर के नाम होकर भी सूर्यादि भौतिक पदार्थों के नाम हैं। इसी प्रकार उन २ गुणों वाले पुरुषों के भी वाचक हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, सोम आदि नाम आचार्य, राजा, विद्वान्, उपदेशक आदि के लिये आते हैं।

[४४] तारक 'आञ्जन' का वर्णन

भृगुर्ऋषिः। मन्त्रोक्तमाञ्जनं देवता। ९ वरुणो देवता। ४ चतुष्पदा शाङ्कुमती उष्णिक्। ५ त्रिपदा निचृद्विषमा। गायत्री १-३, ६-१० अनुष्टुभः। दशर्चं सूक्तम्॥

आयुषोसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे।
तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम्॥१॥

भा०—हे (आञ्जन) ज्ञान के प्रकाशक! नयनों में आंजने के योग्य अंजन के बने औषध के समान चक्षुर्दोष के नाशक! तू (आयुषः)

१—'विप्रे' इति पैप्प० सं०। (च०) 'कृत०' इति कचित् ह्विटनिसम्मतश्च
(द्वि०) 'उच्यते' इति कचित्।

जीवन को (प्रतरणः) दीर्घ करने वाला या जीवन को उत्कृष्ट पथपर तरा देने वाला (असि) है । तू (विप्रम्) विविधरूप से कामनाओं को पूर्ण करने वाला, (भेषजम्) सब रोगों को दूर करने में समर्थ (उच्यसे) कहा जाता है । हे (आञ्जन) ज्ञानप्रकाशक (त्वम्) तू (शंताते) हे कल्याणकारिन् शान्तिदायक, हे (आपः) आप्त स्वरूप ! तू (शम्) शान्तिदायक और (अभयम् कृतम्) भय रहित शरण, रूप बनाया गया है ।

यो ह॑रि॒मा जा॒यान्यो॑ऽङ्गभे॒दो वि॒सल्प॑कः ।
सर्वं॑ ते॒ यक्ष्म॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हिर्निर्ह॑न्त्वाञ्ज॑नम् ॥२॥

भा०—हे पुरुष ! तेरे शरीर में (यः हरिमा) जो पीलिया का रोग है और (जायान्यः) स्त्रियों से प्राप्त होने वाला तपेदिक और (विसल्पकः) विशेष रूप से फैलने वाला, (अङ्गभेदः) अंगों के फूटन की तीव्र वेदना आदि रोग है (सर्वम्) उन सब (यक्ष्मम्) रोगों को (ते अंगेभ्यः) तेरे शरीर से वह (आञ्जनम्) अञ्जन की बनी ओषधि (बहिः) बाहर (निर्हन्तु) निकाल दे । अध्यात्म में-हे पुरुष तेरे अध्यात्म शरीर में जो हरिमा, अर्थात् पीतिमा का रोग है अर्थात् पित्त के रोगों के समान सब पदार्थों को तत्व रूप में न देखकर मोहवश ममता रूप में देखने का भ्रम है । और जो (जायान्यः) स्त्री आदि से उत्पन्न काम दोष है । विविध रूप से फैला अङ्ग भेद=अर्थात् मेरे तेरे का भेद या नाना शरीर के दुःख हैं वह सब यक्ष्म यह विद्वान् तेरे अङ्गों, जीवन के भागों से बाहर कर दे ।

आञ्ज॑नं पृथि॒व्यां जा॒तं भ॒द्रं पु॑रुष॒जीव॑नम् ।
कृ॒णोत्व॑प्रमायु॒कं रथ॑जूति॒मना॑गसम् ॥३॥

२-(च०) 'बर्हिर्नि-' इति क्वचित् । (प्र०) 'ज्यायान् योंगभेदो विसर्पकः' इति सायणाभिमतः । 'जायान्यो', 'विसल्यकः' इति पैप्प० सं० ।
३-(च०) 'रथजूतम्' । इति पैप्प० सं० ।

भा०—(पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (जातम्) उत्पन्न हुआ (आञ्जनम्) यह अंजन (भद्रम्) सुखकारक है, वह मुझे (अप्रमायुकम्) मरण से रहित, (रथजूतिम्) रमण साधन रूप इस देह में जीवन ज्योति से युक्त (अनागसम्) पापों, कष्टों से रहित और (पुरुषजीवनम्) पुरुष के पूर्ण जीवन प्राप्त करने वाला (कृणोतु) करे । अध्यात्म में-वह कान्तिमान् आत्मा पृथिवी, हृदय भूमि में उत्पन्न होकर सुखकारी और पुरुष का जीवन रूप है । वह मुझे मृत्यु से रहित (रथजूतिम्) रसरूप ज्योतिर्मय, आनन्दमय (अनागसम्) निष्पाप (कृणोतु) करे ।

प्राणं प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड ।
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥४॥

भा०—हे (प्राण) समस्त जगत् के प्राण धारण कराने हारे चित्स्वरूप ! हमारे (प्राणं त्रायस्व) प्राण की रक्षा कर । हे (असो) सब दुःखों को दूर फेंकने हारे ! सबके भीतर विद्यमान प्राणरूप ! तू (असवे) हमारे असु, प्राण शक्ति को (मृड) सुखी कर अथवा (असवे) प्राणधारी पर (मृड) कृपा कर । हे (निर्ऋते) विशेष रूप से रमण करने योग्य प्रभो ! तू (नः) हमें (निर्ऋत्याः) अति दुःखदायिनी पापमयी प्रकृति के (पाशेभ्यः) पाशों से (मुञ्च) छुड़ा ।

सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम् ।
वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥५॥

भा०—हे प्रभो ! तू (सिन्धोः गर्भः) सिन्धु अर्थात् प्रस्रवण करने वाले भीतरी आत्मा में और समस्त संसार में बड़े वेग से बहने वाले रस सागर का (गर्भः) गर्भ अर्थात् ग्रहण करने वाला उसका वशयिता है । तू

४-(च०) 'मां पाशेभ्यो' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'प्राणः' इति बहुत्र ।

(विद्युताम्) बिजुलियों का (पुष्पद्) पुष्प या सुन्दर पुञ्ज है, या 'पुष्प' पुष्टि करने वाला उनमें बल प्रदान करने वाला है। तू स्वयं (वातः) महान् वायु (प्राणः) सबका प्राण, (सूर्यः) साक्षात् प्रकाशमय सूर्य, (चक्षुः) साक्षात् सबको तत्व दर्शन कराने वाला, सबकी आंख और (दिवः पयः) समस्त प्रकाश-शक्ति का वीर्य या द्यौलोक के समस्त नक्षत्र सूर्यों का प्रकाशक तेज है।

देवाञ्जन त्रैकंकुदं परि मा पाहि विश्वतः ।
न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥६॥

भा०—हे (देव आञ्जन) आञ्जन सर्व कान्तिमय, ज्ञानप्रकाशक देव, परमेश्वर ! आप (त्रैककुदम्) तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। (मा) मुझ को (विश्वतः) सब प्रकार से (परि पाहि) पालन करो, बचाओ (बाह्याः) बाह्य शरीर पर लगाई जाने वाली या खाई जाने वाली या भूमि के बाहर के पृष्ठ भागपर उत्पन्न होने वाली और (पर्वतीयाः) पर्वत के गर्भ से खोदकर प्राप्त की जाने वाली, या पर्वत प्रदेशों में उत्पन्न (ओषधयः) नाना रोगनाशक समस्त ओषधियां भी (त्वा न तरन्ति) तुझसे बढ़कर नहीं हैं। अञ्जन के पक्ष में—हे त्रिककुत् नामक पर्वत से उत्पन्न अंजन ! तेरे से बढ़कर अन्य सब ओषधियां नहीं हैं।

वीदं मध्यमवासृपद् रक्षोहामीवचातनः ।
अमीवाः सर्वाश्चातयन् नाशयदभिभा इतः ॥७॥

६–(प्र०) 'देवाञ्जन' इति सर्वत्र, 'देवाञ्जनि त्रैककुद' इति पैप्प० सं० । (च०) 'बाह्यं पार्वत्या' इति पैप्प० सं० ।

७–'वीदंमध्यमवासृपत्', 'चातनम्' (च०) 'नाशयदभिभा इत' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(इदम्) इस प्रकार यह (रक्षोहा) समस्त राक्षस हुए, भावों का नाश करने वाला, (अमीव-चातनः) समस्त रोगों का नाशक होकर (मध्यम्) अन्तःकरण के बीच में (वि असृपत्) विशेष रूप से घुस गया है। वह (सर्वाः अमीवाः चातयन्) सब रोगों का नाश करता हुआ (इतः) यहां से, इस हृदय से (अभिभाः) मुझे सब तरफ़ से दबाने वाले विषय विकारों को (नाशयत्) दूर करे।

बुह्विदं राजन् वरुणानृतमाह पूरुषः ।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥८॥

भा०—हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ, सर्वपापनिवारक (राजन्) हे राजन् ! परमेश्वर ! (पूरुषः) यह पुरुष (इदम्) इस प्रकार का तुच्छ २ (बहु-अनृतम्) बहुतसा असत्य (आह) बोला करता है, हे (सहस्रवीर्य) सहस्रों अनन्तवीर्यों बलों से युक्त सर्वशक्तिमन् ! (नः) हमें (तस्मात् अंहसः) उस पाप से (परि मुञ्च) छुड़ा।

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥९॥

भा०—(आपः) आप्त पुरुष जलों के समान स्वच्छ अन्तःकरण वाले हैं, ये (अघ्न्याः इति) कभी भी न मारने योग्य सदा आदरणीय लोग हमारे साक्षी हैं और (वरुण इति) हे वरुण सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! तू ही हमारे समस्त कार्यों का साक्षी है (इति) इस प्रकार (यद्) जब हम (यत्) जो कुछ (ऊचिम) अपना अपराध स्वीकार करें तो (तस्मात्) उस (अंहसः) अपराध से, हे (सहस्रवीर्य) सहस्रों शक्तियों वाले

८-(द्वि०) 'पुरुषः' इति पैप्प० सं०।

तू (नः) हमें (मुञ्च) मुक्त कर । इसका स्पष्टीकरण देखो अथर्व० ७ । ८३ । २ ॥

मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुराञ्जन ।
तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहतुः ॥१०॥

भा०—हे (आञ्जन) ज्ञानप्रकाशक ब्रह्मन् ! (मित्रः च) सबका मित्र न्यायाधीश ! और (वरुणः च) सबको पापों से वारण करने वाला दण्ड-कर्त्ता दोनों (त्वा अनु प्रेयतुः) तेरे ही पीछे २ गमन करते हैं । (तौ) वे दोनों (त्वा) तेरे (अनुगत्य) पीछे २ चलकर (दूरम्) बहुत दूरतक (भोगाय) सुखभोग के लिये या राष्ट्र के परिपालन के लिये (पुनः) वार २ तुझे (आ उहतुः) अपने ऊपर अधिष्ठाता रूप से वहन करते या धारण करते हैं ।

[४५] रक्षक और विद्वान् 'आञ्जन' ।

भृगुर्ऋषिः । आञ्जनं देवता । १, २ अनुष्टुभौ । ३, ५ त्रिष्टुभः । ६–१० एकावसानाः महाबृहत्यो (६ विराड् । ७–१० निचृतश्च) । दशर्चं सूक्तम् ।

ऋणादृणमिव संनयन् कृत्यां कृत्याकृतो गृहम् ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥१॥

भा०—हे (आञ्जन) ज्ञानप्रकाशक ! विद्वान् ! जिस प्रकार (ऋणात्) अपने पर किये ऋण में से (ऋणम्) पूरे ऋण को

१०-(च) 'पुनरोहतु' इति पैप्प० सं०, 'पुनः । रोहतु' इति पदपाठः । पुनः आ ऊहतु इति शं० पा० । 'पुनर्-आ-हतन्' इति ह्विटनिकामितः । 'ओहताम्' इति क्वचित् । 'पुनराहतुः' इति सायणाभिमतः ।

[४५] १–'रिणाद्रिणमिव सनयं–' 'ऋणादृणमिव सन्नयं', संनयं, संन्नयं इति नाना पाठाः । 'संनय' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

उत्तमर्णों के पास ही पुनः लौटा दिया जाता है । उसी प्रकार (कृत्याकृतः) घातक गुप्त प्रयोग के करने वाले आर्यो (कृत्याम्) गुप्त हिंसा के प्रयोग को भी उसी के (गृहम्) घर (सं नयन्) पुनः लौटाता हुआ तू (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंख के इशारों से गुप्त मन्त्रणा करने वाले (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय के पुरुष के (पृष्टीः अपि) पीठ की पसुलियों को भी (शृण) तोड़ डाल ।

यद॒स्मासु॑ दु॒ष्ष्वप्न्यं॒ यद् गोषु॒ यच्च॑ नो गृ॒हे ।
अनां॑मगस्तं च दु॒र्हार्दः॑ प्रि॒यः प्रति॑ मुञ्चताम् ॥२॥

भा०—(यत्) जो (अस्मासु) हम में और (यत्) जो (गोषु) गौओं में और (यत् च) जो (नः) हमारे (गृहे) घर में (दुःष्वप्न्यम्) दुःखपूर्वक सोने आदि का कष्ट है उसको (अनामगः) बिना नाम का या अदृश्य वृत्ति से जाने वाला (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाला (अप्रियः) हमारा अप्रिय पुरुष वर्त्तमान हो वह (तम्) उस दुस्वप्न आदि के कारण रूप भय को (प्रति मुञ्चताम्) धारण करे ।

'अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः' यह मन्त्र भाग कुछ विकृत प्रतीत होता है नाना पाठभेद पादटिप्पणी में लिखे हैं । परन्तु हमारे विचार में यह पाठ होना चाहिये ।

'अनास्माकस्तद् दुर्हार्दो प्रियः प्रति मुंञ्चताम् ।'[१]

२–(प्र०) 'अनामगस्त्वं च', 'अनागमस्तं तत्र', 'अनायगस्त्वं च', 'अनामगस्त्वां च' 'अनामगस्त्वं च' 'अनामकस्त्वच' 'अनागमस्त च' 'अनामकस्तच' इति पाठाः । 'दुर्हार्द्रो प्रियः', इति क्वचित । 'अनामकस्तच दुर्हार्दो० प्रियः' इति सायणाभिमतः ।

१.—अयमेव पाठो ह्विटनाभिप्रेतः ।

अर्थात् कष्ट से शयन करने आदि की तकलीफ़ को जो (अनास्माकः) हमारा सम्बन्धी न होता हुआ (दुर्हार्दः) हमारे प्रति दुष्ट हृदय वाला और (अप्रियः) शत्रु है, वही (प्रतिमुञ्चताम्) प्राप्त करे ।

इस मन्त्र के शुद्ध पाठ के लिये इसको इसी काण्ड के २७ सू० मन्त्र ४, ५ से तुलना करनी चाहिये ।

अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः ।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते ॥३॥

भा०—(अपाम्) प्रजाओं या आप्त पुरुषों के या कर्मों, या ज्ञानों के (ऊर्जः) बल और (ओजसः) तेज को (वावृधानम्) निरन्तर वृद्धि करने वाले (अग्नेः) अग्रणी (जातवेदसः) एवं धनसम्पन्न पुरुष से भी अधिक वीर्यवान् (जातम्) उत्पन्न, अथवा (जातवेदसः) वेद के ज्ञानैश्वर्य से सम्पन्न (अग्नेः) अग्नि-आचार्य से (जातम्) उत्पन्न (चतुर्वीरम्) चारों प्रकार के वीर्यों से युक्त (पर्वतीयं) पूर्ण करने वाले या पूर्ण ज्ञान देने वाले गुरु से प्राप्त, (यद्) जो (आञ्जनम्) ज्ञान प्रकाशक ब्रह्म ज्ञान है वह (दिशः प्रदिशः) दिशा और उपदिशाओं को (ते)-तेरे लिये (शिवाः) शिव कल्याणकारी (करत्) करे । वीर के पक्ष में प्रजाओं के बल वीर्य को बढ़ाने वाले और विद्वान् गुरु से सुशिक्षित होकर चार वीरों के बराबर बलवान् या चारों दिशाओं में वीर्यवान् (पर्वतीयम्) पालन करने वाले राजा के पद पर अधिष्ठित, जो (आञ्जनं) कान्तिमान् राजा, प्रभु है, वह तेरी समस्त दिशा उपदिशाओं को कल्याणकारी, निर्भय करदे ।

३–'ऊर्जोजसो' (?) 'पर्वतं' इति पैप्प० सं० ।

चतुर्वीरं बध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु ।
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम् ॥४

भा०—(चतुर्वीरं) चारों दिशाओं में वीर्यवान् या चारों प्रकार के वीर्यों, वीर पुरुषों से युक्त (आञ्जनं) कान्तिमान्, दीप्तिमान्, तेजस्वी पुरुष को हे राजन् ! (ते) तेरे हित के लिये (बध्यते) तेरे साथ नियुक्त किया जाता है, जिससे (ते) तेरे लिये (सर्वाः दिशः) समस्त दिशाएं (अभयाः) भयरहित (भवन्तु) होजावें । तू (सविता इव) सूर्य के समान तेजस्वी और (आर्यः च) सर्वश्रेष्ठ स्वामी (ध्रुवः) स्थिर होकर (तिष्ठासि) राज्यासन पर विराजमान हो और (इमाः विशः) ये समस्त प्रजाएं (ते) तेरे लिये (बलिम्) बलि अर्थात् कर (अभि हरन्तु) प्रदान करें ।

'चतुर्वीरं'–चार प्रकार के वीर या वीर्य, चतुरंग सेना अर्थात् पदाति अश्व, रथ और गज ।

आश्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम् ।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान् ॥५॥

भा०—(एकम्) एक वीर को (आ अश्व) सर्वत्र विचरने की आज्ञा दे । और (एकम्) एकको (मणिम्) सबका शिरोमणि (कृणुष्व) बना

४–(प्र०) 'बध्यताञ्जनं', 'दिशोभया-' (तृ०) 'सवितेवारि इमा' 'दिशो भियन्ते' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) 'आक्ष्व' इति सायणाभिमतः । 'आक्ष्वेकं म–' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'स्नाह्येकेनापि वैकमेषाम्' इति च पाठः । तत्र स्नाहि । एकेन । अपि । वा । एकेषाम् इ । ति प्रायः पदपाठः । 'स्नाहिवेन -पविकमेषाम्' इति पैप्प० सं० । 'एकेनाविवेकमेषाम्' (च०) 'परिपान्तु' इति सायणाभिमतः ।

(एकेन) एकके बलपर (स्नाहि) अपना राज्याभिषेक कर और (एषाम्) इनमें से (एकम्) एक का (पिब) पान कर अर्थात् प्रजाजन से उपयोग कर। ये (चतुर्वीरम्) चारवीरों से युक्त वीर (अस्मान्) हमको (चतुर्भ्यः) चार प्रकार के (नैर्ऋतेभ्यः) पाप, अनाचार सम्बन्धी (ग्राह्याः) ग्राही पकड़ लेने वाली क़ैद आदि बन्धनों से (परिपातु) सुरक्षित रक्खे। अथवा पाठान्तर है—(स्नाहि एकेना पिबैकमेषां चतुर्वीरम्० इत्यादि) (अपि वा) और (एषाम्) उनमें से (एकं चतुर्वीरः) एक चार सामर्थ्यों से युक्त होकर हमें क़ैद के चार प्रकार के बन्धनों से सुरक्षित रक्खे।

अध्यात्म में—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार सामर्थ्यों से युक्त प्रभु 'आंजन' है, चारों में से धर्म से प्रसिद्धि प्राप्त करे, अर्थ से लक्ष्मी संग्रह करे, मोक्ष से स्नान करे, पवित्र हो और कामका भोग करे। और चारों सामर्थ्य प्राप्त करके ग्राही, अविद्या के चतुर्विध बन्धनों से मुक्त रहे।

अग्निर्माग्निनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस
ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥६॥

भा०—(अग्निः) अग्नि, आचार्य या अग्रणी नेता या शत्रुसंतापक सेनापति या ज्ञानमय प्रभु (अग्निना) अपने अग्निस्वरूप या सामर्थ्य द्वारा (प्राणाय) प्राण, (अपानाय) अपान, (आयुषे) दीर्घ जीवन, (वर्चः) ब्रह्मवर्चस्, (ओजसे) ओज, (तेजसे) तेजस् (स्वस्तये) सुखपूर्वक जीवन और (सुभूतये) उत्तम विभूति समृद्धि के प्राप्त करने के लिये (मा अवतु) मेरी रक्षा करे। (स्वाहा) यह हमारी उत्तम प्रार्थना सफल हो।

इन्द्रो मेन्द्रियेणावतु प्राणाय० ॥७॥ सोमो मा सौम्येनावतु० ॥८॥

६-(प्र०) 'मा अग्निना' इति पैप्प० सं०।
७-(प्र०) 'मा इन्द्रियेन' इति पैप्प० सं०।

भगो॑ मा भगे॑नावतु० ॥९॥ मुरुतो॑ मा गुणैर॑वन्तु प्राणाया॑पाना यायु॑षे वर्च॑स ओज॑से तेज॑से स्वस्तये॑ सुभूतये॑ स्वाहा॑ ॥१०॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (इन्द्रियेण) अपने ऐश्वर्य से (सोमः सौम्येन) सोम अपने सौम्यगुण से (भगः) भग, ऐश्वर्यवान् अपने (भगेन) अपने ऐश्वर्य प्राप्त करने के गुण से (मरुतः) मरुत् गण अपने (गणैः) गणों से (प्राणाय, अपानाय, आयुषे, वर्चसे, ओजसे, तेजसे, स्वस्तये सुभूतये) प्राण, अपान, आयु, वर्चस्, ओज, तेज, सुख-पूर्वक जीवन और उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (मा अवतु) मेरी रक्षा करें, (स्वाहा) यह हमारी उत्तम प्रार्थना है ।

राष्ट्र में अग्नि=अग्रणी सेनापति । सोम=न्यायाधीश । भग=करसंग्राहक । मरुतः=सेना के सैनिक या प्रजागण ये सब मेरे प्राण आयु वीर्य स्वास्थ्य ऐश्वर्य के लिये रक्षा करें । ईश्वर में ये सब गुण घटित हैं । अतः वह अपने ज्ञान, शान्ति, ऐश्वर्य और नाना शक्तियों से मेरी रक्षा करे ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वादश सूक्तानि । पञ्चसप्ततिश्च ऋचः]

[४६] अस्तृत नाम वीर पुरुष की नियुक्ति ।

प्रजापतिर्ऋषिः । अस्तृतमणिर्देवता । १ पञ्चपदा मध्येज्योतिष्मती त्रिष्टुप् । २ षट्-पदा भुरिक् शक्वरी । ३, ७ पञ्चपदे पथ्यापंक्ती । १ । ४ चतुष्पदा । ५ पञ्चपदा च अतिजगत्यौ । ६ पञ्चपदा उष्णिग्गर्भा विराड् जगती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

१०–'सुप्रभूतये' इति पैप्प० सं० ।

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्याय कम् ।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ १ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (प्रजापतिः) प्रजा का पालक स्वामी (वीर्याय) वीर्य, वीर कर्म के लिये (प्रथमम्) सबसे प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (अस्तृतम्) शत्रु से कभी न मारे जाने वाले (त्वा) तुझको (कम्) ही (बध्नात्) बांधता है । हे राजन् ! उस वीर पुरुष को मैं (ते) तेरी (आयुषे) आयु (वर्चसे) वर्चस् (ओजसे) ओज और (बलाय) बल के लिये (बध्नामि) तेरे अधीन नियुक्त करता हूं । वह (अस्तृतः) कभी न मरने वाला, अखण्ड पुरुष (त्वा अभि रक्षतु) तेरी रक्षा करे ।

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन् पणयो यातुधानाः ।
इन्द्र इव दस्यूनव धूनुष्व पृतन्यतः सर्वाञ्छत्रून् वि षहस्वास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥२॥

भा०—हे (अस्तृत) कभी न मरने वाले, अखण्डित पुरुष ! तू (ऊर्ध्वः) सबसे ऊपर रह कर (रक्षन्) इस राजा और राष्ट्र की रक्षा करता हुआ (अप्रमादम्) बिना प्रमाद के (तिष्ठतु) रहे । (इमं त्वा) इस तुझको (यातुधानाः) पीड़ादायी, (पणयः) व्यवहार-कुशल असुर लोग (मा दभन्) विनाश न करें । और (पृतन्यतः) सेना द्वारा आक्रमण करने वाले (दस्यून्) नाशकारी डाकू लोगों को (इन्द्र इव) विद्युत्

[४६] १–(प्र०) 'अबध्नात्' इति क्वचित् । (तृ०) 'तं ते' इति क्वचित् । (प्र० द्वि०) 'बध्नातु प्रथमजन्स्तृतं' (च० पं०) 'वर्चसोजसे' इति पैप्प० सं० ।

२–'तिष्ठन्त', 'तिष्ठित', 'तिष्ठन्त' । इति नाना पाठाः । 'तिष्ठन्' इति ह्विटनिकामितः । 'जन्मूननन्' इति पैप्प० सं० ।

के समान या प्रबल वायु के समान, या प्रबल राजा के समान (अव धूनुष्व) धुन डाल, मार भगा । और तू (अस्तृतः) अखण्डित रह कर ही (सर्वान् शत्रून्) समस्त शत्रुओं को (वि षहस्व) खूब परास्त कर । हे राजन् (त्वा अस्तृतः अभि रक्षतु) तेरी वह अस्तृत नाम का वीर योद्धा रक्षा करे ।

शतं चन प्रहरन्तो निघ्नन्तो यं न तस्तिरे ।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥३॥

भा०—(शतं चन) सैकड़ों आदमी भी एक ही समय में (प्रहरन्तः) प्रहार करते हुए और (निघ्नन्तः च) मारते हुए भी उसके मुकाबले में (न तस्तिरे=तस्थिरे) सर्वथा भी न ठहर सकें । (तस्मिन्) ऐसे वीर्यवान् पुरुष में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा अपना (चक्षुः) चक्षु अर्थात् निरीक्षण और (प्राणम्) अपनी प्राणरक्षा का कार्य और (बलम्) समस्त बल, सेना समूह (परि अदत्त) सौंप देता है । हे राजन्! वह (अस्तृतः) अहिंसनीय, पुरुष (त्वा अभि रक्षतु) तेरी रक्षा करे ।

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधिराजो बभूव ।
पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेऽस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥४॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (इन्द्रस्य) उस इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा के (वर्मणा) रक्षाकारी कवच से (त्वा) तुझको (परि धापयामः) ढांपते हैं,

---

३–(प्र० द्वि०) 'चन' इत्येकं पदम् । 'विघ्नन्तः' इति प्रायः । विघ्नन्तो यं न' इति ह्विटनिकामितः । 'तस्थिरे' 'निरस्तिरे' । इति क्वचित् । 'तत्रिरे' इति ह्विटनिकामितः । 'तस्तरि' इति सायणाभिमतः । (तृ०) 'पर्यदन्त', 'पर्यदन्तश्च–' इति क्वचित । 'परि यद् अन्तश्चक्षुः' इति सायणाभिमतः ।

४–(प्र०) 'परिधामे' इति पैप्प० सं० ।

(यः) जो (देवानाम्) देव, समस्त ज्ञानवान् विद्वानों, वीर विजयी राजाओं का भी (अधिराजः) अधिराज अर्थात् राजाधिराज (बभूव) है। (देवाः) वे समस्त विजिगीषु राजा लोग (सर्वे) (त्वा) तुझको (पुनः) फिर एक वार (प्रणयन्तु) अपना प्रमुख बनावें। हे राजन् ! (अस्तृतः त्वा अभि रक्षतु) अखण्डनीय वीर पुरुष तेरी रक्षा करे।

अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते । व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान् यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृत स्त्वाभि रक्षतु ॥५॥

भा०—(अस्मिन् मणौ) इस मणि अर्थात् शिरोमणि एवं शत्रुओं को स्तम्भन करने में समर्थ पुरुष में (एकशतं वीर्याणि) एकसौ एक या सैकड़ों वीर्य, वीर कर्म करने के सामर्थ्य हैं। और (अस्मिन् अस्तृते) इस अखण्ड, वीर पुरुष में (सहस्रं प्राणाः) सहस्र प्राण हैं अर्थात् हज़ारों प्राणियों के जीवित रखने की सामर्थ्य है या हज़ारों प्राणियों के बराबर कार्य करने का बल है।

हे राजन् या वीर पुरुष ! तू (व्याघ्रः) व्याघ्र के समान शूरवीर होकर (सर्वान् शत्रून्) समस्त शत्रुओं पर (अभितिष्ठ) आक्रमण कर और (यः) जो (त्वा) तुझपर (पृतन्यात्) सेना द्वारा आक्रमण करे (सः) वह ही (अधरः अस्तु) तेरे नीचे आ पड़े। ऐसे अवसर में (अस्तृतः त्वा अभि रक्षतु) 'अस्तृत' अखण्डनीय, वीर पुरुष तेरी रक्षा करे।

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान्त्सहस्रंप्राणः शतयोनिर्वयोधाः । शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च पयस्वांश्चास्तृत स्त्वाभि रक्षतु ॥६॥

६–(प्र०) 'वहुभ्यः' इति पैप्प० सं०। 'घृतादुल्लुप्तो', 'घृतादुल्लुप्तः' इति क्वचित्। 'सहस्रं प्राणः' इति क्वचित्। 'सहस्रं प्राणः' इति पैप्प० सं०।

भा०—(घृतात्) तेज से (उल्लुसः) मधु, ज्ञान, अन्न और शत्रुनाशक बल से सम्पन्न, (पयस्वान्) वीर्यवान्, यशस्वी, (सहस्रप्राणः) सहस्र गुण जीवन शक्ति से युक्त, (शतयोनिः) सैकड़ों अपने आश्रय-स्थानों का स्वामी, (वयोधाः) अन्न को अपने भण्डार में सञ्चित करके रखने वाला, (शं भूः च) शान्ति और कल्याण का उत्पादक, (मयो भूः च) सुख का उत्पादक, (ऊर्जस्वान् च) परम अन्नादि से सम्पन्न या बलयुक्त, (पयस्वान् च) और वीर्यवान्, पुष्टिमान् होकर (अस्तृतः) अखण्ड वीर पुरुष 'अस्तृत' (त्वा अभि रक्षतु) तेरी रक्षा करे।

यथा त्वमुत्तरोऽसो असपत्नः सपत्नहा।
सजातानामसद् वशी तथा त्वा सविता करदस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥७॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार से हे राजन्! (त्वम्) तू (उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट, (असपत्नः) शत्रुरहित, (सपत्नहा) और शत्रुओं को नाश करने वाला होकर (असत्) रहे और (सजातानाम्) समान बलवीर्य वाले समस्त राजाओं को (वशी) अपने वश में करने वाला (असत्) हो (तथा) उस प्रकार से (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझे (करत्) बनावे और (अस्तृतः) वह अखण्ड वीर पुरुष (त्वा अभि रक्षतु) तेरी रक्षा करे।

'अस्तृत' अखण्डित, अहिंसित, अनाच्छादित, जिसको कोई घेर न सके इत्यादि विशेषण अध्यात्म में परब्रह्म पर लगते हैं। सामान्यतः कवच पर भी ये विशेषण किसी २ मन्त्र में जाते हैं। परन्तु किसी मणि या तावीज़ आदि जड़ पदार्थ में शत्रु नाश करने आदि के गुण होने असम्भव हैं अतः सायण, ग्रिफ़िथ, ह्विटनि आदि का तत्परक अर्थ करना असंगत है यों ऐसे वीर पुरुष को जो स्वयं 'अस्तृत' कहाने योग्य है जो विशेष मान सूचक पदक आदि दिया जाय वह उपचार से या लक्षणा से 'अस्तृत' कहा

जा सकता है। 'अस्तृत' का स्वरूप देखो (अथर्व० १ । २० । ४) 'शास इत्था महान् असि मित्रसाहो अस्तृतः। न यस्य हन्यते सखा । न जीयते कदाचन ।' परमात्मा पक्ष में–'अस्तृत' जैसे (अथर्व ५ । ८ । ७) 'सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो अन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् । अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥

[४७] रात्रिरूप ब्रह्मशक्ति और राष्ट्रशक्ति ।

गोपथ ऋषिः । मन्त्रोक्ता रात्रिर्देवता । १ पथ्याबृहती । २ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती । ६ पुरस्ताद् बृहती । ७ अवसाना षट्पदा जगती । शेषा अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

आ रा॑त्रि॒ पार्थि॑वं॒ रजः॑ पि॒तुर॑प्रायि॒ धाम॑भिः ।
दि॒वः सदां॑सि बृह॒ती वि ति॑ष्ठस॒ आ त्वे॒षं व॑र्तते॒ तमः॑ ॥१॥

यजु० ३४ । ३२ । ॥ ऋ०१० । १२७ । खिले ॥

भा०—हे (रात्रि) रात्रि ! समस्त प्राणियों को रमण कराने हारी (पार्थिवः) पृथिवी का (रजः) लोक (पितुः) सर्वपालक, पिता परमात्मा के बनाये (धामभिः) तेजों से (अप्रायि) पूर्ण है। और तू (बृहती) बड़ीभारी शक्ति वाली होकर समस्त (दिवः) द्यौलोक या आकाश में वर्त्तमान (सदांसि) समस्त लोकों में (वितिष्ठसे) विविध प्रकार से विराजमान है (त्वेषं) दीप्तिमान चन्द्र, तारागणों से सुशोभित (तमः) अन्धकार (आ वर्तते) सर्वत्र व्याप रहा है।

समस्त प्राणियों को जीवन देने वाला समष्टि प्रकृति रात्रि है। उस पालक प्रजापति की शक्ति संसार के समस्त पृथिवी लोकों में फैली है और वह जीवोत्पादक शक्ति द्यौलोक अर्थात् तेजोमय सूर्य आदि में भी व्याप्त

[४७] १–(द्वि०) 'पितुः प्रायुधा–' (तृ०) 'तुर्वति' ।

है । जहां २ तम या जड़ पदार्थ है वहां साथ २ 'तेज' का अंश भी उसी प्रकार फैला है जैसे रात्रि के अन्धकार में तारे अर्थात् जड़ता की चादर में चेतन जीवों को छिटक रक्खा है । या महान् ब्रह्माण्ड जड़ संसार में ब्रह्म की तीव्र गति, चेतना उसके भीतर व्याप्त है ।

सोमो रात्रिः । श० ३ । ४ । ४ । १५ ॥ रात्रिर्वरुणः । ऐ० ४ । १० ॥ वारुणी रात्रिः । ऐ० ४ । १० । यो राजसूयः स वरुणसवः । तै० २ । ७ । ६ । १ । राज्ञः एव राजसूयम् । श० ५ । १ । १ । १२ । स राजसूयेनेष्ट्वा राजा इति नाम अधत्त । गो० ५ । ५ । ८ । ब्रह्मणो वै रूपमहः । क्षत्रस्य रात्रिः । तै० ३ । ६ । १४ । ३ । इत्यादि प्रमाणों से प्रजा की पालक राज्यव्यवस्था का नाम भी 'रात्रि' है । उस पक्ष में हे रात्रि ! राजशक्ते ! पालक राजा के तेजों से यह पृथ्वी लोक व्याप्त है । तू महान् होकर (दिवः सदांसि) उच्च ज्ञान प्रकाश के गृहों, भवनों और विद्वानों पर शासन करती है, तेरा चमकीला प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है ।

न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद् विश्वमस्यां नि विशते यदेजति । अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥२॥ ऋ० १० । १२७ । खिल ६ ॥

भा०—रात्रि का स्वरूप ! (यस्याः) जिस अनन्त प्रकृति का (पारं न ददृशे) पार दिखाई नहीं देता (अस्याम्) इसमें (यत्) जो भी लोक (एजति) गति कर रहा है वह (विश्वम्) समस्त लोक (अस्यां) इसमें ही (न यो युवत्) उससे पृथक् न रहता हुआ (निविशते) आश्रय ले रहा है । (हे) उर्वि ! पृथ्वी के समान आश्रय देने वाली ! हे (तमस्वति) तमोगुण से युक्त, हे (रात्रि) जीवों को अपने में रमण कराने वाली भोग-

२-(द्वि०) 'योयवद्', 'निविशते रेजति' इति पैप्प० सं० ।

दात्रि ! हम (अरिष्टासः) विना दुःख कष्ट प्राप्त किये (ते) तेरे (पारम्) पार अर्थात् पालन करने वाले सामर्थ्य का (अशीमहि) भोग करें। हे (भद्रे) कल्याणकारिणि ! सुखदायिनि ! (ते पारम् अशीमहि) तेरे पालन सामर्थ्य को प्राप्त करें।

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव ।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥३॥

भा०—हे (रात्रि) समस्त प्रजा को रमण कराने एवं सुख प्रदान करने वाली राजशक्ते ! (ते ये) तेरे जो (नृचक्षसः) मनुष्यों को देखने वाले और (द्रष्टारः) राज्यव्यवहारों को देखने वाले (नवतिः नव) ९९ (निन्यानवे) या (अष्टा अशीतिः) अठासी [८८] (उतो) या (ते) तेरे कार्यद्रष्टा (सप्त सप्ततिः) सतहत्तर [७७] (सन्ति) हैं।

षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि ।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥४॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः ।
तेभिर्नो अद्य पायुभिर्नु पाहि दुहितर्दिवः ॥५॥

भा०—हे (रेवति) धनवति ! ऐश्वर्यवती राजशक्ते ! हे (सुम्नयि) प्रजा को सुख देनेहारी ! हे (वाजिनि) अन्न और बल से सम्पन्न ! हे रात्रि ! प्रजा सुखदात्रि ! हे (दिवः दुहितः) द्यौ=आदित्य की पुत्री, उषा के समान प्रकाश करने वाली (दिवः दुहितः) प्रकाश को दोहन, पूर्ण करने या प्रदान करने वाली राजसभे ! राजशक्ते ! (ते) तेरे जो प्रजा

३-(तृ०) 'सन्त्यष्टा' इति ऋ० १० । १२७ । खिले २ ॥
५-(द्वि०) 'रात्री एका-' इति पैप्प० सं० । (च०) 'नि पाहि' इति ह्विटनिकामितः ।

राज्य के व्यवहारों के देखने वाले संख्या में (षट् च षष्टिः श्च) छियासठ ६६ या (पञ्च पञ्चाशत्) पचपन, ५५, (चत्वारः चत्वारिंशत् च) चवालीस ४४ और या (त्रयः त्रिंशत् च) तैंतीस या (द्वौ च विंशतिः च) बाईस २२ या (अवमाः) सबसे कम (एकादश) ग्यारह विद्वान् पुरुष हैं (नः) हमें (अद्य) निरन्तर (तेभिः पायुभिः) उन पालन करने वाले देश पालक पुरुषों से (पाहि नु) हमें अवश्य पालन कर ।

अर्थात् राजसभा में ९९, ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२, या कमसे कम ११ विद्वान् हों उनके ऊपर राज्यकार्यों का देखने का भार हो । उन सभासदों का नाम 'नृचक्षा' है । इन्द्र की राजसभा में १००० ऋषि थे । इसीसे वह सहस्राक्ष कहाता था । अर्थशा० कौ० ।

'योनिरेव वरुणः' । श० १२ । ९ । १ । १७ ॥ इस प्रमाण से गत सूक्त में शतयोनि का तात्पर्य 'शतवरुण' समझना चाहिये अर्थात् जिसके अधीन सौ प्रजा के स्वयंवृत नेता हों । वे प्रजा को संभालें इसीसे वे 'शत-धाम' कहाते हैं ।

रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत ।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत ॥६॥
माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः ।
परमेभिः पथिभिस्तेनो धावतु तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥७॥

(प्र०) ऋ० ६ । ७१ । ३ ॥ च० । यजु० ३३ । ६९॥

भा०—हे राजशक्ते ! तू हमारा ऐसा (रक्ष) पालन कर कि (नः) हम पर (अघशंसः) हत्या और पाप कार्यों की चर्चा करने वाला दुष्ट

६–(प्र०) 'माकिर्नो' इति पैप्प० सं० ।

अधो यानि च यस्माह [चयामहे] यानि चान्तः परीणहि ।
तानि ते परि दद्मसि ॥१॥

भा०—(अथो) और (यानि) जिन पदार्थों को हम [चयामहे] संग्रह करते हैं (यानि) जिन वस्तुओं को (अन्तः) भीतर (परि नहि) सब ओर से बन्द सन्दूक आदि में रखते हैं (तानि) उन सब धन, वस्त्र आदि को (ते) तेरे ही अधीन (परि दद्मसि) हम धारण करते हैं या (परि दद्मसि) तेरे अधीन, तेरी रक्षा में रखते हैं ।

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि ।
उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥ २ ॥

अथर्व० १९ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (मातः) माता के समान राष्ट्र का पालन करने वाली, (रात्रि) प्रजा को सुख देने वाली ! तू (नः) हमको (उषसे) उषा को (परिदेहि) सौंप दे । अर्थात् हम सुख से रात में सोकर स्वस्थ रूप में प्रातःकाल उठें । राजा के पक्ष में हे रात्रि राजशक्ते ! तू (नः उषसे) हमें उषा अर्थात् दुष्टों का दहन करने वाली दमनकारिणी (पोलिस) के अधीन करदे या (उषसे) ज्ञानमयी, प्रकाशमयी विद्वत्-सभा के अधीन करदे । और जिस प्रकार उषा समस्त जीवों को दिन के अधीन कर देता

[४८] १-(प्र०) 'यानि च यस्मा आह', 'यानि च यस्मा अह', 'यानि च या महे', यानि याचा महे' इति पाठभेदाः । 'यानि चयामहे' इति ह्विटनिसंशोधितः पाठः । यानि । च । यस्मै ह-' यानि । च । यस्मै । आह । इति पदपाठ भेदौ । (द्वि०) 'यान्तिवां तः परीणाहि' इति क्वचित् । 'या न इह । अन्तः', यानि । वा । अन्तः'-इति वा पाठभेदः । ददसि इति क्वचित् । 'अधो यानि चयामहे यानि चान्तः परीणहि' इति पैप्प० सं० ।

है उसी प्रकार (उषा) वह पूर्वोक्त उषा (नः) हमें (अह्ने) न दण्ड देने योग्य, आदरणीय ब्राह्मणगण के अधीन (परिददातु) सौंप दे। और हे (विभावरि) विभावरि ! विशेष रूप से तेजस्विनि ! हे पूर्वोक्त रात्रि ! (अह्नः) दिन जिस प्रकार जीवों को रात्रि के अधीन कर देता है उसी प्रकार वह ब्राह्मणगण फिर (तुभ्यम्) तुझ पूर्वोक्त रात्रि अर्थात् राजशक्तियों व दुष्टों को दमन करने वाली शक्ति के अधीन सौंप दे।

यत् किं चेदं पतयति यत् किं चेदं सरीसृपम्।
यत् किं च पर्वतायासत्वं [पद्वदा सुन्वत्] तस्मात् त्वं रात्रि पाहि नः ॥३॥

भा०—(यत् किं च) जो कुछ प्राणिवर्ग (इदं) यह या इस प्रकार (पतयति) घूमा करते हैं या ऊपर से हम पर टूटते हैं और (यत् किं च इदम्) ये जो कुछ (सरीसृपम्) सरकने वाले, सांप आदि प्राणि हैं। और (यत् किञ्च) जो कुछ प्राणी (पर्वते) पर्वतों में (आ; असत्) विद्यमान हैं अथवा (पद्वत् आ सुन्वत्) पैरों वाले प्राणिवर्ग हमारे समीप विचरता है, हे (रात्रि) राजशक्ते ! (तस्मात्) उन सब प्राणियों से (त्वं) तू (नः पाहि) हमारी रक्षा कर।

तृतीय चरण में नाना पाठ उपलब्ध हैं-'पर्वतायासत्वं', 'पर्वतास त्वं' 'पर्वण्यासक्तं'। इत्यादि। पैप्पलाद में-'पद्वदासुन्वत्' है हमारी सम्मति में पाठकारूप होना चाहिये।

३-(तृ०) 'पर्वतायासत्वं' इति प्रामाणिकः पाठः। 'पर्वताय। सः। त्वम्' इति पदपाठो बहुत्र। 'पर्वताय। असत्वन्' इति सायणाभिमतः। 'च पर्वतासत्वं' इति शं० पा० नुमितः पाठः। 'पर्वण्यासक्तं' इति ह्विट्न्यनुमितः। पद्वदासुन्वत्' इति पैप्प० सं०। (प्र०) पतपति इति क्वचित्।

'यत् किंच पद्वदासुन्वन् तस्मात् त्वं रात्रि पाहि नः ।'

अर्थात् एक 'त्वं' पद अधिक है । पैप्पलाद का पाठ अधिक स्पष्टार्थ है ।

सायणसम्मत पाठ है-'यत् किंच पर्वतायासत्वं' अर्थात (यत् किंच) जो कोई (पर्वताय) पर्वत का (असत्वम्) असत्व अर्थात् दुष्ट सत्व, व्याघ्र सिंह आदि हैं ।

सा पश्चात् पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत ।
गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥४॥

भा०—(सा) वह तू (पश्चात् पाहि) पीछे से या पश्चिम दिशा से हमारी रक्षा कर । (सा) वह तू (पुरः) आगे से या पूर्व दिशा से हमारी रक्षा कर । (सा उत्तरात्) वह तू उत्तर दिशा से या बायीं ओर से या ऊपर से हमारी रक्षा कर । (उत अधरात्) और नीचे से या दायीं ओर से भी रक्षा कर । हे (विभावरि) विशेष तेज से सम्पन्न पूर्वोक्त रात्रि ! तू (नः) हमें (गोपाय) रक्षा कर (ते) तेरे हम (इह) यहां (स्तोतारः स्मसि) स्तुति करने वाले यथार्थ गुण कहने वाले हैं ।

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति
ते नः पशुषु जाग्रति ॥ ५॥

भा०—(ये) जो (रात्रिम्) रात्रि, उस सुखप्रद और दुष्टों को दण्ड देने वाली व्यवस्था को या सर्वोपरि राजमान् राष्ट्री शक्ति को (अनुतिष्ठन्ति) ठीक प्रकार से चलाते हैं और (ये) जो (भूतेषु) समस्त भूतों और प्राणियों में (जाग्रति) जागते हैं, सदा सावधान रहते हैं । और (ये) जो (सर्वान्)

५-'जाग्रतु' इति ह्विटनिदर्शितः । (द्वि०) 'येषु भूतेषु' (च० पं०) तेन स्वपसि जाग्रतु ते नः पशुभिर्जाग्रतु' । इति पैप्प० सं० ।

समस्त (पशून्) पशुओं की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (ते) वे सब व्यवस्थापक राज्य कार्यों को चलाने हारे पुरुष (नः आत्मसु) हमारे शरीरों पर भी उनकी रक्षा के निमित्त सावधान (जाग्रति) जागते हैं। और (ते) वे (नः) हमारे (पशुषु) पशुओं के रक्षा-कार्य में भी (जाग्रति) सावधान होकर रहते हैं। व्यापक ईश्वरीय शक्ति के पक्ष में भी स्पष्ट है।

वेद वै रात्रि ते नाम घृताची नाम वा असि।
तां त्वां भरद्वाजो वेद सा नो वित्तेऽधि जाग्रति ॥६॥

भा०—हे (रात्रि) रात्रि! समस्त जगत् को अपने भीतर लेने वाली सर्वोपरि विद्यमान शक्ते! (ते नाम अहं वेद) तेरा नाम मैं जानता हूं कि तू (घृताची नाम) 'घृताची' नामक (असि) है। (भरद्वाजः) भरद्वाज, अन्न और बलों को धारण करने वाला (तां त्वाम्) उस तुझको (वेद) जानता या प्राप्त करता है। (सः) वह (नः) हमारे (वित्ते) समस्त प्राप्त करने योग्य पदार्थों पर (जाग्रति[1]) जागती है, सावधान होकर रहती है। सब की रक्षा करती और यथासमय प्राप्त कराती है।

'घृताची'—घृ क्षरणदीप्त्योः (चुरादिः) गृ घृ सेचने (भ्वादिः) एताभ्यामौणादिकः क्तः। जिघर्त्ति सञ्चलति दीप्यते वा तद् घृतम्। उदकं सर्पिः प्रदीप्तं वा। इति दया०। सेचयत्यनेन भूमिं पर्जन्यः। क्षरति मेघात्। दीप्तं वा स्वेन तेजसा देवतात्वात् घृतमन्नावस्थायलक्षणं जलं तदञ्चति। अञ्चतेर्गत्यर्थात् क्विनि टीपि, घृताची। इति देवराजः। घृत जल है। इससे मेघ पृथ्वी को सींचता है। या घृत तेज है अर्थात् वह परमात्मा की जलदात्री, जीवनदात्री, तेजोदात्री, मेघ, सूर्य, वायु रूप से प्राणप्रद शक्ति घृताची,

---

६–(द्वि०) 'वासि', (तृ०) 'ता त्वा', (च०) 'जागृहि' इति पैप्प० सं०।

1.—जागर्त्तेर्लेटि अडागमो गुणाभावश्चेति सायणः।

रात्रि है । उसके तत्व को 'भरद्वाज' अन्नोत्पादक विद्वान् जानते हैं । अध्यात्म में- मनो वै भरद्वाजऋषिः । अन्नं वाजः । यो वै मनो बिभर्त्ति सो अन्नं वाजं बिभर्त्ति । तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः । मन भरद्वाज है । अन्न वाज है । वही शरीर में रहकर समस्त प्राणों को धारण करता है । यह आत्मा के घृताची शक्ति को जानता है ।

[४९] 'रात्रि' परम शक्ति का वर्णन ।

गोपथो भरद्वाजश्च ऋषी । रात्रिर्देवता । १—५, ८ त्रिष्टुभः । ६ आस्तारपंक्तिः । ७ पथ्यापंक्तिः । १० अनुष्टुप् । ९ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । दशर्चं सूक्तम् ॥

इ॒षि॒रा योषा॑ युव॒तिर्दमू॑ना॒ रात्री॑ दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्भग॑स्य ।
अ॒श्व॒क्ष॒भा सु॒हवा॒ संभृ॑तश्री॒रा प॑प्रौ॒ द्यावा॑पृथि॒वी म॑हि॒त्वा ॥१॥

भा०- जिस प्रकार (युवतिः) युवती स्त्री (सवितुः) पुत्रोत्पादन करने में समर्थ पुरुष की (इषिरा) इच्छा का विषय या अनुकूल रमण करने वाली होती है और (दमूनाः) उसी के अधीन अपने चित्त को वश करके रहती है उसी प्रकार (रात्रिः) समस्त जगत् को व्यक्त रूप प्रदान करने वाली, महती प्रकृति शक्ति (भगस्य) सबके भजन करने योग्य, सर्वैश्वर्यवान्, (सवितुः) सर्वोत्पादक, सर्व जगत् के सञ्चालक, (देवस्य) सर्व प्रकाशमान, सर्वज्ञानप्रद परमेश्वर के लिये सूर्य के लिये रात्रि के समान ही (इषिरा) अपनी इच्छा शक्ति द्वारा प्रेरित करने योग्य होती है । अर्थात् ईश्वर अपनी कामना या इच्छा से प्रकृति को जगत्-सृष्टि के लिये प्रेरित करता है । प्रकृति की अविकृत वह अवस्था अर्थात् जब जगत् अव्यक्त रूप में प्रकृति में लीन रहता है वेदोक्त 'रात्रि' है । उस दशा में विद्यमान प्रकृति में ईश्वर की प्रेरणा से सृष्टि का उत्पादक बीज उत्पन्न होता है । वह स्वयं उस परमात्मा की (योषा)

[४९] १-'संभृतः श्रीरा पप्रौ' इति पैप्प० सं० । (च०) 'विभ्रमा' इति ह्विटनिकामितः ।

स्त्री के समान नित्य निरन्तर संग करने वाली अर्थात् ईश्वर के सम्पर्क से उसकी शक्ति तेज या वीर्य से गर्भित होकर समस्त सृष्टि को उत्पन्न करने वाली (युवतिः) सदा जवान, सदा स्थिर रूप से संगत' और निरन्तर सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ, (दमूनाः) और स्वयं दान्तमना अर्थात् मनन या चेतना से रहित केवल परमात्मा के ही संकल्प से चलने वाली अथवा दान्त-मनाः' अर्थात् दमनकारी ईश्वर के द्वारा स्तम्भित, उसके वशी-भूत है । वही प्रकृति (अश्वक्षभा=अशु-अक्ष-भा) अति शीघ्र व्यापक शक्ति से सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ हुई। (सुहवा) उत्तम रीति से पति की आज्ञा में रहने वाली स्त्री के समान वह भी 'सुहवा' उत्तम रीति से उसके वशी भूत, (संभृत-श्रीः) समस्त शोभाओं को स्वयं धारण करने वाली, अथवा (सं हृत श्रीः) एकत्र प्राप्त हुए समस्त विकृत पदार्थों पञ्चभूतों का आश्रय स्थान, वह प्रकृति रूप ब्रह्मशक्ति अपने महित्वा) महान् सामर्थ्य से (द्यावा-पृथिवी आ पप्रौ) द्यौ और पृथिवी, समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप रही है।

राजशक्ति के पक्ष में—वह (दमूनाः) दमनकारिणी, (देवस्य सवितुः भगस्य) सबके सञ्चालक ऐश्वर्यवान् राजा की निरन्तर बलवती इच्छा के अनुकूल प्रेरित (अशु-अक्षभा) शीघ्रकारी चतुर इन्द्रियों के समान उसके साथ जुड़े अध्यक्ष पुरुषों से शोभामान, (सुहवा) उत्तम ज्ञान से पूर्ण या (संभृतश्रीः) राष्ट्र लक्ष्मी को धारण करने वाले अपने महिमा, सामर्थ्य से (द्यावापृथिवी आपप्रौ) द्यौ और पृथिवी, राजा और प्रजा दोनों को पूर्ण करता है । अर्थात् दोनों को सम्पन्न समृद्ध करता है ।

अति विश्वान्यरुहद् गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः ।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः ॥२॥

२-अभिविश्वान्यरुहद् गम्भीरोऽवर्षिष्ठमरहद् श्रविष्ठा ।
'उशती रात्र्यनु सा भद्राणि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः ॥ इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

अथवा—(गम्भीरः) गम्भीर, सर्वव्यापक, निगूढ परम मेघ, सबका परम गन्तव्य, महान् पुरुष ही (विश्वानि. [विश्वा]) समस्त पदार्थों और लोकों के भी ऊपर (अति [अभि, अधि] असहत्) अधिष्ठातृ रूप से विराजता है। और (श्रविष्ठाः) श्रुति, ब्रह्मज्ञान या ऐश्वर्यवान्, विभूति-सम्पन्न, युक्त योगी पुरुष उस (वर्षिष्ठम्) सबसे महान्, सबके प्रति आ-नन्दवर्षण करने हारे परमेश्वर तक (असहन्त) पहुंचते हैं। (उशती) उसी की कामना करने वाली (सा) वह (भद्रा) अति सुखकारिणी (अनु) उसके पीछे २, उसके अनुकूल ही, उसकी वशवर्तिनी होकर, अपनी (स्वधाभिः) स्वधा, विश्व को धारण करने की शक्तियों सहित, कामनायुक्त स्त्री जिस प्रकार प्रियतम के पास आजाती है उसी प्रकार (मित्र इव) उसके मित्र के समान होकर (अभि तिष्ठते) उसके प्रति, उसके सन्मुख आ उपस्थित होती है।

गम्भीर राजा सबके ऊपर शासक हो, विद्वान् लोग उसके आश्रय पर रहें। वशकारिणी राजशक्ति अपने धारण सामर्थ्यों से राजा प्रजा के मित्र के समान प्रकट होती है।

अतिविश्वान्यर्हद् गम्भीरो वर्षिष्ठमर्हति श्रविष्ठा।
उशती रात्रिम्यनु सा भद्रा वितिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः॥ इति सायणाभिमतः।

अतिविश्वान्यरुहद् गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः॥ सं० पा०।

'अवि', 'अर्वि', 'अभि', 'अधि'। 'अरुहन्', 'अर्हत्', 'अरुहत्', 'अरुहत्'। 'गन्भीरा', 'गम्भीरो'। 'अरुहन्तः', 'अरहत', 'अरुहन्त', 'अर्हति' 'वा अरहत'। 'अश्रमिष्ठाः', 'श्रमिष्ठा', 'शविष्ठा'। 'उशतीराम्यनुसामद्राहि'—'नुसाम-द्राहि' 'अनुसाम-' 'द्राहि', 'प्रावि', 'प्राहि' इति नाना पाठाः, इद्वर्षिष्ठ मरुहद अविष्ठा। उशतीराम्यवसानभराद्, इति-पैप्प० सं०।

अथवा—सायण, ह्विटनी आदि के सम्मत पाठों के अनुसार (अधि विश्वा न्यरुहत् गम्भीरा) गम्भीर रूप रात्रि, सबके अभिगमनीय या अति गम्भीर राजशक्ति, राष्ट्र के समस्त पदार्थों पर गम्भीर रात्रि के समान अपना अधिकार करती है। और वह अविष्ठा [शविष्ठा] अति अधिक बल, वीर्य और यश और अन्न से समृद्ध होकर (वर्षिष्ठं द्याम् अरुहत्) सबसे उत्तम प्रकाशमय सूर्य पर जैसे रात्रि आरूढ़ होती है और जिस प्रकार स्त्री अपने उज्ज्वल पति का आश्रय लेती है उसी प्रकार यह भी तेजस्वी बलवान राजा पर आश्रित रहती है। (उशती रात्रिः अनु या स्वधाभिः भद्राभिः वि तिष्ठते) कामनायुक्त स्त्री जिस प्रकार सुखदायी कल्याण प्रवृत्तियों सहित पति के समीप आती है उसी प्रकार वह राजशक्ति मुझ राजा के पास अपनी भद्र, सुखदायी अन्न और परम शक्तियों सहित (मित्र इव) मित्र के समान प्राप्त होती है।

वर्ये वन्दे सुभगे सुजात आजगन् रात्रि सुमना इह स्याम् ।
अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥३॥

भा०—हे (वर्ये) वरण करने योग्य! हे (वन्दे) वन्दना या स्तुति करने योग्य प्रशंसनीय! हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य से सम्पन्न हे सौभाग्यवति! हे (सुजाते) शुभरूपे, शुभकुल में उत्पन्न महिला के समान उत्तम रूप से बनाई गई! हे (रात्रि) राजशक्ते! और ईश्वरीय शक्ते! तू (आजगन्) आ, तू निरन्तर आती है। मैं (इह) यहां, इस लोक में (सुमनाः) उत्तम चित्तवाला, सुप्रसन्न होकर (स्याम) रहूं। तू (अस्मान्) हमको या हमारे लिये (जाता) उत्पन्न हुए (नर्याणि) मनुष्यों के उपयोगी (अथो) और (यानि) जो (गव्यानि) पशु आदि के उपयोग के अथवा मनुष्यों से उत्पादित शिल्प द्वारा उत्पन्न और पशुओं

से प्राप्त दुग्ध घृत आदि पदार्थ हैं उन सबको (पुष्ट्या) हमारी पुष्टि समृद्धि के लिये (त्रायस्व) पालन कर ।

सिंहस्य रात्र्युशती पींषस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च आ ददे ।
अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे विभाती ॥ ४ ॥

भा०—(उशती रात्री) सबको वश करने वाली रात्री अर्थात् राज-शक्ति, उत्तम पुरुषों को सुख और दुष्ट पुरुषों को दण्ड देने वाली शक्ति (सिंहस्य) सिंह के (पींषस्य [पिशस्य, पिपस्य, पीपस्य]) सबको चूर्ण कर देने वाले हाथी और (व्याघ्रस्य) व्याघ्र और (द्वीपिनः) चीते के भी (वर्चः) तेज को (आददे) ग्रहण कर लेती है ; और वही (विभाती) नाना प्रकार से प्रकाशित होने वाली, व्यापक, आशुगति करने वाले पदार्थों को (बुध्नं [ब्रध्नं][1]) बांधने या सूर्य के मूल स्थान या केन्द्र में स्थापन और (पुरुषस्य) देहपुरी में निवास करने वाले आत्मा के (मायुम्) वाक्-शक्ति का निर्माण (कृणुषे) करती है । अथवा-(अश्वस्य ब्रध्नं) सूर्य की शक्ति से मेघको और (पुरुषस्य मायुम्) पुरुष की शक्ति से वाणी को उत्पन्न करती है । अथवा (अश्वस्य ब्रध्नं) सूर्य के लिये महान् आकाश को और पुरुष के ज्ञान के लिये 'मायु' अर्थात् वाणी और वेदवाणी को उत्पन्न करती है ।

४–(प्र०) 'पीषस्य', 'पीपस्य', पीपस्य, इति नाना पाठाः । पिशस्य इति ह्विटनिसम्मतः । पिपस्य, (तृ०) 'बुध्नं', इति सायणाभिमतः । 'निपस्य' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'वर्चादंदे' (च०) 'कृणुषी' 'विभातीः' इति प्रायः ।

१. 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' इत्युणादिर्नक् प्रत्ययः । ब्रध्नः बुध्नः । ब्रध्नो महान् सूर्यो वा, बुध्नो मेघोमूलमन्तरिक्षं वा । इत्युणादि द० ।

और उनके भी (पुरु रूपाणि कृणुषे) नाना रूप (कृणुषे) बनाती है रचती है । अर्थात् राजशक्ति शिक्षा का प्रबन्ध करती है और नाना प्रकार के (रूपाणि) शिल्पसाध्य पदार्थों को उत्पन्न करती है ।

शिवां रात्रिमनुसूर्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ॥५॥

भा०—हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यवति ! तू (हिमस्य) शत्रुओं को, हनन करने वाले राजा की (माता) उत्पन्न करने वाली माता के समान राजा को बनाने वाली, उसको प्रभुत्व देने वाली है । तू (नः) हमें (सुहवा) उत्तम हव=ज्ञान-उपदेश देने में समर्थ (अस्तु) हो । तु (अस्य स्तोमस्य) इस 'स्तोम', वीर पुरुषों के उत्पन्न करने के कार्य को (नि बोध) भली प्रकार जान । अर्थात् राज्यतन्त्र को चाहिये कि वह वीरों का बराबर सेना में भर्ती करने और नये २ सैनिकों को तैयार करने के कार्य को खूब आवश्यक समझे । (येन) जिसके कारण हम (विश्वासु) समस्त (दिक्षु) दिशाओं में (त्वा) तुझ (शिवाम्) कल्याणकारिणी (रात्रिम्) सर्वैश्वर्यप्रद—राष्ट्र, राज्यशक्ति को और (अनु सूर्यम्) उसके अनुकूल उसके पोषक या उसके अनुरूप रात्रि के पीछे अनुगमन करने वाले सूर्य के समान उदयशील तेजस्वी राजा के भी (वन्दे) हम गुण और यशोगान करें ।

५-(प्र०) 'शिवामे रात्र्यनुसूर्यं च' इति ह्विटनिकामितः । 'शिवां रात्रि महिन सूर्यं च' इति पैप्प० सं० । 'शिवां रात्रि महिसूर्यं च' इति बहुत्र । 'रात्रिमहि' इति सायणाभिमतः । 'शिवा रात्री मही सूर्यश्च' इति शं० पा० कामितः । (द्वि०) 'यमस्य माता०' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'यदनस्तोम०' इति बहुत्र । (च०) 'वन्धे', 'वशे' इति क्वचित् ।

१-'हिमस्य'-हन्तेर्हि च । औणादिर्मक् प्रत्ययः । हन्ति उष्णं दुर्गन्धं वा तद्धिमम् । हेमन्त ऋतुस्तुषारश्चन्दनं वा इति दया० । हेमन्तो हि इमाः प्रजाः स्ववशमुपनयते । श० १ । ५ । ४ । ५ ॥ सहश्च सहस्यश्च एतौ एव हैमान्तिकौ मासौ । यद् हेमन्त इमाः प्रजाः सहसा इव स्वं वशमुपनयते इमौ हैतौ सहश्च सहस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १८ ॥ तस्य (पर्जन्यस्य) सेनजित् च सुषेणश्च सेनानिग्रामण्यौ इति हैमान्तिकौ तावृतू । श०८ ६ । १ । २० । हेम का अर्थ है मारने वाला, दण्ड देने वाला । हेमन्त के जिस प्रकार सहः सहस्य दो मास हैं उसी प्रकार प्रजाके वासयिता राजा के सहः=शत्रु के पराजेता और सहस्य= बलशाली दो अधिकारी हैं जिनके बल से समस्त प्रजाओं को वह वश करता है । पर्जन्य=अर्थात् मेघ के समान प्रजापति के सेनजित् और सुषेण दोनों हेमन्त ऋतु के दो मासों के समान ही सेनापति और ग्रामणी या ग्रामपति दो अधिकारी होते हैं ।

२-'स्तोमस्य'-वीर्यं वै स्तोमाः । तां श० । ५ । ४ । वीरजननं वै स्तोमः । तां० २१ । ६ । ३ ॥ राजा का बल या सेनाबल स्तोम कहाता है ।

स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे।
असाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनूषसः ॥६॥

भा०—हे (विभावरि) तेजस्विनि ! हे (रात्रि) रात्रि ! सुखदात्रि ! एवं सबसे ऊपर विराजमान राजशक्ति ! तू (राजा इव) राजा के समान ही (नः) हमारे (स्तोमस्य) सामूहिक वीर्य अर्थात् बल और वीरसमूहों को (जोषसे) अपने प्रयोग में लाती है । इसलिये (व्युच्छन्तीः उषसः अनु) नित्य निरन्तर प्रकट होने वाली उषाओं अर्थात् शत्रुदाहक सेनाओं

६-(द्वि० तृ० च०) 'जोषसि । यथा नः सर्ववीरा भ०' इति पैप्प० सं० ।

के रूप में हम लोग सदा (सर्ववीराः) सर्वत्र वीर (असाम्) होकर रहें और (सर्ववेदसः) समस्त ऐश्वर्यों से युक्त (भवाम्) हों ।

शम्यां ह नामं दधिषे मम दिप्सन्ति ये धना ।
रात्री हि तानसुतपा य [त्] स्तेनो न विद्यते यत् पुनर्न विद्यते॥७

भा०—हे रात्रि ! राजशक्ते ! तू (शम्या ह नाम) अर्थात् 'शत्रुओं को शमन करने से 'शम्या' इस प्रकार का नाम (दधिषे) धारण करती है। इसलिये (ये) जो पुरुष (मम) मेरे (धना) धनों को (दिप्सन्ति) बलात् मुझ से छीन लेना चाहते हैं, हे (रात्रि !) सबों पर विराजमान ! एवं दुष्टों को दण्ड देनेहारी ! तू (असुतपा) शत्रुओं के प्राणों को संतप्त करने वाली होकर (इहि) प्राप्त हो (यत्) जिससे जो (स्तेनः) चोर या लुटेरा पुरुष है वह (न विद्यते) राष्ट्र में न रह जाय और (यत्) जिससे (पुनः) फिर दुबारा चोर (न विद्यते) न पैदा हों, या फिर सदा के लिये राष्ट्र में चोर न रहें ।

भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विश्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि ।
चक्षुष्मती मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्या न क्षामंमुक्थाः ॥८॥

७–(द्वि०) 'धनाः' इति बहुत्र । (तृ०) रात्रि हिनानः, रात्रिहिताने, 'रात्रीहितानः' इत्यादि नाना पाठाः । (प्र०) 'रम्याह' इति ह्विटनि-कामितः । 'पम्याह नाम तन्वे विनृच्छन्ति योजनात् ।' इति पैप्प० सं० । रात्रि । हिता । [अथवा—हि । ता ।] नः । सुता । इति ह्विटनिकामितः पदपाठः । 'अनुतपा' इति ह्विटनिकामितः । (च० पा०) 'यथा स्ते–', 'यथा पु -' इति ह्विटनिकामितः ।

८–(प्र०) 'नपिष्टो' इति बहुत्र । 'न दिष्टो' इति क्वचित् । 'दिव्यं' इति सं० पा० । सायणाभिमतश्च । (च०) 'प्रतिरक्षां दिव्यातक्षमः

भा०—हे (रात्रि) रात्रि ! राजशक्ते ! तू (भद्रा असि) कल्याण और सुख के देने वाली है। तू (विष्टः) परसे हुए (चमसः न) थाल के समान अन्न से भरपूर है। तू (युवतिः) सदा शक्तिशालिनी होकर (बिभ्रन्) समस्त (गोरूपम्) पृथ्वी का स्वरूप (बिभर्षि) धारण करती है। अथवा (विश्वं) समस्त (गोरूपम्) पृथ्वी पर विद्यमान प्राणियों को (बिभर्षि) धारण पोषण करती है। (उशती) कामना करने हारी, अथवा सबको वश करने हारी और (चक्षुष्मती) सब पर अपनी आंख रखने वाली होकर (मे) मेरे (वपूंषि) सम्बन्धी समस्त प्रजाओं के शरीरों को (दिव्या) दिव्य गुणवाली तेजस्विनी होकर (त्वं) तू और (क्षाम्) सबकी निवासभूत इस पृथिवी को भी (न प्रति अमुञ्चथाः) कभी त्याग मत कर।

यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः।
रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥९॥

भा०—(यः) जो (अद्य) आज (स्तेनः) स्तेन=चोर और डाकू (अघायुः) पाप, हत्या करने वाला, (रिपुः) शत्रु, (मर्त्यः) पुरुष

अमुच्थाः' 'अमुचः' प्रति स्वंशिपा तस्मा अमुच्था इति च क्वचित्। 'विश्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि' इति पैप्प० सं०। भद्रासि रात्रिन्तन-स्तमसोनुविष्टो इति पैप्प० सं०। 'म उशती' इति क्वचित्। (द्वि० तृ०) चक्षुष्मतीवि युवतीवत्प। (च०) प्रत्यां दिव्यानस्तुत्पः इति पैप्प० सं०। 'प्रति त्वं दिव्या नक्षत्राण्यमुच्थाः' इति ह्विटनि-कामितः।

९–(द्वि० तृ०) यो ममरात्रिदुष्ट गायति न संदिप्सो अपवति इति सायणाभिमतः। (च०) 'हनत्' इति सायणाभिमतः। पुरुषोनायुम्न जगृभ्यां रिपुः (च०) 'ग्रीवासा–' इति पैप्प० सं०।

(आयति) आता है (तस्य) उसके (प्रति इत्य) प्रति आकर या उसे पहचान कर (रात्री) दुष्टों को दण्ड देने वाली राजशक्ति उन चोर, पापी, हत्यारों और शत्रुओं की (ग्रीवाः) गर्दनों को और (शिरः) शिरों को (प्रहनत्) तोड़ दे ।

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथा शिपत् ।
यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति ।
अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥१०॥

भा०—वह राजशक्ति उस शत्रु के (पादौ प्रहनत्) दोनों पैर तोड़ डाले, (यथा) जिससे वह (न आयति) चल न सके । (हस्तौ प्रहनत्) उसके दोनों हाथ तोड़ डाले (यथा) जिससे वह फिर (न अशिपत्) हिंसा या हत्या का कार्य न कर सके । (यः) जो (मलिम्लुः) प्रजा में मारामारी करने वाला, हत्यारा, चोर, डाकू हमारे (उप आयति) समीप भी आवे (सः) वह (संपिष्टः) खूब पीसा जाकर, खूब दण्डित होकर नाश कर दिया जाय । (अपायति) ऐसा नष्ट किया जाय कि (सु अपायति) अच्छी प्रकार से नष्ट होजावे और वह (शुष्के-स्थाणौ) सूखे स्थाणु, ठूंठ पर या बल्ले पर टांग कर या उससे बांधकर (अपायति) मारा जाय ।

'अपायति'-अन्य पण्डितों ने ' भाग जावे' आदि अर्थ किया है । सो हमारी सम्मति में यह अर्थ यहां उचित नहीं है । क्योंकि 'अपाय' शब्द नाश होने अर्थ में रूढ़ है ।

१०-(द्वि०) 'यथाशिपः' इति क्वचित् । (तृ०) 'मलिम्लुरु-' इति क्वचित् । 'यथाशिपत्' इति सायणाभिमतः । (प्र० द्वि०) प्रपादौ न यत् आहतः प्रहस्तौ न यथाशिपत् । (तृ० च०) यो मलिम्लु रुपायति स सम्पिष्टो अपायति । इति पैप्प० सं० ।

('शुष्के स्थाणौ') 'सूखे स्थान में भाग जावे' । यह अर्थ ह्विटनि और सायणाभिमत है । पर हमारे विचार में—उसे सूखे वृक्ष या बल्ले से बांध कर उसको मारा जाय, यह अर्थ संगत है जैसे अगले सूक्त के १ म मन्त्र में—'स्तेनं तं द्रुपदे जहि । उस चोर को खूंटे से बांध कर मार । 'शुष्क स्थाणु' और 'द्रुपद' दोनों एक ही पदार्थ हैं ।

[५०] 'रात्रि' रूप राजशक्ति से दुष्ट दमन करने की प्रार्थना ।

गोपथभरद्वाजावृषी । रात्रिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु ।
अक्ष्यौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥१॥

भा०—(अध) और हे (रात्रि) राजशक्ते ! दण्डदात्रि ! तू (अहिम्) कुटिलगामी अथवा सर्वत्र हत्यारे खूनी पुरुष को (तृष्टधूमम्) प्यास लगाने वाले धूम से दण्डित कर और उसको (अशीर्षाणम्) शिर से रहित कर । उसके शिर को धड़ से अलग करदे । (वृकस्य) जंगल में घेर कर मारने वाले या दूसरों का माल चोरने वाले, या रास्ता रोकने वाले, डाकू, चोर लोगों के (अक्ष्यौ) दोनों आंखों को (निर्जह्याः) सर्वथा निकलवा डाल, उपाड़ दे । (तेन) और उसी अपराध के कारण (तं) उसको (द्रुपदे) वृक्ष के बने खूंटे के साथ बांधकर (जहि) दण्ड दे ।

ये ते रात्र्यनड्वाहस्तीक्ष्णशृङ्गाः स्वाशवः ।
तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा ॥२॥

[५०] १-(तृ०) 'अक्ष्यौ' अक्षौ, अक्षू, आक्षौ इति नाना पाठाः । (प्र०) 'अन्ध' इति क्वचित् । (प्र०) 'तिष्टधूम' (तृ० च०)—हनो वृकस्य 'निर्जह्या स्तेनं नृपते जहि' । इति पैप्प० सं० ।

२-(तृ०) 'पारयत्पाति' इति क्वचित् । (द्वि०) 'श्रृंग्याश्वासवः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (रात्रि) रात्रि ! दण्डदात्रि ! राजशक्ते ! (ते) तेरे (ये) जो (अनड्वाहः) शकट या राजतन्त्र के भार उठाने वाले धुरन्धर (तीक्ष्ण-शृङ्गाः) तीखे हिंसासाधन वाले, तीक्ष्ण दण्ड देने हारे, (स्वाशवः) खूब तीव्रगति वाले, अति तीव्र, बुद्धिमान हैं (तेभिः) उनसे (नः) हमें (विश्वहा) सब प्रकार के (दुर्गाणि) दुर्ग स्थानों, कठिन संकटों को भी (अद्य) सदा (अति पारय) पार करा।

रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम्।
गम्भीरमप्लवा इव न तरेयुररातयः ॥३॥

भा०—(रात्रिम्-रात्रिम्) प्रत्येक राजशक्ति या दण्ड देने वाली राजव्यवस्था को या उत्तम व्यवस्था को (अरिष्यन्तः) प्रयोग करते हुए हम लोग (तन्वा) अपने विस्तृत बलसे या (तन्वा) अपने शरीर से (गम्भीरम्) अति गम्भीर कार्यों के भी (तरेम्) पार पहुंच जायं। और (अप्लवाः इव) वे जहाज़ के लोग जिस प्रकार (गम्भीरम्) गहरे जल को नहीं तैर पाते उसी प्रकार (अरातयः) हमारे शत्रु लोग (न तरेयुः) गम्भीर संकटों को न पार कर सकें।

यथा शाम्याकः प्रपतन्नपवान् नानुविद्यते।
एवा रात्रि प्र पातय यो अस्माँ अभ्यघायति ॥४॥

३–(तृ० च०) अप्रा/त्वुपा न तेरहुररा०–इति पैप्प० सं०।
(च०)–'घायति' इति क्वचित्।
४–१ वर्णविपर्ययः। (प्र०) 'प्रपतनपवान्नानु', 'प्रपवान्नानु–', 'प्रपतन्नपत्रांनानु' इति नाना पाठाः। 'श्याम्याक', 'श्यामाकः' इति च क्वचित्। 'प्रपतन्नपरान्' इति ह्विटनिकामितः। (तृ०) 'एवा वा' तृ० इति क्वचित्। (प्र० द्वि०) 'सान्याकाः प्रपतन्तेरि व नानु–' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यथा) जिस प्रकार (शाम्याकः-श्यामाकः)[१] श्यामाक या सांवा नामक धान (प्रपतन्) गिरकर (अपवान्) उड़ता २ (न अनुविद्यते) फिर उसका कुछ पता नहीं चलता कि कहां है (एवा) उसी प्रकार, हे (रात्रि) दण्डदात्रि राजशक्ते ! (यः) जो (अस्मान् अभि) हम पर पापाचार, अत्याचार, घात या बलात्कार करना चाहता है उसको भी तू (प्र पातय) ऐसा गिराकर नष्ट करदे कि पता न चले ।

अप स्तेनं वासो गोअजमुत तस्करम् ।
अथो यो अर्वतः शिरोभिधाय निनीषति ॥५॥

भा०—हे राजशक्ते ! (यः) जो हमारे (वासः) वस्त्रों (उत) और (गो-अजम्) गायों, बकरियों को (निनीषति) चुरा ले जाना चाहता है उसके उस (स्तेनम्) चोर को तू (अप) हमसे दूर रख । (अथो) और (यः) जो हमारे (अर्वतः) घोड़ों के (शिरः अभिधाय) शिर बांधकर उनको (निनीषति) हर लेजाना चाहता है उस (तस्करम्) चोर को भी (अप) हमसे दूर कर । या पूरी तरह से नाश कर ।

यदद्या रात्रि सुभगे विभजन्त्ययो वसु ।
य [त] देतदस्मान् भोजय यथेदन्यानुपायति ॥६॥

५–(प्र०) 'अपस्तेनं वासो गोरजुत'–गोरज उत इति नाना पाठः । (प्र०) 'वासः' इति पदपाठः क्वचित् । 'अपस्तेनमवासयो गो–' इति ह्विट्निकामितः । (च०) 'निनेषति' इति क्वचित् । (द्वि०) 'वास दो' इति ह्विट्निकामितः ।

६–'यथेदन्यानुपायसि', 'यथेदन्यानुपायसि', यथेदन्यनुपायसि', 'यथेदन्यानुपायति' इति नाना पाठाः । (तृ०) 'तदे–' इति ह्विट्निकामितः । 'यदे–' इति सायणाभिमतः । (तृ० च०) 'यथेद् दस्मानिनामनं यथेदन्यान् उपायति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यद्) हे (रात्रि) ऐश्वर्यवती ! राजशक्ते ! हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यवति ! तू (वसु) सुवर्ण आदि धनको (विभजन्ती) विनाश करती हुई (आ अयः) हमें प्राप्त हो । (तत्) तब (अस्मान्) हमें (एतत्) उस धन को इस प्रकार (भोजय) उपभोग करा कि (यथा) जिस प्रकार वह (इत्) किसी प्रकार (अन्यान्) हमसे अतिरिक्त, हमारे शत्रुओं को (न उपायति) प्राप्त न हो । हम अपने ऐश्वर्य को ऐसे भोग करें कि उससे हमारे शत्रुगण लाभ न उठा सकें । हमारे भोग्य पदार्थों का नफ़ा शत्रुओं को न मिले ।

उपसे नः परि देहि सर्वान् रात्र्यनागसः ।
उषा नो अह्ने आ भजादहस्तुभ्यं विभावरि ॥७॥

भा०—हे (रात्रि) ऐश्वर्यवति, राजशक्ते ! रात्रि ! तू (अनागसः) पाप और अपराधों से रहित (सर्वान् नः) हम सबको (उपसे) तेजस्वी शत्रु को भस्म करने वाली के अधीन (परिदेहि) कर । और वह (उषा) शत्रुनाशक समिति (नः) हमें (अह्ने) दिन के समान उज्ज्वल, विज्ञानवान् ब्राह्मणों के अधीन (आभजात्) रखदे । और (अहः) वह दिन जिस प्रकार जगत् को रात्रि को सौंप देता है उसी प्रकार (अहः) वह अहन्तव्य ब्राह्मणवर्ग हमें पुनः, हे (विभावरि) विशेष दीप्ति ऐश्वर्यवाली (तुभ्यम्) तुझे सौंपदे ।

[५१] आत्मसाधना ।

ब्रह्मा ऋषिः । १ आत्मा । २ सविता च देवते । १ एकपदाऽनुष्टुप् । २ त्रिपदा यवमध्योष्णिक् । (१, २ प्राजापत्ये) द्व्यृचं सूक्तम् ।

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥१॥

७–(द्वि०) 'भजतु' इति क्वचित् ।

भा०—(अहम्) मैं (अयुतः) तुझसे जुदा न होऊं । (मे आत्मा अयुतः) मेरी आत्मा तुझसे पृथक् न हो । (मे चक्षुः अयुतम्) मेरी आंख पृथक् न हों । (मे श्रोत्रम् अयुतम्) मेरा कान पृथक् नहीं हो । (मे प्राणः अयुतः) मेरा प्राण पृथक् न हो । (मे अपानः अयुतः) मेरा अपान भी पृथक् न हो । (मे व्यानः अयुतः) मेरा व्यान वायु भी पृथक् न हो । (अहं सर्वः) मैं सारा (अयुतः) पृथक् न होकर पूर्ण होकर रहूं ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्
पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥२॥

भा०—(सवितुः) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर (देवस्य) देव के (प्रसवे) शासन में और (अश्विनोः) दोनों अश्विन् स्त्री पुरुषों प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बाहुओं से और (पूष्णः) सर्व पुष्टिकारक पालक पुरुष के हाथों से (प्रसूतः) मैं प्रेरित होकर (आरभे) तुझे ग्रहण करता हूं । या (आरभे) अपना कार्य प्रारम्भ करूं ।

[५२] 'काम' परमेश्वर ।

ब्रह्मा ऋषिः । मन्त्रोक्तः कामो देवता । ध्यानसूक्तम् । १, २, ४ त्रिष्टुभः । चतुष्पदा उष्णिक् । ५ उपरिष्टाद् बृहती । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥१॥

ऋ० द्वि० १० । १२९ । ४ प्र० द्वि० ॥

भा०—(अग्रे) समस्त सृष्टि के उत्पन्न होने के भी पूर्व में (तत्) वह परमेश्वर ब्रह्म ही (कामः) काम, अर्थात् सृष्टि को उत्पन्न करने की

[५२] १–'सयोनि' इति क्वचित् । (प्र०) 'समवर्तताधि–' इति ऋ० ।

इच्छा या कामना करने हारा, स्वयं काम, समष्टि संकल्प रूप (सम् अवर्त्तत) विद्यमान था । (यत्) जिस (मनसः) ज्ञानमय उस ब्रह्म का (प्रथमम्) सबसे प्रथम, या सबसे श्रेष्ठ (रेतः) रेतस्, वीर्य, जगत्-उत्पादन-सामर्थ्य, तेजस् (आसीत्) विद्यमान था । (सः) वह (कामः) काम, कामनामय परमेश्वर अपने (बृहता) बृहत्, बड़े भारी (कामेन) काम, सृष्टि उत्पत्ति करने के संकल्प के साथ (सयोनिः) एक ही स्थान पर विराजमान रहता है । अर्थात् वह महान् संकल्प, और संकल्प करने वाला भिन्न २ न रहकर दोनों एक रूप से ही विद्यमान थे । हे परमेश्वर ! वह तू सृष्टि का उत्पादक परमेश्वर (यजमानाय) यजमान, यज्ञशील, दानशील या उपासक आत्मा, पुरुष को (रायः पोषं) ऐश्वर्य की समृद्धि (धेहि) प्रदान कर ।

त्वं कांम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ संखीयते ।
त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि ॥२॥

भा०—हे (काम) काम ! महान् कामनामय कान्तिमय ! प्रभो ! (त्वं) तू इस संसार में (सहसा) अपने सर्व दमनकारी बल से (प्रतिष्ठितः) सबसे ऊपर शासकरूप से विराजमान है । तू (विभुः) सर्व व्यापक या विविध रूपों में सृष्टिकर्त्ता (विभावा) विविध पदार्थों को प्रकाशित करने वाला या विशेष कान्ति से प्रकाशमान्, (सखीयते) मित्र के अभिलाषी आत्मा के लिये (त्वम्) तू (आ) सर्वत्र (सखः) मित्र और (पृतनासु) समस्त जीवों में (उग्रः) अति बलवान् होकर (सासहिः) निरन्तर उनको वश में व्यवस्थित करने वाला (सहः) बलस्वरूप होकर विद्यमान है । तू (यजमानाय) यजमान, दानशील अपने को तेरे प्रति समर्पण

२–(द्वि०) 'सख आसुषीयते', 'सखासखीयते' इति पाठौ क्वचित् । 'सुससासखीयते' इति ऋ० ५ । ३७ । ३ ॥ पैप्प० सं० । (च०) सहो नो धन० इति पैप्प० ।

करने वाले, अथवा तुझे देव मानकर पूजा करने वाले उपासक आत्मा को (ओजः धेहि) ओज, पराक्रम प्रदान कर ।

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये ।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः ॥३॥

भा०—(दूरात्) दूर २ तक (चकमानाय) प्रबल कामना या संकल्प करते हुए (प्रतिपाणाय [परिपाणाय]) प्रत्येक पदार्थ पर अपना व्यापार करने में समर्थ (अक्षये) व्यापक, सर्वाधिष्ठातृरूप, या सर्वद्रष्टारूप (अस्मै) इस महान् परमेश्वर की आज्ञाओं को (कामेन) उस महान् का मनोमय संकल्प के बल से (आशाः) समस्त आशा अर्थात् दिशाएं (आ अशृण्वन्) सर्वत्र श्रवण करती हैं, उसकी आज्ञा को मानती हैं । और उसी (कामेन) कमनीय, कान्तिमय प्रभु के सामर्थ्य से वे (स्वः) सर्वत्र सुखमय लोकको (अजनयन्) बनाती हैं या (कामेन) उसके महान् संकल्प से (स्वः) दूरस्थ तेजोमय लोकों को वे दिशाएं अपने भीतर (अजनयन्) रचना करती हैं ।

कामेन मा काम आगन् हृदयाद्धृदयं परि ।
यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह ॥४॥

भा०—(कामेन) उस कामनामय, संकल्पमय परमेश्वर के द्वारा ही (मा) मुझको भी (कामः) वह काम अर्थात् परस्पर की चाह (आगन्)

३–(द्वि०) 'प्रतिपाणाय' 'प्रतिपाणाय०' इति पाठौ क्वचित् । 'प्रति-पाणाय' इति ह्विटनिः । 'प्रतिपाणाद्', (तृ०) आस्मा 'शृण्वन्' (च०) 'जनयत् सह' इति पैप्प० सं० । सद्यश्चकमानाय प्रवेपनाय मृत्यवे प्रास्मा आशा अशृण्वन् कामेनाजनयन् पुनः । इति तै० ब्रा० ॥

४–कामेन मे काम आगाद्धृदयाद्धृदयं मृत्योः । यदमीषामदः प्रियं तदैतू पमामभि: ॥

प्राप्त होती है जो (हृदयात्) एक हृदय से (हृदयं परि) दूसरे हृदय के प्रति हुआ करती है । इसी प्रकार (अमीषाम्) मेरे प्रेमी जनों से अतिरिक्त अन्योजनों का (अदः मनः) मेरे से परे गया हुआ भी मन या अभिलाषा (तत्) वह (माम्) मुझे (इह) यहां (उप आएतु) प्राप्त हो ।

यत्कांम कामयंमाना इदं कृण्मसि ते हविः ।
तन्नः सर्वं समृध्यतामथैतस्यं हविषो वीहि स्वाहां । ॥५॥

भा०—हे (काम) कामनामय प्रभो ! हम (यत्) जिस पदार्थ की कामना करते हुए (ते) तेरी (इदं हविः) यह स्तुति (कृण्मसि) करते हैं । (नः) हमारा (तत्सर्वम्) वह सब (समृध्यताम्) खूब सफल हो । (अथ) और (एतस्य) इस (हविषः) स्तुति को तू (वीहि) स्वीकार कर (स्वाहा) यह हमारी प्रार्थना स्वीकृत हो ।

[५३] 'काल' परमेश्वर ।

भृगुर्ऋषिः सर्वात्मकः कालो देवता । १–४ त्रिष्टुभः । ५ निचृत्पुरस्ताद् बृहती ।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥१॥

भा०—(अश्वः) जिस प्रकार घोड़ा रथ को खेंच लेजाता है और मनुष्य उस रथ पर चढ़ते हैं ठीक उसी प्रकार (कालः) काल, वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक, महान् परमेश्वर (सप्तरश्मिः) घोड़े के लगामों के समान सात बन्धनों वाला (सहस्राक्षः) हजारों धुराओं से युक्त (भूरि-रेताः) बहुतसे अनन्त लोकोत्पादक वीर्य, सामर्थ्यों से युक्त, है । (तम्) उस पर (कवयः) क्रान्तदर्शी प्रज्ञावान् (विपश्चितः) नाना

५–'यत् । कामः ।' इति पदपाठः प्रायः ।

[५३] १–(च०) 'चक्राणि' इति ह्विटनिकामितः ।

कर्मों और ज्ञान का संचय करने हारे या उनके जानने वाले विद्वान् (आरोहन्ति) चढ़ते हैं, उस पर आश्रय लेते हैं । (तस्य) उसके ही ये (विश्वा भुवना) समस्त भुवन, समस्त लोक, समस्त उत्पन्न प्राणी (चक्रा) उसके महान् रथ में लगे चक्रों के समान गति करते हैं । इससे समस्त लोकों की चक्र या वृत्ताकार गति और सबका चक्र या गोलाकार आकृति का भी वर्णन होगया ।

'सप्तरश्मिः'—सात रश्मियां । प्राणिसंसार में शरीर की घटक सात धातुएं, सप्त रश्मियें हैं । संवत्सर में सात ऋतु हैं । शिरोभाग में सात प्राण हैं । सूर्य में रश्मियां किरणें हैं । ज्ञानमय परमेश्वर के सात छन्द हैं इनसे उसने सबको बांधकर वश किया है ।

'सहस्राक्षः'—हज़ार अक्ष, जब समस्त भुवन चक्र हैं तो उस में लगे हजारों धुरे भी संगत हैं । कालात्मक शक्ति से सहस्रों अक्ष, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि अक्ष हैं । उस काल पर विद्वान् ही वश करते हैं ।

अथवा—ईश्वरीय शक्ति की महत्ता दर्शाने के लिये उसको एक बड़े भारी कलाभवन में लगे एञ्जिन से उपमा देते हैं । वह (कालः) कला रूप (अश्वः) एञ्जिन के समान परमेश्वर (वहति) समस्त विश्व को चलाता है । (सप्तरश्मिः) उसमें सात रासें या पट्टे लगे हैं जिनसे और समस्त चक्र धुरा घूमते हैं । और वह (सहस्राक्षः) हजारों धुरों से युक्त है । अर्थात् सब धुराओं को सात पट्टों के जोरों पर ही चलाता है । भौतिक जगत् के सञ्चालन में पञ्चभूत, महत् और अहंकार ये सात तत्व सप्तरश्मि हैं । वह (अजरः) नित्य कभी भी जीर्ण नहीं होता । वह (भूरिरेताः) बहुत भारी बल वीर्य से सम्पन्न है । (तम् कवयः विपश्चितः आरोहन्ति) उस पर क्रान्तदर्शी विद्वान् वश करते हैं, उस पर सदा चढ़ते हैं उस तक पहुंचते हैं । उसके तत्व को यथार्थ

रूप में जानते हैं कि (तस्य विश्वा भुवनानि चक्रा) ये समस्त भुवन, लोक और प्राणि ही चक्र अर्थात् गतिशील चक्र के समान हैं जिनको वह चला रहा है।

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥२॥

भा०—(एषः कालः) वह काल (सप्त) सात या सर्पणशील (चक्रान्) चक्रों को या निरन्तर गतिशील, कर्तारूप जीवों को (वहति) प्रेरित करता है। इसी प्रकार संवत्सररूप काल निरन्तर गतिशील, चक्र के समान् पुनः २ लौट कर आने वाली सात ऋतुओं को धारण करता है। (यस्य) उसके (सप्त नाभीः) सात नाभियां हैं। उसका (अक्षः) अक्ष धुरा या व्यापन सामर्थ्य (अमृतम्) अमृत, कभी नष्ट न होने वाला है। (सः) वह सर्व संहारकारी (इमा) इन (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों-लोकों और चराचर के सत् पदार्थों को (अञ्जत्) चलाता हुआ उनमें व्याप्त रहता हुआ और उनको प्रकाशित करता हुआ (कालः) कलामय एंजिन के समान साक्षात् कालरूप परमेश्वर (सः) वह (ईयते) जाना जाता है।

अध्यात्म में—वह आत्मा ज्ञानकर्त्ता होने से काल है। उसके सात नाभि हैं। स्वयं अक्ष अर्थात् सबका अध्यक्ष अमृत, चैतन्य रूप है। वह समस्त 'भुवन' प्राणों को प्रेरित करता है, ऐसा जाना जाता है।

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥३॥

२–(तृ० च०) 'न्यञ्जन् कालः०' इति क्वचित्, पैप्प० सं०। (प्र०) 'चक्रान्' इति (द्वि०) 'नमृतेतन्वक्षः' सायणाभिमतः ।

३–(द्वि०) 'निरन्तन्' इति पैप्प० सं० द्वितन्यभिमतश्च ।

भा०—(काले अधि) उस सर्वज्ञ, सर्वप्रेरक, महान् परमेश्वर के आधार पर (पूर्णः) यह संपूर्ण (कुम्भः) सबको आवरण करने वाला आकाशमय ब्रह्माण्ड (आहितः) रक्खा है यह उसी काल की शक्ति पर आश्रित है। (तं) उस सर्वाश्रय प्रभुको हम (सन्तः) सज्जन पुरुष (नु) ही (बहुधा) बहुत रूपों में (पश्यामः) देखते हैं। (सः) वह (इमा) इन (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों, लोकों और परस्पर पदार्थों में (प्रत्यङ्) व्यापक है। वह (परमे) सर्वोत्कृष्ट, सर्वोच्च (व्योमन्) व्योम, आकाश में भी विद्यमान है (तम्) उसको (कालम् आहुः) 'काल' नाम से विद्वान् लोग कहते हैं।

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत् ।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः॥४॥

भा०—(सः एव) वह कालस्वरूप परमेश्वर ही (भुवनानि) समस्त लोकों को (सम् आभरत्) भली प्रकार पालन पोषण करता या उत्पन्न करता है। और (सः एव) वह ही (भुवनानि) समस्त उत्पन्न लोकों में (परि एतु) व्यापक है। वह (एषां) इन लोकों का (पिता सन्) पिता, पालक होकर (पुत्रः) पुत्र भी (अभवत्) है। अर्थात् काल सबका पालक होने से पिता कहाता है, सर्वत्र पुत्र अर्थात् जीवों का भी त्राण करने में समर्थ होने से 'पुत्र' कहाता है। अथवा इन सूर्य चन्द्र आदि की गति से दिन, मास, ऋतु, पक्ष संवत्सर आदि उत्पन्न होते हैं इस नाते वह काल ही इन लोकों का पुत्र भी है (तस्मात् वै) निश्चय ही उससे (अन्यत्) दूसरा (परम्) उत्कृष्ट (तेजः) वीर्य सामर्थ्य और तेज (न अस्ति) नहीं है।

४–(प्र० द्वि०) 'स एव सन्' इति ह्विटनिकामितः। (द्वि०) 'स एव परीयैः' इति पैप्प० सं०।

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥५॥

भा०—(कालः) काल ही (अमूं) उस (दिवम्) द्यौलोक, आकाश और उसमें विद्यमान समस्त लोकों को (अजनयत्) उत्पन्न करता है । (इमाः पृथिवीः) इन समस्त पृथिवियों, विशाल सूर्य आदि लोकों को (उत) भी (कालः) काल (अजनयत्) उत्पन्न करता है । (भूतं) भूत, उत्पन्न जगत् या अतीत, और (भव्यम् च) भव्य, आगे भविष्यत् में उत्पन्न होने वाला जगत् दोनों (काले) काल में ही विद्यमान रहते हैं । (इषितम्) और समस्त गतिमान् पदार्थ उसी काल द्वारा प्रेरित होकर (वि तिष्ठते) विविध दशाओं में स्थित हैं ।

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥६॥

भा०—(कालः) काल (भूतिम्) इस समस्त जगत् की सत्ता, उस की सृष्टि, स्थिति को या समस्त जगत की विभूति, नाना विध ऐश्वर्यों को (असृजत) बनाता है । (सूर्यः) सूर्य भी (काले) काल में अर्थात् कालके अधीन होकर (तपति) तपता है (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणिगण (काले ह) निश्चय से 'काल' के ही अधीन हैं और (चक्षुः) देखने वाला इन्द्रिय चक्षु भी उस (कालः) काल के अधीन होकर (वि पश्यति) विविध पदार्थों को देखता है ।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥

५–'हविस्तिष्ठते' इति बहुत्र । (द्वि०) 'कालेना पृथिवीमुत' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'कालेन' इति ह्विट्निकामितः ।

६–(प्र०) 'भूमिमसृजत' इति ह्विट्न्यभिमतः । 'भूतम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(काले) काल रूप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वप्रेरक परमेश्वर में (मनः) मन, सब मनन करने वाले अन्तःकरण सीमित हैं। (काले) उसी काल, परमेश्वर में (प्राणः) समष्टि प्राण विद्यमान हैं। (नाम) समस्त पदार्थों के समस्त नाम भी (काले) उस सर्वज्ञ परमेश्वर में ही (सम् अहितम्) भली प्रकार विद्यमान हैं। (आगतेन) अनुकूल रूपसे आये हुए (कालेन) उस काल से ही (सर्वाः इमाः) ये समस्त (प्रजाः) प्रजाएं (नन्दन्ति) समृद्ध सम्पन्न और आनन्द प्रसन्न होती हैं।

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥८॥

भा०—(काले) कालरूप, सर्वज्ञ परमेश्वर में ही (तपः) समस्त तप, वीर्य, सत्यबल विद्यमान है। (ज्येष्ठं) सबसे बड़े, सर्वोपरि बल (काले) उस काल में आश्रित है। (ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान (काले) उस काल में ही (समाहितम्) विद्यमान है। (कालः) वह काल (ह) ही (सर्वस्य ईश्वरः) सबका ईश्वर, मालिक है (यः) जो (प्रजापतेः) प्रजा के पालक राजा और (प्रजापतेः) सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि तारागणों के के प्रतिपालक हिरण्यगर्भ नाम प्रजापति का भी (पिता आसीत्) पिता रहा।

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥९॥

भा०—यह जगत् (तेन) उस परमेश्वर ने (इषितम्) चला रक्खा है। (तेन) उसके द्वारा ही (जातम्) उत्पन्न हुआ है। (तत्) और वह (तस्मिन्) उस कालरूप परमेश्वर के आश्रय पर ही (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है। (कालः ह) वह काल ही निश्चय से (ब्रह्म) बृहद्

स्वरूप होकर (परमेष्ठिनम्) परम सत्य पर आश्रित समस्त ब्रह्माण्ड को (बिभर्ति) धारण कर रहा है ।

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥१०॥

भा०—(कालः) कालरूप परमेश्वर ही (प्रजाः असृजत) समस्त प्रजाओं का सर्जन करता है । (कालः) वही काल परमेश्वर (प्रजापतिम्) प्रजा के पालक हिरण्यगर्भ को (असृजत्) उत्पन्न करता है (स्वयम्भूः) स्वयं अपनी शक्ति से विद्यमान (कश्यपः) स्वयंप्रकाश, स्वयं सबका द्रष्टा सूर्य (कालात्) काल से उत्पन्न हुआ और (तपः) तप, तपनशक्ति भी (कालात् अजायत) काल से ही उत्पन्न होती है ।

[५४] कालरूप परमशक्ति

भृगुर्ऋषिः । कालो देवता । २ त्रिपदा गायत्री । ५ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् अष्टिः । शेषा अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥१॥

भा०—(कालात्) काल, परमेश्वर से ही (आपः) आप, जल (सम् अभवन्) उत्पन्न होते हैं । (कालात् ब्रह्म) उसी काल से ब्रह्म, वेद अथवा यह बृहत् ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है उसीसे (तपः दिशः) तपः, तापकारी अग्नि, तपस्या और सत्यपालन आदि धर्माचरण और दिशाएं भी उत्पन्न हुई । (कालेन सूर्यः उदेति) परमेश्वर के बल से सूर्य उदय होता है और वह (पुनः) फिर (काले) काल रूप परमेश्वर पर ही (निविशते) आश्रित रहता या उसी में अस्त होता है ।

---

[५४] १–(प्र०) 'समभवत्' इति क्वचित् । (द्वि०) 'ब्रह्मतपो' इति सायणाभिमतः ।

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही ।
द्यौर्मही काल आहिता ॥२॥

भा०—(कालेन) उस काल परमेश्वर के बल से (वातः पवते) वायु बहता है (कालेन) काल के बल से (मही पृथिवी) यह बड़ी पृथ्वी (पवते) गति कर रही है । और (काले) उसी काल रूप परमेश्वर के आश्रय में (मही द्यौः आहिता) बड़ी विशाल द्यौः, नक्षत्र चक्र भी आश्रित है ।

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा ।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥३॥

भा०—(पुत्रः कालः) पूर्व सूक्त के ४र्थ मन्त्र में कहा पुत्र रूप काल (ह) निश्चय से (पुरः) सबसे प्रथम (भूतं भव्यं च अजनयत्) भूत, अतीत और भविष्यत् काल को उत्पन्न करता है । अर्थात् लोकों की गति द्वारा निर्धारित काल में से भूत और भविष्यत् दो कालों का ज्ञान उत्पन्न होता है । (कालात्) काल रूप ज्ञानमय परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र (सम् अभवन्) प्रादुर्भूत हुए और (यजुः) यजुर्वेद के मन्त्र भी (कालाद्) उस काल परमेश्वर से ही (अजायत) उत्पन्न हुए ।

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥४॥

३–'कालेह', 'कालोह' इति च बहुत्र । (द्वि०) अजनयत्पुरः, (तृ०) 'भवद् यजुः' इति क्वचित् । (प्र०) काले, (द्वि०) 'मन्त्रो जनं–' इति लैन्मनः । 'जनयत पुनः' इति ह्विटनिकामितः ।

४–(प्र०) 'स सैरयन् देवे–' इति बहुत्र । 'कालो यज्ञः समीरयत' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(कालः) काल ही (यज्ञम्) यज्ञ, आत्मा को, संवत्सर को, ब्रह्माण्ड के उस व्यवस्थित स्वरूप को (सम् ऐरयत्) प्रेरित कर रहा है जो (देवेभ्यः) देव, दिव्य शक्तियों का (अक्षितम्) अक्षय रूप से (भागम्) भाग-आश्रय है। अर्थात् जिस यज्ञ के ऊपर ही देवगण जीते हैं। (गन्धर्वाप्सरसः काले प्रतिष्ठिताः) गन्धर्व और अप्सराएं, स्त्री और पुरुष, नर मादा सभी काल के आश्रय पर विराजते हैं और (लोकाः काले प्रतिष्ठिताः) लोक भी काल में प्रतिष्ठित हैं। समस्त लोक, प्राणि कालवश जी रहे हैं।

कालेयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥५॥

भा०—(काले) उस कालरूप परमेश्वर पर (अयम्) यह (अंगिराः) प्रकाशमान (देवः) देव, सूर्य और (अथर्वा च) अथर्वा वायु (आधितिष्ठतः) आश्रित हैं। (कालः) वह सर्वज्ञ, सबका प्रेरक, परमेश्वर (ब्रह्मणा) अपने महान् सामर्थ्य से (इमं लोकं च) इस लोक को (परमं च लोकं च) और उस दूर स्थित उच्च लोक को और (पुण्यान् लोकान् च) समस्त पुण्य लोकों को, समस्त (पुण्याः विधृतीः) पुण्य मर्यादाओं को और (सर्वान् लोकान् अभिजित्य) समस्त लोकों का विजय करके वह (परमः) परम सर्वोच्च (देवः नु) देव (सः) वही (ईयते) जाना जाता है।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र नव सूक्तानि, त्रिषष्टिर्ऋचः]

५-(च०) 'विधृतीश्च' इति क्वचित्।

[५५] परमेश्वर की प्रातः सायं उपासना ।

भृगुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । २ आस्तारपंक्तिः । ५, ६ (प्र० द्वि०) त्र्यवसाना पञ्चपदा पुरस्ताज्ज्योतिष्मती । ६ (तृ० च०) ७ (प्र० द्वि०) (?) शेषाः त्रिष्टुभः ।
षड्ऋचं सूक्तम् ॥

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥१॥

यजु० ११ । ७५ । अथर्व० ३ । १५ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् विद्वान् ! गृहपते ! राजन् ! (तिष्ठते अश्वाय इव) घुड़साल में निरन्तर खड़े रहने वाले घोड़े के लिये जिस प्रकार (घासम्) बराबर, बिना प्रमाद के, नित्य घास दिया ही जाता है उसी प्रकार (रात्रिम् रात्रिम्) प्रतिदिन (अप्रयातम्) ताजा, अनीरस (घासम्) भोग्य जल आदि पदार्थ (अस्मै) साक्षात् तेरे लिये (भरन्तः) लाते हुए हम (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी लोग (इषा) अन्न और ज्ञान से और (रायः पोषेण) धनैश्वर्य की पुष्टि द्वारा (मदन्तः) आनन्द प्रसन्न रहते हुए (मा रिषाम) कभी क्लेशित न हों । जहां 'रात्रिंरात्रिमप्रयावम् भरन्तः' पाठ है वहां (अप्रयावम्) निरन्तर, बिना चूक ।

---

[५५] १–'अप्रयावम्', इति यजुः । सायणाभिमतश्च । 'अप्रपायन्' इति पैप्प० सं० । 'विश्वाहातेसदमिद् भरेमाश्वायेवतिष्ठते जातवेदः । इति अथर्व० ३ । १५ । ८ ॥ (प्र०) 'भरतो' इति क्वचित् । (च०) 'रूषाम' इति क्वचित् । (प्र०) 'अहरहरप्रयावं' । (च०) 'अग्नेमाते' इति यजु० । विश्वाहाते सदमिद् भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः मा० गृ० सू० (प्र०) 'अप्रयामं', (द्वि०) 'वासमस्मै' इति पैप्प० सं० ।

या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥२॥

भा०—हे विद्वन् ! अग्ने ! (या) जो (ते) तेरी (वसोः) वसु, धन के (वाते) प्राप्त करने में (इषुः) इच्छा है । (सा ते एषा, वह तेरी यह पूर्ण है । (तया) उससे (नः) हमें (मृड) सुखी कर । अथवा पाठान्तर में (या ते वसोः वाचः इषुः सा ते एषा, तया नः मृड) हे विद्वन् ! तुझ वसु-विद्वान् की जो वाच्=वाणी की इषु=प्रेरणा है, वह यह है उससे हमें सुखी कर । अथवा–(या) हे ईश्वर ! जो (वसोः) सबको वास देने हारे (ते) तेरी (वातः) वायु रूप (इषुः) सब प्राणियों को चलाने हारी शक्ति है (सा) वह (ते) तेरी (एषा) यह प्रत्यक्ष दीखती है । (तया) उस शक्ति से (नः मृड) हमें सुखी कर । और हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! प्रकाशस्वरूप ! (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी या तेरे आश्रय में रहने वाले हम उपासक (इषा रायः पोषेण) अन्न और धनैश्वर्य की पुष्टि से (सम्मदन्तः) आनन्द प्रसन्न होते हुए (मा रिषाम्) कभी क्लेशित न हों ।

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥३॥

भा०—हे परमेश्वर ! हे गृहपते ! (नः गृहपतिः) हमारे गृह का पालक होकर (अग्निः) ज्ञानवान् प्रकाशवान् परमेश्वर (सायम् सायम्) प्रत्येक सायंकाल और (प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल, अर्थात् शाम सवेरे,

---

२–'वातेवस्तेनेवाऽश्वसात', 'वाच इषुः सात', 'यति इषुः सात', 'अनिर्वसो वातेऽनसात०' इत्यादि नाना पाठाः ।

३–(तृ०) 'वसुदानांन एधि' इति ह्विट्न्यनुमितः पाठः । वसुदाः । नः इति च ह्विट्निकामितः पदपाठः ।

(सौमनसस्य) उत्तम चित्त, उत्तम संकल्पवान् मन, स्थिति अर्थात् सुख, स्वस्थता का (दाता) देने वाला है। (वसोः वसोः) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य का तू (वसुदानः) प्रदाता (एधि) हो (वयम्) हम (त्वा इन्धानः) तुझे प्रज्वलित करते हुए, तेरे गुणों का प्रकाश करते हुए (तन्वं पुषेम) अपने शरीर को पुष्ट करें।

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥४॥

भा०—(नः गृहपतिः अग्निः) हमारे गृहों का पालक अग्नि, ज्ञानवान् विद्वान् और ईश्वर (प्रातः प्रातः सायं सायम्) प्रति प्रातः सायम् (सौमनसस्य दाता) शुभ चित्त, विचार और सुख का प्रदाता है। वह (वसोः वसोः वसुदानः) प्रत्येक ऐश्वर्य का उत्तम रूप से दान करने वाला (एधि) रहे। हे अग्ने! ईश्वर! हम (त्वा) तुझको (इन्धानाः) प्रज्वलित करते हुए (शतं हिमाः[1]) सौ वर्षों तक (ऋधेम) समृद्ध हों, बढ़ें।

अपश्चा दग्धान्नस्य भूयासम्।
अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये।
सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥५॥

भा०—हे परमेश्वर! मैं (दग्धान्नस्य) दग्ध, जीर्ण अन्न के (अपश्चा) पीछे न (भूयासम्) रहूं। अर्थात् मैं मंदाग्नि न रहूं प्रत्युत

४–(च०) 'रुधेम' इति क्वचित्।

१. शं तं। हिमाः इति सायणाभिमतः पदपाठः।

५–(तृ०) 'अन्नादयो' इति प्रायः। (प्र०) दग्धान्तरकेति क्वचित्। 'अपश्चाद्दग्धानस्य। इति ह्विट्न्यनुमतः।

मेरा अन्न सदा उत्तम रीति से जीर्ण हो। (अन्नादाय) अन्न को स्वीकार करने वाले, (अन्नपतये) अन्न के परिपालक (रुद्राय) दुष्टों को रुलाने वाले (अग्नये) ज्ञानवान् दुष्ट संतापक राजा के लिये (नमः) नमस्कार है।

हे राजन् ! तू (सभ्यः) स्वयं सभा में सबसे उत्तम है । तू (मे सभां पाहि) मेरी सभा का पालन कर और जो (सभासदः) सभा में विराजने वाले (सभ्याः) सभा में साधु विद्वान् पुरुष विद्यमान हैं उनकी भी तू (पाहि) रक्षा कर।

त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्य/श्नवत् ।
अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ॥६॥

भा०—हे (पुरुहूत) बहुत से राजाओं से आदर पूर्वक निमन्त्रण करने योग्य या प्रजाओं द्वारा अपनी आपत्तियों के अवसर पर बुलाये या पुकारे जाने वाले राजन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! तू अपने (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण जीवन का (वि अश्नवत्) भोग कर । और (अहः अहः) प्रतिदिन (अश्वाय इव) अश्व के निमित्त चारे के समान, (घासम्) नाना खाद्य और उपभोग्य पदार्थ को हे (अग्ने) अग्रणी नेतः ! राजन् ! तुझे (तिष्ठते) सदा जागृत होकर रक्षार्थ खड़े रहते हुए (ते) तेरे लिये (बलिम् इत्) बलि या राष्ट्र करक रूप में (हरन्तः) लाते हुए तुझे सदा पुष्ट करते रहें।

६–(प्र०) 'त्वाभिन्द्र' इति क्वचित । 'पुरुहूत्या' (तृ०) 'वणिभित्ये' 'नित्ये' बल्न् इतते इत्यादि पा० । (प्र० द्वि०) 'पुरुहूय' व्यश्नुयन् इति ह्विटनि कामितः ।

सूक्तमस्य प्रथम द्वितीय या रेखार्द्ध द्वयस्यपुनः पाठेन ऋचमेकां सप्तमी मन्यन्ते केचित्र । तदसत । तथैं याजुकण्या महचं सूक्त यद्द्युपेयते ।

इस सूक्त में राजा को अश्व से उपमा दी है। अश्व भी राष्ट्र की गति शक्ति का प्रतिनिधि है। जैसे उत्तम अश्व सदा खड़ा रहता है उसी प्रकार राजा भी सदा खड़ा ही रहता है वही कभी सोते या प्रमादी नहीं हो तभी राष्ट्रवासी उसको बराबर कर के रूप में अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्रदान करें। यह सूक्त विद्वान्, राजा, परमेश्वर और अध्यात्म में आत्मा पर भी है।

[५६] विद्वान को अप्रमाद का उपदेश

यम ऋषिः। दुःष्वप्ननाशनो देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्॥

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्षि धीरः।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ॥१॥

भा०—हे पुरुष! तू (यमस्य लोकात्) यम, सब इन्द्रियों को अपने वश करने वाले (लोकात्) लोक, स्थान से (अधि आबभूविथ) सब अपने प्राणों पर अधिष्ठाता रूप से उनको वश करने में समर्थ है। तू स्वयं (धीरः) धीर, ध्यानवान् और धारण पोषण में समर्थ होकर (प्रमदा) उत्तम हर्ष से (मर्त्यान्) सब मनुष्यों को (प्र युनक्षि) उत्तम मार्ग में लगा। तू (एकाकिना) अकेला ही (विद्वान्) विद्वान् होकर (असुरस्य) केवल प्राणों में रमण करने वाले विषय विलासी पुरुष के (योनौ) आश्रय में (स्वप्नं) स्वप्न आलस्य प्रमाद को जानता हुआ स्वयं (सरथम्) अपने वेग से अपने अन्तरात्मा के आनन्द रस सहित (यासि) जीवन यापन करता है।

---

[५६] १—'मर्त्यान्' 'मर्त्यान्' इति क्वचित्। 'प्रमदा' इति सायणाभिमतः। प्रमदाः—स्त्रिय इति सायणः॥

अर्थात् यम नियम का पालक पुरुष अन्यों को सुप्रसन्न चित्त होकर भी सन्मार्ग में प्रेरित करे और प्रमाद को केवल प्राणपोषकों का ही जान कर स्वयं अकेला, ज्ञानवान होकर जीवन बितावे।

बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा राज्या जनितोरेके अह्नि।
ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः ॥२॥

भा०—हे स्वप्न ! आलस्य ! (विश्वचयाः) समस्त प्रकार के रोगों को संचय करने वाला (बन्धः) और शरीर की क्रियाशक्ति को बांधने वाला कारण (अग्रे) प्रथम (त्वा) तुझको यदि (राज्याः जनितोः पुरा) रात्रि के होजाने के पूर्व ही (अपश्यत्) दिखाई दे जाता है और या (एके अह्नि) किसी एक दिन के अवसर पर दीख जाता है, (ततः) तबसे हे (स्वप्न) स्वप्न ! (भिषग्भ्यः) चिकित्सकों से भी अपने (रूपम्) स्वरूप को (अपगूहमानः) छिपाता हुआ, तू (इदम्) ऐसा (अधि आ बभूविथ) प्रबल होजाता है कि तेरी चिकित्सा करनी कठिन हो जाती है।

शरीर में रोग सञ्चय हो जाने पर आलस्य की वृद्धि हो जाती है। इससे दिन में या सायंकाल में ही निद्रा और स्वप्न होने लगते हैं। उससे वह रोग ऐसा हो जाता है कि वैद्य भी उसका स्वरूप नहीं जान पाते।

२–(च०) 'भिषग्भ्यद्रूप–' इति बहुत्र। (प्र०) 'बन्धुस्त्वा' 'बधस्त्वा' इति क्वचित्। 'तमः स्व–', 'तव=स्व' इति क्वचित्। (द्वि०) 'विश्वचयाः' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'विश्वचयापश्यन्०' (तृ०) 'ततः। स्वप्नेनमध्याबभायथ' इति पैप्प० सं०।

बृहद्गावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन् ।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः ॥३॥

भा०—(बृहद्गावा) वह विशाल गति वाला या बड़ों २ को भी प्राप्त होने वाला, स्वप्न, आलस्य, प्रमाद (असुरेभ्यः अधि) केवल प्राणों में रमण करने वाले विलासी पुरुषों से चलकर (देवान्) ज्ञानवान्, इन्द्रियों पर विजयशील, जितेन्द्रिय पुरुषों को भी मानो (महिमानम् इच्छन्) उनपर भी महत्व, अपना या प्रभुत्व चाहता हुआ (उप अवर्तत) प्राप्त होता है। वे (त्रयस्त्रिंशासः) तेंतीसों देवता जो (स्वः आनशानाः) सुखका या प्रकाश का भी भोग करते होते हैं वे भी (तस्मै) उस (स्वप्नाय) 'स्वप्न' वृत्ति को ही (आधिपत्यं) आधिपत्य प्रभुत्व (आदधुः) प्रदान करते हैं।

अर्थात् अध्यात्म में वह निद्रा कर्मेन्द्रियों की थकावट से उत्पन्न होकर देव अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों पर भी आ जाता है। शरीर के तेंतीसों तत्व सुख को भोग करते हुए स्वप्न के वश होजाते हैं।

नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम् ।
त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥४॥

३–(प्र०) 'बृहद्ग्रावा' इति क्वचित्। 'बृहद् गवो'–इति शं० पा० अनुमितः। 'बृहंग्रावानु'–इति पैप्प० सं०। (द्वि०) उपावर्तस्व इति क्वचित्। 'न्वच्छन्' इति पैप्प० सं०। 'त्रयस्त्रिंशाः। सः। स्व–' इति क्वचित् पदपाठः।

४–(प्र०) 'नैतां', (च०) 'वरुणेन' (द्वि०) 'चरत्यन्तरेदं' इति क्वचित्। वरुणेन पैप्प० सं०। (द्वि०) 'जल्प्याश्च', (तृ०) 'त्रिते स्वप्नमरिदिष्टा प्रतेनरा आदि–' इति पैप्प० सं०। 'येषां' इति ह्विट्नकृतिः।

भा०—(पितरः) पितृगण (उत) और (देवा) देवगण भी (एतां न विदुः) इस निद्रावृत्ति को नहीं जानते (येषां) जिनकी (जल्पिः) परस्पर वार्त्तालाप (इदम्) यह, इस आत्मा के (अन्तरा) भीतर (चरति) चला करती है । (आदित्यासः नरः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष (वरुणेन अनुशिष्टाः) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा से उपदेश प्राप्त करके (स्वप्नम्) आलस्य प्रमादयुक्त स्वप्न को (आप्त्ये त्रिते) आप्तों के हितकारी त्रित, तीनों वेदों के ज्ञाता पुरुष पर, या आप्त=आत्मा के हितकारी (त्रित) ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन सब पर वश करने वाले प्राण में (आदधुः) धारण करते हैं ।

यस्य॑ क्रूरमभ॑जन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन॑ सुकृत॑ः पुण्य॒मायुः॑ ।
स्व॒र्मदसि परमेण॑ ब॒न्धुना॑ त॒प्यमा॑नस्य॒ मन॒सोऽधि॑ जज्ञिषे ॥५॥

भा०—(दुष्कृतः) दुष्ट काम करने वाले पापभागी लोग (यस्य) जिस प्रमाद के (क्रूरम्) क्रूर फल को (अभजन्त) भोगते हैं और (सुकृतः) उत्तम काम करने वाले पुण्यात्मा लोग (अस्वप्नेन) अस्वप्न अर्थात् निद्रा में न सोते रहने के कारण ही (पुण्यम् आयुः अभजन्त) पुण्य आयु, दीर्घ जीवन प्राप्त करते हैं । हे स्वप्न ! तू जब (तप्यमानस्य मनसः) तपस्या करने वाले के मन पर भी (अधि जज्ञिषे) अपना वश कर लेता है तब (परमेण) अपने उच्च कोटि के (बन्धुना) बन्धनकारी स्वरूप से तू (स्वः) समस्त ज्ञान या प्रकाश को भी (मदसि[1]) धुन्धला या मलिन कर देता है ।

५-(प्र०) 'क्रूरमपचन्त' 'अभचन्त,' 'असन्त', इति च क्वचित् । 'य्यस्य क्रूरमभिजन्त दुष्कृणे स्व—' इति पैप्प० सं० ।

१. 'मदसि' । मदी हर्षग्लेपनयोः (भ्वादिः) । अत्र ग्लेपनार्थः ।

वि॒द्म ते॒ सर्वाः॑ परि॒जाः पु॒रस्ता॑द् वि॒द्म स्व॑प्न॒ यो अ॑धि॒पा इ॒हा ते॑।
य॒श॒स्विनो॑ नो॒ यश॑से॒ह पा॑ह्या॒राद् द्वि॒षेभि॒रप॑ याहि दू॒रम् ॥६॥

भा०—हे (स्वप्न) स्वप्न, निद्रालस्य ! (ते) तेरे (सर्वाः) सब (परिजाः) साथ २ उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों और दुष्परिणामों को हम (पुरस्तात्) पहले ही से (विद्म) जानें (यः) जो (ते) तेरा (अधिपाः) अधिष्ठाता तुझे अपने वश में रखने वाला है, उसको भी (विद्म) हम जानते हैं। (इह) इस लोक में, यहां (नः) हम (यशस्विनः) यशस्वी पुरुषों को (यशसा) यश या भोग्य, उपादेय या विनोदकारी अंश से (पाहि) पालन कर । और (द्विषेभिः) अपने अप्रीति कर, बुरे अथवा (विषेभिः) अपने बन्धनकारी अंशों सहित तू (दूरम् याहि) दूर चला जा।

[५७] आलस्य प्रमाद को दूर करने का उपाय ।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । १ अनुष्टुप् । ३ त्र्यवसाना चतुष्पदा त्रिष्टुप् । ४ उष्णिग् बृहतीगर्भा विराड् शक्वरी । ५ त्र्यवसाना पञ्चपदा परशाक्वरातिजगती । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

यथा॑ क॒लां यथा॑ श॒फं यथ॒र्णं सं॒नय॑न्ति ।
ए॒वा दु॒ष्वप्न्यं॒ सर्व॑मप्रि॒ये सं न॑यामसि ॥१॥ अथर्व० ६ । ४६ । ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (कलाम्) एक २ कला करके और (यथा शफं) जिस प्रकार एक २ चरण करके और (यथा ऋणम्) जिस प्रकार थोड़ा २ करके पूरा ऋण (संनयन्ति) चुका देते हैं (एवा) उसी प्रकार

६–(च०) द्वेषिभिः', 'द्विषोभिः', 'द्वेषभिः'. इति पाठः । 'द्विषोभिः' । इति सायणः । 'परिजाः' उत्पत्तिस्थानमिति पी० ल० । 'आराद् विषेभिः' इति पैप्प० सं० ।

[५७] १–'सर्वमाप्त्ये' इति सायणाभिमतः पाठः ।

(सर्वं) सब (दुष्वप्न्यम्) दुःखकारी स्वप्न या कष्ट पूर्वक शयन की पीड़ा को हम (अप्रिये) अपने अप्रिय द्वेषयुक्त पुरुष पर (सं नयामसि) उसी के निमित्त त्याग दें ।

अथवा जिस प्रकार एक २ कला करके चन्द्र नामशेष हो जाता है और जिस प्रकार एक २ पैर रखते २ मार्ग तय हो जाता है और जिस प्रकार थोड़ा २ करके ऋण चुक जाता है उसी प्रकार हम आलस्य त्याग दें । दुःखकारी आलस्य को हम थोड़ा २ करके ऋण के समान सब त्याग दें और उसे अपने शत्रुओं के लिये रहने दें । वे आलस्य में फंस कर कष्ट उठावें ।

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अगुः सं कला अगुः ।
समस्मासु यद्दुष्वप्न्यं निर्द्विषते दुष्वप्न्यं सुवाम ॥२॥

भा०—जैसे (राजानः) राजा लोग (सम् अगुः) युद्धकाल में एक एक करके बहुतसे एकत्र हो जाते हैं । और जैसे (ऋणानि) ऋण भी जुड़ते २ (सम् अगुः) बहुतसे एकत्र हो जाते हैं । और (कुष्ठाः) कुत्सित त्वचा के रोग भी जमा होते २ (सं अगुः) एकत्र हो जाते हैं । और जिस प्रकार चन्द्र में (कलाः) कलाएं जुड़ती २ (सम् अगुः) एकत्र हो जाती हैं । उसी प्रकार (यद्) जो (दुःस्वप्न्यम्) दुःखदायी स्वप्न निद्रा या आलस्य की मात्रा है वह भी क्रमसे (अस्मासु) हममें (सम्) एकत्र होती जाती है । हम उस (दुःस्वप्न्यम्) दुखदायी स्वप्न या आलस्य को (द्विषते) द्वेष करने वाले पुरुष के निमित्त (निः सुवाम) त्याग दें ।

२–(द्वि०) 'स कला' इति बहुत्र । (तृ०) 'यत् दुष्वप्न्यं' इति क्वचित् । 'सः ऋणानि', 'सः । कला', इति पदपाठः ।

देवानां पत्नीनां गर्भ [तो] यमस्य करयो [णो] भद्रः स्वप्न ।
स मम यः पापस्तद्विषते प्र हिंएमः ।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥३॥

भा०—हे स्वप्न ! निद्रा प्रमाद ! तू (देवनाम्) देव, विषयों में खेलने वाले इन्द्रियों की (पत्नीनाम्) पालन करने वाली शक्तियों या वृत्तियों को (गर्भ [गर्भः]) ग्रहण करने वाला, उनको बांधने वाला है । और तू (यमस्य) बन्धनकारी प्रभाव का (कर [णः]) उत्पन्न करने वाला है । हे स्वप्न ! (यः) जो तेरा स्वरूप (भद्रः) कल्याण और सुखकारी है (सः) वह तू (मम) मुझे प्राप्त हो और (यः पापः) जो पापजनक रूप है (तत्) उसको (द्विषते) शत्रु के निमित्त (प्र हिएमः) परे कर दें । हे स्वप्न ! तू (तृष्टानाम्) विषय तृष्णालुओं के लिये (कृष्ण-शकुनेः) काले शक्तिशाली घोर पापका (मुखम्) मुख अर्थात् प्रवर्त्तक (मा असि) मत हो ।

तं त्वां स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्वं इव कायमश्वं इव नीनाहम् । अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप ॥४॥

भा०—हे (स्वप्न) स्वप्न ! आलस्य, प्रमाद ! (तं) उस (त्वा) तुझको हम (तथा) वैसे, अर्थात् भली प्रकार (सं विद्म) जान गये हैं । इसलिये हे (स्वप्न) स्वप्न ! सुलाने वाले, प्रमादजनक (अश्वः इव) जिस प्रकार घोड़ा (कायम्) अपने शरीर को कंपाकर धूल झाड़ देता है और

३–'करयो', 'भद्रस्वप्नः', 'समन् अयः' इति क्वचित् । (पं० सं०) 'मातृष्टा', 'शकुनेमुख',-मुखन् इति क्वचित् । 'करणः, गर्भो' इति ह्विटनिकामितः ।
४–'पियारुं वपुर्म–' इति बहुत्र ।

(अश्वः इव) जिस प्रकार घोड़ा (नीनाहम्) अपने पर बंधे काठी आदि को गिरा देता है उसी प्रकार (अनास्माकम्) हमारे से भिन्न (देवपीयुम्) विद्वानों के हिंसक, उनको कष्ट देने वाले (पियारुम्) दुष्ट, हिंसक पुरुष को (वप) धुन डाल, काट डाल ।

यद॒स्मासु॑ दुः॒ष्वप्न्यं॒ यद् गोषु॒ यच्च॑ नो गृ॒हे ।
अ॒ना॒स्मा॒कस्तद् दे॑वपी॒युः पि॒यारु॑र्नि॒ष्कमि॑व॒ प्रति॑ मुञ्चताम् ।
नवा॑रत्नी॒नप॑मया अ॒स्माकं॒ तत॒ः परि॑ ।
दुः॒ष्वप्न्यं॒ सर्वं॑ द्वि॒ष॒ते निर्द॑यामसि ॥५॥

भा०—(यद्) जो (अस्मासु) हम में और (यत्) जो हमारे (गोषु) गौ आदि पशुओं या इन्द्रियों में और (यत् च नः गृहे) जो हमारे घर में या देह में (दुःष्वप्न्यम्) दुःखपूर्वक शयन आदि का कष्ट है (तत्) उसको (अनास्माकः) हमारे से दूसरा, हमारा शत्रु (देवपीयुः) देवों-विद्वानों का पीड़क (पियारुः) दुष्ट हिंसक पुरुष (निष्कम् इव) स्वर्ण के आभूषण के समान (प्रति मुञ्चताम्) धारण करे । हे स्वप्न ! आलस्य ! तू (अस्माकम्) हमारे (ततः परि) गृह आदि उन पदार्थों से (नवारत्नीन्) नौ हाथों परे (अपमयाः) दूर हट जा । इस प्रकार बलपूर्वक हम अपने (दुःष्वप्न्यम्) दुःखदायी आलस्य, प्रमाद और दुःखपूर्वक निद्रा आदि को (द्विषते) अपने से द्वेष करने वाले पुरुष के लिये (निर्दयामसि) अपने से परे कर दें ।

५–केचित् 'गृहे' इत्यन्तं चतुर्थ्या ऋचोऽवसानमिच्छन्ति । (तृ०) 'तं पियारुर्नि' इति ह्विटनिकामितः ।

[५८] दीर्घ और सुखी जीवन का उपाय

ब्रह्मा ऋषिः। मन्त्रोक्ता बहवो देवताः। उत यज्ञो देवता। १, ४, ६ त्रिष्टुभः। २ पुरोऽनुष्टुप्। ३ चतुष्पदा अतिशक्वरी। ५ भुरिक्। षड्चं सूक्तम्।

घृतस्य॑ जू॒तिः सम॑ना॒ सदे॑वा संवत्स॒रं ह॒विषा॑ व॒र्धय॑न्ती।
श्रोत्रं॒ चक्षुः॑ प्रा॒णोऽच्छि॑न्नो नो अ॒स्त्वच्छि॑न्ना व॒यमायु॑षो॒ वर्च॑सः॥१॥

भा०—(घृतस्य) तेजस्वरूप परमेश्वर का (जूतिः) परम ज्ञानमय ज्योतिः (समनाः) ज्ञान से युक्त है। अथवा वह सबके मन, मननशील साधनों का आश्रय है। और वह (सदेवा) समस्त देवों, दिव्य पदार्थ सूर्य, अग्नि, वायु आदि के सहित उनको अपने में धारण करने वाला है और (संवत्सरम्) संवत्सर अर्थात् समस्त प्राणियों के निवास के एक-मात्र आश्रय परमेश्वर को (हविषा) समस्त ज्ञानमय प्रपञ्च से (वर्धयन्ती) बढ़ाती हुई, उसकी ही महिमा को बढ़ाती हुई सर्वत्र व्याप्त है। (नः) हमारे (श्रोत्रम्) कान, (चक्षुः) आंखें और (प्राणः) प्राण, जीवन (अच्छिन्नः अस्तु) कभी विनष्ट न हों। और हम (आयुषः) दीर्घ आयु और (वर्चसः) तेज से भी (अच्छिन्नाः) रहित न हों।

(१) जूतिः—सर्वेषां गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् जूतिशब्देन सर्वत्र प्रसृतं ज्ञानमुच्यते अतएव ऐतरेयकाः मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। ऐ०आ० २। ६। १ ॥ घृतस्य जूतिरिति परमात्मनः स्वरूपविषयं ज्ञानम्। इति सायणः।

(२) 'घृतस्य' दीप्तस्य परमतेजसः, इति सायणः।

उपा॒स्मान् प्रा॒णो ह्व॑यता॒मुप॑ व॒यं प्रा॒णं ह॑वामहे।

---

[५८] १–(प्र०) 'समना सदैवा' इति ह्विटनिकामितः। 'समनाः' इति बहुत्र। 'समानाः' इति च। 'जूति, समनासदेवाः' इति श० पा०।

भा०—(प्राणः) प्राण (अस्मान्) हमें (उपह्वयताम्) धारण करे । और (वयम्) हम (प्राणम्) उस प्राण को (हवामहे) धारण करें ।

वर्चो जग्राह पृथिव्यु१न्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधर्त्ता ॥२॥

वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्वर्चो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम । यशसं गावो गोपतिमुप तिष्ठन्त्यायतीर्यशो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम ॥३॥

भा०—(पृथिवी) पृथिवी (वर्चः) तेज, अग्नि को (जग्राह) धारण करती है । (अन्तरिक्षम् वर्चः) अन्तरिक्ष तेज को धारण करता है । (सोमः) सोम, सूर्य और (बृहस्पतिः) बृहस्पति, वेदवाणी का पालक आचार्य या परमेश्वर अथवा (सोमः बृहस्पतिः) शिष्य और आचार्य दोनों भी (वर्चः विधर्त्ता) तेज को विशेष रूप से धारण करते हैं । (द्यावा-पृथिवी) द्यौ, आकाश या सूर्य और (पृथिवी) पृथिवी, भूमि या माता और पिता दोनों (वर्चसः) तेज को (संग्रहणी) उत्तम रीति से धारण किये (बभूवथुः) रहते हैं उसी प्रकार हम लोग (वर्चः गृहीत्वा) तेज धारण करके (पृथिवीम् अनु संचरेम) पृथिवी पर विचरें । (गावः) गौएं जिस प्रकार (यशसम्) यशस्वी (गोपतिम्) गो पालन करने वाले पुरुष,

२–(तृ०) 'पृथिव्यान्तरिक्षं' इति क्वचित् । (च०)-स्पतिर्धर्त्ता, स्पतिधत्ता । 'स्पतिर्धत्तात्' । 'स्पतिर्धत्तां', 'स्पतिर्विधत्तां' इत्यादि पाठाः । (द्वि०) उपह्वयं इति क्वचित् । (च०) 'विधत्ता' इति सं० पा० । विधत्ता विशेषेणधर्त्ता इति सायणाभिमतः । 'विभर्त्तु' इति पैप्प० सं० ।

३–(तृ०) 'यशसां' इति क्वचित् । 'यशसा' इति ह्विटनिकामितः । 'बभूवतुर्व' इति ह्विटनिकामितः ।

को (उपतिष्ठन्ति) प्राप्त होती हैं, उसके पास रहती हैं और जिस प्रकार (गावः) गौ, किरणें और इन्द्रियें (यशसम्) तेजस्वी, यशस्वी (गोपतिम्) किरणों के पालक सूर्य और इन्द्रियों के पालक जितेन्द्रिय पुरुष के पास उसके वश होकर रहती हैं उसी प्रकार (आयतीः) आती हुई गौओं, किरणों और इन्द्रियों को और (यशः) यश, तेज, वीर्य और बल, अन्न आदि को (गृहीत्वा) ग्रहण करके हम (पृथिवीम् अनुसंचरेम) पृथिवी पर विचरें ।

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥४॥
ऋ० १० ।१०१ । ८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व्रजं कृणुध्वम्) गौओं के रहने के लिये बड़ी गोशाला बनाओ । (सः हि) वह ही निश्चय से (वः) तुम्हारे (नृपाणः) सब मनुष्यों का पालन करने में समर्थ है । और (बहुला) बहुतसे (पृथूनि) बड़े २ विस्तृत (वर्मा) शरीररक्षक कवच (सीव्यध्वम्) सीयो । बड़े २ कवच बनाओ । (आयसीः) लोहे की (पुरः) दृढ़ नगरियां (अधृष्टाः) जिन पर शत्रु अपना बल न जमा सकें ऐसी (कृणुध्वम्) बनाओ । (वः) तुम्हारा (चमसः) चमस पात्र, अन्न आदि का साधन (मा सुस्रोत्) मत बहे मत चूए। (तम् दृंहत) उसको खूब दृढ़ करो ।

अध्यात्म में— हे मनुष्यो (व्रजं कृणुध्वम्) शरीर आदि संघात को दृढ़ करो । (सः हि वः नृपाणः) वह ही तुम्हारे नृ= अर्थात् विषयों तक पहुंचाने वाले नेता, इन्द्रियों का पालक है । उनके लिये (बहुला पृथूनि वर्मा

४-(द्वि०) 'वर्म' इति ऋ० । (च०) 'सुस्रोचमसो' 'सुस्रोत्र-' इति क्वचित् ।

सीव्यध्वम्) बहुतसे बड़े २ रक्षासाधन तैयार करो । उनको (अधृष्टा आयसीः पुरः कृणुध्वम्) पराजित न होने वाली लोहे से बनी पुरियों के समान अपने विषयों के ग्रहण में समर्थ बनाओ । (वः चमसः मा सुस्रोत्) तुम्हारा चमस अर्थात् पूर्णपात्र के समान ब्रह्मचर्य से पूर्ण देह स्रवित न हो, ब्रह्मचर्य खण्डित न हो ।

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५॥

अथर्व० २ । ३५ । ५ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० २ । ३५ । ५ ॥] (यज्ञस्य चक्षुः मुखं च प्रभृतिः) यज्ञस्वरूप आत्मा का मुख और चक्षु दोनों भरण पोषण करते हैं । (वाचा श्रोत्रेण मनसा च जुहोमि) वाणी कान और मन से भी मैं इस यज्ञ में आहुति करता हूं । (विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञम्) जगत् स्रष्टा द्वारा सम्पादित इस यज्ञ में (सुमनस्यमानाः) शुभ संकल्पों से युक्त (देवाः) देवगण, इन्द्रियें, दिव्य सामर्थ्य विद्वानों के समान ही (आयन्तु) प्राप्त हों ।

ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम् ।
इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥६॥

भा०—(देवानाम्) देव, विद्वानों में से (ये) जो विद्वान् (ऋत्विजः) ऋत्विग्, यज्ञसम्पादक पुरुष हैं और (ये च यज्ञियाः) जो यज्ञ में पूजा के योग्य हैं और (येभ्यः) जिनके लिये (भागधेयम्) विशेष अंश (हव्यम्) हव्य, हवि रूप से (क्रियते) तैयार किया जाता है वे (यावन्तः) जितने भी (तविषाः) महान् (देवाः) देवगण या विद्वान् पुरुष हैं वे

६–(द्वि०) 'कृणते' । 'कृणुते' इति क्वचित् । (च०) 'हविषा', 'तविषा' इति ह्विट्निकामितः ।

अपनी (पत्नीभिः सह) गृहपालिका पत्नियों सहित (इमम् यज्ञम् एत्य) इस यज्ञ में आकर (मादयन्ताम्) तृप्त हों, प्रसन्न हों ।

[५२] विद्वानों की सेवा और अनुसरण करने की आज्ञा ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ गायत्री । २, ३ त्रिष्टुभौ । तृचं सूक्तम् ।

त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा ।
त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑ ॥१॥ ऋ० ८ । ११ । १ ॥ यजु० ४ । १६ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर और ज्ञानस्वरूप आचार्य ! (त्वं) तू (व्रतपाः) व्रतों को पालन करने वाला (असि) है और (मर्त्येषु) मरण-धर्मा मनुष्यों में भी तू (देवः आ) प्रकाशस्वरूप देव उपास्यरूप से विख्यात है । (त्वं) तू ही (यज्ञेषु ईड्यः) यज्ञों में भी स्तुति किया जाता है ।

यद् वो व॒यं प्र॑मि॒नाम॑ व्र॒तानि॑ वि॒दुषां॑ देवा॒ अवि॑दुष्टरासः ।
अ॒ग्निष्टद् विश्वा॒दा पृ॑णातु वि॒द्वान्त्सोम॑स्य॒ यो ब्रा॑ह्म॒णाँ आ॑वि॒वेश॑ ॥२॥
(द्वि० पू०) ऋ० १० । २ । ४ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! ज्ञानदर्शी गुरुजनो ! हम लोग (विदुषाम्) विद्वान् लोगों के (व्रतानि) व्रतों और शुभकर्मों को (अवि-दुष्टरासः) सर्वथा न जानने वाले, उनसे बहुत ही अनभिज्ञ हैं । (वयम्) हम लोग (वः) आप लोगों की सेवा में (यत्) जो कुछ भी (प्रमि-नाम) त्रुटि करें उसको वह (अग्निः) सर्वज्ञानी, परमेश्वर (विश्वात्)

---

[५२] १–(द्वि०) 'देव आं' इति क्वचित् । 'देवे आं' इति क्वचित् पदपाठः ।

२–(तृ०) विश्वादृतूनि इति ऋ० । 'विश्वात्' इति सायणः । 'विश ऋतू०' इति पदपाठः ।

सब प्रकार से (आ पृणोतु) पूर्ण करे, हमारी समस्त त्रुटियों को दूर करे। (यः) जो (सोमस्य) सोम सर्वप्रेरक ज्ञानमय परमेश्वर का (विद्वान्) जानने हारा होकर (ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों में (आविवेश) आदर पूर्वक विराजमान है।

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम्। अग्निर्विद्वान्त्स यजात् स इद्धोता सोऽध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति ॥३॥

ऋ० १० । २ । ३ ॥

भा०—हम लोग (देवानाम्) देव, विद्वान् पुरुषों के (पन्थाम् आ अगन्म) मार्ग का अनुसरण करें। और (यत्) जितना भी (अनु प्रवोढुम्) उसका अनुसरण करने में (शक्नवाम) समर्थ हो सकें (तत्) उतना ही अनुसरण करें। (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर ही (विद्वान्) सब कुछ जानता है। (सः यजात्) वह सब कुछ प्रदान करता है (सः इत् होता) वह सबको देने वाला और सबकी भक्ति को स्वीकार करने वाला है। (सः) वह (अध्वरान्) समस्त हिंसा रहित यज्ञों को और (सः) वही (ऋतून् कल्पयाति) ऋतुओं को उत्पन्न करता है। अथवा (सः) वही (अध्वरान्) अहिंसित नित्य आत्माओं को और (ऋतून्) प्राणों को (कल्पयाति) देहधारी रूप में उत्पन्न करता और उनको कार्य करने में समर्थ करता है।

[९०] शरीर के अंगों में शक्तियों की याचना।

ब्रह्मा ऋषिः । मन्त्रोक्ता वागादयो देवताः । १ पथ्या बृहती । २ ककुम्मती पुरोष्णिक् ।
द्व्यृचं सूक्तम् ॥

३–(तृ०) 'स इद् होता' इति सायणाभिमतः, ऋ० ।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥१॥

भा०—(मे आसन्) मेरे मुख में (वाक्) वाणी शक्ति रहे । (नसोः प्राणः) दोनों नासिकाओं में प्राण बराबर चलें । (अक्ष्णोः) दोनों आंखों में (चक्षुः) दर्शन शक्ति विद्यमान रहे । (कर्णयोः) दोनों कानों में (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति विद्यमान रहे । (केशाः अपलिताः) केश मेरे कभी पलित अर्थात् श्वेत न हों । (दन्ताः अशोणाः) दांत मेरे न झड़ें । (बाह्वोः) बाहुओं में मेरे (बहु बलम्) बहुत सा बल प्राप्त हो ।

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा ।
अरिष्टानि मे सर्वा [ङ्गान्या]त्मानिभृष्टः ॥२॥

भा०—(ऊर्वोः) गोडों में (ओजः) बल प्राप्त हो । (जंघयोः जवः) जंघाओं में वेग हो और (पादयोः) पैरों में (प्रतिष्ठा) खड़े होने की शक्ति प्राप्त हो । (मे सर्वा [अङ्गानि]) मेरे समस्त अंग (अरिष्टानि) दुःखरहित पीड़ा रहित हों । और (आत्मा) मेरा समस्त देह और आत्मा (अनिभृष्टः) नीचे न गिरने वाला, एवं संताप से रहित हो ।

[६१] सुख, शक्ति की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । विराट् पथ्या बृहती, एकर्चं सूक्तम् ।

तनूस्तन्वा/मे सहेद्रुतः सर्वमायुरशीय ।
स्योनं मे सीद पुरः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥१॥

भा०—हे परमेश्वर ! (तनूः) शरीर (मे) मेरे (तन्वा) शरीर व्यापी बल के (सह इत्) साथ ही रहे । (अतः) इस शरीर से ही मैं (सर्वम् आयुः अशीय) सम्पूर्ण आयु का भोग करूं । हे ईश्वर ! तू (मे) मेरे शरीर को (स्योनम्) सुखपूर्वक (सीद) रख। (पुरः) हे परमेश्वर सबको पूर्ण करने वाले तू (पवमानः) पवित्र करता हुआ (स्वर्गे) स्वर्ग, सुखमय लोक में मुझे (पृणस्व) पूर्ण कर ।

[६२] सर्वप्रिय होने की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥१॥ ऋ० १० । १२८ । खि०॥

भा०—हे परमेश्वर ! (मा) मुझको (देवेषु[1] प्रियं कृणु) विद्वान्, ज्ञानप्रद पुरुषों के बीच में प्रिय बना। (राजसु मा प्रियं कृणु) राजाओं के बीच में मुझे प्रिय बना । (सर्वस्य पश्यतः) सबके देखते हुए (उत शूद्र उत आर्ये) चाहे वे शूद्र हों चाहे वे आर्य हों, सबके बीच में

---

[६१] १–'सहेदन्ताः', 'सहे दन्ता', इति क्वचित् ।

[६२] २–(तृ०) 'पश्यतोत', (च०) 'शूद्रमुता', (तृ०) 'प्रियं विश्येषु गोत्रेषु' इति ऋ० । (द्वि०) 'प्रियं मा ब्रह्मणि' (तृ० च०) 'प्रियं विश्वेषु शूद्रेषु प्रियं मा कुरु 'राजसु' इति हि० गृ० सू० । 'एवं विश्येषु शूद्रेषु' इति मनुः । १. देवेषु ब्राह्मणेषु इति जिम्मरः ।

मुझे (प्रियं कृणु) सबका प्रिय बनादे । अर्थात् जो मुझे देखे उसी का मैं प्रिय होजाऊं ।

[६३] ज्ञान और आयु आदि सम्पदाओं की वृद्धि की याचना ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । विराड् उपरिष्टाद् बृहती । एकर्चं सूक्तम् ।

उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥१॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्मन् ! समस्त वेद और वेदों के विद्वानों और ब्रह्माण्ड और समस्त अन्नों के पालक प्रभो ! और हे वेद के पालक विद्वान् ! तू (उत् तिष्ठ) उठ, उदय हो । (देवान्) समस्त देवों, विद्वानों को (यज्ञेन) यज्ञ, देव की उपासना से (बोधय) परिचित कर, सबको उपासना का उपदेश कर । अथवा हे विद्वन् (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा, परस्पर सत्संग द्वारा (बोधय) सबको ज्ञानवान् कर । अथवा (यज्ञेन बोधय) अध्यात्म यज्ञ से प्राणों और इन्द्रियों को, ज्ञान यज्ञ से शिष्यों को, सत्संग से राजाओं को ज्ञानवान् कर उनको कर्त्तव्यों का ज्ञान करा । और (आयुः प्राणं प्रजाम् पशून् कीर्त्तिम् यजमानम् च) आयु, प्राण, प्रजा, पशुगण, कीर्त्ति और यजमान को भी (वर्धय) बढ़ा ।

[६४] आचार्य और परमेश्वर से ज्ञान और दीर्घायु की प्राप्ति ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् आचार्य ! (बृहते) बड़े भारी (जातवेदसे) ज्ञान से सम्पन्न, अति विद्वान् पुरुष के लिये, मैं अग्नि के लिये

[६३] १–(तृ०) 'पशु'मिति क्वचित् ।

[६४] १–(प्र०) 'अग्नये समिधमा–' इति प्रायो गृह्यसूत्रेषु ।

काष्ठ के समान (सम् इधम्) भली प्रकार तेरी संगति से ज्ञान द्वारा प्रज्वलित होने वाले अपने आत्मा को तेरे पास (अहार्षम्) लाया हूं। (सः) वह तू (मे) मुझे (श्रत्-धाम्) श्रद्धा अर्थात् सत्य ज्ञान धारण करने के सामर्थ्य को और (मेधाम्) पवित्र ज्ञान समझने और प्रकट करने वाली प्रतिभा शक्ति को (जातवेदाः) समस्त वेदों के जानने हारे विद्वान् पुरुष आप (प्रयच्छतु) प्रदान करें।

इध्मेन त्वा जातवेदः सुमिधा वर्धयामसि।
तथा त्वमस्मान् वर्धय प्रजया च धनेन च ॥२॥

भा०—हे (जातवेदः) ज्ञानवन् गुरो ! (इध्मेन समिधा) जिस प्रकार अच्छी प्रकार प्रदीप्त होने वाले काष्ठ से अग्नि की दीप्ति को बढ़ा दिया जाता है उसी प्रकार हम (इध्मेन) प्रदीप्त होने वाले (सम्-इधा) संगति लाभ करके ज्ञान द्वारा प्रदीप्त आत्मा से (त्वा वर्धयामसि) तुझे बढ़ाते हैं, तेरे ही गौरव की वृद्धि करते हैं। (तथा) उसी प्रकार (त्वम्) तू (अस्मान्) हमको (प्रजया) उत्तम सन्तान और (धनेन) धन से (वर्धय) बढ़ा।

यदग्ने यानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥३॥
(प्र० द्वि० च०) ऋ० । १०२ । २० ॥ यजु० ९ । ७३ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् परमेश्वर या आचार्य ! (ते) तेरे हम (यानि कानि चित्) जो कुछ भी (दारूणि) अग्नि में काष्ठों के

२–(च०) 'दीर्घायु', 'कृणोतु मे' इति सायणाभिमतः क्वचिच्च।

३–कानिकानि० (च०) 'ता' इति ऋ०। (तृ०) 'तदस्तु तद् घृतम्' इति प्रायः। ऋग्वेदादिषु 'यविष्ठ' इति क्वचित्।

सनान अपने आदर सत्कार करने योग्य पदार्थ या आदरपूर्वक स्तुतियां (आ दध्मसि) उपस्थित करते हैं (तत्) उस सब कुछ को हे (यविष्ठ्य) शक्तिशालिन्! पूज्यतम! (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर। (तत् सर्वम्) वह सब (से) मुझे (शिवम् अस्तु) शिव, कल्याणकारी हो।

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद् भव।
आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय ॥४॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! परमेश्वर! (ते) तेरे (एताः) ये सब (सम्-इधः) महान् तेज, दीप्तियां हैं। (त्वम्) तू ही (इद्धः) प्रदीप्त, देदीप्यमान होकर (समिद् भव) समिद्, खूब प्रज्वलित, हृदय में प्रकाशित हो। (अस्मासु आयुः धेहि) हममें दीर्घ आयु प्रदान कर और (आचार्याय अमृतत्वम्) आचार्य को अमृतता प्रदान कर। अर्थात् आचार्य चिरकाल तक हमें विद्या प्रदान करे। हम दीर्घायु होकर उसके ज्ञान को निरन्तर जीवित रक्खें।

[६५] उच्चपद प्राप्ति के साधन का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। जातवेदाः सूर्यश्च देवते। जगती। एकर्चं सूक्तम्॥

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्।
अव तां जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमा रोह सूर्य॥१॥

४–(द्वि०) 'समिदं देवाग्निरः', 'समिद्धो–', 'समिद्धौ' 'समिद्धांसो', 'समिद्धंसो–' 'समिद्धो समिद्ध' इति नाना पाठाः। त्वम्। इद्। इद्धः। समित्। भव इति पदपाठः क्वचित्। 'समिद्धः' इति क्वचित्। (च०) 'धेह्यमृतमा–', 'धेह्यमृतं त्वमा–', इति पाठाः। 'समिद्धः' इति ह्विटनिकामितः। समिद्धो समिद्ध इति ह्विटनिसम्मतिः। 'अमृतत्वमार्यै' इति ह्विटनिकामितः।

[६५] १–'दिप्सन्तो' इति क्वचित्।

भा०—हे (जातवेदः) प्रज्ञावान् ! ऐश्वर्यवान् ! हे (सूर्य) सूर्य ! सूर्य के समान तेजस्विन् ! तू (हरिः) अन्धकार को नाश करके (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान् होकर (अर्चिषा) अपनी ज्ञानमय दीप्ति से (दिवम् आरुहः) द्यौलोक, तेजोमय पद, मोक्ष या ईश्वर को प्राप्त हो। उस समय (ये) जो भी (दिवम्) उस तेजोमय ब्रह्मपद को (उत्पतन्तम्) प्राप्त करते हुए (त्वा) तुझको (दिप्सन्ति) विनाश करते हों, तुझे अपने उत्तम मार्ग से भ्रष्ट करना चाहते हैं तू (तान्) उनको (हरसा) अपने संहारकारी क्रोध या तेज से (अव जहि) विनष्ट कर डाल। और (अविभ्यत्) निर्भय होकर (उग्रः) प्रचण्ड, उग्र, सदा बलवान् रहकर (अर्चिषा) अपने तेजोबल से (दिवम् आरोह) सूर्य जिस प्रकार अपने प्रचण्ड ताप सहित मध्य आकाश में चढ़ जाता है उसी प्रकार तू भी उस महान्, उच्च, परम तेजोमय ब्रह्मपद को प्राप्त हो।

इसी प्रकार राजा को भी यही उपदेश है—तू शत्रुओं का संहारक होने से 'हरि' उत्तम पालन शक्ति से युक्त होने से 'सुपर्ण' है। वह तू अपने तेज से (दिवम् आ रोह) सूर्य के समान उच्च पद को प्राप्त हो। जो तेरा नाश करना चाहते हैं, उनको अपने (हरसा) क्रोध से विनष्ट कर। और तू स्वयं निर्भय, बलवान् होकर, अपने तेजसे द्यौलोक, उच्च पद पर आरूढ़ हो।

[६६] दुष्टदमन और प्रजा पालन।

ब्रह्मा ऋषिः। जातवेदः सूर्यः वज्रश्च देवताः। अतिजगती। एकर्चं सूक्तम्।

अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति।
तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रभृष्टिः सपत्नान् प्रमृणन् पाहि वज्रः ॥१॥

[६६] १–(च०) 'सहस्रभृष्टिः', सुष्टिः, हृष्टि, हृष्टिः, रिष्टि, हर्ष्टिः, इति नाना पाठाः। 'वाहि' इति क्वचित्।

भा०—(अयोजालाः) लोहे के जाल धारण करने वाले (मायिनः) माया, विद्या के जानने वाले (असुराः) असुर, शक्तिशाली लोग (अङ्किनः) अङ्कों से युक्त होकर (अयस्मयैः) लोहे के बने (पाशैः) पाशों सहित (चरन्ति) विचरते हैं । हे (जातवेदः) जातवेदः, अग्ने ! राजन् ! (ते) तेरे (हरसा) तेजोमय बल से (तान् रन्धयामि) उन को वश करूं, उनको भून डालूं । और तू (सहस्र-ऋष्टिः) हज़ारों भालों वाले या 'ऋष्टि' नामक घातक शस्त्रों से सुसज्जित होकर स्वयं (वज्रः) शत्रुओं के वर्जन करने में समर्थ, विद्युत् के समान बलशाली होकर (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) विध्वंस करता हुआ (पाहि) हमारी रक्षा कर ।

[६७] दीर्घ जीवन की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो देवता । प्राजापत्या गायत्र्यः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

पश्येम शरदः शतम् ॥१॥ जीवेम शरदः शतम् ॥२॥ बुध्येम शरदः शतम् ॥३॥ रोहेम शरदः शतम् ॥ ४ ॥ पूषेम शरदः शतम् ॥५॥ भवेम शरदः शतम् ॥६॥ भूयेम शरदः शतम् ॥७॥ भूयसीः शरदः शतात् ॥८॥ ऋ० ८ । ६६ ॥ यजु० ३४ । २४॥

[६७] ३–'बुद्‌ध्येम', बुध्येम, बुध्ये । इति नाना पाठाः ।

४–'पुष्येम' इति ह्विटनिकामितः । 'प्रब्रवाम श०' 'शृणुयाम०', 'अदीनाः स्याम' 'भूयश्च०' इति यजुषि विशेषः । पश्येम, जीवेम 'नन्दाम' 'मोदाम', 'भवेम', 'शृणवाम' 'प्रब्रवाम' इति तै० सं० ।

८–'भूयसीश–', भूयासी, श– इति नाना० ।

भा०—हम (शरदः शतम्) सौ बरसों तक (पश्येम) देखें ॥१॥ सौ बरसों तक (जीवेम) जीवें ॥२॥ सौ बरसों तक (बुध्येम) ज्ञान प्राप्त करें ॥३॥ सौ बरसों तक (रोहेम) वृद्धि को प्राप्त हों, उन्नत हों ॥४॥ सौ बरसों तक (पूषेम) पुष्टि प्राप्त करें ॥५॥ सौ बरसों तक (भवेम) समर्थ होकर रहें ॥६॥ सौ बरसों तक (भूयेम) सत्तावान् होकर रहें॥७॥ (शरदः शतात्) सौ बरसों से (भूयसीः) बहुत अधिक वर्षों तक भी हम देखें, जीवें, समझें, बढ़ें, पुष्ट हों, समर्थ रहें और सत्तावान् बने रहें ॥८॥

[६८] वेदज्ञान-प्राप्ति का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः । कर्म देवता । अनुष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

अव्य[च]सश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥१॥

भा०—(अव्यसः[1] च) अव्यापक, अर्थात् एकदेशी और (व्यचसः च) व्यापक अर्थात् सान्त और अनन्त, परिमित और अपरिमित स्वल्प और महान् इनके (बिलम्) मर्म या सूक्ष्म भेद को मैं (मायया) बुद्धि द्वारा (विष्यामि) विवेचन करूं। और (ताभ्याम्) उन व्यापक और अव्यापक दोनों प्रकार के पदार्थों से (वेदम्[1]) वेद ज्ञान को (उद्धृत्य) दृष्टान्त प्रतिदृष्टान्त से प्राप्त करके (अथ) उसके बाद हम लोग (कर्माणि) यज्ञ कर्मों और लौकिक कर्मों का (कृण्महे) सम्पादन करें।

[६८.] १—१. 'अव्यन्त्रसः' इति सायणः वर्णलोपश्छान्दसः । इति ह्विटनिः ।

१. कृशनुष्टिरितिग्रीफिथः । सतम्मते वेदो स्तोदात्तः । प्रामादिक ।

व्यापक शक्तियों और अव्यापक जड़ पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध को हम विवेचन करके उनका ज्ञान प्राप्त करें और उनसे बड़े २ कार्य करें।

अथवा—(अव्यचसः) अव्यापक अल्पशक्ति जीव और (व्यचसः) व्यापक परमेश्वर के (बिलम्) भेद या गूढ़रूप को मैं माया अर्थात् बुद्धि से विवेक करूं। और उन दोनों से (वेदम्) अध्यात्म और व्यापक ब्रह्म की महान शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करके हम नित्य नैमित्त कर्मों का आचरण करें।

[६९] पूर्णायु प्राप्ति का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। आपो देवताः। १ आसुरी अनुष्टुप्। २ साम्नी अनुष्टुप्। ३ आसुरी गायत्री। ४ साम्नी उष्णिक्। १–४ एकावसानाः।
चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

जी॒वा स्थ॑ जी॒व्यासं॒ सर्व॒मायु॑र्जीव्यासम्॥ १॥ उ॒प॒जी॒वा स्थोप॑ जीव्यासं॒ सर्व॒० ॥२॥ सं॒जी॒वा स्थ॒ सं जीव्यासं॒ सर्व॒० ॥३॥ जी॒व॒ला स्थ॑ जी॒व्यासं॒ सर्व॒मायु॑र्जीव्यासम् ॥४॥

भा०—हे (आपः) जनो! और जलों के समान आप्तजनो! आप (जीवाः स्थ) जीवन अर्थात् प्राण धारण कराने में समर्थ हो। (उपजीवाः स्थ) जीवन को और भी अधिक बढ़ाने में समर्थ हो। मैं (उपजीव्यासम्) और भी अधिक जीवन धारण करूं। आप (सम्-जीवाः स्थ) भली प्रकार जीवनप्रद हो। मैं (सं जीव्यासम्) उत्तम रीति से जीवन धारण करूं। (जीवलाः स्थ) तुम जीवन तत्व को प्राप्त करा देने वाले हो। मैं (जीव्यासम्) जीता रहूं और (सर्वम् आयुः जीव्यासम्) सम्पूर्ण आयु जीवित रहूं।

---

[६९] १–'स्थ' इति पैप्प० सं०।

[७०] पूर्णायु प्राप्ति ।

भर्गा ऋषिः । इन्द्रादयो देवताः । गायत्री । एकर्च सूक्तम् ॥

इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम् ।
सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! या वायो ! तू (जीव) हमें जीवन धारण करा । हे (सूर्य) सूर्य सबके प्रेरक आदित्य ! और हे (देवाः) देवगण ! पृथिवी, अग्नि, विद्युत् आदि पदार्थों ! आप सब भी (जीव) मुझे जीवन प्रदान करो । (अहम्) मैं (जीव्यासम्) जीता रहूं । (सर्वम् आयुः जीव्यासम्) और सम्पूर्ण आयु भर जीवन धारण करूं ।

[७१] वेदमाता की स्तुति, आयु आदि की प्राप्ति ।

ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री देवता । त्र्यवसाना पञ्चपदा अति जगती । एकर्च सूक्तम् ।

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥१॥

भा०—(द्विजानां पावमानी) द्विजों-ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इनको जन्म और विद्याध्ययन से पवित्र विद्वानों को पवित्र करने वाली (वरदा)

---

[७०] १—'जीवादेवा' इति प्रायः ।

[७१] १—तै० आ० परिशिष्टे—स्तुतो मयावरदा वेदमाता प्रचोदयन्ती भवने द्विजानी । आयुः पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यन्दत्वा प्रजातुं ब्रह्मलोकं । (द्वि०) 'पावमानीन्' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) पशून् इति बहुत्र ।

उत्तम वरण करने वाली माता या वेदमय ज्ञानों को भी उत्पन्न करने वाली परमेश्वरी शक्ति की (मया स्तुता) मैं गुणानुवाद करता हूं । समस्त विद्वान्गण भी उसीका (प्रचोदयन्ताम्) उपदेश करें । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (मह्यम्) मुझे (आयुः) दीर्घ जीवन, (प्राणम्) प्राण शक्ति, (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, (पशुम्) उत्तम पशु (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति और (द्रविणम्) धन ऐश्वर्य (ब्रह्मवर्चसम्) और ब्रह्मवर्चस, ब्रह्मतेज इन सब का (दत्वा) उपदेश करके आप भी (ब्रह्मलोकम्) उस ब्रह्म, महान् परमेश्वर पद को (व्रजत) प्राप्त होओ ।

[७२] परमात्मा का वर्णन

भृग्वंगिरा ब्रह्मा ऋषिः । परमात्मा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

यस्मा॒त् कोशा॑दु॒दभ॑राम॒ वेदं॒ तस्मि॑न्न॒न्तरव॑ दध्म एनम् ।
कृ॒तमि॒ष्टं ब्रह्म॑णो वी॒र्ये॑ण॒ तेन॑ मा देवा॒स्तप॑सावते॒ह ॥१॥

भा०—(यस्मात्) जिस (कोशात्) महान् अक्षय कोश या ज्ञान के भण्डार से हम लोग (वेदम्) वेद को पेटी से ग्रन्थ के समान (उद् अभराम) उठाते हैं, निकालते हैं (तस्मिन् अन्तः) पुनः उस ही के भीतर (एनम्) उसको फिर (अवदध्मः) धर देते हैं । जिस प्रकार एक पेटी से वेद का ग्रन्थ उठाते हैं फिर पढ़ चुकने पर उसको उसी में रख देते हैं उसी प्रकार हम जिस महान् परमेश्वर से वेदमय ज्ञान प्राप्त करते हैं पुनः उस वेद को उसी से संगत करते हैं, उसी के भीतर उस ज्ञान को समाया पाते हैं (ब्रह्मणः) ब्रह्म-वेद और परमेश्वर के जिस (वीर्येण) वीर्य से (कृतम्) समस्त कर्म किये जाते और (इष्टम्) यज्ञ योग

[७२] १-(तृ०) 'कृतमिष्टं' इति क्वचित् । 'मधीतमिष्टं' इति कौशिकसूत्रे उद्भरामि वेदं तस्मिन्नन्त वेदध्मयेनम् । इति पैप्प० सं० ।

और उपासना किया जाता है (तेन तपसा) उस तप से ही हे (देवाः) देवो ! विद्वान् पुरुषो ! (इह) इस लोक में (मा) मेरी भी (अवत) रक्षा करो ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्र अष्टादश सूक्तानि पञ्चपञ्चाशदृचः]

एकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ॥

सप्तानुवाकाः एकोनविंशे सूक्तानि संख्यया ।
द्व्यधिका सप्ततिः प्रोक्ता ब्रह्मवेदविचक्षणैः ॥

बाणवस्वंकचन्द्राब्दे फाल्गुनासितपक्षके ।
रवौ प्रतिपदायां चैकोनविंशं समाप्यते ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार मीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये एकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ।

* ओ३म् *

अथ विंशं काण्डम् ॥

[१] राजा और परमेश्वर का वर्णन

क्रमशो विश्वामित्र गोतमविरूपा ऋषयः । इन्द्रमरुदग्नयो देवताः । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमें हवामहे ।
स पाहि मध्वो अन्धंसः ॥१॥

अथर्व० २० । ६।१ ॥ ऋ० ३ । ४० । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (सुते सोमे) यज्ञ में सोम के निष्पादित होने पर सोमयाग में जिस प्रकार राजा को सोमपान करने के लिये आदरपूर्वक बुलाया जाता है उसी प्रकार योगाभ्यास के अवसर पर (सोमे) परम ब्रह्मानन्द रसके (सुते) उत्पन्न होने पर (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ, समस्त आध्यात्म सुखों के वर्षण करने वाले, धर्ममेघ समाधि में प्रकट होने वाले आनन्दघन (त्वा) तुझको ही हम अभ्यासी जन (हवामहे) स्तुति करते हैं । (सः) वह तू (अन्धसः) प्राण के पालक और धारण करने वाले (मधु) परमानन्द रस का (पाहि) पान कराता है । अथवा—(सोमे सुते) उत्पन्न इस समस्त संसार में हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! हम (त्वा हवामहे) तुझे पुकारते हैं । वह तू (अन्धसः मध्वः पाहि) प्राणधारी समस्त मधु अर्थात् चेतन संसार की रक्षा कर ।

राजा के पक्ष में—(सुते सोमे) राष्ट्र के बन जाने पर हे इन्द्र ! राजन् ! (वृषभं त्वा हवामहे) तुझ महाबलवान् को हम आदर से बुलाते

हैं । वह तू (अन्धसः मध्वः) मधुर अन्न आदि योग्य पदार्थों को पालन कर ।

सर्वं वा इदं मधु यदिदं किंच । श० २।७।१।११ ॥ प्राणो वै मधु । श० १४ । १ । ३ । २० ॥ रसो वै मधु । श० ६ । ४ । ३ । २ ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥२॥ ऋ० १ । ८ । ४३ ॥

भा०—(सः जनः) वह पुरुष (सुगोपातमः) सबसे उत्तम रक्षक है (दिवः) तेजोमय, प्रकाशमान (विमहसः) विशेष तेजः-सम्पन्न, महान् सामर्थ्य वाले (यस्य) जिसके (क्षये) निवास गृह में या जिसकी शरण में रहकर, हे (मरुतः) समस्त शत्रुओं को मारने में समर्थ, वायुओं के समान तीव्र गति वाले सैनिक लोगों तुम (पाथ) राष्ट्र की रक्षा करते हो ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे (मरुतः) प्राणगण, हे वायुगण ! जिस परमेश्वर के आश्रय रहते हुए आप समस्त प्राणियों और लोकों की रक्षा करते हो वह (जनः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (सुगोपातमः) सब से उत्तम पालक है ।

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे । स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥३॥
ऋ० ८ । ४३ । ११ ॥

भा०—(उक्षान्नाय) जिसका अन्न सबको सेचन या तृप्त करने में समर्थ है और (वशान्नाय) जिसका अन्न सबको अपने वश करने में समर्थ है और (सोमपृष्ठाय) सोम, शान्ति आदि गुण वाले विद्वान् जिसके पृष्ठ रूप हैं या जिसकी पीठपर उसके प्रेरक रूप से हैं, ऐसे (वेधसे) विद्वान् मेधावी, राज्य के विधाता (अग्नये) अग्नि के समान ज्ञानवान् और शत्रु तापक राजा का हम (स्तोमैः) स्तोम अर्थात् वीर्यों, सामर्थ्यों द्वारा (विधेम)

सेवा करें । अथवा — (उक्षा) वीर्य सेचन में समर्थ युवा पुरुष और (वशा) वशकारिणी शक्ति या यह पृथ्वी ही अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थ जिसके हैं उस (सोमपृष्ठाय) ज्ञान को धारण करने वाले मेधावी अग्नि अर्थात् राजा की हम बलों द्वारा सेवा करें ।

ईश्वर पक्ष में—उक्षा सूर्य और वशा पृथिवी दोनों जिसके अन्न हैं सोम ज्ञान ही जिसका स्वरूप है उस तेजोमय परमेश्वर की हम स्तुतियों द्वारा परिचर्या करें ।

[२] परमेश्वर की उपासना

गृत्समदो मेधातिथिर्वा ऋषिः । मरुदिन्द्राग्निर्द्रविणोदाः देवताः । १, २ विराड् गायत्र्यौ । आर्च्युष्णिक् । ४ साम्नी त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

मरुतः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥१॥

ऋ० १ । १५ । २ ॥ २ । ३६ । २ ॥

भा०—(मरुतः) मरुद्गण, समस्त प्राणगण देवजन, विद्वान् पुरुष (पोत्रात्) पोता, सोम को पवित्र करने वाले (सुस्तुभः) उत्तम रूप से स्तुति करने योग्य (स्वर्कात्) उत्तम अर्चनीय, परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋतुना) अपने प्राण के बलसे (सोमम्) उस ब्रह्मानन्दरस या प्रेरक जीवन या वीर्य, सोम को (पिबतु=पिबन्तु) पान करें, प्राप्त करें ।

अग्निराग्नीध्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥२॥

---

[२] १–आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः । ऋ० २ । ३६ । २ ॥ मरुतः पिबत ऋतुना पोत्राद् यज्ञं पुनीतन । ऋ० १ । १५ । १ ॥

२–प्रतिवीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि । ऋ० २ । ३६ । ४ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान तेजोमय विद्वान् पुरुष (अग्नीध्रात्) समस्त अग्नि विद्युत् सूर्य आदि को धारण करने वाले या समस्त अग्नियों को प्रदीप्त करने वाले या (सुस्तुभः) उत्तम स्तुति योग्य (स्वर्कात्) परम पूजनीय परमेश्वर से (ऋतुना) अपने सामर्थ्य से (सोमं पिबतु) सोम का पान करे।

इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥३॥
ऋ० २। १५। ५

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान्, विभूतिमान् (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मके महान् सर्वदेवमय, ज्ञानमय, वेदमय या वेद प्रतिपादित या ब्रह्माण्डमय, शक्तिस्वरूप, (सुस्तुभः) उत्तम स्तुति करने योग्य (स्वर्कात्) परम अर्चनीय (ब्राह्मणात्) परमेश्वर से (ऋतुना) अपने प्राणबल से (सोमं पिबतु) सोम रस का पान करे।

देवो द्रविणोदाः पोत्रात् [होत्रात्] सुष्टुभः।
स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥४॥ ऋ० २। १५। १०॥

भा०—(द्रविणोदाः) द्रविण, ज्ञान और धनका प्रदाता (देवः) विद्वान् पुरुष (सुस्तुभः स्वर्कात्) उत्तम स्तुति योग्य परम पूजनीय, अर्चनीय (पोत्रात्) सबके परम पावन परमेश्वर से (ऋतुना) अपने ज्ञान और प्राण सामर्थ्य से (सोमं पिबतु) सोमरस का पान करे।

(१) द्यावा पृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः। श० १। ८। १। ४१। अन्तरिक्षम् अग्नीध्रम्। तै० २। १। ५। १। बाहू वा अस्य यज्ञस्य आग्नीध्रीयश्च मार्जालीयश्च। श० ३। ५। ३। ४॥

३–पिबेन्द्र स्वाहा प्रहुतं वषट्कृतं होत्रादा सोमं प्रथमोय ईशिषे ऋ० २।३६ १॥ ब्राह्मणादिन्द्रराधसः पिबासोमं ऋतूंरनु। इति ऋ० १।१५।५॥
४–होत्रात्सोमं द्रविणोद पिब ऋतुभिः। ऋ० २। ३७। १॥

(२) 'ब्रह्मणात्'–ब्राह्मणो वै सर्वाः देवताः । तै० १ । ४ । ४ । २, ४ ब्रह्मणो वा एतत् रूपं यद् ब्राह्मणः । श० । १३ । १ । ५ । २ । ब्राह्मणो वै प्रजानानुपद्रष्टा । श० । २ । २ । ७ । ३ ॥

(३) 'द्रविणोदाः—प्राणावै देवो द्रविणोदाः । श० ६ । ७ । २ । ३ ॥ द्रविणोदाः इति द्रविणं ह्येभ्यो ददाति । श० ६ । ३ । ३ । ३ । १३ ।

अर्थात्-(१) जिस प्रकार वायुगण सूर्य से केवल ऋतु के अनुसार सोम-जल को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार प्राणगण अपने आत्मा से अपने सामर्थ्यानुसार बल प्राप्त करें । उसी प्रकार विद्वान् गण स्तुत्य परमेश्वर से अपने ज्ञान सामर्थ्य के अनुसार सोम, ज्ञान और बल प्राप्त करें ।

(२) अग्नि जिस प्रकार सूर्य से अपना तेज ग्रहण करता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष उस परमस्तुत्य समस्त अग्नियों के आश्रय परमेश्वर से अपने बल के अनुसार सोम, ज्ञानमय प्रकाश प्राप्त करे ।

(३) महान् शक्तिमान् इन्द्र विद्युत् जिस प्रकार महान् शक्तिमय सूर्य से जैसे अपने ऋतु के अनुसार बल वीर्य प्राप्त करता है उसी प्रकार ऐश्वर्यवान् वेदज्ञ पुरुष समस्त देवतामय, सर्व शक्तिमान् परमेश्वर से अपने बल सामर्थ्यानुसार बल और ज्ञान प्राप्त करे ।

(४) अग्नि या मेघ जिस प्रकार सूर्य से अपने ऋतु के अनुसार जल धारण करता है उसी प्रकार ज्ञान और सम्पत्ति का देने वाला दानी पुरुष भी सबके देने वाले (होत्रात्) सर्वप्रद परमेश्वर से (सोमं) ज्ञानी ऐश्वर्य को प्राप्त करे ।

[३] परमेश्वर और राजा का वर्णन

इरिम्बिठिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ॥
एदं बर्हिः सदो मम ॥१॥ ऋ० ८ । १७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द) इन्द्र परम ऐश्वर्यवन्! राजन्! (ते) तेरे लिये ही (सोमम्) सोम. राष्ट्र का हम (सुषुम) सेवन करते हैं। तू (आयाहि) हमें प्राप्त हो। तू (इमम्) इसको (पिब) पान कर। (इदम्) यह (मम) मेरा (बर्हिः) दिया आसन है। इस पर (आसदः) आ विराज। अथवा-(इदं मम सदः) यह मेरा विराजने योग्य (बर्हिः) आसन है इस पर विराजो। अथवा राजन्! (आयाहि) आ। तेरे लिये (सोमं सुषुम) सोम रूप राष्ट्र का सम्पादन, अभिषेक द्वारा प्रदान करते हैं, विजय करते हैं। इसका (पिब) पालन कर या उपयोग कर। यह (बर्हिः सदः) बड़ा भारी सभा-भवन है।

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥ ऋ० ८। १७। २॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर (त्वा) तुझको (ब्रह्मयुजौ हरी) ब्रह्म अर्थात् ज्ञान के साथ योग करने वाले राजा को जिस प्रकार वे घोड़े वहन करते हैं उसी प्रकार (केशिनौ) किरणों से युक्त (हरी) हरणशील नित्य गतिमान् (वहताम्) धारण करते हैं। हे परमेश्वर! आप (नः) हमारे समस्त (ब्रह्माणि) वेदमन्त्र, अथवा ब्रह्म विषयक स्तुतियों को अथवा ब्रह्म विषयक उपासना अनुष्ठानादिकों को (शृणु) श्रवण कर। और स्वीकार कर। राजपक्ष में-गौण वृत्ति से मन्त्र अर्थात् विचारपूर्वक युक्त दो घोड़े तेरे रथ को खैंचे। तू हमारे मन्त्रों का श्रवण कर।

अध्यात्म में—ब्रह्म परमेश्वर या मन के साथ युक्त दो हरणशील गतिशील प्राण और अपान, हे आत्मन्! तुझे धारण करें।

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः।
सुतावन्तो हवामहे ॥३॥ ऋ० ८। १७। ३॥

भा०—(वयम्) हम (सोमिनः) सोम, ज्ञान से सम्पन्न (ब्रह्माणः) ब्रह्म के ज्ञानी पुरुष (युजा) योग समाधि द्वारा (त्वा) तुझ (सोमपाम्) सोमरूप ब्रह्मानन्द रस के पान करने हारे को (सुतावन्तः) सम्पादित ब्रह्म रस से सम्पन्न होकर (हवामहे) बुलाते हैं।

राजा के पक्षमें-(सोमिनः) राष्ट्र वाले हम (ब्रह्माणः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (युजा) योग देने वाले, सहयोगी समस्त सहायक गण के सहित (त्वा सोमपाम्) तुझ राष्ट्र के पालक राजा को (सुतावन्तः) निष्पन्न समस्त उत्तम, ऐश्वर्यमय पदार्थों से सम्पन्न होकर तुझे बुलाते हैं।

[४] ईश्वर की उपासना।

इरिम्बिठि ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम्॥

आ नो याहि सुतावतोस्माकं सुष्टुतीरुपं।
पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥१॥ ऋ० ८। १७। ४॥

भा०—हे इन्द्र! परमेश्वर (सुतावतः) योग समाधि द्वारा अध्यात्मज्ञान का प्रसव करने वाले (नः) हमें तू (आयाहि) प्राप्त हो। (अस्माकम्) हमारी (सुस्तुतीः) उत्तम स्तुतियों को (उप) अति समीप होकर श्रवण कर, एवं स्वीकार कर। हे (सुशिप्रिन्) उत्तम ज्ञानवान्! आप ही (अन्धसः) उस परम अमृत रस का (पिब) पान करें, हमें भी पान करावें।

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु।
गृभाय जिह्वया मधु ॥२॥ ऋ० ८। १७। ५॥

भा०—हे पुरुष! (ते कुक्ष्योः) तेरी महान् कोखों में इस सोम को (आसिञ्चामि) सेचन करता हूं। वह (ते गात्रा) तेरे गात्रों

में (अनु विधावतु) व्याप्त हो जाय (जिह्वया) जिह्वा द्वारा तू उस (मधु) मधुर अमृत को (गृभाय) ग्रहण कर।

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान् तन्वे३ तव ।
सोमः शमस्तु ते हृदे ॥३॥ ऋ० ८ । १७ । ६ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (संसुदे) उत्तम दानशील (ते) तेरे लिये (मधुमान्) मधुर गुणयुक्त यह (सोमः) सोम (स्वादुः) उत्तम स्वादिष्ट हो और (तव तन्वे शम्) तेरे शरीर के लिये शान्तिदायक हो। और (ते हृदे) तेरे हृदय के लिये भी (शम् अस्तु) शान्तिदायक हो।

[५] ईश्वर और राजा का वर्णन ।

इरिम्बिठिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः ।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥१॥ ऋग्वेद ८ । १७ । ७ ॥

भा०—हे (विचर्षणे) प्रजाओं को नाना प्रकार से देखने वाले ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (जनीभिः अभि संवृतः इव) जिस प्रकार स्त्रियों से घिरा हुआ नवयुवक वर बड़ी शान से आता है उसी प्रकार (अयम्) यह (सोमः) सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक शक्ति भी (त्वा ३) तेरे पास ही (प्र सर्पतु) आती है अर्थात् वह सर्वोत्पादक शक्ति तुझे ही प्राप्त है। वह सोम कैसा है ? मानो (जनीभिः अभि संवृतः) नाना सृष्टियों को उत्पन्न करने वाली शक्तियों से व्याप्त है।

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे ।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ २ ॥ ऋ० ८ । १७ । ८ ॥

[५] आगामिसूक्तस्थादिमन्त्रमुपादाय बृहत्सर्वानुक्रमण्यामिदं सूक्तं मष्टर्चमुच्यते । आगामिचाष्टर्चमेव । सर्वत्र इदं सप्तर्चमेवोपलभ्यते आगामि च नवर्चं ।

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (अन्धसः) सबको प्राण धारण करने वाले सर्वोत्पादक सामर्थ्य रूप सोम के (मदे) अत्यन्त हर्ष या उद्वेग में स्वयं (तुविग्रीवः) अनेक ग्रीवा वाला, अनेक मुख सहस्रमुख होकर (वपा-उद्-अरः) 'वपा' समस्त संसार में बीज वपन करनेहारी महान् शक्ति को उदीर्ण या जागृत करके (सुबाहुः) वीर पुरुष के समान उत्तम बाहु अर्थात् सृष्टियों के प्रतिघातक पदार्थों की बाधना करने वाला होकर वह (वृत्राणि) नाना वृत्रों, जीवन के नाशक कारणों को (जिघ्नते) विनाश करता है।

राजा के पक्ष में—उत्तम बाहुशाली, दृढ़ गर्दन और विस्तीर्ण छाती वाला राजा सोम अर्थात् राष्ट्र के बल में आकर घेरने वाले शत्रुओं का नाश करता है।

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।
वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । १७ । ९ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) वारण करने वाले विघ्न विघ्नों को नाश करने हारे इन्द्र! ऐश्वर्यवान् परमेश्वर! तू (ओजसा) ओज से, पराक्रम से (विश्वस्य ईशानः) समस्त विश्व को अपने वश करने और उसको संचालन करने में समर्थ होकर (त्वं पुरः प्रेहि) तू ही सबसे आगे चल। और (वृत्राणि) समस्त विघ्नों का (जहि) नाश कर।

राजा या सेनापति—शत्रु नाशक होने से या राष्ट्र के विघ्नकारी लोगों को नाश करने हारा होने से 'वृत्रहा' है। वह अपने पराक्रम से समस्त राष्ट्र का स्वामी होकर सबसे आगे २ चले और शत्रु बलों का नाश करे।

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि ।
यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । १७ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर (ते अंकुशः[1]) तेरा यश या विशेष लक्षण, (दीर्घः अस्तु) सब से अधिक है । (येन) क्योंकि तू (सुन्वते) ज्ञान सम्पादन करने वाले (यजमानाय) यज्ञशील, देवोपासक को (वसु प्रयच्छ) नाना प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान कर ।

'अंकुशः'—अंकते लक्षयति येन सः अंकुशः, इति दया० । उ० व्या० ।

अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।

एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । १७ । ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् ! (ते) तेरा (अयम्) यह (निपूतः) अत्यन्त पवित्र (सोमः) सोम, सर्वोत्पादक वीर्य और तेज (बर्हिषि अधि) इस महान् आकाश में, यज्ञमें सोम के समान विद्यमान है । (ईम् एहि) इसको तू ही प्राप्त कर (अस्य द्रव) इसमें व्याप्त हो (पिब) तू ही इसका पान कर अर्थात् तू ही इसको अपने में ग्रहण कर ।

राजपक्ष में—राजा का सोम, राष्ट्र अति पवित्र, जो विशाल आधार पर स्थित है । वह उसको प्राप्त करे और उसका सार भाग स्वयं ग्रहण करे ।

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः ।

आखण्डल प्र हूयसे ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । १७ । १२ ॥

भा०—हे (शाचिपूजन) शक्तिशाली पुरुषों से भी पूजने योग्य अथवा शक्तिशाली पूजन वाले परमेश्वर ! हे (शाचिगो) शक्तिशाली किरणों से युक्त ! अथवा शक्तिशाली गति देने के साधनों वाले ! अथवा शक्तिशाली गौ, सूर्यादि लोकों के स्वामिन् ! (अयं सुतः) यह उत्पादित समस्त संसार (ते रणाय) तेरे ही रमण करने के लिये है । इसलिये हे (आखण्डल) सर्वत्र खण्ड २ में भी व्यापक ! सर्वशक्तिमन् ! तू ही (प्र हूयसे) सबसे अधिक स्तुति किया जाता है ।

राजा के पक्ष में—हे (शचिगो) शक्ति से गमन करने वाले ! हे (शचिपूजन) शक्ति द्वारा पूजने के योग्य, प्रतिष्ठित यह तेरा निष्पन्न राष्ट्र भी तेरे रण, रमण करने के लिये है। हे (आखण्डल) शत्रुनाशक तू (प्रहूयसे) भली प्रकार आदरपूर्वक स्तुति किया जाता है।

यस्ते शृङ्गवृषो नपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः।
न्य/स्मिन् दध्र आ मनः ॥ ७ ॥ ऋ० २ । १७ । १३ ॥

भा०—(यः) जो (ते) तेरा (शृङ्गवृषः) लोकसंहारक और साथ ही सकल सुखों का वर्षक (नपात्) अगम्य या अनाश्रय सर्वजगत् का आश्रय (प्रणपात्) अति अधिक अगम्य या शक्तिशाली, कुण्डपाय्यः[1]) दाहकारी, प्रलयाग्नि द्वारा पान करने वाले कर्म या सामर्थ्य अथवा रक्षण सामर्थ्य से सबको ग्रहण करने वाला है। तू (मनः) अपना समस्त मानस व्यापार (अस्मिन्) इसमें ही (आ नि दध्रे) लगा रहा है। ईश्वर के संकल्प मात्र से जगत् का प्रलय और सर्ग का कार्य होरहा है।

[६] राजा और परमेश्वर का वर्णन।

विश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। नवर्चं सूक्तम्। गायत्र्यः।

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे।
स पाहि मध्वो अन्धसः ॥१॥ ऋ० ३ । ३० । १ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० २० । १ । १ ॥

इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥२॥ ऋ० ३ । ४० । २ ॥

[७] १. 'कुडि दाहे' (भ्वादिः) पचाद्यच्। कुडि रक्षणे (चुरादिः) कुण्डनेर्वा।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! तू (क्रतुविदम्) क्रिया, ज्ञान के प्राप्त कराने वाले अपने (सुतम्) उत्पादित, (सोमम्) उत्पादक सामर्थ्य, सोम को स्वयं (हर्य) चाह, स्वयं अपने वश कर। और (तातृपिम्) सब को तृप्त करने हारे उस सामर्थ्य को तू (पिब) पानकर और (वृषस्व) सर्वत्र सेचन कर। राजा के और मनुष्य के पक्ष में—हे ऐश्वर्यवन् ! (क्रतुविदम्) ज्ञान और क्रिया से सामर्थ्य को देने वाले, निष्पन्न (सोमम्) सोम रूप अन्न को (हर्य) प्राप्त करने की इच्छा कर। (तातृपिम्) तृप्तिकारी अन्न का (पिब) पान कर, खा और (वृषस्व) वीर्य शक्ति को प्राप्त कर।

इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः।
तिर स्तवान विश्पते ॥३॥ ऋ० ३। ४०। ३॥

भा०—हे (स्तवान) सब के द्वारा स्तुति किये गये, प्रशंसा के भाजन ! हे (विश्पते) प्रजा के पालक प्रभो ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (नः) हमारे (धितावानम्) धन धान्य से समृद्ध अथवा हित-कारी (यज्ञम्) यज्ञ, राष्ट्र को (विश्वेभिः देवेभिः) समस्त देव विजेता पुरुषों द्वारा (प्र तिर) बढ़ा।

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर तू समस्त दिव्य पदार्थों से हमारे जीवन-यज्ञ को दीर्घ कर।

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते।
क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥४॥ ऋ० ३। ४०। ४॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर ! हे (सत्-पते) सज्जनों के प्रति-पालक ! (इमे) ये (इन्दवः) परम ऐश्वर्यवान् ! (चन्द्रासः) चन्द्र के समान परम आह्लादजनक (सुताः) समाधि के अंगों द्वारा निष्पन्न

(सोमाः) ज्ञाननिष्ठ विद्वान् पुरुष (तव क्षयम्) तेरे ही आश्रय या तेरी ही शरण में (प्र यन्ति) आते हैं ।

राजा के पक्ष में—चन्द्र के समान आल्हादकारी ऐश्वर्यवान् (सोमाः) समस्त प्रेरक, शासक राजा लोग भी तेरी शरण, तेरे राजभवन, सभाभवन में आते हैं । इन्द्र=आचार्य पक्ष में सोमगण, शिष्य आचार्य के गृह पर आते हैं ।

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम् ।
तव द्युक्षास इन्दवः ॥५॥ ऋ० ३ । ४० । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् प्रभो ! तू (सुतम्) उत्पादित इस (वरेण्यम्) वरणीय, परमपद में प्राप्त कराने वाले या परम वरणीय (सोमम्) सोम रूप सूर्य को (जठरे) अपने सृष्टि-को उत्पन्न करने के महान् कार्य में (दधिष्वा) स्थापित करता है । (द्युक्षासः) दीप्तिमान् (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् समस्त लोक, हे परमेश्वर ! (तव) तेरे ही अधीन हैं । आचार्य पक्ष में—इस (सुतम्) विनीत आज्ञा-पालक शिष्य को अपने गर्भ में रख । ये तेजस्वी कान्तिमान् शिष्य तेरे ही हैं ।

राजा के पक्ष में इस निष्पन्न सोमरूप राष्ट्र को अपने जठर में अर्थात् अपने अधीन रख । ऐश्वर्यवान् कान्तिमान् रत्नादि धन सब तेरे ही हैं । 'जठरे'—जनेरठ च । उणा० । जनयतीति जठरम् । मध्यं वै जठरम् । श०॥

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद् यशः ॥६॥ ऋ० ३ । ४० । ६ ॥

भा०—हे (गिर्वणः) हे वाणियों द्वारा एकमात्र भजन, स्तुति करने योग्य ! (नः) हमारे प्रदान किये (सुतम्) समस्त साधनों से निष्पन्न इस आत्मा को (पाहि) पान कर, स्वीकार कर । तू (मधोः) मधु-अमृतमय परमानन्द की (धाराभिः) धाराओं से (अज्यसे) सर्वत्र प्रकाश-

मान है। हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यशः) यह समस्त तेजोमय विभूति, (त्वादातम् इत्) तेरी ही प्रदान की हुई है।

राजा के पक्ष में—हे स्तुत्य राजन् ! हमारे उत्पादित इस अन्नादि पदार्थ को स्वीकार कर या पालन कर। तू (मधोः धाराभिः अज्यसे) वीर्य या शत्रु को तपाने हारे बल की धारा=धारणा शक्तियों से प्रकाशित है। यह समस्त ऐश्वर्य तेरा ही दिया हुआ है।

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता।

पीत्वी सोमस्य वावृधे ॥७॥ ऋ० ३। ४०। ७॥

भा०—(वनिनः) ईश्वर के भजन करने वाले पुरुष के (अक्षिता द्युम्नानि) समस्त अक्षय धन, ऐश्वर्य और यश आदि (इन्द्रम् अभि सचन्ते) उस इन्द्र को ही प्राप्त होते हैं उसके ही भेंट जाते हैं। और वह (सोमस्य) इस सोम, समस्त संसार को (पीत्वी) पान करके (वावृधे) स्वयं बड़ा हुआ है, स्वयं सबसे महान् होकर रहता है।

राजा के पक्ष में—(वनिनः) धनाढ्यों के समस्त ऐश्वर्य उस राजा को ही प्राप्त हैं, वह राष्ट्र रूप सोम को स्वयं स्वीकार करके सबसे बढ़ा चढ़ा है।

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन्।

इमा जुषस्व नो गिरः ॥८॥

भा०—हे (वृत्रहन्) आवरणकारी अन्धकार और समस्त विघ्नों के नाशक प्रभो ! तू (नः) हमें (अर्वावतः) समीप के देश से और (परावतः च) दूर देश से भी (आगहि) प्राप्त हो। और (इमाः नः गिरः) हमारी इन वाणियों को (जुषस्व) स्वीकार कर।

राजा के पक्ष में—तू हम प्रजाजनों की प्रार्थनाओं को सुन। दूर और समीप जहां भी हो वहां से हमारी रक्षार्थ हमें प्राप्त हो।

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे ।
इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! तू (परावतम्) दूर देश और (अर्वावतं च) समीप के देश और (यत्) जब (अन्तरा च) उन दोनों के बीच के देशों में भी (हूयसे) पुकारा जाता है । तुझे जब, जहां भी, पास या दूर कहीं भी याद किया जाता है, हे प्रभो ! तू (ततः) वहां से (इतः) यहां (आगहि) हमें प्राप्त हो । ईश्वर सर्वत्र है, सर्वत्र उसका स्मरण करे और वह सर्वत्र ही प्राप्त होता है ।

राजा के पक्ष में—दूर पास और बीच के देशों में भी तुझे पुकारें तो वहां ही प्रजा के दुःख-शमनार्थ प्राप्त हो ।

[७] परमेश्वर और राजा ।

१–३ सुकक्षः । ४ विश्वामित्रः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।
अस्तारमेषि सूर्य ॥१॥ ऋ० ८ । ९३ १ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य ! सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानवान् योगिन् ! तू (श्रुतामघम्) प्रसिद्ध ऐश्वर्यवान् (वृषभम्) सब सुखों के वर्षक, सब को अपनी व्यवस्था में बांधने वाले, बड़े बैल के समान शक्तिमान् होकर समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले (नर्यापसम्) समस्त मनुष्यों और जीवात्मा के हितकारी कर्म या व्यापार करने वाले (अस्तारम्) सबके प्रेरक उस परमेश्वर को (अभि) लक्ष्य करके तू (उद् एषि घ) निश्चय से उदित होता है ।

राजा के पक्ष में—हे (सूर्य) विद्वन् ! ऐश्वर्यवन् ! नरश्रेष्ठ, सर्वहितकारी, तू (अस्तारम्) शत्रु पर शस्त्रास्त्र फेंकने में शूरवीर पुरुष को

प्राप्त होकर उदय को प्राप्त हो ! शिष्यपक्ष में—हे शिष्य सूर्य के व्रत को अनुसरण करने हारे ! तू श्रुत, वेदस्वरूप ज्ञान के धनी, ज्ञानवर्धक, हितकारी, ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानान्धकार के नाशक आचार्य को प्राप्त होकर उन्नति को प्राप्त हो ।

नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा ।
अहिं च वृत्रहावधीत् ॥२॥ ऋ० ८ । ९३ । २ ॥
स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद् गोमद् यवमत् ।
उरुधारेव दोहते ॥३॥ ऋ० ९ । ९३ । ३ ॥

भा०—(यः) जो ज्ञान का आवरण करने हारे वृत्र, अज्ञानान्धकार का नाश करने वाला, (बाह्वोजसा) अज्ञान बाधक वीर्य से, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर सूर्य के समान (अहिम्) हृदय या आकाश पर आवरण करने वाले मेघ के समान अज्ञानावरण को (अवधीत्) विनष्ट करता है और (यः) जो (बाह्वोजसा) अपने बाहु, बाधन करने वाले वीर्य से, पराक्रम से (नव नवतिम्) ९९ (पुरः) देहों को भी (बिभेद) तोड़ डालता है, अर्थात् जो ९९ देह—बन्धनों से मुक्त करता है (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् (शिवः) कल्याणकारी, (सखा) परम मित्र, (अश्वा-वत्) समस्त व्यापक गुणों से युक्त, (गोमत्) सूर्यादि लोकों या ज्ञान से युक्त, (यवमत्) प्रकृति के परमाणुओं को संयोग विभाग करने वाली शक्ति से युक्त परमेश्वर (नः) हमें (उरुधारा इव) बहुतसी दुग्ध धारा बहाने वाली दुधार कामधेनु के समान ही आनन्द रस एवं सुखों को (दोहते) प्रदान करता है। [२.३]

राजा के पक्ष में—जो राजा आवरणकारी, नगर को घेरने वाले शत्रु का नाशक (अहिम्) चारों तरफ फैले या सर्प के समान कुटिल शत्रु का नाश करता है और जो शत्रु के ९९ दुर्गों को तोड़ चुकता है वह 'इन्द्र'

कहाने योग्य राजा हमारे लिये कल्याणकारी मित्र, अश्वों, गौत्रों की सम्पत्ति से समृद्ध अन्नादि योग्य पदार्थों से युक्त होकर कामधेनु के समान हमें सब प्रकार के सुख प्रदान करता है ।

इसी प्रकार वह जीवात्मा जो अज्ञान का नाश करता, ९९ पुर अर्थात् ९९ वर्षों या हिता नाम नाड़ियों को पार करके, सुखी सर्वमित्र, कर्म-इन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होकर नाना धारण सामर्थ्यवान् होकर अन्यों को सुख देता है, वह 'इन्द्र' है ।

इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत ।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥४॥ ऋ० ३ । ४० । २ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० २० । ६ । २ ॥

[८] परमेश्वर और राजा ।

क्रमशो भरद्वाजः कुत्सो विश्वामित्रश्च ऋषयः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । त्र्यृचं सूक्तम् ।

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः ।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥१॥
ऋ० ६ । १७ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (प्रत्नथा) पूर्व के समान (एव) ही (पाहि) आप सोम का पान करें अर्थात् विश्व को धारण करते हैं । वह सोम (त्वा मन्दतु) तुझे नित्य आनन्दित करता है । तू (ब्रह्म श्रुधि) ब्रह्म अर्थात् वेदमन्त्रों का श्रवण करता है । (उत) और (गीर्भिः) स्तुति वाणियों से (वावृधस्व) वृद्धि कीर्ति को प्राप्त होता है । तू (सूर्यं आविः कृणुहि) सूर्य को प्रकट करता है । तू (इषः) अन्नों को और समस्त प्रेरक शक्तियों को भी या समस्त कामनाओं को समृद्ध या

सफल करता है । तू (शत्रून् जहि) शत्रु हमारे मनोरथों का नाश करने वालों को विनाश कर । (आ अभि तृन्धि) सूर्य जिस प्रकार किरणों को फेंकता हैं विद्वान् जैसे वाणियों को स्फुरित करता है, हे परमेश्वर ! इसी प्रकार आप ज्ञानरश्मियों को प्रकट करें । अथवा (शत्रून् जहि, गा अभि तृन्धि) शत्रुओं का नाश कर और उसकी गो, इन्द्रियों का नाशकर ।

राजा के पक्ष में-राजा पूर्व के समान राष्ट्र का (पाहि) पालन करे, वह उसको हर्षित करे । वह विज्ञानवान् पुरुषों की वाणियों को सुने । और उन की वाणियों से वृद्धि को प्राप्त हो । सूर्य अर्थात् विद्वान् को प्रकट करे । और शत्रुओं की इन्द्रियों का नाश करे अथवा उनकी (गाः) भूमियों को छीन ले ।

अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय ।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः ॥ २ ॥

ऋ० १ । १०४ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! (अर्वाङ् एहि) तू साक्षात् प्राप्त हो (त्वा) तुझको (सोमकामम् आहुः) विद्वान् पुरुष 'सोम-काम' कहते हैं । तू सोम अर्थात् समस्त संसार में 'काम' कामना, या संकल्प रूप से प्रेरक होकर सर्वत्र विद्यमान है । (अयं सुतः) यह तैयार किया हुआ सोम, समस्त संसार तेरे ही लिये है । (तस्य) उसका तू (मदाय) हर्ष के लिये (पिब) पान कर । (उरुव्यचाः) तू महान् आकाश के समान सर्वव्यापक है । तू अपने ही (जठरे) उत्पादक सामर्थ्य में (आ वृषस्व) इसको समस्त रसों से पूर्ण कर, सिंचन कर । और (हूयमानः) जब भी तुझे पुकारा जाय तभी (पिता इव) पिता के समान (नः) हमारी पुकार (शृणुहि) श्रवण कर ।

राजा के पक्षमें—हे राजन् ! तुम हमारे पास आओ । तुझे राष्ट्र की कामना वाला, कहते हैं । तू इसका भोग कर । तू महान् सामर्थ्यवान्

होकर अपने ही अधिकार में इसको पुष्ट कर। और हम प्रजाओं की पुकार पिता के समान सुन।

आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।
सम् प्रियाः आववृत्रन् मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम्॥३॥

ऋ० ३। ३२। १५॥

भा० —(अस्य) इस इन्द्र के लिये (कलशः) यह कलश (स्वाहा) उत्तम रीति से (आ पूर्णः) पूर्ण है। अर्थात् परमेश्वर की शक्ति से यह समस्त ब्रह्माण्ड पूर्ण है। उसमें कोई न्यूनता नहीं है। (सेक्ता) प्यालों को भरने वाला जिस प्रकार उंडेल २ कर प्याले भरा करता है उसी प्रकार वह भी (पिबध्यै) आनन्दरस पान करने के लिये (कोशं सिसिचे) इस समस्त भुवन कोष को और अध्यात्म में हृदय को ही रस अपने आनन्द से और सामर्थ्य से (सिसिचे) सिंचता है। (प्रियाः) उसके सभी प्यारे (सोमासः) सोम, उपासकजन (मदाय) हर्ष आनन्द प्राप्त करने के लिये (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु के (अभि प्रदक्षिणित्) चारों तरफ़ उसको घेरते हुए (सम् आववृत्रन्) एक साथ ही घेर कर बैठे हैं।

राजा के पक्ष में—इसका राष्ट्र रूप कलश सदा पूर्ण रहे। वह प्याले भरने वाले के समान सदा उपभोग के लिये ही अपने कोश-खजाने को भरा करे। और प्रिय सोम, विद्वान पुरुष या राजा लोग उसके दाहिनी तरफ़ से उस इन्द्र महान् सम्राट् को घेरकर बैठें।

[९] परमेश्वर और राजा।

१, २ नोधाः, ३, ४ मेधातिथिर्ऋषिः। १, २ त्रिष्टुभौ, ३, ४ प्रगाथे।
चतुर्ऋचं सूक्तम्।

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥१॥

ऋ० ८ । ७८ । १ ॥

भा०—(स्वसरेषु) दिनों के समाप्ति के अवसर पर (वत्सम् अभि) बछड़े को लक्ष्य करके (धेनवः च) जिस प्रकार गौवें हंभारती हैं उसी प्रकार हम प्रेम से बद्ध होकर (धेनवः) उसका रस पान करने हारे उपासक लोग उस (वत्सम् अभि) सबके भीतर वास करने वाले अथवा सब को उपदेश करने हारे (दस्मम्) दर्शनीय, (ऋतीषहम्) समस्त दुःखों के नाशक (वसोः अन्धसः) सबके भीतर बसने वाले व्यापक (अन्धसः) प्राण धारण करने वाले अपने उत्साह वा सामर्थ्य सोम से ही (मन्दानम्) परम आनन्द प्राप्त कराने हारे (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् प्रभु को (गीर्भिः नवामहे) हम स्तुति वाणियों से स्तुति करें ।

राजा के पक्ष में-हम दर्शनीय राष्ट्र के दुःखनाशक (अन्धसः वसोः मन्दानम्) अन्न और ऐश्वर्य से सुख को प्राप्त करते हुए इन्द्र की हम प्रशंसा करें ।

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥२॥

ऋ० ८ । ८८ । २ ॥

भा०—(द्युक्षम्) दीप्तिमान् तेजस्वी (सुदानम्) उत्तम २ पदार्थों के दाता (गिरिं न) पर्वत के समान (पुरुभोजसम्) बहुतसे भोग्य पदार्थ, कन्दमूल आदि, हिरण्य रत्नादि नाना भोग्य पदार्थों को देने हारा अथवा बहुत से प्राणियों का पालन करने हारे (तविषीभिः) महान् शक्तियों से (आवृतम्) घिरे हुए परमेश्वर से (क्षुमन्तम्) अन्न सम्पत्ति से युक्त, (वाजम्) बलवान्, (शतिनं, सहस्रिणम्) सैकड़ों और सहस्रों

ऐश्वर्य से युक्त, (गोमन्तम्) गो आदि पशुओं से समृद्ध (वाजम्) ऐश्वर्य की (मक्षु) शीघ्र या निरन्तर प्रतिक्षण (ईमहे) याचना करते हैं।

राजा के पक्ष में—तेजस्वी, उत्तम दानशील, उदार, प्रजाओं के पालक राजा से हम अन्नादि समृद्धि से युक्त ऐश्वर्य की याचना करते हैं।

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये ।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥३॥

ऋ० ८ । ३ । ९॥

भा०—हे परमेश्वर ! (पूर्वचित्तये) अपने पूर्व या पूर्ण मज्ञान प्राप्त करने के लिये (त्वा) तुझ से (तत् सुवीर्यम् ब्रह्म) उस उत्तम वीर्य, बलशाली (ब्रह्म) महान् स्वरूप को (यामि) उपासना करूं। (येन) जिससे (यतिभ्यः) यम नियम के पालक, तपस्वी पुरुषों और (भृगवे) पापों के भूननेहारे, तेजस्वी ज्ञानी पुरुष को तू (हिते) हितकर (धने) परम ऐश्वर्य में स्थापित करता है और (येन) जिससे (प्रस्कण्वन्) परम मेधावी पुरुष को (आविथ) रक्षा करता है।

राजा के पक्ष में—(पूर्वचित्तये) पूर्व निर्धारित 'चिति' अर्थात् परस्पर के समझौते के अनुसार हे राजन् ! मैं तुझसे उत्तम वीर्यजनक (ब्रह्म) बड़े भारी ऐश्वर्य की प्रार्थना करता हूं जिससे तू नियमों में बद्ध प्रजाओं और (भृगवे) ज्ञानवान् विद्वान् के निमित्त (हिते धने) वेतन रूप से बंधे धन में उनको सन्तुष्ट करता है और जिससे (प्रस्कण्वन्) उत्तम २ ज्ञानी पुरुषों को भी (आविथ) अपने राष्ट्र में पालन करता है।

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः ।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥४॥

ऋ० ८ । ३ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (येन) जिस महान् सामर्थ्य से तू (समुद्रम् असृजः) समुद्र को उत्पन्न करता है और (महीः अपः) उसमें महान् अनन्त जलों को पैदा करता है। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् प्रभो (ते) तेरा तो (तत्) वह (वृष्णि) सकल सुखों का वर्षक, सबसे अधिक (शवः) बल है। हे पुरुषो ! (अस्य) उस प्रभु की (सः महिमा) वह महिमा जो (न संनशे) कभी पार नहीं की जा सकती । (यं) जिसको (क्षोणीः) जगत् के समस्त प्राणी (अनु चक्रदे) बराबर कहा करते हैं।

[१०] परमेश्वर की उपासना ।

मेध्यातिथि ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथै । द्व्यृचं सूक्तम् ।

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

ऋ० ८ । ३ । १५ ।

भा०—हे इन्द्र परमेश्वर ! (सत्राजितः) एक ही बार की चढ़ाई में शत्रुओं को जीत लेने वाले, (धनसाः) नाना ऐश्वर्यों के देने वाले, (अक्षितोतयः) अक्षय, रक्षा करने में समर्थ, दृढ़ रक्षक, दृढ़ रक्षा साधनों से युक्त, (वाजयन्तः) बल वीर्यशाली, परस्पर संग्राम करते हुए (रथाः इव) रथ या रथ वाले महारथी लोग जिस प्रकार (उद् ईरते) उठते हैं, और बढ़े चले जाते हैं उसी प्रकार (त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अत्यन्त मधुर (स्तोमासः) स्तुतिमय (गिरः) वाणियें (उद् ईरते) हृदय से उठती हैं।

कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद् धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्तः आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥२॥

ऋ० ८ । ३ । १६ ॥

भा०—(कण्वा इव) जिस प्रकार मेधावी पुरुष, (भृगवः) और तेजस्वी, मलों को भून डालने वाले शुद्ध निष्पाप और जिस प्रकार (सूर्याः

इव) सूर्य के समान ज्ञान-प्रकाश से युक्त विद्वान् पुरुष (धीतम्) ध्यान द्वारा उपासित (विश्वम्) विश्व के समस्त पदार्थों को (आनशुः) यथार्थ रूप से जान लेते हैं और वे ही (स्तोमेभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (इन्द्रम्) परमेश्वर की (महयन्तः) पूजा करते हुए उसका गुणगान करते हैं, (प्रियमेधासः) मेधा बुद्धि को प्रिय मानने वाले या मनोहर बुद्धि सम्पन्न होकर (आयवः) पुरुष भी उस परमेश्वर की (अस्वरन्) स्तुति करते एवं उसका उपदेश करते हैं।

अथवा—(प्रियमेधासः आयवः) बुद्धि, ज्ञान को प्रेम करने वाले ज्ञानी पुरुष उस परमात्मा की स्तुतियों द्वारा पूजा करते हुए स्तुति करते हैं और वे (विश्वम् इद् ध्यातम् आनशुः) ध्यान द्वारा उसके पूर्ण तत्व को (कण्वाः इव भृगवः सूर्याः इव) कण्व, भृगु और सूर्यों के समान जान लेते हैं।

'कण्वा' कणनिमीलने, अस्मात् क्वन् प्रत्ययः। बाह्येन्द्रियों को निमीलित करके ध्यान करने वाले ध्यानी 'कण्व' हैं।

'भृगवः'—'भ्रस्जपाके' इत्यतः उः सम्प्रसारणं सलोपश्च। अति परिपक्व ज्ञानवान्, अर्थात् अपने सुदीर्घ अनुभव से ज्ञान को परिपक्व करने वाले ज्ञानी 'भृगु' कहाते हैं।

'सूर्याः'—आदित्य के समान तेजस्वी, ज्ञान के भण्डार आदित्य योगी सूर्य कहाते हैं।

[११] परमेश्वर और राजा।

विश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। एकर्चं सूक्तम्।

इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद् रोदसी उभे ॥१॥

ऋ० ३। ३४। १॥

भा०—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् इन्द्र, परमेश्वर (पूर्भिद्) इस देह पुरी को तोड़नेहारा, मुक्तिप्रद, (अर्कैः) अपने अर्क, अर्थात् पूजनीय ज्ञानों से (दासम्) इस शरीर में रहने वाले जीव को (आ अतिरत्) अधिक शक्तिमान् कर देता है। और वही समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त करनेहारा (शत्रून्) शत्रुओं अर्थात् आत्मा की शक्तियों का शातन, नाश करने वाले बाधक कारणों को (दयमानः) मारता हुआ (ब्रह्मजूतः) ब्रह्म, महान् शक्ति से सम्पन्न (तन्वा) अपनी विस्तृत शक्ति से (वावृधानः) अत्यन्त महान् (भूरिदात्रः) बहुत बड़ा दानी, परमेश्वर (उभे रोदसी आपृणाद्) दोनों लोक, आकाश और पृथ्वी को व्याप रहा है।

राजा के पक्ष में—(पूर्भिद्) शत्रुओं के गढ़ तोड़ने वाला (अर्कैः) अर्चनीय धनों से अपने सेवक को बढ़ाता है। शत्रुओं को नाश करता है। ब्रह्म, विद्वानों से अपने विस्तृत राष्ट्र को बढ़ाता हुआ (उभे रोदसी आपृणन्) अपने और पराये दोनों राष्ट्रों पर वश कर लेता है। अथवा राज-सम्बन्धी शासक और प्रजा दोनों पर वश करता है।

मुखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा ॥२॥

ऋ० ३ । ३४ । २ ।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! तू (मानुषीणाम्) समस्त साधारण मनुष्यों (क्षितीनाम्) प्रजाओं और (दैवीनाम्) देवी, सूर्य चन्द्रादि (विशाम्) तेरे में प्रविष्ट समस्त लोकरूप प्रजाओं में (उत) भी (पूर्वयावा) सब से प्रथम सत् रूप में प्राप्त होने योग्य (असि) रहा है और होगा। (अमृताय) अमृत, मोक्षपद के प्राप्त होने के लिये स्वयं (भूषन्) योग्य होने इच्छा करता हुआ। (मखस्य) सर्व-व्यापक, सर्वज्ञ, एकमात्र ज्ञेय, सर्वोपगम्य पूजनीय (तविषस्य) सर्व

शक्तिमान् एवं महान् (ते) तेरी (प्रजूतिम्) महती वेगवती शक्ति और व्यापक, (वाचम्) वेदज्ञानमयी वाणी को (इयर्मि) प्राप्त होता हूं। उसका ज्ञान करता हूं।

राजा के पक्ष में—तू समस्त साधारण और विशेष विद्वान्, दानशील प्रजाओं का (पूर्वयावा) अग्रणी है। तुझ पूजनीय, महान् बलशाली वेगवती शक्तिशाली (वाचम्) आज्ञाओं में (अमृताय भूषन्) दीर्घ जीवन के प्राप्त करने के लिये या अमृत अन्न आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये मैं पालन करूं।

'मल्वः'—'मल्ल मल्लि गत्यर्थौ (भ्वादि)। 'तविषस्य'–तवः बलं तद्वतः।

इन्द्रो वृत्रमंवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद् वर्पणीतिः।
अहन् व्यंसमुशधग् वनेष्वाविर्धेनां अकृणोद् राम्याणाम् ॥३॥
ऋ० ३ । ३४ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (शर्धनीतिः) बल को प्राप्त करके ही (वृत्रम्) आवरणकारी अज्ञान को (अवृणोत्) दूर करता है। और वही (वर्पणीतिः) अपने रूप को प्राप्त कराने वाला होकर ही (मायिनाम्) माया वाले प्राणों के बन्धन को (प्र अमिनात्) भली प्रकार नाश करता है। (वनेषु) जंगलों में (उशधग्) अग्नि जिस प्रकार जला कर सब कुछ भस्म कर देता है, वह परमेश्वर भी (वनेषु, वनन अर्थात् भजन करने वाले परम भक्तों में (उशधग्) उनकी समस्त कामनाओं को भस्म करने वाला होकर, उनकी कर्म वासनाओं को समूल नष्ट करके (वि-अंसम् अहन्) उनके समस्त अंस अर्थात् पीड़ाजनक कष्टों को दूर करके उनको (अहन्) प्राप्त होजाता है। और तब (राम्याणाम्) इस पर ब्रह्म में रमण करने हारे उन तत्व ज्ञानियों की (धेनाः) स्तुतिमयी वाणियों को (आविः अकृणोत्) प्रकट करता है।

राजा के पक्ष में-(शर्धनीतिः) बल को प्रयोग करने वाला, राजा (वृत्रम्) राष्ट्र को घेरने वाले को छिन्न भिन्न करे। (वर्पनीतिः) नाना रूपों के शस्त्रादि संचालन में चतुर होकर अथवा स्वयं अपने आप नेता होकर (मायिनाम् प्र अमिनात्) मायावी दुष्ट पुरुषों को नाश करे। जंगलों को जिस प्रकार अग्नि भस्म कर देती है उस प्रकार वह शत्रुओं को (व्यंसम्) उनके कन्धे आदि या सेना के अंग काट २ कर उनको (अहन्) मारे और तब (राम्याणाम्) अपने में रमण करने वाली या रमण करने योग्य प्रजाओं की हर्ष भरी वाणियों को प्रकट करे।

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥ ४ ॥

ऋ० ३ । ३ । ४ । ४ ॥

भा०—(स्वर्षाः) स्वः-परम सुख का प्रदान करने वाला (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (अहानि जनयन्) अन्धकारों को दूर करने वाले ज्योतिर्मय पदार्थों वा दिनों को उत्पन्न करता हुआ (अभिष्टिः) साक्षात् कामनामय होकर या सर्वतोमुख प्रेरणा शक्ति से युक्त होकर (उशिग्भिः) सर्व वशकारी सामर्थ्यों या प्राणों से या काम्य पदार्थों या दीप्तिमान पदार्थों से (पृतनाः) समस्त प्रजाओं को (जिगाय) जीतता है, अपने वश करता है। और (मनवे) मननशील पुरुष के लिये (अन्हाम् केतुम्) तमो नाशक तेजों के ज्ञापक सूर्य को (आरोचयत्) अति दीप्त करता है। और (बृहते रणाय) उस बड़े भारी, अति रमणीय सुख, मोक्ष की प्राप्ति के लिये वह स्वयं (ज्योतिः) परम ज्योति को (अविन्दत्) प्राप्त करता है, धारण करता है।

राजा के पक्ष में-वह राजा (स्वर्षाः) उत्तम सुखों का दाता, (अभिष्टिः) सर्वत्र गतिशील होकर (अहानि जनयत्) अत्याज्य, अहन्तव्य सेनाबलों

को प्राप्त करके (वशिभिः) वशकारी सेनापतियों द्वारा सेनाओं को विजय करे। समस्त मनुष्यों को और समस्त सेनाओं के आज्ञापक सेनापति को सब से उन्नत करे। बड़े रमणीय राष्ट्र के लिये और महान् युद्ध के लिये (ज्योतिः) धनको प्राप्त करे।

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि ।
अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥५॥

ऋ० ३ । ३४ । ५ ॥

भा०—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (नृवत्) जिस प्रकार नेता सेनापति (पुरूणि नर्या दधानः) बहुतसे अपने सैनिक पुरुषों के योग्य हितकारी पदार्थों को धारण करता है। अथवा -(नृवत्) मनुष्य, जीव जिस प्रकार (नर्या) जीव के अपने उपयोगी (पुरूणि) इन्द्रियों को धारण करता है उसी प्रकार वह परमेश्वर (नृवत्) महान् नेता के समान या महान् पुरुष के समान (नर्या) नृ=जीवों के बसने और कर्मफल भोगने योग्य उनके हितकारी (पुरूणि) पालन सामर्थ्यों या लोकों को स्वयं (दधानः) धारण करता हुआ स्वयं (तुजः) वेगवती, प्रेरक या छेदक, भेदक (बर्हणाः) महती शक्तियों में (आ विवेश) आविष्ट है। और वह (जरित्रे) स्तुति करने हारे पुरुष की या रात्रि के जरण करने वाले सूर्य को (इमा धियः) इन नाना धारण शक्तियों को (अचेतयत्) चेतन करता है, उनको प्रयुक्त करता है। और (आसाम्) इनके (शुक्रम् वर्णम्) कान्तिमय शुद्ध स्वरूप को (प्र अतिरत्) बढ़ाता है।

राजा के पक्ष में-वह (तुजः) बलवान् शत्रु नाशक राजा के समान सब प्रजा के (नर्या) मानव सेवों या ऐश्वर्यों को धारण करता हुआ वृद्धिशील प्रजाओं में प्रविष्ट होता है। (जरित्रे) विद्वान् पुरुषों को उनके

(धियः) समस्त कर्म बतलाता है । (आसाम्) इन प्रजाओं के (शुक्रम् वर्णम्) शुद्ध निष्पाप स्वरूप को बढ़ाता है ।

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥६॥
ऋ० ३ । ३४ । ६ ॥

भा०—(अस्य महः इन्द्रस्य) इस महान् परमेश्वर के (पुरूणि) बहुतसे (सुकृता) उत्तम रीति से रचे हुए (कर्म) कर्मों की विद्वान् लोग (पनयन्ति) स्तुति करते हैं । (वृजनेन) वर्जन करने वाले, पाप से निवृत्त करने वाले श्रेयो मार्ग से या ज्ञान से (वृजिनान्) वर्जन करने योग्य पापाचारी को (सं पिपेष) विनाश कर देता है और (अभिभूत्योजाः) सर्वत्र सृष्टि उत्पन्न करने वाले या शत्रुनाशक वीर्य सामर्थ्य से युक्त वह (मायाभिः) अपनी मायाओं से, ज्ञानशक्तियों से (दस्यून्) दुष्ट पुरुषों को भी (सं पिपेष) चूर्ण कर डालता है ।

राजा के पक्ष में—लोग इस समृद्ध राजा के बहुतसे पुण्य कर्मों की स्तुति करते हैं । वह पाप निवारक बल से पापाचारी पुरुषों को और (मायाभिः) ज्ञान कौशल से युक्त अद्भुत शक्तियों से दस्युओं को (संपिपेष) नाश करता है ।

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः ।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ॥७॥
ऋ० ३ । ३ । ४ । ७ ॥

भा०—(सत्पतिः) सत्पुरुषों का पालक, (चर्षणिप्राः) समस्त मनुष्यों की कामनाएं पूर्ण करने में समर्थ. (इन्द्रः) इन्द्र, परमेश्वर (युधा) युद्ध द्वारा जिस प्रकार राजा धन उत्पन्न करता उसी प्रकार (युधा) अपने समस्त विश्व के प्रेरक अथवा दुष्टों को प्रहार करने वाले (मह्ना)

महान् सामर्थ्य से (देवेभ्यः) समस्त दिव्य पदार्थों, विद्वानों, सत्पुरुषों के लिये (वरिवः चकार) सर्वोत्तम ऐश्वर्य उत्पन्न करता और उनको प्रदान करता है। (विवस्वतः अस्य) विविध ऐश्वर्यों से सम्पन्न सूर्य के समान तेजस्वी, इसके (सदने) शरण में, सुखरूप आश्रय में आये हुए (विप्राः) विद्वान् ज्ञानी (कवयः) क्रान्तदर्शी पुरुष (उक्थेभिः) नाना वेदमन्त्ररूप स्तुति वचनों से (तानि) उसके उन २ नाना कर्मों का (गृणन्ति) उपदेश करते हैं।

राजा के पक्ष में—सज्जनों का पालक, प्रजा के ऐश्वर्यवर्धक राजा युद्ध द्वारा भी देवों, विजिगीषु विद्वानों के लिये बहुत धनैश्वर्य उत्पन्न करता है। उस सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष को विद्वान्‌जन वेद-वचनों द्वारा नाना उपदेश करते हैं।

स॒त्रा॒साहं॒ वरे॑ण्यं सहो॒दां स॑स॒वांसं॒ स्व॑र॒पश्च॑ दे॒वीः ।
स॒सान॒ यः पृ॑थि॒वीं द्यामु॒तेमामिन्द्रं॑ मद॒न्त्यनु॒ धीर॑णासः ॥८॥
ऋ० ३ । ३४ । ८ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (पृथिवीम्) पृथिवी (उत द्याम्) और द्यौ, आकाश दोनों को (ससान) उचित रीति से सम्भोग करता और धारण करता है उस (सत्रासाहम्) एक ही अपने परम सामर्थ्य से सबको सहन करने वाले (वरेण्यम्) सर्वश्रेष्ठ, सबके वरण करने योग्य, (सहोदाम्) सबको बल देने वाले, अथवा अपने बल से सब की रक्षा करने वाले (स्वः) परम तेजोमय सूर्य आदि लोक और (देवीः च अपः) दिव्य गुण वाली या तेजोमय, क्रियाओं और प्रजाओं को (ससवांसम्) धारण करने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र-परमेश्वर को साक्षात् करके (धीरणासः) धीर, बुद्धिमान, ध्यानशील योगी पुरुष (अनु मदन्ति) उसके आनन्द रस के साथ स्वयं भी आनन्द अनुभव करते हैं।

राजा के पक्षमें-पृथिवी और आकाशस्थ दोनों लोकों को जो अपने वश करने में समर्थ हो ऐसे (सत्रासाहं) सेना के द्वारा शत्रु सेना के विजेता, सर्वश्रेष्ठ, बलशाली, पालक अपने बल से (देवीः अपः) युद्ध-विजयी प्रजाओं और अपने (स्वः) शत्रुतापक तेज को भोगने वाले राजा के अनुकूल होकर धीर पुरुष स्वयं सुख का भोग करते हैं।

ससानात्यॉं उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम् ।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥९॥
ऋ० ३ । ३४ । ९ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर हम जीवों को प्रथम (अत्यान्) गतिशील अश्वों के समान इन्द्रियों को (ससान) प्रदान करता है। (उत) और (सूर्यम् ससान) सूर्य, सूर्य के समान ज्ञानी पुरुष को या आत्मा को या प्रकाश को भी प्रदान करता है। वह (पुरुभोजसम् गाम्) नाना भोग्य पदार्थों से सम्पन्न गौ-गाय और पृथ्वी का भी (ससान) हमें प्रदान करता है। वह हमें (हिरण्यम्) हित और रमणीय, सुवर्ण आदि ऐश्वर्य और (भोगम्) भोग-भोग करने की शक्ति और भोग्य पदार्थ भी (ससान) प्रदान करता है और (दस्यून् हत्वा) नाशक दुष्ट पुरुषों को नाश करके (आर्यं वर्णं) श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि उत्तम कार्य करने वाले सच्चरित्र पुरुषों की (प्र अवत्) अच्छी प्रकार रक्षा करता है।

राजा भी—अपने प्रजा को उत्तम घोड़े, उत्तम विद्वान्, भूमि, गौ, हिरण्य, नाना भोग प्रजा को देता और उत्तम श्रेष्ठ वर्ण के आर्य पुरुषों की रक्षा करता है।

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीरसनोदन्तरिक्षम् ।
बिभेद बलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद् दमिताभिक्रतूनाम् ॥१०॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमात्मा (ओषधीः असनोत्) धान, जौ, और नाना रोगहारी ओषधियों को हमें प्रदान करता है। और वह (अहानि असनात्) हमें प्रकाश वाले दिन कार्य करने के लिये प्रदान करता है। और वह (वनस्पतीन् असनात्) बड़े २ वृक्षों, वनस्पतियों को प्रदान करता है। और वह हमें (अन्तरिक्षम् असनोत्) विहार करने के लिये अन्तरिक्ष और उसमें स्थित समस्त ऐश्वर्य प्रदान करता है वह परमेश्वर (वलम्) आत्मा को घेर लेने वाले अन्धकार को, मेघ को सूर्य के समान (विभेद) छिन्न भिन्न कर देता है और वह परमेश्वर (विवाचः) विविध वेदवाणियों को हमारे प्रति (नुनुदे) प्रेरित करता है। और वह (अभि क्रतूनाम्) कर्मों और ज्ञानों को साक्षात् करने वाले पुरुषों का (दमिता अभवत्) दमनकारी, शान्ति करने वाला है।

राजा के पक्ष में-वह प्रजाको ओषधि दे (अहानि) अत्याज्य कर्मों को उपदेश करे। वनस्पति और आकाश के भोग दे। घेरने वाले शत्रु का नाश करे। विपरीत वाणी के बोलने वाले को दूर करे और (अभिक्रतूनाम्) अपने विपरीत, अभिचार कर्म करने वाले आक्रामकों का दमन करे।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥१९॥

भा०—(वाजसातौ) ज्ञान, वीर्य के प्राप्त कराने वाले (अस्मिन् भरे) इस महान् यज्ञ, ब्रह्मोपासना के अवसर में हम लोग (शुनम्) सर्वोत्कृष्ट गुणवाले, सुखप्रद (मघवानम्) सर्वैश्वर्यवान्, (नृतमम्) सब पुरुषों में उत्तम, सर्वोत्तम नायक को (ऊतये) समस्त प्रजाओं की रक्षा के लिये उनकी प्रार्थनाओं को (शृण्वन्तम्) श्रवण करने वाले अथवा सर्वत्र श्रवण किये जाने हारे, स्तुति योग्य (उग्रम्) अति बलवान्, भयंकर, (समत्सु) योग

समाधि से उत्पन्न आनन्द-लाभ के अवसरों में (वृत्राणि) आत्मा के आवरण करने वाले अज्ञानों का (घ्नन्तं) विनाश करने वाले (धनानाम्) समस्त विभूति ऐश्वर्यों को (संजितम्) विजय करने वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर की (हुवेम) हम स्तुति करें।

राजा के पक्ष में—(नृतमं) सब पुरुषों में श्रेष्ठ, ऐश्वर्यशील, (शुनम्) अति शीघ्रकारी सेनापति को हम इस वीर्य लाभ कराने वाले (भरे) संग्राम में अपनी रक्षा के निमित्त (हुवेम) बुलावें । वह (समत्सु) संग्रामों में शत्रुओं के नाशक और धनों के विजेता को प्राप्त करें।

[१२] परमेश्वर का वर्णन

१–६ वसिष्ठः । ७ अत्रिर्ऋषिः । त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥१॥
ऋ० ७ । २३ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (श्रवस्या) श्रुति, वेद ज्ञान से युक्त (ब्रह्माणि) वेद मन्त्रों का (उद् ऐरत ३) नित्य उच्चारण करो और हे (वसिष्ठ) व्रत में उत्तम रीति से स्थित सर्वैश्वर्यवान् पुरुष ! तू (समर्ये) एकत्र सर्व पुरुषों के बीच में (महया) उसकी ही उपासना कर । (यः) जो (विश्वानि) समस्त बलों और पदार्थों को (शवसा) अपने बल से (आ ततान) व्यापता और रच कर विस्तृत करता है और (मे) मुझ (ईवतः) उपासक के समस्त (वचांसि) स्तुति वचनों को (उपश्रोता) श्रवण करता है ।

अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि ।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान् ॥ २ ॥
ऋ० ७ । २३ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! (देवजाभिः) समस्त विद्वान् देवों, दानशीलों और दिव्य शक्ति, वायु, जल, अग्नि आदि पदार्थों का (घोषः) घोष, निवास स्थान के समान ही तू (अयामि) सबको बांध रहा है। (विवाचि) विविध वाणियों से स्तुति करने योग्य (यत्) जिस तुझ में (शुरुधः) शीघ्र गतिशील प्राणों को रोकने हारे यही तपस्वी जितेन्द्रिय लोग (इरज्यन्त) बड़ी स्पर्द्धा से सेवा में लग्न हो जाते हैं। (जनेषु) इन उत्पन्न पुरुषों में से कोई भी पुरुष (स्वम् आयुः) अपने आयु को (नहि चिकिते) नहीं जानता कि कब वह मौत के मुंह में चला जाय, तो भी हे परमेश्वर ! तू (अस्मान्) हमें (तानि अंहांसि इत्) उन नाना प्रकार के पापों से भी (अति पर्षि) पार कर देता है।

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ॥३॥
ऋ० ७ । २३ । ३ ॥

भा०—मैं, साधक पुरुष (हरिभ्याम्) हरणशील, गतिमान्, लक्ष्य तक पहुंचाने वाले अश्वों के समान दोनों प्राण और अपान द्वारा अपने (गवेषण रथम्) गौ, इन्द्रियों को प्रेरणा करने में समर्थ रमण करने वाले रसरूप आत्मा को (युजे) योग समाधि द्वारा समाहित करता हूं। उसी (ब्रह्माणि जुजुषाणम्) समस्त वेदमन्त्रों को स्वयं मुख्य तात्पर्य रूप से एवं समस्त महान् बलों को स्वयं ग्रहण करते हुए परमेश्वर को सभी विद्वान् पुरुष (उप अस्थुः) उपासना करते हैं। (स्यः) वही (इन्द्रः) परमेश्वर (वृत्राणि) आवरणकारी अज्ञानों को (अप्रति) सदा के लिये (जघन्वान्) विनाश कर देने हारा है और वही (महित्वा) अपने महान सामर्थ्य से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों को (विबाधिष्ट) विविध रूपों से थामे हुए है।

आपश्चित् पिप्युस्तर्यो३न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥४॥

ऋ० ७ । २३ । ४ ॥

भा०—(चित् न) जिस प्रकार (स्तर्यः) विस्तृत पृथिवियें या गौवें (आपः) जलों को प्राप्त होकर (पिप्युः) वृद्धि को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार हे (इन्द्र) इन्द्र! परमेश्वर! (गावः) वेद वाणियें (आपःचित्) प्राप्तव्य तुझको प्राप्त होती हैं । और (जरितारः) स्तुति करने वाले उपासक जन (ते) तेरे (ऋतम्) सत्य ज्ञान और स्वरूप को (नक्षन्) प्राप्त होते हैं । (वायुः न) वायु जिस प्रकार (नियुतः) समस्त वेगों को प्राप्त है उसी प्रकार तू भी (नियुतः) समस्त बलों को (याहि) प्राप्त है । (त्वं हि) तू ही निश्चय से (धीभिः) अपने धारण बलों, कर्मों और ज्ञानों से (नः) हमें (वाजान्) अन्नों और बलों को (अच्छा वि दयसे) भली प्रकार विविध रूपों में प्रदान करता है अथवा (धीभिः) ध्यान स्तुतियों से संतुष्ट होकर (नः दयसे) हमारी रक्षा करता है ।

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ॥५॥

ऋ० ७ । २३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (ते मदाः) वे नाना तृप्तिकारी, हर्ष, सुखकारक आनन्दरस (शुष्मिणम्) सर्वशक्तिमान् (तुविराधसम्) बहुत ऐश्वर्यवान् (त्वा) तुझको (जरित्रे) स्तुतिकर्त्ता उपासक के संतोष के लिये (मादयन्तु) पूर्ण कर रहे हैं कि तू (देवत्रा) समस्त देवों के बीच (एकः) अकेला ही (मर्त्तान्) समस्त मरणधर्मा प्राणियों को (दयसे) रक्षा करता है । हे (शूर) सर्वशक्तिमन् ! तू ही (अस्मिन् सवने) इस संसार में (मादयस्व) सदा तृप्त रहने वाला है ।

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
स नः स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥
ऋ० ७ । २३ । ६ ॥

भा०—(वसिष्ठासः) समस्त उपासक, ज्ञानी पुरुष (वज्रबाहुम्) ज्ञान वज्र को अपने हाथ में लिये (वृषणं) सब सुखों के वर्षक, (इन्द्रम्) परमेश्वर को हाथ में खाण्डा लिये वीर्यवान् राजा के समान जानकर (एव इद्) इस प्रकार ही (अर्कैः) नाना स्तुतियों से (अर्चन्ति) अर्चना करते हैं । (सः) वह (स्तुतिः) स्तुति करने योग्य परमेश्वर (नः) हमें (वीरवत्) वीर पुत्रों से युक्त और (गोमत्) गौवों से युक्त धन और ऐश्वर्य को (धातु) प्रदान करे । हे पुरुषो ! (यूयम्) आप लोग (नः) हमें (सदा) सदा (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों और उपायों द्वारा (पात) पालन करो ।

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यंदिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥७॥
ऋ० ५ । ५० । ४ ॥

भा०—(ऋजीषी) समस्त अर्जन करने योग्य धन ऐश्वर्यों से सम्पन्न (वज्री) वज्रवान्, पाप और अज्ञान का वर्जन करने वाले, ज्ञान से युक्त (वृषभः) सुखों का वर्षक, (तुराषाट्) अति शीघ्रगामी, या हिंसक शत्रुओं का भी विजेता, (शुष्मी) बलवान्, (राजा) राजा के समान सबका महाराज, (वृत्रहा) आवरणकारी विघ्नों का नाशक, (सोमपावा) सोमरस के समान समस्त उत्पादक और प्रेरक बल का स्वयं धारक, (हरिभ्याम्) अपने धारण और आकर्षण बलों से (युक्त्वा) भीतर समाधि द्वारा युक्त होकर (अर्वाङ्) साक्षात् (उप यासत्) हमें प्राप्त हो और (इन्द्रः) वह इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु (मध्यन्दिने सवने) दिन के मध्य भाग दोपहर के

(सवने) काल में सूर्य के समान प्रखर कान्तिमान् होकर (भासत्) हमारे हृदयाकाश में भी पूर्ण प्रबल तेज से प्रकाशित हो।

[१३] राजा के राज्य की व्यवस्था।

क्रमशः वामदेवगोतमकुत्सविश्वामित्रा ऋषयः। इन्द्राबृहस्पती, मरुतः अग्निश्च देवताः। १, ३ जगत्यः। ४ त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्॥१॥
ऋ० ४।५०।१०॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहती-वेदवाणी के पालक, एवं बड़े भारी राष्ट्र के पालक विद्वान् और राजन्! हे इन्द्र! सेनापते! आप दोनों (वृषण्वसू) धनों ऐश्वर्यों का वर्षण करने हारे, एवं बलवानों को वास देने वाले हो: आप दोनों (अस्मिन् यज्ञे) इस महान् यज्ञ, राष्ट्र के व्यवस्था के कार्य में (मन्दसानौ) अति व्यग्र रहते हुए, या उसी में अपने को परम प्रसन्न रखते हुए (सोमं पिबतम्) सोम, शासन या राज्य पद का उपभोग करो। (सु-आभुवः) उत्तम रीति से, धर्मानुकूल, सब प्रकार से होने वाले, उत्तम (इन्दवः) ऐश्वर्य (वां) तुम दोनों को (आविशन्तु) प्राप्त हों। आप दोनों (अस्मे) हम राष्ट्रवासियों को (सर्ववीरं) समस्त वीर पुरुषों सहित या सर्व सामर्थ्यों से युक्त (रयिम्) ऐश्वर्य का (नियच्छतम्) प्रदान करो।

अध्यात्म में—इन्द्र, बृहस्पति,=परमेश्वर और विद्वान् आचार्य, इन्दवः= ज्ञानरस।

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः॥२
ऋ० १।८५।६॥

भा०—हे (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति वाले या शत्रुओं को मारने में समर्थ या विद्वान् वीर पुरुषो ! (वः) तुम लोगों को (रघुष्यदः) अति वेग वाले (सप्तयः) सर्पणशील अश्व (वहन्तु) सर्वत्र सवारी दें। और आप लोग (रघुपत्वानः) वेग से दौड़ते हुए (बाहुभिः) अपनी बाहुओं से और शत्रुओं को पीड़ा देने वाले अस्त्रों से (प्र जिगात) अच्छी प्रकार विजय करो या आगे बढ़ो। आप लोग (बर्हिः) आसनों पर, सिंहासन पर (सीदत) विराजें।(वः) आप लोगों के लिये (उरु सदः कृतम्) विशाल भवन बनाया जाय। आप लोग (मध्वःअन्धसः) मधुर अन्न आदि उपभोग्य पदार्थों से (मादयध्वम्) सदा तृप्ति लाभ करें।

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥३॥
ऋ० १। ९४। १॥

भा०—(अर्हते) पूजनीय (जातवेदसे) परमैश्वर्यवान्, वेदों के आदि उत्पत्ति स्थान परमेश्वर और विद्वान् पुरुष के लिये (रथम् इव) जिस प्रकार रथ को सजाया जाता है उसी प्रकार हम लोग (मनीषया) बुद्धि पूर्वक (इमम् स्तोमम्) इस स्तुति समूह को भी (सं महेम) भक्ति आदर पूर्वक सुसज्जित करें। (अस्य संसदि) इस विद्वान् और अग्रणी पुरुष की संसत्-राजसभा या सत्संग में (नः) हमारी (भद्रा) कल्याण मयी (प्रमतिः) उत्तम मति, मनन शक्ति हो। और हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् अग्रणी ! पुरुष या परमेश्वर ! या राजन् ! (तव सख्ये) तेरे मित्रभाव में रहते हुए (वयम्) हम लोग (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों।

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥४॥
ऋ० ३। ६। ९॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी, ज्ञानवन्! विद्वन्! राजन्! (एभिः) इन वीर पुरुषों सहित आप (सरथम्) अपने रथ से (वा) और (नाना रथं) नाना अन्य वीरों के नाना रथों से युक्त होकर (अर्वाङ् याहि) आगे प्रयाण कर। तेरे (अश्वाः) अश्व, अश्वारोही गण ही (विभवः) विशेष शक्तिशाली हों। तू (त्रिंशतं त्रीन् च) ३३ (देवान्) देव, विजिगीषु राजाओं को उनकी (पत्नीवतः) पालन करने हारी सेना या शक्तियों सहित या उनकी स्त्रियों सहित (अनुस्वधम्) उनके अपने भरण पोषणोचित धन अन्न आदि के अनुकूल उनको (वह) अपने साथ रख और उनको (मादयस्व) संतृप्त कर, सुखी प्रसन्न रख।

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

---

[१४] राजा का वर्णन

सौम्नीर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

व॒यमु॑ त्वाम॑पूर्व्य स्थू॒रं न कच्चि॒द् भर॑न्तोऽव॒स्यवः॑ ।
वाजे॑ चि॒त्रं ह॑वामहे ॥१॥   ऋ० ८ । २१ । १ ॥

भा०—हे (अपूर्व्य) अपूर्व्य, सदा नवीन, कभी पुराना न होने वाले नवागत अतिथि के समान सदा पूजनीय ! (वयम्) हम लोग (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले प्रजाजन (त्वाम् भरन्तः) तुझको अन्न आदि पदार्थों से भरण पोषण करते हुए ही (चित्रं) अति पूजनीय तुझ को (कच्चित् स्थूरं न) किसी स्थिर, बलवान् पुरुष के समान (वाजे) संग्राम में (हवामहे) तुझे पुकारते हैं।

उप॑ त्वा॒ कर्म॑न्नू॒तये॒ स नो॒ युवो॒ग्रश्च॑क्राम॒ यो धृ॒षत् ।
त्वामिद्ध्य॑वि॒तारं॑ ववृ॒महे॒ सखा॑य इन्द्र सान॒सिम् ॥२॥
ऋ० ८ । २१ । २ ॥

भा०—हे राजन् ! प्रभो ! (नः) हम में से (यः) जो (घृषद्) शत्रुओं को धर्षण करने में समर्थ और (उग्रः) अति बलवान् (युवा) सदा जवान, वीर्यवान् है (सः) वह तू है । हम लोग (त्वा) तुझको ही (कर्मन्) प्रत्येक कर्म में (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (त्वा उप) तेरे ही शरण जाते हैं । हम सब (सखायः) मित्र, परस्पर समान आख्यान या नाम रूप वाले, परस्पर के स्नेही पुरुष हे (इन्द्र) राजन् ! सेनापते ! (सानसिम्) सबको सब प्रकार के ऐश्वर्य, पदाधिकार और भूमि आदि का विभाग करने वाले (त्वाम् इत्) तुझको ही अपना (अवितारम्) रक्षक (ववृमहे) स्वीकार करते हैं ।

यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥३॥ ऋ० ८ । २१ । ९ ।

भा०—हे (सखायः) समान नाम, यश, कीर्त्ति वाले परस्पर स्नेही मित्रजनो ! (यः) जो (नः) हमें (इदन् इदन्) यह, यह नाना प्रकार के गौ, अश्व, सुवर्ण आदि नाना (वस्यः) अति उत्तम जीवनोपयोगी ऐश्वर्य (पुरा) सबसे पहले (प्र आनिनाय) अच्छी प्रकार प्राप्त कराता है, प्रदान करता है, (वः ऊतये) आप लोगों की रक्षा के लिये उसही (इन्द्रम्) इन्द्र राजा की मैं (स्तुषे) स्तुति करता हूं ।

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत ।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥४॥
ऋ० ८ । २१ । १० ॥

भा०—(हर्यश्वं) तेज अश्वों वाले (सत् पतिम्) सज्जनों के पालक (चर्षणीसहम्) सब मनुष्यों के वशकारी पुरुष के मैं गुण बतलाता हूं । (स हि स्म) वह वह है (यः अमन्दत) जो सदा हृष्ट, प्रसन्न और

सदा तृप्त रहता है, किसी के धन, स्त्री, जन पर लोभ नहीं करता और किसी पर रोष नहीं करता। (सः) वह (गव्यम् अश्व्यम्) गौ और अश्व आदि (शतम्) सैकड़ों धन (नः) हमें (स्तोतृभ्यः) स्तुति कर्त्ता लोगों को (आ वयति) प्राप्त कराता है, प्राप्त करने में सहायक होता है।

[१५] विद्युत् राजा और परमेश्वर

गोतमः ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । षड्टृचं सूक्तम् ।

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे ।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥१॥

भा०—मैं (मंहिष्ठाय) सबसे महान्, सबसे अधिक पूजनीय, (बृहते) सबसे बड़े, (सत्य-शुष्माय) सत्य के बल से युक्त, (तवसे) बलस्वरूप इन्द्र के (बृहद् रये) बड़े भारी वेग के सम्बन्ध में (मतिम्) ज्ञान का (प्रभरे) उपदेश करता हूं। (प्रणवे) नीचे की तरफ़ आते हुए (अपाम्) जलों के भारी बल के समान (यस्य) जिस इन्द्र का (दुर्धरम् राधः) दुर्धर, अदम्य, बल, तीव्र वेग, कार्य करने की शक्ति (विश्वायु) सब ओर को (शवसे) बल कार्य करने के लिये (अपावृतम्) प्रकट होती है।

इन्द्र, विद्युत् का वेग ऊंची पोटेंशेलिटी से नीची पोटेंशेलिटी को आते हुए इसी प्रकार बहुत अधिक होता है, जैसे ऊंचे स्थानों से नीचे स्थान को बहते हुए जलों का वेग प्रबल होता है उस विद्युत् के उस भारी वेग को वेद 'दुर्धर राधस्' कहता है। उसका प्रयोग सब प्रकार के बल कार्यों में प्रकट किया जा सकता है।

---

[१५] ऋग्वेदे सव्य आङ्गिरस ऋषिः ।

राजा के पक्ष में—उस महान्, सत्य पराक्रमी, बलशाली के बड़े वेग के कार्य के ज्ञानका उपदेश करता हूं। उसका (राधः) साधन बल भी जलप्रपात के समान अदम्य है। वह सबके बल के लिये प्रकट होता है। परमात्मा के पक्ष में भी स्पष्ट है।

अधं ते विश्वमनुं हासदिष्टय आपों निम्नेव सवंना हविष्मतः ।
यत् पर्वते न समशींत हर्यत इन्द्रंस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः॥२॥

भा०—पूर्वोक्त वेग को और भी स्पष्ट करते हैं। (हविष्मतः) ज्ञानवान् उपायज्ञ पुरुष के (सवना) सब कर्मों को जिस प्रकार (निम्ना आपः इव) नीचे की ओर बहने वाले जल सम्पादित करते हैं उसी प्रकार हे इन्द्र, विद्युत् ! (विश्वं) समस्त (इष्टये) इष्ट कार्य या प्रेरणा या गति प्राप्त करने के लिये (ते अनु ह असत्) तेरे ही अधीन तुझ पर निर्भर रहता है। अर्थात् वह तुझ पर निर्भर है। (यत्) क्योंकि (इन्द्रस्य) वेग से द्रवण अर्थात् तीव्रगति वाले विद्युत् का (हर्यतः वज्रः) अति कान्तिमान्, दीप्तिमय वज्र (पर्वते न) पर्वत मेघ पर तक भी (न सम् अशीत) रुकता, प्रत्युत वह (हिरण्ययः) प्रबल वेग और कान्ति से युक्त होकर (श्नथिता) सब पदार्थों को चूर्ण करने में समर्थ होता है। (हविष्मतः) उपायज्ञ पुरुष के सब गति, कर्म जिस प्रकार बहते जलों पर निर्भर हैं उसी प्रकार (इष्टये) प्रेरणा, या गति के लिये समस्त कार्य बिजुली पर भी निर्भर होते हैं। उसका वेग पर्वत पर भी रुक नहीं सकता, वह इतना अधिक होता है कि पदार्थों को तोड़ फोड़ देता है।

राजा के पक्ष में—ज्ञानी पुरुष के जैसे सब सवन, यज्ञ आदि कर्म आप्त पुरुषों के आश्रय पर होते हैं इसी प्रकार हे राजन् ! समस्त राष्ट्र अपने इष्ट प्रयोजन के लिये तुझ पर निर्भर है। इन्द्र का सर्व-चूर्णकारी

वज्र-बल पर्वत आदि की रक्षा पर भी नहीं रुकता, उसको भी तोड़ डालता है।

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे।
यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ॥३॥

भा०—हे ज्ञानी पुरुष (पनीयसे) व्यवहार में लाने योग्य (अस्मै भीमाय) इस अति भयंकर विद्युत् को (नमसा) वश करने के उपाय से (उषः न) दाहक अग्नि या तेज के समान (अध्वरे शुभ्रे सम् आभर) अहिंसाजनक, सौम्य, अति दीप्त, प्रकाश के कार्य में प्रयोग कर। (यस्य धाम) जिसका धारण सामर्थ्य या तेज (श्रवसे) शब्द श्रवण के कार्य के लिये और जिसका (नाम) उपाय से वश कर लेना (इन्द्रियम्) अति बलजनक है, (न[1]) और (हरितः अयसे) दिशाओं में फैलने के लिये (ज्योतिः अकारि) प्रकाश भी उत्पन्न किया जाता है। अर्थात् विद्युत् के प्रचण्ड शक्ति को उपाय से अग्नि के समान सौम्य प्रकाश में दूर शब्द श्रवण के कार्य में लाओ और उससे दूर तक पहुंचने वाले प्रकाश को भी उत्पन्न करो।

ईश्वर और राजा के पक्ष में—हे पुरुष! (उषो न शुभ्रे अध्वरे) उषाकाल के समान कान्तिमान्, तेजोमय अध्वर,=राष्ट्रपालन रूप कार्य में (पनीयसे भीमाय अस्मै) स्तुतियोग्य, भीम, पराक्रमी इस राजा को (नमसा आभर) अन्नादि सत्कार से पूर्ण कर। (यस्य धाम नाम इन्द्रियं श्रवसे) जिसका तेज, नमनकारी बल और राजोचित तेज सभी कीर्त्ति के लिये है। और (यस्य ज्योतिः हरितः न अयसे अकारि) जिसका प्रकाश मानो दिशाओं तक फैलने के लिये उत्पन्न होता है।

---

(३) 'उषो न शुभ्र' इत्र 'न' शब्दार्थः अनर्थकोवेति सायणः।

१. नश्चार्थः।

इमे तं इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद् वचः॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! परम ऐश्वर्यवन् ! हे (पुरुष्टुत) बहुतों से स्तुति किये गये या बहुत प्रकारों से वर्णित ! हे (प्रभूवसो) अति सामर्थ्यवान् वसो ! अति ऐश्वर्यवान् ! या अति सामर्थ्य रूप धन वाले ! (ये) जो लोग (त्वा आरभ्य चरामसि) जो तुझको आरम्भ करके, तुझको प्राप्त करके, तुझको मुखिया बनाकर विचरते हैं (ते) वे (इमे) ये (वयम्) हम (ते) तेरे ही उपासक तेरे सेवक हैं। हे (गिर्वणः) समस्त वाणियों के सेवन करने वाले ! (त्वत् अन्यः) तुझसे दूसरा कोई और (गिरः नहि सघत्) हमारी वाणियों को नहीं सहन करता, कोई नहीं प्राप्त करता। तू (क्षोणीः इव) पृथिवी निवासी प्रजाओं के समान या (क्षोणीः इव) पृथिवी के समान सहिष्णु होकर ही (नः) हमारे (तद्) उन २ नाना मधुर और कटु (वचः) वचनों को (प्रति हर्य) श्रवण कर। प्रजाएं राजा का आश्रय लेकर सब कार्य करें वह प्रजा के सब बुरी भली आलोचनाओं को सहे। ईश्वर का आश्रय लेकर हम सब कार्य करें। वह सबकी सुनने में समर्थ है। वह आश्रय रूप भूमि माता के समान हमारे वचन सुने।

भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ॥५॥
ऋ० १।५७।५॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! परमेश्वर ! (तव वीर्यम्) तेरा वीर्य, सामर्थ्य (भूरि) विपुल के समान ही महान् है। (तव स्मसि) हम तेरे ही हैं। तू हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (अस्य स्तोतुः) इस स्तुतिशील विद्वान् पुरुष के (कामम्) अभिलाषा को (आ पृण) पूर्ण कर। (ते वीर्यम्

अनु) तेरे ही बलपर (बृहती द्यौः) यह बड़ी भारी द्यौ, आकाश में स्थित तेजोमय सृष्टि (ममे) बनी है। और (इयं च पृथिवी) यह पृथिवी भी (ते ओजसे) तेरे ही पराक्रम के आगे (नेमे) झुकती है।

राजा, विद्युत्, ईश्वर सबके पक्ष में समान है।

त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्तिथ। अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः सत्रा विश्वं दधिषे केवलं सहः॥६॥

ऋ० १।५७।६॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् विद्युत् जिस प्रकार (तम् उरुम् पर्वतम्) उस महान् पर्वत या मेघ को खण्ड २ करती है उसी प्रकार तू (तम्) उस (महाम् उरुम् पर्वतम्) महान् विशाल नाना पर्वों खण्डों २ से बने शत्रु सैन्य को (वज्रेण) आयुध से (पर्वशः चकर्तिथ) खण्ड करके काट डालता है। और जिस प्रकार विद्युत् के प्रभाव से (निवृताः अपः) निकले या उत्पन्न हुए जल मेघ से नीचे आ गिरते हैं उसी प्रकार (निवृताः) सुसज्ज, (अपः) कर्मशील प्रजाओं को, सेना के पुरुषों को (सर्तवा) व्यवस्था में चलाने के लिये (अवासृजा) अपने अधीन रखता है। (सत्रा) सत्य है, कि (केवलं) केवल तू ही (विश्वं सहः) समस्त बल, समस्त शत्रु विजयशील बल को (दधिषे) धारण करता है।

यान्त्रिक विद्युत् पक्षमें—(निवृताः अपः) नियम में व्यवस्थित समस्त क्रियाओं को अपने (सर्त्तवे अवासृजः) अधीन चलाने के लिये प्रेरित करता है। और वह (सत्रा) एक ही साथ सब बल को स्वयं धारण करता है।

ईश्वर पक्ष में-वह ईश्वर अपने ज्ञानवज्र से (पर्वतम्) पर्वत के समान या मेघ के समान आच्छादक अज्ञान को नाश करता है। समस्त

ज्ञानों को आत्मा में प्रेरित करता है। वही सब (सहः) बल को एकमात्र धारण करता है।

[१६] परमेश्वर की उपासना और वेदवाणियों का प्रकाशित होना

अयास्य ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। त्रिष्टुभः। द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन् ॥१॥

ऋ० १० । ६८ । १ ॥

भा०—(उदप्रुतः) जलसे ऊपर उठकर एक साथ उड़ने वाले (रक्षमाणाः) अपनी जान बचाकर दौड़ते हुए (वयः न) पक्षी जिस प्रकार एक दम फड़ फड़ फड़ फड़ शब्द करते हुए उड़ते हैं और (वावदतः अभ्रियस्य घोषाः इव) निरन्तर गर्जना करते हुए मेघ समूह के घोष या गर्जना रव जिस प्रकार ध्वनि करते हैं और (गिरिभ्रजः ऊर्मयः न) पर्वत से या मेघ से झरने वाले जलधारा, नद, नाले जिस प्रकार ध्वनि करते हैं उसी प्रकार (अर्काः) अर्चना, स्तुति करने वाले वेद मन्त्र या अर्चनशील विद्वान् पुरुष, समस्त मिलकर वेद ध्वनि करते हुए (मदन्तः) अति हृष्ट होकर (बृहस्पतिम्) बृहती, वेद वाणी और महती शक्ति के पालक परमेश्वर को (अभि अनावन्) साक्षात् स्तुति करते हैं।

राजा के पक्ष में—(अर्काः) राजा के स्तुतिकर्त्ता लोग उसी प्रकार (बृहस्पतिम्) बृहत् राष्ट्र के पालक की स्तुति करते हैं।

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥२॥

ऋ० १० । ६८ । २ ॥

भा०—(आङ्गिरसः) ज्ञानी विद्वान् पुरुष, अथर्ववेद का विद्वान् (गोभिः) वाणियों द्वारा अथवा (गोभिः) पृथिवी निवासी जनों के सहित (नक्षमाणः) फैलता हुआ, राष्ट्र का विस्तार करता हुआ (भगः इव इत्) ऐश्वर्यवान् पुरुष के समान ही (अर्यमणम्) न्यायकारी राजा को (निनाय) सन्मार्ग पर चलाता है। (जने) जन-समूह या लोगों में (मित्रः न) वह विद्वान् पुरुष स्नेही मित्र के समान (दम्पती) स्त्री पुरुषों को (अनक्ति) ज्ञानोपदेश से प्रकाशित करता है। हे (बृहस्पते) वेद के विद्वान्! तू (आजौ) संग्राम में (आशून् इव) शीघ्रगामी रथों और अश्वों और वेगवान् सैनिकों के समान समस्त राष्ट्र वासियों को (वाजय) सन्मार्ग में प्रेरित कर।

विद्वान् पुरुष धनाढ्य के समान ही राजा को लक्ष्य तक पहुंचाता है। वह स्त्री पुरुषों को ज्ञानवान् करता है। वह सबको सेनापति या सारथी समान के सबको सन्मार्ग पर लेजाता है।

अध्यात्म में-(अंगिरसः) अंग=शरीर में रहने वाला प्राण (गोभिः) अपने में व्याप्त होकर (भग इव) अन्न के समान ही (अर्यमणम्) स्वामी आत्मा को चलाता है। मित्र के समान (दम्पती) पति पत्नी रूप प्राण अपान दो, आंख दो, नाक दो, कान दो, जिह्वा और रसना दो, गुदा और लिङ्ग दो इन सब युगलोंको जीवित रखता है और सबको सारथी बनाकर घोड़ों के समान चलाता है।

साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः॥३॥
ऋ० १० । ६८ । ३॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति, वायु, जिस प्रकार (पर्वतेभ्यः) पर्वत अर्थात् मेघों से (गाः वितूर्य) गमन करने वाली जलधाराओं को नि-

काल कर उनमें (यवन् निः ऊपे) यव=जव अर्थात् वेग को स्थापित करता है । और (बृहस्पतिः) जिस प्रकार बृहस्पति मन या मुख्य प्राण (पर्वतेभ्यः) पर्व वाले शरीर के अंगों से (गाः) इन्द्रियों को (विदूर्य) वेग से बाहर करके उनमें (स्थिविभ्यः) स्थिर पदार्थों के ग्रहण के लिये (यवन्) ज्ञान ग्रहण करने वाले सामर्थ्य को स्थापित करता है, उसी प्रकार (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक पुरुष (गाः) गमन करने योग्य, भोगयोग्य (साधु-अर्याः) उत्तम स्वामिनी होने वाली (अतिथिनीः) अतिथि के समान पूज्यवरों को प्राप्त होने वाली (स्पार्हाः) स्पृहा या कामना के योग्य, सुन्दर, मनोहर, (सुवर्णाः) उत्तम रूपवती कन्याओं को (पर्वतेभ्यः) पालन पोषण करने हारे माता पिताओं या गृहस्थों से (विदूर्य) पृथक् करके (स्थिविभ्यः) स्थिर, स्थायी, जितेन्द्रिय पुरुषों को प्रदान कर उन द्वारा (यवन् निः ऊपे) उनमें बीज आधान कराता और उसी प्रकार सन्तान उत्पन्न कराता है । जिस प्रकार (गाः यवन् इव) पृथिवियों पर जौ आदि अन्न उत्पन्न किया जाता है ।

अर्थात् अगली सन्तति के लिये युवती कन्याओं को योग्य वरों के द्वारा गृहस्थ कार्य में युक्त करना भी बृहस्पति, वेद के विद्वान् पुरुष का कर्त्तव्य है ।

विद्वान् आचार्य के पक्ष में—बृहस्पति वेद का विद्वान (साध्वर्याः) साधु रीति से ज्ञान करने योग्य, (अतिथिनीः) आत्मा या परमेश्वर तक पहुंचाने वाली, सुन्दर शुभ वर्णों वाली, अनिन्द्य, पवित्र (गाः) वेदवाणियों के (पर्वतेभ्यः) पर्व वाले, ज्ञान का पालन करने में समर्थ ग्रन्थों या विद्वानों से (विदूर्य) प्राप्त करके (स्थिविभ्यः) स्थिर, व्रतपालक शिष्यों के लिये उनको (निः ऊपे) यथावत् बीज वपन के समान उपदेश करता है ।

राजा के पक्ष में—वेद का विद्वान् पुरोहित पर्वत के समान ऊंचे राजाओं के हाथों से (गाः) प्रजाओं को निकालकर (स्थिविभ्यः) स्थिर निवासियों के लिये उनमें (यवम् निः ऊपे) यव अर्थात् राष्ट्र शक्ति का आधान करता है । राष्ट्रं वै वयः । तै० २ । ६ । ३ । ७ ॥

आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥४॥
ऋ० १० । ६८ । ४ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति=वायु जिस प्रकार (मधुना) जल से (आप्रुषायन्) भूमि को सींचता हुआ (ऋतस्य योनिम्) ऋत=जल के आश्रय मेघ को नीचे (अवक्षिपन्) फेंकता हुआ और (गाः) जलों को (अश्मनः) व्यापक मेघ से पृथिवी पर गिराता हुआ (भूम्याः त्वचं बिभेद) भूमि की त्वचा को भेद देता है । उसी प्रकार विद्वान् (अर्कः) अर्क, सूर्य के समान प्रकाशमान, पूजनीय पुरुष (मधुना) सत्य ज्ञान से पूर्ण करता हुआ और (द्योः) आकाश से (उल्काम् इव) गिरती हुई उल्का के समान (ऋतस्य योनिम्) ऋत=यज्ञ के मूल कारण वेद को (अवक्षिपन्) शिष्य को प्रदान करता हुआ और (अश्मनः) व्यापक परमेश्वर के पास से (गाः उद्धरन्) वेद-वाणियों को प्राप्त करता हुआ (उद्ना भूम्याः त्वचम् इव) जिस प्रकार जल से भूमि की त्वचा को फोड़ कर उसको सींचा जाता है उसी प्रकार (मधुना) ज्ञान से अपने शिष्य की हृदय-भूमि के (त्वचम्) आवरण, अज्ञान को (विभेद) नाश करता है ।

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत् ।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥५॥
ऋ० १० । ६८ । ५ ॥

भा०—और जिस प्रकार (वातः) प्रचण्ड वायु (उद्नः) जल के पृष्ठ से (शीपालम् इव आजत्) सैवाल को फाड़कर दूर कर देता है। उसी प्रकार (बृहस्पतिः) महान् सूर्य आदि लोकों का पालक, बृहती वेद वाणी का स्वामी परमेश्वर (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष में से (ज्योतिषा) ज्योतिःस्वरूप सूर्य के प्रकाश से (तमः आजत्) अन्धकार को दूर करता है। और जिस प्रकार (वातः) वायु ही (वलस्य) आवरणकारी मेघ को (अनुमृश्य) छिन्न भिन्न करके (गाः आ चक्रे) सूर्य की किरणों को सर्वत्र फैलने देता है उसी प्रकार (बृहस्पतिः) महती शक्ति और वेद वाणी का पालक विद्वान् (वलस्य) आवरणकारी तामस आवरण को (अनुमृश्य) अपने ज्ञानबल से विवेक द्वारा छिन्न भिन्न करके (गाः) वेद वाणियों को (आ चक्रे) प्रकट करता है उनको फैलाता है, उनको सर्वत्र उपदेश करता है।

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥६॥

भा०—(यदा) जब (पीयतः) विनाशकारी (वलस्य) आवरणकारी तमस् के (जसुं) नाशकारी प्रभाव को (अग्नि-तपोभिः) अग्नि के समान तापकारी तपश्चर्या और (अर्कैः) ज्ञानमय किरणों से (बृहस्पतिः) महती शक्ति और वेद का विद्वान् (भेद) तोड़ डालता है तब (न) जिस प्रकार (जिह्वा) जीभ (दद्भिः) दांतों द्वारा (परिविष्टम्) परोसे या, खूब चिथे, चबाये अन्न को (आदद्) ग्रस लेती है उसी प्रकार वह विद्वान् ज्ञानी पुरुष भी अपने तेजो युक्त तपश्चर्या युक्त ज्ञानों से तामस बल को नाश करके (उस्रियाणाम्) स्वयं ऊपर प्रकट होने वाली, हृदय में उठने वाली वेद वाणियों के (निधीन्) छुपे ज्ञान भण्डारों को (आविः अकृणोत्) साक्षात् कर लेता है।

सूर्य पक्ष में—(बृहस्पतिः) सूर्य (अग्नितपोभिः अर्कैः) अग्नि के द्वारा तापक किरणों से (पीयतः वलस्य जमु भेद) नाशकारी मेघ के बल को तोड़ता है और अपनी (उस्रियाणां निधीन् आविः अकृणोत्) रश्मियों के ख़ज़ाने को प्रकट करता है। इसी प्रकार परमेश्वर (अर्कैः) वेद मन्त्रों द्वारा अज्ञान का नाश करता और वेदवाणियों के ज्ञान ख़ज़ानों को प्रकट करता है।

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥७॥

ऋ० १०। ६८। ७॥

भा०—(यत्) जब (बृहस्पतिः) वेदज्ञ विद्वान् (गुहासदने) गुप्त हृदय, गुफा रूप आश्रयस्थान में (आसां स्वरीणां) ज्ञानमय शब्द, रूप इन वेद-वाणियों के (तत्) उस परम (नाम) स्वरूप को (अमत) जान लेता है तब (शकुनस्य आण्डा इव) पक्षी के अण्डों को (भित्त्वा) फोड़कर जिस प्रकार (गर्भम्) भीतर के गर्भ में स्थित कच्चे बच्चे को पक्षिणी माता बाहर निकाल लेती है उसी प्रकार वह विद्वान् भी (पर्वतस्य) उस पूर्ण सामर्थ्य वाले परमेश्वर के भीतर (त्मना) अपने आत्मसामर्थ्य से प्रवेश करके उसके प्रकाशमय ज्ञान से पूर्ण वेदवाणियों को (उद् आजत्) प्राप्त कर लेता है।

कुरान में कुरान को आयतों को पर्वत की गुफा (लामहफूज़) में से प्राप्त करने का जो वर्णन है वह इसी की छाया है।

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥८॥

ऋ० १०। ६८। ८॥

भा०—(दीने उदनि) थोड़े से जल में (क्षियन्तम् मत्स्यं न) निवास करने वाली मछली को जिस प्रकार लोग देख लेते हैं उसी प्रकार (बृहस्पतिः) महान् वेदज्ञ, वेदवाणी का पालक विद्वान् पुरुष भी (अश्ना) व्यापक परमात्मा से (अपिनद्धम्) ढके हुए (मधु) ज्ञानरूप मधु को (परि अपश्यत्) सब प्रकार से साक्षात् करता है। और जिस प्रकार (वृक्षात्) वृक्ष के लकड़ से (विकृत्य) औज़ारों से काट २ कर (चमसं न) कारीगर पात्र को (निः जभार) निकाल लेता है उसी प्रकार (बृहस्पतिः) वेदज्ञ विद्वान् (विरवेण) विशेष शब्द विज्ञान द्वारा (विकृत्य) वेदमन्त्रों की विविध व्याख्या करके (तत् मधु) उस परम ज्ञान को (निजभार) निकाल लेता है।

विद्वान् पुरुष वेदों से किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है उसका प्रकार इस मन्त्र में दर्शाया है।

सोषामविन्द॒त् स स्वः॒ सो अ॒ग्निं सो अ॒र्केण॒ वि ब॑बाधे॒ तमां॑सि।
बृह॒स्पति॒र्गोव॑पुषो व॒लस्य॒ निर्म॒ज्जानं॒ न पर्व॑णो जभार ॥६॥

भा०—(सः) वह (उषाम्) अज्ञान के दाह कर देने वाली प्रातः प्रभा के समान दीप्ति को प्राप्त करता है। (सः स्वः) वह प्रकाशस्वरूप सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करता है। (सः) वह (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का साक्षात् करता है। वह (अर्केण) सूर्य से (तमांसि) अन्धकारों का (वि) विविध प्रकार (बबाधे) विनष्ट करता है। वह (बृहस्पतिः) वाणी का पालक विद्वान् ब्रह्मज्ञानी (गोवपुषः) वाणियों के आच्छादन करने वाले या वाणीस्वरूप (वलस्य) शब्दमय, आवरणकारी अज्ञान को नाश करके (पर्वणः मज्जानं न) हड्डी के जोड़ से जिस प्रकार मज्जा धातु को मांसाहारी निकालता है उसी प्रकार वह उसके

(पर्वशः) एक २ पर्व, खण्ड से (मत्-जानं=मत् ज्ञानम्) आत्मज्ञान को (निः जभार) प्राप्त करता है ।

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिना कृपयद् वलो गाः ।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥१०॥

भा०—(हिमा इव) हिम से या पाले से जिस प्रकार (वनानि पर्णा) वनों के पत्र (मुषिता) नष्ट होजाते हैं, उसी प्रकार (बृहस्पतिना) बृहस्पति, वाणी के तत्वज्ञ विद्वान् द्वारा (वनानि) प्राप्त करने योग्य (गाः) गौ वेदवाणियों से (पर्णा) ज्ञान (मुषिता) हर लिये जाते हैं और उस द्वारा (वलः) उन ज्ञानों का आवरणकारी 'वल' या उसका शब्द मय स्थूल रूप (अकृपयत्) उन ज्ञानों को प्राप्त करने में समर्थ होता है, उन ज्ञानों को प्रदान करता है । इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ज्ञान ग्रहण करके (अनानुकृत्यम्) अन्यों से न किये जाने योग्य ऐसे दुष्कर कर्म को (अपुनः चकार) बार २ नहीं करता, प्रत्युत एक ही बार करता है । और उसके आगे (यात्) जिसके आधार पर (सूर्यामासा) सूर्य और चन्द्रमा के समान गुरु और शिष्य (मिथः) परस्पर एकत्र होकर (उत् चरातः) ज्ञान का उपदेश करते और अभ्यास किया करते हैं । सृष्टि के आदि में एक बार वेदवाणियों का ब्रह्मज्ञानी के हृदय में प्रकाश होकर फिर गुरु परम्परा से वेदज्ञान फैलता है, इस सिद्धान्त को वेद स्वयं बतलाता है ।

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
राम्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ॥११॥

भा०—लोग (श्यावं अश्वं न) जिस प्रकार श्याम अश्व को (कृशनैः) आभूषणों, कौड़ी मोती आदियों की मालाओं से सजाते हैं उसी प्रकार (पितरः) संसार की पालक शक्तियां (द्याम्) आकाश को

(नक्षत्रेभिः) नक्षत्रों से (अपिंशन्) स्थान २ पर सुसज्जित करती हैं। वे (राज्यां तमः अदधुः) रात्रि के अवसर पर अन्धकार को स्थापित करते हैं और (अहन् ज्योतिः) दिन के समय सूर्य को रखते हैं। (बृहस्पतिः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष (अद्रिम्) अभेद्य आवरण, अन्धकार को तोड़ता है और (गाः) ज्ञानवाणियों को (विदद्) प्राप्त करता है।

प्रजापतिः असुरान् सृष्ट्वा पितेवामन्यत । तदनुपितॄनसृजत तत्पितॄणां पितृत्वम् ॥ तै० २ । ३ । ८ । २ ॥

अथवा—(पितरः) राष्ट्र के पालक लोग (न) जिस प्रकार (श्यावं अश्वं कृशनेभिः अपिंशत्) श्याम अश्व को नाना सीप, शंख, मुक्ताओं द्वारा भिन्न २ अंगों में सजाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान के पालक लोग (नक्षत्रेभिः) नक्षत्रों से (द्याम्) विशाल आकाश को (अपिंशन्) खण्ड २ करके विभक्त कर लेते हैं। और वे (तमः) अन्धकार को (राज्यां अदधुः) रात्रिकाल में उसके लक्षण रूप से नियत करते हैं (ज्योतिः अहन्) प्रकाश के दिन का लक्षण बतलाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी पुरुष (अद्रिम्) अखण्ड तामस आवरण को भेद कर (गाः विदद्) ज्ञानवाणियों को प्राप्त करता है।

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति ।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो
वयो धात् ॥ १२ ॥

भा०—(यः) जो (पूर्वीः) सबसे पूर्व प्राप्त अथवा ज्ञान से पूर्ण वेदवाणियों को (अनु) यथाक्रम (आनोनवीति) साक्षात् करके उपदेश करने में समर्थ है उस (अभ्रियाय) मेघ के समान सबको ज्ञानरूप जल वितरण करने में समर्थ ज्ञानी पुरुष को (इदं नमः) यह इस प्रकार से हम

आदर सत्कार (अर्कम्) करें, (सः हि) वही निश्चय से (बृहस्पतिः) वेदवाणियों का पालक होकर हमें (गोभिः) गौओं, (अश्वैः) घोड़ों, (वीरेभिः) वीर पुरुषों या वीर्यवान् पुत्रों और (नृभिः) अन्य सेवक पुरुषों या नेता पुरुषों सहित राष्ट्र में (वयः) अन्न, वीर्य, ज्ञान और कर्म (धात्) धारण करता है ।

[१७] परमेश्वरोपासना ।

१–१० कृष्ण ऋषिः । १२ वसिष्ठः । इन्द्रो देवता । १–१० जगत्यः । ११,१२ त्रिष्टुभौ । द्वादशर्चं सूक्तम् ।

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥१॥
ऋ० १० । ४३ । १ ॥

भा०—(उशतीः) कामनायुक्त (जनयः) स्त्रियें (यथा) जिस प्रकार (शुन्ध्युम्) शुद्ध, सुन्दर (मर्यं) मनुष्य को (पतिम्) पतिरूप से प्राप्त करके (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (परिष्वजन्ते) आलिङ्गन करती हैं, उसका आश्रय लेती हैं उसी प्रकार (सध्रीचीः) एक ही साथ समान अर्थ को कहने वाली, (उशतीः) कामनाओं, अभिलाषाओं वाली (स्वर्विदः) सुखमय परमात्मा को प्राप्त करने वाली (विश्वाः) समस्त (मे मतयः) मेरी ज्ञानमय वाणियें (मघवानम्) ऐश्वर्यवान् उस (इन्द्रम्) परमेश्वर की (अनूषत) स्तुति करती हैं ।

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रय ।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते ॥२॥

भा०—हे इन्द्र ! हे (पुरुहूत) समस्त प्रजाओं द्वारा पुकारे गये सबके स्तुत्य परमेश्वर ! (मे मनः) मेरा मन (त्वद्रिग्) तेरी तरफ

जाकर फिर (न घ अप वेति) तुझसे दूर नहीं जाता । (त्वे इत्) तुझमें ही (कामम्) समस्त इच्छा मनोरथ कामनाओं और आशाओं को (शिश्रय) रख देता है । हे (दस्म) दर्शनीय ! अनुपम सुन्दर ! (अधि बर्हिषि) आसन या प्रजाके पर जिस प्रकार (राजा इव) राजा विराजता है उस प्रकार (अस्मिन् बर्हिषि) इस महान् ब्रह्माण्ड में तु (अधि निषदः) अधिष्ठाता रूप से विराजता है । (अस्मिन् सोमे) इस महान् संसार में ही या इस सोमस्वरूप आत्मा में ही (ते) तेरा (अवपानम् अस्तु) अवपान तृप्ति-कारक ज्ञानरस प्राप्त हो ।

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते ।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर मेघ के समान (अमतेः) दारिद्र्य और (क्षुधः) भूख का भी (विषूवृत्) सब प्रकार से नाश करने हारा है । (स इत्) वह ही (मघवा) धनैश्वर्य सम्पन्न (वस्वः) प्रजा को बसाने वाले (रायः) धनैश्वर्य का (ईशते) स्वामी है । (इमे सप्त) ये सात (सिन्धवः) गतिशील महान् शक्तियें, ५ भूत, महान् और अहंकार· ब्रह्माण्ड में सात वायुएं, शिर में ७ प्राण (प्रवणे) निम्न स्थान में (तस्य) उस (शुष्मिणः) बलशाली (वृषभस्य) सब सुखों के वर्षक परमेश्वर की (इत्) ही (वयः) शक्ति को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं ।

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः ।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद् विदत् स्व१र्मनवे ज्योतिरार्यम् ॥४॥

ऋ० १० । ४३ । ४ ॥

भा०—(न) जिस प्रकार (सुपलाशम्) सुन्दर हरे भरे पत्तों वाले (वृक्षम्) वृक्ष पर (वयः) पक्षीगण (आसदन्) आकर बैठते हैं उसी

प्रकार (सुपलाशम्) उत्तम पालन सामर्थ्य से युक्त (इन्द्रम्) इन्द्र का (चमूषदः) सेनाओं में अच्छे २ पदों पर विराजमान (मन्दिनः) सुप्रसन्न (सोमासः) सैनिकों को प्रेरणा करने हारे नेता पुरुष (आसदन्) आश्रय लेते हैं । (एषाम्) इनका (अनीकम्) बना हुआ सेनादल (शवसा) बल वीर्य से (प्र दविद्युतत्) खूब प्रकाशित होता है । और (मनवे) मननशील पुरुष को (स्वः) सुखकारक (आर्यम् ज्योतिः) श्रेष्ठ ज्योति, प्रकाश, द्रव्य, ऐश्वर्य (विदत्) प्राप्त कराता है ।

जीव ब्रह्म पक्ष में—वृक्ष पर जिस प्रकार पक्षी विराजते हैं उसी प्रकार (इन्द्रं) परमेश्वर का आश्रय लेकर (चमूषदः) ब्रह्मास्वाद में निरत (मन्दिनः) आनन्दरस से तृप्त (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले मुक्तजीव आ विराजते हैं । (एषाम् अनीकं शवसा दविद्युतत्) उनका मुख या स्वरूप शव=ज्ञान से प्रकाशित होता है । वह (मनवे) मननशील पुरुष को (आर्यम् ज्योतिः) सर्वश्रेष्ठ ज्योति का (विदत्) लाभ कराता है ।

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् ।
न तत् ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन् नोत नूतनः ॥५॥

ऋ० ४३ । १० । ५ ॥

भा०—(देवने) जूए के खेल में (श्वघ्नी) अपना धन नाश करने वाला जुआखोर पुरुष (कृतं न) जिस प्रकार 'कृत' नाम के पासे को (वि चिनोति) विशेष रूप से प्राप्त करता है उसी प्रकार (यत्) जब (मघवा) ऐश्वर्यवान् प्रभु (संवर्गम्) सबको अपने साथ मिलाये रखने वाले (सूर्यम्) सूर्य को (जयत्) अपने वश करता है (तत्) तब (ते) तेरे उस (वीर्यम्) वीर्य को, हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (न पुराणः) न कोई पुरातन (न उत नूतनः) और न कोई नवीन पुरुष ही (अन्यः) दूसरा, तेरा विपरीतगामी (अनु शकत्) जीत सकता है ।

राजा के पक्ष में—जुआरी जिस प्रकार सर्वविजयी कृत नाम के पासे को प्राप्त करता है । हे इन्द्र ! राजन् ! जब तू भी (संवर्गं सूर्यम्) सबको एकत्र मिलाये रखने में समर्थ, सूर्य के समान तेजस्वी सेनापति या विद्वान् पुरुष को (जयत्) प्राप्त कर लेता है तब न कोई पुराना और न कोई नया ही (ते अन्यः) तेरा शत्रु (ते तद् वीर्यं अनु शकत्) तेरे उस वीर्य पराक्रम का मुक़ाबला कर सकता है ।

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥६॥
ऋ० १० । ४३ । ६ ॥

भा०—(मघवा) वह परमैश्वर्यवान् राजा के समान (विशं विशं परि अशायत) प्रत्येक प्रजा को प्राप्त होता है । वह (वृषा) सब सुखों का सब रसों का वर्षक, मेघ के समान (जनानां) सब मनुष्यों की (धेनाः) स्तुतियों को (अवचाकशत्) सुनता, प्राप्त करता और उनपर दृष्टि रखता है । (यस्य सवनेषु) जिसके युद्ध के अवसरों में (शक्रः) वह शक्तिशाली परमेश्वर, सेनापति के समान (रण्यति) रमण करता है (सः) वह (तीव्रैः सोमैः) तीव्रगामी, सहायक विद्वान् के समान तीव्रज्ञान रसों से (पृतन्यतः) सेना द्वारा आक्रमण करने वाले शत्रुओं के समान भीतरी शत्रुओं को (सहते) वश कर लेता है, उनपर विजय पाता है ।

आपो न सिन्धुमभि यत् समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्या इव ह्रदम् ।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥७॥
ऋ० १० । ४३ । ७ ॥

भा०—(सिन्धुम् अभि) समुद्र के प्रति (आपः न) जिस प्रकार जलसे भरी नदियां (समक्षरन्) बहती हैं और जिस प्रकार (ह्रदम् इव) बड़े भारी ताल में (कुल्याः इव) छोटी २ जलधाराएं आकर पड़ती हैं ।

इसी प्रकार (यत्) जब (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले विद्वान् मुमुक्षु जीव (इन्द्रम् अभि सम् अक्षरन्) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु परमेश्वर की शरण आते हैं तब वे (विप्राः) विद्वान् जन आनन्द से विशेप रूप से पूर्ण होकर (अस्य) इसके (सादने) शरण में जाकर उसकी ही (महः) कीर्त्ति को (वर्धन्ति) ऐसे बढ़ाते हैं जैसे (वृष्टिः) वर्षा (दिव्येन दानुना) आकाश से आये जल से (यवं न) जौ को बढ़ाया करती है।

राजा के पक्ष में—(सोमासः) विद्वान् लोग (यत् इन्द्रम् समक्षरन्) जब ऐश्वर्यवान् राजा के पास आते हैं तो वे (अस्य सादने महः वर्धन्ति) उसके शरण में आकर यश और महान् सामर्थ्य की वृद्धि करते हैं।

वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥८॥

ऋ० १०।४३।८॥

भा०—(यः) जो इन्द्र परमेश्वर (क्रुद्धः वृषा न) गुस्से में आये हुए महा वृषभ के समान अति वेगवान् होकर (रजःसु) समस्त लोकों में (आपतयत्) व्याप्त हो रहा है और उनको तीव्रगति से चला रहा है और (यः) जो (इमाः अपः) इन समस्त लोकों को या इन समस्त (अपः) प्रकृति की व्यापक शक्तियों को (अर्यपत्नीः अकृणोत्) स्वामी की पत्नियों के समान परमेश्वर स्वयं स्वामीरूप होकर उनको अपनी पालक शक्तियां बना लेता है। (सः) वह (मघवा) परमैश्वर्यवान् (सुन्वते) स्तुति करने हारे (जीरदानवे मनवे) मननशील (हविष्मते) ज्ञानवान् (जीरदानवे) जीव को (ज्योतिः) परम ज्ञानमय ज्योतिः अर्थात् अपने प्रकाशमय स्वरूप का (अविन्दत्) लाभ कराता है।

राजा के पक्ष में—(यः रजःसु क्रुद्धः वृषा न आपतयत्) जो देश देशान्तरों पर क्रुद्ध हुए बैल के समान भीषण होकर चढ़ाई करता है और (अपः अर्यपत्नीः अकृणोत्) आप्त प्रजाओं को एक स्वामी की स्त्रियों के समान

भोग्य प्रजाएं, अथवा एक ही स्वामी या प्रभु को पालने वाली विशाल राष्ट्र शक्ति में संगठित कर देता है (सः) वह (सुन्वते) अपना अभिषेक करने वाले (हविष्मते) अन्न आदि को कर रूप से देने वाले (जीरदानवे) चेतनाशील (मनवे) मानव समाज को (ज्योतिः अविन्दत्) परम ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

उज्जा॑यतां पर॒शुर्ज्योति॑षा स॒ह भू॒या ऋ॒तस्य॑ सु॒दुघा॑ पुराण॒वत् ।
वि रो॑चताम॒रुषो॑ भा॒नुना॒ शुचिः॒ स्व१॒॑र्ण शु॒क्रं शु॑शुचीत॒ सत्प॑तिः ॥६॥

ऋ० १० । ४३ । ९ ॥

भा०—(परशुः) आत्मा से पर, दूसरे, अन्य अनात्म पदार्थों को काटने में समर्थ ज्ञानरूप वज्र (ज्योतिषा सह) अपने वास्तविक आत्म-प्रकाश के साथ (उत् जायताम्) उदित हो । अर्थात् आत्मा के प्रकाश के साथ २ ज्ञान का उदय हो । और (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (सुदुघा) अच्छे प्रकार देने वाली ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा (पुराणवत्) अति प्राचीन, सबसे पुराण पुरुष परमेश्वर के समान शुद्ध होकर (सह) उसके साथ (भूयाः=भूयात) तन्मय होकर रहे । और (अरुषः) दीप्तिमान् (शुचिः) शुद्ध आत्मा (भानुना) दीप्ति से या भासमान ज्ञान के प्रकाश से (विरोचताम्) विशेष रूप से चमके । (सत्पतिः) सत्, स्वरूप ब्रह्म-ज्ञान का पालक होकर (स्वः न) आदित्य के समान (शुक्रम्) अपने शुद्ध, दीप्तिमय स्वरूप को (शुशुचीत) और भी उज्ज्वल करे ।

राजा के पक्ष में—(परशुः[1]) शत्रुओं को काटने वाला बल (ज्योतिषा सह उत् जायताम्) पराक्रम या तेज के साथ उदय हो, उठे, बढ़े । (ऋतस्य सुदुघा) सत्य व्यवहार को, यज्ञमय राष्ट्र को अच्छी प्रकार दोहने

---

१. परान् शृणाति इति परशुः, इति दण्डनाथ वृत्तिः । परान् स्पृशतीति परशुः इति क्षीरस्वामी । आङ्परयोःखनिशृभ्यांडिच्च, इत्यादिकाक्ष्णाङ्कः ।

वाली नीति (पुराणवत्) पूर्ववत् (भूयाः) स्थापित रहे । (अरुपः) कान्तिमान या रोप रहित राजा (शुचिः) शुद्ध निष्कपट होकर (भानुना) तेजसे प्रकाशित हो । और वह (सत्पतिः) सज्जनों का परिपालक होकर (स्वः न) आदित्य के समान (शुक्रम् शुशुचीत) अपने बल को और भी प्रज्वलित करे ।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥१०॥

अथर्व० ७ । ५० । ७ ॥ ऋ० १० । ४३ । १०॥

भा०—हे (पुरुहूत) समस्त प्रजाओं से आदृत ! सत्कारपूर्वक बुलाये जाने योग्य ! (वयम्) हम लोग (गोभिः) गौ आदि पशुओं और उत्तम भूमियों से (अमतिम्) दरिद्रता को (तरेम) दूर करें । और (गोभिः) वेद वाणियों द्वारा (अमतिं) अज्ञान को (तरेम) पार करें । और (वयम्) हम (प्रथमाः) अति श्रेष्ठ होकर (अस्माकेन वृजनेन) अपने निजू शत्रुवारक बल से पुष्ट होकर अपने (राजभिः) राजाओं सहित (धनानि जयेम) ऐश्वर्यों को विजय करें ।

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥११॥

अथर्व० ७ । ५१ । १ ॥ ऋ० १० । ४३ । ११ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) महान् संसार का पालक, एवं बड़े राष्ट्र का पालक, वेदज्ञ विद्वान् (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से (उत् उत्तरस्मात्) उत्तर से या दायें से या ऊपर से और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) हम पर आक्रमण एवं आघात करने की इच्छा करने वाले दुष्ट पुरुष से और हे (इन्द्र) राजन् ! (पुरस्तात् उत मध्यतः) आगे और हमारे बीच में से भी हम पर आक्रमण करने वाले दुष्ट पुरुष से (नः परिपातु)

हमारी रक्षा करे। और वह (नः) हमारा (सखा) मित्र होकर हमारे (सखिभ्यः) समस्त स्नेही मित्रों या हम मित्रों को (वरिवः) धन ऐश्वर्य (कृणोतु) प्रदान करे।

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१२॥
ऋ० ७ । ९७ । १० ॥

भा०—हे (बृहस्पते) वेदज्ञ, बृहती वेदवाणी के पालक ! और हे इन्द्र ! (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य उत पार्थिवस्य) दिव्य आकाश में विद्यमान और पृथिवी में विद्यमान (वस्वः) समस्त ऐश्वर्यों को (ईशाथे) वश कर रहे हो। आप दोनों (स्तुवते) स्तुतिशील, (कीरये) ज्ञानवान पुरुष को (रयिं धत्त) ऐश्वर्य प्रदान करो। और हे विद्वान् पुरुषो ! आप सब (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी उपायों से (नः सदा पात) हमारी सदा रक्षा करें।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

---

[१८] परमेश्वर की स्तुति

१–३ काण्वो मेधातिथिः रांगिरसः प्रियमेधश्च ऋषी । ४–६ वसिष्ठः । इन्द्रो देवता गायत्री । षडृचं सूक्तम् ॥

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥१॥ ऋ० ८ । २ । १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (वयम्) हम सब लोग (तदिदर्था) 'तत्'=उस लोक और 'इद्' इस लोक अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक प्रयोजनों की इच्छा करने वाले अथवा (तद् इत् अर्थाः) उस परम मोक्ष एवं त्रिविध ताप निवृत्ति की ही एकमात्र आकांक्षा करते हुए (त्वा:

यवः) तुझे प्राप्त होने की इच्छा करते हुए तेरे (सखायः) मित्र हम (कण्वाः) ज्ञानी पुरुष (त्वा) तेरी (उक्थेभिः) स्तुतिवचनों और वेद के सूक्तों द्वारा (जरन्ते) स्तुति करते हैं।

न घे॑मुन्यदा प॑पन् वज्रि॑न्नुपसो नवि॑ष्टौ ।
तवेदु स्तोमं॑ चिकेत ॥२॥ ऋ० ८ । २ । १७ ॥

भा०—हे (वज्रिन्) वज्रधारिन् ! पापों से निवृत्त करने वाले ज्ञान वज्र के धारक प्रभो ! (अपसः) कर्म के (नविष्टौ) प्रारम्भ में (अन्यत्) और कुछ भी मैं (न व इम् (आ पपन) स्तुति नहीं करता प्रत्युत (तव इत्) तेरी ही (स्तोमम्) स्तुति करना (चिकेत) जानता हूं ।

इ॒च्छन्ति॑ दे॒वाः सु॒न्वन्तं॒ न स्वप्ना॑य स्पृहयन्ति ।
यन्ति॑ प्र॒माद॒मत॑न्द्राः ॥३॥ ऋ० ८ । २ । १८ ॥

भा०—(देवाः) देव, दिव्यगुण और विद्वान् पुरुष (सुन्वन्तम्) काम करने हारे यत्नशील पुरुष को (इच्छन्ति) चाहते हैं वे (स्वप्नाय) सोने वाले प्रमादी पुरुष से (न स्पृहयन्ति) प्रेम नहीं करते । प्रायः (अ-तन्द्राः) आलस्य रहित पुरुष भी (प्रमादम् यन्ति) प्रमाद कर दिया करते हैं । इसलिये हे पुरुषो ! सात्विक गुणों को प्राप्त करने के लिये सदा क्रियाशील और यत्नवान् बने रहो ।

व॒यमि॑न्द्र त्वा॒यवो॒ऽभि प्र णो॑नुमो वृषन् ।
वि॒द्धी त्व॒स्य नो॑ वसो ॥४॥ ऋ० ७ । ३१ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षक ! हम (त्वायवः) तेरी ही प्राप्ति की अभिलाषा करते हुए तेरी (प्र नोनुमः) निरन्तर स्तुति करते हैं । हे (वसो) समस्त संसार के बसाने वाले वसो ! (अस्य तु) हमारे इस स्तुति को भी तू (विद्धि) जानता है ।

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे।
त्वे अपि क्रतुर्मम ॥५॥ ऋ० ७ । ३१ । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र! परमेश्वर एवं राजन्! (नः) हमें (निदे) निन्दक पुरुष के (मा रन्धीः) अधीन मतकर, उसके वश में उसके अधिकार में मत रख। (अपि) तू हमारा स्वामी ईश्वर होकर भी (अराव्णे) अदानशील कंजूस और (वक्तवे:) कठोर एवं अपशब्द भाषी पुरुष के भी (मा रन्धीः) वश में हमें मत रख। (अपि) और (मे) मेरा (क्रतुः) सब संकल्प और ज्ञान, विचार सब कुछ (त्वे) तेरे ही लिये है।

भक्तों का ब्रह्मार्पण इस मन्त्र से स्पष्ट है।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥

त्वं वर्मासि सुप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन्।
त्वया प्रति ब्रुवे युजा ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । ३१ । ६ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) आवरक तामस अन्धकार और शत्रुओं के नाशक परमेश्वर एवं राजन्! (त्वं) तू (सप्रथः) सब ओर से और सब प्रकार से विशाल और (पुरोयोधः च) और आगे बढ़कर प्रहार करने वाले योद्धा के समान हमारा (वर्म असि) कवच है। (त्वयायुजा) तुझ साथी के बल से ही मैं अपने प्रतिद्वन्द्वी लोगों के (प्रति ब्रुवे) उत्तर देने, उनका जैसे का तैसा जवाब देने या प्रतिकार करने में समर्थ होऊं।

[१९] परमेश्वर और राजा की शरणप्राप्ति।

विश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। तृचं सूक्तम् ॥

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च।
इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥१॥ ऋ० ३ । ३७ । १ ॥

भा०—हे राजन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (वार्त्रहत्याय) वृत्र, नगरों को घेरने वाला शत्रुओं को हनन कर देने वाले और (पृतनासाह्याय च) संग्रामों और शत्रु सेनाओं को पराजय कर देने वाले (शवसे) बल के कारण ही हम प्रजाजन (त्वा) तेरी शरण (आवर्तयामः) आते हैं।

समस्त विद्वानों के नाश और समस्त पुरुषों को वश करने वाले बल के कारण हे परमात्मन् ! हम तेरे शरण में आते हैं।

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो।

इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥२॥ ऋ० ३। ३७। २॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्मों और प्रजाओं वाले ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (वाघतः) स्तुति करने हारे भक्त जन (ते मनः उत चक्षुः) तेरी शुभ चित्त और कृपामय दृष्टि के (सु अर्वाचीनं कृण्वन्तु) उत्तम रीति से अपने अभिमुख करें।

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥३॥ ऋ० ३। ३७। ३॥

भा०—हे (शतक्रतो इन्द्र) शतक्रतो ! सैकड़ों वीर्य और प्रज्ञावलों से युक्त और हे ऐश्वर्यवन् ! (अभिमातिषाह्ये) अभिमान करने वाले शत्रुओं के विजय करने के निमित्त ही हम (विश्वाभिः गीर्भिः) समस्त वाणियों से (नामानि) तेरे अनेक नामों को (ईमहे) मनन करते हैं।

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि।

इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥४॥ ऋ० ३। ३७। ४॥

भा०—(पुरुस्तुतस्य) प्रजाओं द्वारा स्तुति किये जाने वाले (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् का (शतेन धामभिः) धारण सामर्थ्यों से (चर्षणीधृतः) समस्त मनुष्यों को धारण पोषण करने हारे प्रभु को हम (महयामः) हम पूजा करें और ऐसे राजा का हम आदर सत्कार करें।

इन्द्रं॑ वृ॒त्राय॒ हन्त॑वे पुरुहू॒तमुप॑ ब्रुवे ।
भरे॑षु॒ वाज॑सातये ॥५॥ ऋ० ३। ३७। ५ ॥

भा०—(वृत्राय हन्तवे) शत्रु के नाश करने के लिये और (भरेषु) युद्धों में (वाजसातये) धनैश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (पुरुहूतम्) समस्त प्रजाओं से स्तुति करने योग्य, उत्तम, गुणवान् पुरुष को (उपब्रुवे) हम प्रार्थना करें कि वह ऐसा करे। विघ्नों के नाश यज्ञों में वीर्य और अन्न लाभ के लिये या पुष्टिकारी कार्यों में अन्न प्राप्त करने के लिये उस सर्व-स्तुत्य ईश्वर की मैं प्रार्थना करूं।

वाजे॑षु सास॒हिर्भ॑व॒ त्वामी॑महे शतक्रतो ।
इन्द्र॑ वृ॒त्राय॒ हन्त॑वे ॥६॥ ऋ० ३। ३७। ६ ॥

भा०—हे पूर्वोक्त शतक्रतो! हे इन्द्र! (वृत्राय हन्तवे) शत्रु के नाश के लिये (त्वाम्) तुझसे हम (ईमहे) प्रार्थना करते हैं। तू (वाजेषु) संग्रामों में (सासहिः भव) शत्रुओं का सदा पराजय करने में समर्थ हो।

द्यु॒म्नेषु॑ पृत॒नाज्ये॑ पृत्सु॒तूर्षु॒ श्रवः॑सु च ।
इन्द्र॒ साक्ष्वा॒भिमा॑तिषु ॥७॥ ऋ० ३। ३७। ७ ॥

भा०—(द्युम्नेषु) धनों के प्राप्त करने में (पृतनाज्ये) संग्रामों में और शत्रु सेनाओं के विजय करने के कार्य में (पृत्सु तूर्षु) संग्राम में खड़ी शत्रु-सेनाओं के वध करने के उपायों में (श्रवःसु) यश के कार्यों या अन्न प्राप्त करने के कार्यों में और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन्! तू (अभिमातिषु) शत्रुओं पर (साक्ष्व) विजय करने में समर्थ हो।

[२०] परमेश्वर से प्रार्थना और सेनापति और राजा के कर्त्तव्य।

१–४ विश्वामित्रः। ५–७ गृत्समदः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

शु॒ष्मिन्त॑मं न ऊ॒तये॑ द्यु॒म्निनं॑ पाहि॒ जागृ॑विम् ।
इन्द्र॒ सोमं॑ शतक्रतो ॥१॥ ऋ० ३। ३७। ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! या हे सेनापते ! हे (शतक्रतो) सैकड़ों बलों से युक्त ! तू (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (शुष्मिन्तमं) सब से अधिक बलशाली (जागृविम्) रक्षा के कार्य में सदा सावधान (सोमं) सब के प्रेरक शासक राजा की (पाहि) रक्षा कर ।

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ।
इन्द्र तानि त आ वृणे ॥२॥ ऋ० ३ । ३७ । ९ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों बल सामर्थ्यों वाले ! हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! (ते) तेरे (पञ्चसु जनेषु) पांचों प्रकार के जनों में, प्रजाओं में (या इन्द्रियाणि) जितने इन्द्रिय, दूत आदि रूप से चक्षु हैं या तेरे जितने कार्यकर्त्ता रूप बल, ऐश्वर्य या अधिकार हैं (तानि) उन सब (ते) तेरे अधिकारों को (आवृणे) मैं स्वीकार करता हूं आदर भाव से देखता हूं ।

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् ।
उत ते शुष्मं तिरामसि ॥३॥ ऋ० ३ । ३७ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! तू (बृहत्-श्रवः) बड़े भारी ऐश्वर्य को (अगन्) प्राप्त है । तू (दुस्तरं द्युम्नं) दुःस्तर, अपार धन का धारण कर, रख । (ते शुष्मम्) तेरे बल को हम (उत् तिरामसि) खूब बढ़ावें ।

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥४॥ ऋ० ३।३७।११॥

भा०—हे (अद्रिवः) अभेद्य शक्ति वाले ! हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! तू (नः) हमारे पास (अर्वावतः) समीप के (अथो) और (परावतः) दूर के देश से भी (आगहि) आ । हे (शक्र) शक्तिमन् ! (यः ते लोकः) तेरा जो भी स्थान हो तू (ततः उ) वहां से ही (आ गहि) आ, हमें प्राप्त हो ।

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥५॥ ऋ० २ । ४१ । १० ॥

भा०—हे (अङ्ग) विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्रः) इन्द्र राजा (महद् भयम्) बड़े भारी भय को (अभि-सद्) मुकाबला करता है और उसको (अप चुच्यवत्) दूर करता है । (हि) क्योंकि (सः) वह (स्थिरः) स्थिर (विचर्षणिः) विश्व का या समस्त प्रजा का साक्षात् द्रष्टा अधिष्ठाता है ।

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ४१ । ११ ॥

भा०—(इन्द्रः च) इन्द्र राजा और परमेश्वर ही (नः) हमें (मृळयाति) सुखी करे, हम पर कृपा करे । (नः पश्चात्) हमारे पीछे (अघं) पाप या दुःख (न नशत्) न लगे । (नः पुरः) हमारे आगे सदा (भद्रं भवाति) कल्याण और सुख सदा हो ।

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥७॥ ऋ० २ । ४१ । १२ ॥

भा०—(विचर्षणिः) प्रजाओं को विविध प्रकार से देखने हारा ! और (शत्रून्) शत्रुओं का विजेता (इन्द्रः) इन्द्र राजा (सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि) समस्त दिशाओं से हमें (अभयं करत्) अभय करे ।

[२१] परमेश्वर और राजा ।

सव्य आंगिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । १–९ जगत्यः । १०, ११ त्रिष्टुभौ ।
एकादशर्चं सूक्तम् ॥

न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः ।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ॥१॥
ऋ० १ । ५३ । १ ॥

भा०—हम लोग (महे) उस महान् परमेश्वर के लिये (वाचं) सुन्दर वाणी का (नि सु प्र भरामहे) नित्य पूजा के लिये प्रयोग करें। (विवस्वतः) ईश्वर की उपासना करने वाले (सदने) गृह में (इन्द्राय गिरः) परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के लिये वाणियां कही जाती हैं। (ससताम्) सोने वालों के (रत्नं) उत्तम सुन्दर धनको (इव) जिस प्रकार चोर चुरालेता है उस प्रकार वह परमेश्वर सोते हुए आलसी लोगों के (रत्नं) रमण योग्य धन को भी (नू चित् हि) बहुत शीघ्र (अविदत्) हर लेता है। और उत्तम परोपकारी पुरुषों को देता है और (द्रविणोदेषु) धनैश्वर्य के दाता पुरुषों के लिये (दुष्टुतिः) निन्दा वचन (न शस्यते) नहीं कहा जाता। राजा भी आलसी प्रमादियों का ही धन हरे, उत्तम कर्मण्य पुरुषों को प्रदान करे।

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि॥२॥
ऋ० १।५३।२॥

भा०—हे (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर ! तू (अश्वस्य दुरः) अश्वों के देने वाला (गोः दुरः) गौओं का दाता, (यवस्य) जौ आदि अन्नों का (दुरः) दाता और (वसुनः) धनऐश्वर्य का (इनः पतिः) स्वामी और शासक है। तू (शिक्षा नरः) समस्त मनुष्यों को उनका अभिमत पदार्थ देनेहारा (प्रदिवः) उत्कृष्ट व्यवहार वाला या उत्कृष्ट विजेता होकर भी (अकामकर्शनः) कभी कामना या आशा का विघातन करने वाला और (सखिभ्यः) मित्रों के लिये (सखा) सखा है। (तम्) उस तुझको हम (इदम्) इस प्रकार (गृणीमसि) स्तुति करते हैं।

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः॥३॥
ऋ० १।५३।३॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (शचीवः) प्रज्ञावन् या हे शक्तिमन् ! हे (पुरुकृत्) बहुतसे धनों जनों और लोकों के कर्त्ता ! हे (द्युमत्तम) सबसे अधिक धनशालिन् ! हमें तो (इदम्) यह सब (अभितः) सब ओर पसरा हुआ (वसु) ऐश्वर्य या बसा हुआ जगत् (तव इद्) तेरा ही (चिकेते) प्रतीत होता है । हे (अभिभूते) चारों ओर की भूति के स्वामिन् ! (अतः) इसलिये तू हमें (संगृभ्य) ऐश्वर्य संग्रह करके (आ भर) प्रदान कर । (त्वायतः) तुझको ही चाहने वाले (जरितुः) अपने स्तुति करने वाले विद्वान् पुरुष की (कामम्) आशा को (मा ऊनयीः) कम न होने दे । उसे निराश मत कर ।

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना ।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ॥४॥
ऋ० १ । ५३ । ४ ॥

भा०—(सुमनाः) उत्तम ज्ञानवान् और उत्तम चित्त वाला राजा (एभिः) इन (द्युभिः) तेजों से और (एभिः) इन (इन्दुभिः) धनादि ऐश्वर्यों से (गोभिः) गौ आदि पशुओं से और (अश्विना) अश्व वाले सैन्य से (अमतिम्) दारिद्रय को और अदम्य शत्रु को और अज्ञान को (निरुन्धानः) रोकता हुआ रह । और हम लोग (इन्द्रेण) इस ऐश्वर्य वाला राजा और (इन्दुभिः) युद्ध में द्रुतगति से जाने वाले वीर पुरुषों के द्वारा (दस्युं दरयन्तः) दस्यु को भयभीत करते हुए परस्पर (युतद्वेषासः) सब द्वेषों से रहित होकर (इषा) अन्न, बल और ज्ञान से (सम् रभेमहि) एकत्र होकर रहें ।

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥५॥
ऋ० १ । ५३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! परमेश्वर ! हम (राया) धन से (सम् रभेमहि) युक्त हों । (इषा) अन्न और बल से (सं रभेमहि) युक्त हों । (पुरुचन्द्रैः) बहुत आल्हादक पदार्थों से युक्त, (अभिद्युभिः) सर्वत्र कान्तियुक्त, (वाजैः) बलों और ऐश्वर्यों से (सं रभेमहि) युक्त हों । (वीर-शुष्मया) वीर सैनिकों के बलवाली (गो-अग्रया) गौ आदि पशुओं को मुख्य धन रूप से या उद्देश्य रूप से रखने वाली, (अश्वावत्या) घोड़ों से युक्त, (देव्या) विजयशील (प्रमत्या) शत्रुओं का अच्छी प्रकार स्तम्भन करने में समर्थ सेना से (सं रभेमहि) युक्त हों । अथवा-(देव्या प्रमत्या) उत्कृष्ट मतिरूप देवी, सात्विक व्यवहार बुद्धि से युक्त हो जो (वीरशुष्मया) प्राणों के बल से बलवती, (गो-अग्रया) वाणी या ज्ञानेन्द्रियों को मुख्य रखने वाली और (अश्वावत्या) कर्मेन्द्रियों के बल से भी युक्त हों । अथवा-(प्रमत्या देव्या) उत्कृष्ट ज्ञानवाली देवी, विद्वानों की परिष्पत् या राजशक्ति या स्त्री से युक्त हों ।

ते त्वा मदा॑ अमदन् तानि॒ वृष्ण्या॒ ते सोमा॑सो वृत्रहत्ये॑षु सत्पते ।
यत् का॒रवे॒ दश॑ वृत्राण्य॑प्रति ब॒र्हिष्म॑ते॒ नि स॒हस्रा॑णि ब॒र्हय॑: ॥६॥

ऋ० १ । ५३ । ६ ॥

भा०— हे (सत्-पते) सज्जनों के पालक ! हे इन्द्र ! (ते मदाः) वे नाना हर्षकारी, उत्साही वीर, और (तानि वृष्ण्या) वे नाना बल और (ते सोमासः) वे नाना ऐश्वर्य, या वे नाना विद्वानगण (त्वा) तुझे (अमदन्) हर्षित उत्साहित करें । (यत्) जिससे तू (बर्हिष्मते) वृद्धिशील, राष्ट्र के स्वामी (कारवे) क्रियाशील विद्वान् राजकर्त्ता के आगे आने वाले (दश सहस्राणि वृत्राणि) दस हज़ार, हज़ारों, विघ्नों और विघ्नकारियों के सैन्यों को भी (अप्रति) बिना रुकावट के (नि बर्हयः) विनाश करने में समर्थ हो ।

युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा ।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ॥७॥
ऋ० १ ५३ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! तू (धृष्णुया) शत्रु को धर्षण या पराजय करने में समर्थ (युधा) अपने प्रहार शक्ति से (युधम्) शत्रु के प्रहार साधन को (घ) ही (उप एषि) प्राप्त होता है । उसको सहता और वश करता है । और (धृष्णुया) शत्रु को विजय करने में समर्थ (पुरा) अपने गढ़ से और (ओजसा) बड़े बल, पराक्रम द्वारा (इदम्) सामने स्थित इस (पुरं) शत्रु के गढ़ को (सं हंसि) अच्छी प्रकार नाश करता है । अर्थात् नगरकोट में स्थित वीर सैनिकों द्वारा शत्रु के गढ़ में स्थित सैनिकों को मार देता है । और (परावति) दूर देश में भी (यद्) और जो हे (इन्द्र) सेनापते ! (नम्या सख्या) शत्रु को दबा देने में समर्थ और अपने समक्ष विनीत, मित्रभूत राजा द्वारा (नमुचिं नाम मायिनम्) नमुचि, कभी जीता न छोड़ने योग्य मायावी शत्रु को (निबर्हय) तू सर्वथा नाश कर देता है ।

ईश्वर पक्ष में—(युधा) अपने योग करने हारे गुण से, (युधम्) योग द्वारा प्राप्त पुरुष को तु प्राप्त होता है । अपने (पुरा) पूरण पालन करने वाले सामर्थ्य से (पुरम्) देह रूप पुर को और समस्त ब्रह्माण्ड को (ओजसा) महान् शक्ति से (संहंसि) व्यापते हो, (परावति) परम रक्षा स्थान में (नम्या सख्या) अपने विनीत मित्र जीव के साथ रहकर (मायिनम् नमुचिम्) जगत् प्रपञ्च के निर्माण करने वाली तामस प्रकृति से बद्ध (नमुचि) कभी मुक्त न होने वाले जीव को (निबर्हय) मुक्त करते हो ।

त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत् पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना ॥८॥
ऋ० १ । ५३ । ८ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (त्वम्) तू (अतिथिग्वस्य) अतिथि, पूज्य पुरुषों के प्रति गौ, भूमि आदि प्रदान करने वाले उत्तम सज्जन पुरुष के (वर्तनी) मार्ग में बाधक होने वाले (करञ्जम्) कुत्सित स्वभाव वाले अथवा हिंसा व्यसनी, (उत) और (पर्णयम्) पर्ण अर्थात् गतिशील रथों से, प्रयाण करने वाले शत्रु को भी (तेजिष्ठया) अपनी अति तेजस्विनी शक्ति से (वधीः) विनाश कर । (त्वम्) तू (वंगृदस्य) जाने के मार्गों या मर्यादाओं के विनाशक शत्रु के (शता पुरः) सैकड़ों गढ़ों को (अभिनत्) तोड़ । (ऋजिश्वना) ऋजु, सरल मार्ग से जाने वाले धर्मात्मा पुरुष द्वारा (परिपूताः) घेरे हुए (अनानुदः) कर प्रदान न करने वाले शत्रु के (शता) सैकड़ों (पुरः) गढ़ों को (अभिनत्) तोड़ ।

त्वमे॒तां ज॑नरा॒ज्ञो द्विर्दशा॑बन्धु॒ना सु॒श्रव॑सोपज॒ग्मुषः॑ ।
ष॒ष्टिं स॒हस्रा॑ नव॒तिं नव॑ श्रु॒तो नि च॒क्रेण॒ रथ्या॑ दु॒ष्पदा॑वृणक् ॥९॥

भा०—हे सेनापते ! इन्द्र ! त्वम् (अबन्धुना) बन्धु और सहायक से रहित, (सुश्रवसा) उत्तम कीर्त्तिमान्, धर्मात्मा राजा के साथ (उपजग्मुषः) युद्ध में लड़ने वाले (द्विः दश) २० (जनराज्ञः) जनों या सैनिकों के राजाओं एवं (षष्टिं सहस्रा नवतिं नव) ६००९९ सैनिकों को भी (दुष्पदा) दुर्गम, असह्य (रथ्या चक्रेण) रथ योग्य चक्र से अथवा रथ के चक्र के समान बने चक्रव्यूह से (अवृणक्) वर्जन करने में समर्थ हो ।

२० सेना नायकों के अधीन ६००९९ सैनिक चक्र व्यूह बनाते हैं।

त्वमा॑विथ सु॒श्रव॑सं॒ तवो॒तिभि॒स्तव॒ त्राम॑भिरिन्द्र॒ तूर्व॑याणम् ।
त्वम॑स्मै॒ कुत्स॑मतिथि॒ग्वमा॒युं म॒हे राज्ञे॒ यूने॑ अरन्धनायः ॥१०॥
ऋ० १ । ५३ । १० ॥

भा०—हे इन्द्र ! (त्वम्) तू (तव ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (सुश्रवसम्) उत्तम कीर्त्ति और अन्न और ज्ञान से सम्पन्न पुरुष को

सदा (आविथ) रक्षा कर। और (तव त्रामभिः) तू अपने त्राण करने वाले सामर्थ्यों से (तूर्वयाणम्) शीघ्रकारी यानों के स्वामी अथवा शीघ्र शत्रु पर चढ़ाई करने वाले जन की भी रक्षा कर। (त्वम्) तू (अस्मै) इस (महे) बड़े भारी (यूने) युवा (राज्ञे) राजा के लिये उसके अधीन (कुत्सम्) निन्दनीय, बुरे और (अतिथिग्वम्) पूज्य पुरुषों के आदर करने हारे दोनों प्रकार के (आयुम्) पुरुषों को (अरन्धनायः) वश कर।

य उद्दचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥११॥
ऋ० १ । ५३ । ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (ये) जो हम (देवगोपाः) देव, तुझ राजा द्वारा परिपालित अथवा देवों, विद्वानों के समान वाणियों, इन्द्रियों और भूमियों के पालक स्वामी होकर (उदृचि) इस उत्तम भूलोक के विजय कर लेने पर (ते) तेरे (सखायः) मित्र होकर (शिवतमाः असाम) सबसे अधिक कल्याणकारी हों। हम (त्वां स्तोषाम) तेरी स्तुति करें और (त्वया) तेरे साथ हम भी (सुवीराः) उत्तम वीर लेकर (द्राघीयः) अति दीर्घ और (प्रतरम्) अति उत्कृष्ट सकल (आयुः) जीवन को (दधानाः) धारण करने वाले हों।

'उदृचि'—अयं लोक ऋग्वेदः।

॥ इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमः पर्यायः ॥

[२२] राजा के कर्त्तव्य।

१–३ त्रिशोकः काण्वः। ४–६ प्रियमेधः काण्वः। गायत्र्यः। षड्टचं सूक्तम् ॥

अभि त्वां वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥ १ ॥ ऋ० ८। ४५। २२॥

भा०—हे (वृषभ) बलवन्! मेघ के समान निष्पन्न होकर प्रजा पर सुखों के वर्षक! (अभि सुते) अभिषिक्त हुए तुझको (सुतम्) निष्पादित सोम-रस के समान यह राष्ट्र का आनन्दप्रद ऐश्वर्य मैं (सृजामि) प्रदान करता हूं। तू (तृम्प) इसका उपभोग करके तृप्त हो। और (मदम्) हर्षकारी अन्न के समान इसका (वि अश्नुहि) विविध प्रकारों से भोग कर।

मा त्वां मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दंभन्।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥ २ ॥ ऋ० ८। ४५। २३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन्! (त्वा) तुझको (मूराः) मूढ लोग (अविष्यवः) अपनी रक्षा चाहने वाले, या तेरे अधीन स्वयं रक्षा चाहने का बहाना बनाने वाले (मा दभन्) विनाश न करें। और इसी प्रकार (उपहस्वानः) तेरे उपहास करने वाले भी तुझे (मा दभन्) विनाश न करें। और (ब्रह्मद्विषः) ब्रह्म, वेद के और वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मणों के द्वेषी लोग भी तुझे तेरे ऐश्वर्य का (मा वनः) भोग न करें।

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे।
सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥ ऋ० ८। ४५। २४॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! (इह) इस राष्ट्र में (गोपरीणसा) गो दुग्ध से मिश्रित, सोम के समान पृथिवी के ऐश्वर्यों सहित, अन्य ऐश्वर्य से (महे राधसे) बड़े भारी धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझको प्रजा-जन (मन्दन्तु) प्रसन्न और तृप्त करें। (यथा) जिस प्रकार (गौरः) गौर नामक प्यासा मृग (सरः पिबति) तालाब पर पानी पीता है उसी प्रकार तू इस राष्ट्र के ऐश्वर्य रस का (पिब) पान कर, भोग कर।

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।

सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ५८ । ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (गिरा) अपनी वाणी से (गोपतिम् इन्द्रम्) पृथ्वी के पालक, (सत्यस्य सूनुम्) सत्य व्यवहार के उत्पादक और (सत्पतिम्) सज्जनों के पालक, (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा की ऐसी (अभि अर्च) स्तुति कर (यथा) जिस प्रकार (विदे) वह सर्वत्र जाना जाय अथवा जिस प्रकार वह स्वयं विद्यमान है ।

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।

यत्राभि संनवामहे ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ५८ । ५ ॥

भा०— यत्र, जिस (बर्हिषि) महान्, वृद्धिशील राष्ट्र के उच्च राजपद पर हम तेरी (अभि सं नवामहे) सब प्रकार से स्तुति करते हैं उसी पद पर (अरुषीः) लालवर्ण, तेजोमय (हरयः) किरणें जिस प्रकार सूर्य के साथ संगत हैं उसी प्रकार (अधि ससृज्रिरे) वेगवान् अश्वारोहीगण तुझसे सुसंगत हों । अथवा-(अरुषीः) विद्या से रोचमान (हरयः) विद्वान् ज्ञानी पुरुष तुझे (संसृज्रिरे) धारण करते और सजन करते या सुखिया बनाते हैं ।

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।

यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ५८ । ६ ॥

भा०— (गावः आशिरम्) गौवें जिस प्रकार स्वामी के लिये दूध उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार (वज्रिणे) वज्रधारी, बलवान् (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् इन्द्र राजा के लिये (गावः) भूमियें (मधु) अन्न (दुदुह्रे) उत्पन्न करती हैं । और (इन्द्राय) विभूतिमान् ज्ञानी जीव के लिये (गावः) वेदवाणियें (आशिरम्) आत्मा के आश्रय देने वाले (मधु) ज्ञानरस का दोहन करती हैं । (यत्) जिसके (सीम्) वह (उपह्वरे) समीप ही (विदत्) प्राप्त होता है ।

[२३] राजा के कर्त्तव्य ।

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । नवर्चं सूक्तम् ॥

आ तू न इन्द्र मद्र्यग्घुवानः सोमपीतये ।

हरिभ्यां याह्यद्रिवः ॥ १ ॥ ऋ० ३ । १ । १ ॥

भा०—हे (इन्द) राजन् ! हे (अद्रिवः) वज्रवन् ! (हुवानः) स्मरण किया हुआ, प्रजा द्वारा बुलाया गया (मद्रयक्) मेरे सम्मुख होकर (नः) हमारे (सोमपीतये) राष्ट्र ऐश्वर्य के भोग के लिये (हरिभ्याम्) वेगवान् घोड़ों से, हरणशील उत्साह और पराक्रम से (आयाहि) हमें प्राप्त हों ।

सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक् ।

अयुञ्जन् प्रातरद्रयः ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द) राजन् ! (ऋत्वियः) ऋतु, विशेष काल में यज्ञ करने वाला (होता न) होता, आहुति देने वाला विद्वान् पुरुष जिस प्रकार आसन पर बैठता है उसी प्रकार तू भी (सत्तः) अपने राज्यासन पर यथावसर विराजमान हो। (बर्हिः) वेदि पर, आसन पर (आनुषक्) जिस राज्यासन या राज्य की प्रजा (तिस्तिरे) विस्तृत हो। (प्रातः) प्रातःकाल सोम-सवन के लिये जिस प्रकार (अद्रयः) पाषाण रक्खे हों उसी प्रकार (अद्रयः) न दीर्ण होने वाले वीर क्षत्रिय (अयुञ्जन्) तेरे ही सदा साथ रहें ।

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद ।

वीहि शूर पुरोळाशम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (ब्रह्मवाहः) ब्रह्म-वेद के विद्वान् ब्राह्मणों के ज्ञान-बल से वहन, धारण करने योग्य क्षत्रिय ! तेरे लिये (इमा ब्रह्म) ये वेदानुकूल नाना कर्म (क्रियन्ते) किये जाते हैं । तू (बर्हिः आ सीद) उच्च आसन

पर विराजमान हो। हे (शूर) शूरवीर ! तू (पुरोलासम्) समक्ष स्थित राष्ट्र रूप 'पुरोडाश' आदरपूर्वक पुरस्कृत ऐश्वर्य को (वीहि) उपभोग कर।

रा॒र॒न्धि सव॑नेषु ण ए॒षु स्तोमे॑षु वृत्रहन्।
उ॒क्थेष्वि॑न्द्र गिर्वणः ॥ ४ ॥

भा०—हे (गिर्वणः) समस्त वेदवाणियों द्वारा स्तुति योग्य प्रभो ! अथवा उनके सेवन करने हारे विद्वन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (वृत्रहन्) शत्रु और विघ्नों के विनाशक ! तू परमपूजनीय (नः) हमारे (एषु) इन (सवनेषु) कर्मों में और (स्तोमेषु) ज्ञानों और स्तुतियों में (रारन्धि) रमण कर।

म॒तयः॑ सोम॒पामु॒रुं रि॒हन्ति॒ शव॑स॒स्पति॑म्।
इन्द्रं॑ व॒त्सं न मा॒तरः॑ ॥ ५ ॥

भा०—(मातरः) गोमाताएं (वत्सं न) जिस प्रकार अपने बछड़े को (रिहन्ति) चाटती हैं, (मतयः) मननशील पुरुष और उनकी मतियें उनकी की हुई स्तुतियें और ज्ञान-धाराएं उसी प्रकार (उरुम्) उस महान् (शवसस्पतिम्) समस्त बल के पालक स्वामी, सर्वशक्तिमान् (सोमपाम्) समस्त ऐश्वर्यमय जगत्, या परम आनन्द के पालक एक भोक्ता को (रिहन्ति) स्पर्श करती हैं, उसी को अपना लक्ष्य करती हैं, उसी का वर्णन करती हैं, उसी तक पहुंचती हैं।

राजा के पक्ष में—समस्त (मतयः) मतिशील पुरुष भी गायें बछड़ों के समान बलशाली राष्ट्रपति बलवान् राजा को ही छूते, उसी के ऐश्वर्य का भोग करते हैं।

स म॑न्दस्वा॒ ह्यन्ध॑सो॒ राध॑से त॒न्वा॑ म॒हे।
न स्तो॒तारं॑ नि॒दे क॑रः ॥ ६ ॥

भा०—(सः) वह तू (हि) निश्चय से (महे) बड़े भारी (अन्धसः) अन्न के और जीवनोपयोगी भोग्य पदार्थों को (तन्वा) शरीर द्वारा

(राधसे) लाभ करने के लिये (मन्दस्व) सदा तृप्त रह । तू (स्तोतारम्) यथार्थ गुणों के उपदेष्टा ज्ञान प्रवक्ता विद्वान् को (निदे) लोक-निन्दा का पात्र (न करः) कभी न बनने दे । राजा विद्वानों पर होने वाले भूख आदि पीड़ा और जन-समाज के रूढीकृत अनादर का पात्र न होने दे ।

ईश्वरपक्ष में—परमात्मा हम पर प्रसन्न हो, हमें शरीर से अन्नादि लाभ करावे । अपने स्तुतिकर्ता को निन्दा से बचावे ।

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे ।
उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! एवं राजन् ! (वयं त्वायवः) हम तुझे चाहते हुए (हविष्मन्तः) ज्ञान एवं अन्नों से समृद्ध होकर तेरी (जरामहे) स्तुति करते हैं । प्रार्थना करते हैं (उत) और हे (वसो) सब में व्यापक और सबको बसानेहारे ! (त्वम्) तू (अस्मयुः) हमें चाहने वाला है, तू हमें प्रेम कर । तू भक्तन का भक्त तिहारे ।

मारे अस्मद् वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ् याहि ।
इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ॥ ८ ॥

भा०—हे (हरिप्रिय) हरणशील, ज्ञानशील पुरुषों के प्रिय ! तू (अर्वाङ् याहि) साक्षात् दर्शन दे, हमारे सम्मुख हमें प्राप्त हो । (अरे) हे परमेश्वर प्रभो ! (अस्मद्) हमसे तू (मा विमुमुचः) कभी न छूट, कभी अपने को दूर न कर । हे (स्वधावः) स्वधा=शरीरों को धारण करने वाले समष्टिचैतन्य के स्वामिन् ! प्रभो एवं अन्न और बलके स्वामिन् ! अथवा स्वयं निरपेक्ष होकर समस्त संसार के धारण पोषण करने की शक्ति वाले अद्वितीय ! तू (इह) हमारे इस हृदय-मन्दिर में एवं राष्ट्र में राजा के समान (मन्दस्व) आनन्द युक्त हो ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तू (बर्हिष्ठाम्) बृहत् राष्ट्र में या प्रजाओं में स्थित (तम्) उस अपूर्व, (मदम्) तृप्तिकारक, सब इच्छाओं के पूर्ण करने वाले, (ग्रावभिः) ज्ञानोपदेशक विद्वानों अथवा वज्र या शस्त्रों के धारण करने वाले वीर सैनिकों या प्रजाओं द्वारा (सुतम्) उत्पादित, प्राप्त किये राष्ट्र को (आगहि) प्राप्त कर । (अस्य) इस द्वारा तू (कुवित् नु) बहुत अधिक (तृप्णवः) तृप्त होने में समर्थ है । अथवा (अस्य कुवित् नु तृप्णवः) इससे बहुत अधिक लोग तृप्त होते हैं ।

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः ।
आवृते सोमपीतये ॥ ३ ॥

भा०—(इत्थाः) सत्यस्वरूप (मम गिरः) मेरी वाणियां (इतः) इधर प्रजा की ओर से (इषिताः) प्रेरित होकर (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (सोमपीतये) ऐश्वर्य को प्राप्त करने और उपभोग करने के लिये (आवृते) उसको सब प्रकार से प्राप्त करने और रक्षा करने के निमित्त अर्थात् प्रजाएं स्वयं राजा को राष्ट्र की रक्षा और उपभोग के लिये (अच्छ अगुः) भली प्रकार प्राप्त होती हैं, निमन्त्रित करती हैं ।

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे ।
उक्थेभिः कुविदागमत् ॥ ४ ॥

भा०—(सोमस्य पीतये) सोम-राष्ट्र या अन्न आदि ऐश्वर्य के पान या पालन और उपभोग के लिये (स्तोमेभिः) स्तुति योग्य आदर-वचनों से हम (इह) यहां अपने घरों पर (हवामहे) बुलाते हैं, (उक्थेभिः) उत्तम उपदेशों से ही वह हमें (कुवित्) बहुत बार (आगमत्) प्राप्त हो ।

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान् दधिष्व शतक्रतो ।
जठरे वाजिनीवसो ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (इमे) ये नाना प्रकार के (सोमाः) ऐश्वर्य तेरे लिये (सुताः) उत्पन्न किये हैं। हे (शतक्रतो) सैकड़ों शक्तियों और प्रजाओं से युक्त ! हे (वाजिनीवसो) संग्रामकारिणी सेना को बसाने वाले ! तू उसके (जठरे) पेट में अन्न के समान उपभोग पूर्वक अपने वश में (दधिष्व) धारण कर।

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ६ ॥

भा०—हे इन्द्र राजन् ! हम (त्वा) तुझको (वाजेषु) संग्रामों में (धनं-जयम्) शत्रु के धन को जीतने हारा और (दधृषं) शत्रु को परास्त करने हारा (हि) ही (विद्म) जानते हैं । हे (कवे) क्रान्त प्रज्ञ ! दीर्घदर्शिन् ! (अधा) और (ते) तेरे लिये (सुम्नम्) सुख शान्ति की (ईमहे) प्रार्थना करते हैं । अथवा (अधा) और (ते) तेरे (सुम्नम्) सुखकारी ऐश्वर्य को हम भी (ईमहे) चाहते हैं।

इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब।
आगत्या वृषभिः सुतम् ॥ ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! नु (नः) हमारे (गवाशिरम्) गो, पृथ्वी और गौ आदि पशुओं के आश्रय पर प्राप्त होने वाले और (यवाशिरम्) यवादि अन्न और शत्रुओं के नाशक सेना बलों के आश्रय पर विद्यमान (सुतम्) ऐश्वर्यमय राष्ट्र को (वृषभिः) बलवान् पुरुषों सहित (आगत्य) आकर (पिब) उपभोग कर।

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये।
एष रारन्तु ते हृदि ॥ ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! (स्वे ओक्ये) तेरे अपने ही निवास स्थान में (तुभ्य इत्) तेरे ही लिये हम (पीतये) पान करने, या उप-

भोग करने या स्वीकार करने के लिये (सोमं चोदामि) समस्त राष्ट्र को तुझे अर्पण करता हूं । (एषः) वह (ते) तेरे (हृदि) हृदय में पिये शीतल जल के समान (शरन्तु) तुझे तृप्त करे ।

त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे ।
कुशिकासो अवस्यवः ॥ ६ ॥

भा०—(सुतस्य पीतये) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने के लिये (त्वां प्रत्नम्) पुरातन, पूजनीय तुझको हम (अवस्यवः) अपनी रक्षा के इच्छुक (कुशिकासः) धनों के स्वामी, सर्दार लोग (हवामहे) बुलाते हैं ।

'कुशिकासः'—कुशिको राजा बभूव। क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वास्यात् प्रकाशयति कर्मणः । साधु विक्रोशयिताऽर्थानाम् इति वा । निरु० २ । २५॥ वाग्मी, ऐश्वर्यवान् धनी, और तेजस्वी ज्ञानी पुरुष 'कुशिक' कहाते हैं ।

[२५] राजा का कर्त्तव्य।

१–६ गोतमो राहूगण ऋषिः । ७ अष्टको वैश्वामित्रः। १–६ जगत्यः । ७ त्रिष्टुप् षडृचं सूक्तम् ॥

अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः ।
तमित् पृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः १
ऋ० १ । ८३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (तव ऊतिभिः) तेरी रक्षाओं से, तेरे प्रस्तुत किये रक्षा साधनों से (सु-प्रावीः) स्वयं भी उत्तम रीति से समस्त उत्कृष्ट पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ होकर (मर्त्यः) मनुष्य (अश्वा-वति) घोड़ों से युक्त संग्राम में (प्रथमः) सबसे प्रथम अग्रगण्य होजाता है, और (गोषु) गौ आदि पशुओं पर भी वह (प्रथमः) उत्कृष्ट स्वामी हो जाता है । (विचेतसः) विविध ज्ञानों से युक्त पुरुष (त्वा अभितः)

तुझे ही इस प्रकार प्राप्त होते हैं (यथा) जैसे (आपः) जलधाराएं (सिन्धुम्) समुद्र को प्राप्त होती हैं । तू (तम् इव) उस पुरुष को ही (भवीयसा वसुना) प्रभूत धनैश्वर्यसे (पृणक्षि) संयुक्त करता है जो तेरी शरण आता है ।

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः ।
प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वरा इव ॥२॥
ऋ० १ । ८३ । २ ॥

भा०—(देवीः आपः) देव अर्थात् मेघ से उत्पन्न जल जिस प्रकार नीचे प्रदेश की ओर आपसे आप बह आते हैं इसी प्रकार (होत्रियम्) सबको अपने अधीन लेने में समर्थ, एवं सबको रक्षा देने में समर्थ तुझको (देवीः आपः) दानशील, दर्शनशील आप्त प्रजाएं (उपयन्ति) प्राप्त होते हैं । और (यथा रजः) जैसे आकाश में फैली धूलि को या जिस प्रकार आकाश में सूर्य के फैले प्रकाश को लोग देखते हैं उसी प्रकार लोग तेरी (विततं अवः) विस्तृत रक्षण सामर्थ्य को भी (पश्यन्ति) देखते हैं । (देवासः) विद्वान् वीर पुरुष (देवयुम्) विद्वानों के प्यारे तुझको (प्राचैः) उत्कृष्ट पदपर (प्रणयन्ति) प्राप्त कराते हैं । (वरा इव) वर के सम्बन्धी जिस प्रकार अपने प्रिय वर को प्रीति से देखते हैं इसी प्रकार (ब्रह्मप्रियम्) वेद और वेदज्ञ विद्वानों के प्यारे तुझको (वराः) समस्त श्रेष्ठ पुरुष (जोषयन्ते) प्रेम से चाहते हैं ।

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः ।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते ॥३

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! परमेश्वर ! (यतस्रुचा) वीर्य की रक्षा करने वाले अथवा अपने प्राणों की रक्षा करने वाले, (या) जो (मिथुना) स्त्री पुरुष तेरी (सपर्यतः) पूजा सत्कार करते हैं तू (द्वयोः अधि) उन दोनों

को (उक्थ्यम्) उपदेश करने योग्य ज्ञानमय (वचः) आज्ञा-वचन (अदधाः) प्रदान करता है। (ते व्रते) तेरे नियम व्यवस्था में (असं-यत्तः) नियम से न रहने वाला, अजितेन्द्रिय पुरुष (चेति) विनाश को प्राप्त होता है। (सुन्वते यजमानाय) तेरी आज्ञा पालन करने वाले, तेरे प्रति कर-प्रदान या मनोयोग देने वाले या तेरी उपासना, पूजा करने वाले पुरुष की (भद्रा) सुखदायिनी कल्याणी (शक्तिः) शक्ति (पुष्यति) पुष्ट होती है।

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ॥४॥

भा०—मनुष्य जिस प्रकार (शम्या) शमी वृक्ष की लकड़ी से (इद्धा-ग्नयः) अग्नि प्रदीप्त करते हैं उसी प्रकार (ये) जो (सुकृत्यया) अपनी उत्तम धर्मानुकूल क्रिया या आचरण द्वारा (इद्धाग्नयः) अपने अग्निहोत्र आदि की अग्नियों और नेताओं को प्रज्वलित करते हैं वे (अंगिराः) ज्ञानवान् पुरुष (प्रथमम्) सबसे उत्कृष्ट (वयः) अन्न ज्ञान और बल को (दधिरे) धारण करते हैं। वेही लोग (पणेः) व्यवहारशील लोगों के लिये (सर्वं भोजनम्) समस्त भोगों को (सम् अविन्दन्त) प्राप्त करते हैं वे (नरः) पुरुष ही (अश्वावन्तं गोमन्तं पशुम्) घोड़ों और गौओं से समृद्ध पशु धन को भी (सम् अविन्दन्त) प्राप्त करते हैं।

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥५॥

भा०—(अथर्वा) प्रजाओं का अहिंसक, पालक, प्रजापति, राजा (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ होकर (यज्ञैः) परस्पर संगतिकारक, श्रेष्ठ उपायों से (पथः) नाना उत्तम मार्गों को (तते) विस्तृत करता है। (ततं) तब वह (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी (व्रतपाः) समस्त उत्तम

नियमों का पालक (वेनः) कान्तिमान् (आ अजनि) होजाता है। (उशनाः) वही कान्तिमान् (काव्यः) क्रान्तदर्शी ज्ञानी (गाः) गौओं के समान गोपाल के नाईं रश्मियों को सूर्य के समान, वाणियों को कवि के समान, स्त्रियों को अभिलषित युवा के समान वह (गाः) गन्तव्य या प्राप्त होने वाली प्रजाओं को (आ आजत्) उत्तम मार्ग पर चलाता है। और तभी (यमस्य) उस नियन्ता राजा के (जातम्) उत्पन्न हुए (अमृतम्) अमृत स्वरूप राष्ट्र सुख को (सचा) हम सब एक साथ ही या अन्न को (यजामहे) प्राप्त करें।

बर्हिर्वा यत् स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य१स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति॥६

भा०—(यत्) जिस राज्य में, जिस देश में (बर्हिः वा) धान्य (स्वपत्याय) उत्तम सन्तानों की पुष्टि के लिये (वृज्यते) प्रदान किया जाता है (वा) और जहां (अर्कः) अर्चना करने वाला या पूज्य विद्वान् (दिवि) प्रतिदिन, या ज्ञानप्रकाश के लिये (श्लोक) वेदवाणी को (आघोषते) पाठ या प्रचार करता है, (यत्र) और जिस स्थान पर (कारुः) क्रियावान् (उक्थ्यः) वेदों के सूक्त जानने हारा (ग्रावा) ज्ञानोपदेशक विवेकी पुरुष (वदति) धर्म का निर्णय करता है (तस्य इत्) उसके ही (अभिपित्वेषु) प्राप्त करने के प्रयत्नों में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष भी (रण्यति) सुखी होता है, या रण आदि करता है।

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः॥७॥

भा०—(वृष्णः) समस्त सुखों के वर्षक और बलवान् इन्द्र की (उग्राम्) उग्र, भयदायिनी (पीतिम्) आदानशक्ति और पालन शक्ति से, हे (हर्यश्व) वेगवान् घोड़े से युक्त राजन्! तुझको (सुतस्य प्रयै)

सुसम्पन्न राष्ट्र के प्राप्त करने के लिये (प्र इयर्मि) भली प्रकार प्रेरणा करता हूं। हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तू (इह) यहां, इस राष्ट्र में (धेनाभिः) परम सुखपूर्वक पान करने योग्य या सबको रस देने वाली गौओं से, वेदवाणियों से और (विश्वाभिः धीभिः) समस्त कार्य और बुद्धियों से और (शच्या) महती शक्ति के द्वारा (गृणानः) सबको सत्योपदेश देने हारा होकर तू (मादयस्व) सबको तृप्त एवं प्रसन्न कर।

॥ इति तृतीयोऽनुवाके द्वितीयः पर्यायः ॥

[२६] राजा और ईश्वर का वर्णन

१—३ शुनःशेपः ४—६ मधुच्छन्दाः ऋषिः । इन्द्रो देवता । १६ गायत्र्यः । षड्टचं सूक्तम् ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ १ ॥

भा०—(योगे योगे) प्रत्येक संग्राम में (तवस्तरम्) अति बलवान् और (वाजे वाजे) प्रत्येक बल के कार्यों में हम (सखायः) मित्र राजा-गण (ऊतये) रक्षा के लिये (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् महान् राजा को (हवामहे) पुकारते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—(योगे योगे) प्रत्येक योग समाधि में और (वाजे वाजे) प्रत्येक ज्ञानकर्म में हम अपनी रक्षा के लिये परमात्मा की प्रार्थना करें।

आ घा गमद् यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः ।
वाजेभिरुप नो हवम् ॥ २ ॥

भा०—वह इन्द्र, राजा (यदि श्रवत्) यदि हमारी प्रार्थना सुनले तो (घ) वह निश्चय से अवश्य (सहस्रिणीभिः) सहस्रों पुरुषों को

अपने साथ लाने वाली (ऊतिभिः) रक्षाकारी सेनाओं के साथ (आगमत्) आ जाय। और (वाजेभिः) अपने समस्त वीर्यों और अन्नों सहित (नः) हमारे (हवम्) यज्ञ या संग्राम के स्थल में (उप आगमत्) प्राप्त हो।

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्।
यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥ ३॥

भा०—(प्रत्नस्य ओकसः) परम पुरातन, सदातन के स्थान भूप्रदेश पद के (नरम्) सेनानायक (तुविप्रतिम्) बहुतसे शत्रुओं के मुकाबला करने में समर्थ (यं) जिस (त्वा) तुझको (पिता) मेरा पालक पिता, आदि पूर्व पुरुष भी (हुवे) बुलाता रहा है उसी सेनापति को मैं भी (अनुहुवे) अपनी सहायता के लिये याद करता हूं।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ४॥

भा०—विद्वान् पुरुष (ब्रध्नम्) समस्त राष्ट्र को उत्तम व्यवस्था में बांधने वाला, (अरुषम्) अग्नि के समान देदीप्यमान्, (तस्थुषः) वृक्ष पर्वतादि स्थित पदार्थों के ऊपर (चरन्तम्) वायु के समान बलपूर्वक विचरण करने वाले पुरुष को राजपद पर (युञ्जन्ति) नियुक्त करते हैं। (दिवि) उसके विजयोद्योग एवं विजय कार्य या स्वर्ग के समान उत्तम राज्य में (रोचना) नक्षत्रों के समान तेजस्वी का प्रजागण (रोचन्ते) आनन्द प्रसन्नता पूर्वक निवास करते हैं।

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ५॥

भा०—विद्वान् लोग (अस्य) इसके (रथे) रमण करने योग्य राष्ट्र में रथ के समान (विपक्षसा) विविध पक्षों या मन्तव्यों को स्वी-

कार करने वाले (काम्या) कान्तिमान् तेजस्वी (हरी) उभयपक्ष के दो ऐसे प्रमुख नेता विद्वानों को (युञ्जन्ति) नियुक्त करें जो (शोणा) वेगवान्, तीव्र बुद्धिमान् (धृष्णू) पर-पक्ष को धर्षण करने में समर्थ और (नृवाहसा) अन्य विद्वान् पुरुषों को अपने पीछे चलाने में समर्थ हों । वे दोनों विवादों, विचारणीय विषयों का निर्णय करके राष्ट्र का संचालन करें । इसके अतिरिक्त युद्ध में दोनों बाजू पर दो प्रधान सेनानायकों को रथ में अश्वों के समान नियुक्त किया जाय जो दोनों बाजू के पक्षों (Wings) को संभालें ।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥ ६ ॥

भा०—हे (मर्याः) मनुष्यो ! (अकेतवे) अज्ञानी पुरुष को (केतुम् कृण्वन्) ज्ञान देता है और (अपेशसे) धनरहित पुरुष को (पेशः कृण्वन्) धन प्रदान करता है । हे इन्द्र ! (उषद्भिः) उषाकालों से प्रकाशित सूर्य के समान (उषद्भिः) दाह करने वाले शत्रुसंतापक वीर पुरुषों के साथ (सम् अजायथाः) परम शत्रु संतापक होकर प्रकट होता है ।

[२७] धनाढ्यों के प्रति राजा का कर्त्तव्य ।

गोषूक्त्यश्वसूक्तिना ऋषी । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । षडृचं सूक्तम् ॥

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (यथा त्वम्) तेरे समान (यत् इत्) जब जब भी (अहम्) मैं (वस्वः) ऐश्वर्य का (एक इत्) एक मात्र (ईशीय) स्वामी होऊं तब २ (गोसखा) समस्त पृथ्वी का मित्र अथवा ज्ञानवाणी का विद्वान् पुरुष ही (मे स्तोता स्यात्) मुझे उपदेश करने एवं यथार्थ प्रवचन करने वाला होवे ।

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥

भा०—(यद्) जब मैं (गोपतिः स्याम्) भूमियों और गौवों का स्वामी होजाऊं तो (अस्मै) मैं इस प्रत्यक्ष में मेरे पास आये (मनीषिणे) बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष को (शिक्षेयम्) इसकी इच्छानुसार धन दूं। और हे (शचीपते) शक्ति के स्वामिन्! (अस्मै दित्सेयम्) और इसको मैं भी धन देने की इच्छा करूं। और स्वयं धनाढ्य सम्पन्न होकर मनुष्य विद्वानों को दान करें और स्वयं भी दान देने की इच्छा करे।

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (सुन्वते यजमानाय) यज्ञ करने वाले दानशील एवं ईश्वरोपासना करने वाले पुरुष के लिये अथवा ज्ञान प्रदान करने वाले पुरुष के लिये (ते) तेरी (सूनृता) उत्तम, सत्यमयी वाणी ही (धेनुः) कामधेनु के समान (पिप्युषी) पुष्ट करनेहारी होकर (गाम् अश्वम्) नाना गौ, भूमि और अश्व आदि धन को भी (दुहे) प्रदान करती है।

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः।
यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (यत्) जो तू (स्तुतः) स्तुति किया जाकर (मघम्) ऐश्वर्य (दित्ससि) प्रदान करना चाहता है, अतः (ते) तेरे (राधसः) ऐश्वर्य का या कार्य साधन के उपाय का कोई (देवः) विद्वान् पुरुष या राजा योद्धा भी (वर्ता) बाधक (न) नहीं है और (न मर्त्यः) न कोई मनुष्य ही तेरा बाधक है।

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥५॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञ, परस्पर का संग या व्यवस्थित राष्ट्र (इन्द्रम्) इन्द्र को (अवर्धयत्) बढ़ाता है, (यद्) जब वह और (दिवि) ज्ञान-पूर्वक व्यवहार या राजसभा में (ओपशं) सब प्रकार से स्थिति (चक्राणः) करता हुआ (भूमिम्) भूमि को (वि-अवर्त्तयत्) विविध उपायों से काम में लाता है ।

आधिभौतिक में—(यत्) जब (यज्ञः इन्द्रम् अवर्धयत्) यज्ञ इन्द्र की जलप्रद शक्ति की वृद्धि करता है (दिवि ओपशं) आकाश में विद्यमान मेघ को (चक्राणः) उत्पन्न करता हुआ उसको (भूमिं व्यवर्त्तयत्) भूमि पर डालता है ।

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः ।
ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥६॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! (विश्वा) समस्त (धनानि) धनों को (जिग्युषः) विजय करनेहारे और (वावृधानस्य) नित्य वृद्धिशील तेरी (ऊतिम्) रक्षा की हम (वृणीमहे) प्रार्थना, याचना करते हैं ।

[२८] राजा का कर्त्तव्य ।

गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ऋषी । १, २ गायत्र्यौ । ३, ४ त्रिष्टुभौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

व्यन्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रः) तीव्र वायु (यत्) जब (वलम्) आकाश को घेरने वाले मेघ को (अभिनत्) छिन्न भिन्न करता है उस समय वह (रोचनम्) प्रकाशित (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भाग को (सोमस्य मदे)

सोम, सूर्य के बल से (वि अतिरत्) विस्तृत करता, बढ़ा देता है । उसी प्रकार (इन्द्रः) राजा (यद्) जब (वलम्) राष्ट्र को घेरने वाले शत्रु को (अभिनत्) तोड़ डालता है तब (सोमस्य) राष्ट्र के ऐश्वर्य के (मदे) बल से (रोचना अन्तरिक्षम्) रुचिकर, बीच में विद्यमान देश को भी (वि अतिरत्) विशेष रूप से विस्तृत कर देता है ।

उद्गा आ॑ज॒दङ्गि॑रोभ्य आ॒विष्कृ॒ण्वन् गुहा॑ स॒तीः ।
अ॒र्वाञ्चं॑ नुनुदे व॒लम् ॥ २ ॥

भा०—राजा इन्द्र (वलम्) राष्ट्र के घेरने वाले को (अर्वाञ्चं नुनुदे) नीचे गिरा देता है । (गुहाः सतीः) गुप्त स्थान में छुपी हुई (गाः आविः कृण्वन्) गौ और भूमियों को प्रकट करता हुआ (अंगिरोभ्यः) विद्वान्, तेजस्वी पुरुषों को (उत् आजत्) प्रदान करता है । परमेश्वर (वलम्) अन्तःकरण के आवरक तमस् को दूर करके (गुहा) हृदय गुहा में छुपी (गाः) ज्ञानरश्मियों या वेदवाणियों को (अंगिरोभ्यः) ज्ञानी पुरुषों के लिये (आविः कृण्वन्) प्रकट करता हुआ उनको प्रदान करता है । वायु मेघ को दूर करता है आकाश में फैली रश्मियों को प्रकट करके मनुष्यों के लिये प्रदान करता है ।

इन्द्रे॑ण रोच॒ना दि॒वो दृ॒ह्लानि॑ दृंहि॒तानि॑ च ।
स्थि॒राणि॒ न प॑रा॒णुदे॑ ॥३॥

भा०—(इन्द्रेण) इन्द्र परमेश्वर ने ही (दिवः) आकाश के (रोचना) कान्तिमान्, उज्वल पिण्ड, ग्रह, नक्षत्र आदि (दृह्लानि) दृढ़ रूप से (दृंहितानि) स्थिर कर दिये हैं । वे सब मानो (न पराणुदे) फिर कभी नष्ट भ्रष्ट न होने के लिये ही (स्थिराणि) स्थिर किये हुए हैं ।

राजा के पक्ष में—(दिवः रोचना) आनन्दप्रद, सुखकारी समृद्ध राष्ट्र के सभी दीप्ति युक्त नम्य स्थान राजा द्वारा (दृह्लानि दृंहितानि) दृढ़,

पक्के रूप से बनवाये जाते हैं। मानो उनको (न पराणुदे) न टूटने, फूटने के लिये स्थिर किया जाता है।

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।

वि ते मदा अराजिषुः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! (स्तोमः) तेरी स्तुतियों का समूह (अपाम् ऊर्मिः इव) समुद्र के तरङ्ग के समान (मदन् इव) मानो हर्ष से तरङ्गित सा होकर (अजिरायते) बड़े वेग से उमड़ा सा पड़ता है। (ते मदाः) तेरे आनन्द, प्रमोद और उत्साह के कार्य (वि अराजिषुः) विविधरूपों में विराजते दीख रहे हैं।

[२९]

ऋष्यादयः पूर्ववत् । गायत्र्यः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः ।

स्तोतॄणामुत भद्रकृत् ॥१॥ ऋ० ८ । १४ । ११

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! प्रभो ! (त्वं हि) तू निश्चय से (स्तोम-वर्धनः) प्रजा समूहों को बढ़ाने वाला, अथवा स्तुति समूहों से हृदय में वृद्धि को प्राप्त होने वाला है। और तू (उक्थवर्धनः असि) प्रशंसनीय गुणों को बढ़ाने वाला एवं उक्थ=वेद सूक्तों से जानने योग्य है। (उत) और (स्तोतॄणाम्) स्तुतिकर्त्ता एवं यथार्थ प्रवक्ता विद्वानों का (भद्रकृत्) कल्याणकारी भी है।

इन्द्रमित् केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः ।

उप यज्ञं सुराधसम् ॥२॥

भा०—(केशिना हरी) केशों वाले घोड़े (सुराधसम्) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त (यज्ञं उप) सुव्यवस्थित राष्ट्र को (सोमपेयाय) ऐश्वर्य के भोग प्राप्त कराने के लिये (इन्द्रम् इत्) इन्द्र को ही (उपवक्षतः) प्राप्त कराते हैं।

केशिना हरी—अध्यात्म में-प्राण और उदान । परमेश्वर पक्ष में सबीज, निर्बीज योग मार्ग । सोम-अध्यात्म में ब्रह्मानन्दरस । इन्द्र=जीव ।

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥३॥

भा०—हे (इन्द) राजन् ! ऐश्वर्यवन् ! (यत्) जब (विश्वाः स्पृधः) समस्त शत्रु सेनाओं को (अजयः) विजय करो तब (नमुचेः शिरः) जीता न छोड़ने लायक या पीछा न छोड़ने वाले शत्रु के (शिरः) शिर या मुख्य या आश्रयस्थान को (अपाम् फेनेन) जलों के घनीभूत, एवं बलवान् ओघसे जैसे नमुचि अर्थात् जलों को मुक्त न होने देने वाले बांध का (शिरः) सिरा टूट जाता है उसी प्रकार उस शत्रु के (शिरः) मुख्य बल को (अपां फेनेन) प्रजाओं के समूहित संघ बल से या बढ़े हुए सेनाबल से (उद् उवर्तयः) उखाड़ दे । अध्यात्म में—नमुचिः पाप्मा । श० २ । ७ । ३ । ४ । अपां फेनः धियां कर्मणां च प्रवृद्धम् बलम् ।

फेनः-फेनमीनाविति उणादि निपातनम् । स्फायते वर्धते स फेनः । उणा० ३ । ३ ॥

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः ।
अव दस्यूँरधूनुथाः ॥४॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् राजन् ! (मायाभिः) नाना निर्माण कौशलों से (उत्सिसृप्सतः) ऊपर आ चढ़ने की इच्छा करने वाले और (द्याम् आरुरुक्षतः) आकाश में चढ़ने वाले (दस्यून्) नाशकारी शत्रुओं को भी तू (मायाभिः) नाना विज्ञान कौशलों से (अव अधूनुथाः) नीचे गिरा डाल ।

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः ।
सोमपा उत्तरो भवन् ॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तू (सोमपाः) राष्ट्र का पालक (उत्तरः) शत्रु के बल से अधिक बलवान् (भवन्) होकर (अ-सुन्वाम्) कर प्रदान न करने वाली (संसदम्) संस्था को (विषूची) छिन्न भिन्न करके (वि अनाशयः) विनष्ट कर ।

[३०] राजा के कर्त्तव्य ।

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म् ।
घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिर॑: ॥१॥

ऋ० १० । ७६ । १ ॥

भा०—(महे) बड़े भारी (विदथे) संग्राम के अवसर पर हे राजन् ! (ते हरी) तेरे हरणशील वेगवान् अश्वों की और उत्साह और पराक्रम की (प्रशंसिषम्) मैं प्रशंसा करूं । और (वनुषः) शत्रु के नाश-कारी (ते) तेरे (हर्यतं) कमनीय, सुन्दर (मदम्) आनन्द उत्सव का (प्रवन्वे) अच्छी प्रकार आनन्द लाभ करूं । (यः) जो (हरिभिः) ज्ञान-वान् पुरुषों के साथ आकर (घृतं न) मेघ जिस प्रकार तीव्र वायुओं सहित आकर जल बरसाता है उसी प्रकार जल के समान शान्तिप्रद एवं घृत के समान पुष्टिप्रद अन्न आदि (चारु) नाना सुन्दर भोग्य पदार्थ (आ सेचते) प्रदान करता है । (हरिवर्पसम्) हरिस्वरूप, सुन्दर कमनीय रूप शोभा से युक्त (त्वा) तुझे (गिरः) समस्त स्तुतियां (आ विशन्तु) प्राप्त हों ।

हरिं॒ हि योनि॑म॒भि ये स॒मस्व॑रन् हि॒न्वन्तो॒ हरी॑ दि॒व्यं यथा॒ सद॑: ।
आ यं पृ॒णन्ति॒ हरि॑भि॒र्न धे॒नव॒ इन्द्रा॑य शू॒षं हरि॑वन्तमर्चत ॥२॥

भा०—(ये) जो विद्वान् (योनिम्) सबके आश्रयभूत (हरिम्) सबके दुःखों को हरण करने वाले या शत्रु को मार भगाने वाले, शूरवीर

को (दिव्यं सदः यथा) दिव्य आश्रय गृह के समान (हरी हिन्वन्तः) उसके अश्वों के समान उत्साह और बल को बढ़ाते हुए (सम् अस्वरन्) उसकी स्तुति करते हैं और (धेनवः) गौएं जिस प्रकार दुग्धों से अपने स्वामी को तृप्त करती हैं उसी प्रकार (यं) जिस इन्द्र को वे विद्वान् पुरुष (हरिभिः) मनोहर पदार्थों और वेगवान् सैनिकों से (आपृणन्ति) सब तरह पुष्ट और पालन करते हैं (इन्द्राय) इन्द्र राजा के उस (हरिवन्तम्) सैनिकों से युक्त (शूषम्) बलवान् शत्रुओं के शोषक बल को आप लोग भी (अर्चत) बढ़ाओ।

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः।
द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे॥३॥

भा०—(अस्य) इस इन्द्र, राजा का (यः) जो (आयसः) लोहे का बना हुआ (हरितः) नीला (वज्रः) खड्ग है (सः) वही (निकामः) सर्वथा मनोहर (हरिः) वह शत्रुओं के प्राणहर होने से 'हरि' कहे जाने योग्य है। तू भी हे इन्द्र (हरिः) शूरवीर, वेगवान् तू (गभस्त्योः) अपने हाथों में (आ) उसको लेता है। और इस राजा का (हरिमन्युसायकः) शत्रु के मद हरण करने वाला 'मन्यु' रूप बाण भी (द्युम्नी) अति तेजस्वी और (सुशिप्रः) उत्तम वेग वाला है। (इन्द्रे) इन्द्र के आश्रय ही (हरिता रूपा) शत्रु नाशक नाना पदार्थ भी (वि मिमिक्षिरे) सर्व प्रकार से बनाते हैं।

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद् वज्रो हरितो न रंह्या।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिम्भरः॥४॥

भा०—(दिवि) आकाश में (केतुः न) ज्ञापक चिह्न, ध्वजा के समान वह (हर्यतः) सुन्दर, कान्तिमान राजा (अधि धायि) सबके ऊपर अधिष्ठाता रूप में स्थिर किया जाता है। (वज्रः) वज्र, यह खड्ग

(रंह्या) बड़े वेग से (हरितः न) सूर्य के समान (विव्यचत्) विविध दिशाओं में फैलाता है । (यः) जो (आयसः) लोहे का बना हुआ (हरि शिप्रः) इन्द्र का बल स्वरूप (अहिम्) सर्प के समान कुटिल पुरुष को (तुदद्) व्यथित करता हुआ (हरिम्भरः) हरणशील वीरपुरुष को पुष्ट करने वाला (सहस्त्रशोकाः) सहस्त्रों को संतापकारी एवं सहस्त्रों दीप्तियों से युक्त (अभवत्) होजाता है ।

त्वंत्वंमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः ।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्यमसामि राधो हरिजात हर्यतम् ॥५

भा०—हे (हरिकेश) रश्मि, रूप केशों से युक्त, सूर्य के समान तेजस्विन् ! हे(इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! राजन् !(पूर्वेभिः) पूर्व के (यज्वभिः) युद्ध यज्ञ के करने वाले शूरवीर एवं देवोपासक विद्वान् पुरुषों से (उपस्तुतः) स्तुति किया जाकर (त्वं त्वम्) तू ही तु (अहर्यथाः) सर्वत्र दिखाई देता है । (त्वं हर्यसि) तू सबको प्रीतिकर है । हे (हरिजात) वेगवान् वीर पुरुषों में भी सर्व प्रसिद्ध (विश्वम् उक्थम्) समस्त प्रशंसनीय (हर्यतम्) कान्तिमान् रुचिकर (असामि) सम्पूर्ण (राधः) ऐश्वर्य (तव) तेरा ही है ।

ईश्वर पक्ष में—हे (हरिकेश) सूर्य के समान तेजस्विन्! पूर्व के विद्वानों से स्तुति किया जाकर तू ही तू सर्वत्र दिखाई देता है । यह समस्त ऐश्वर्य भी तेरा ही है ।

[३१] राजा के कर्तव्य

वरुः सर्वहरिर्वाऐन्द्र ऋषिः । हरिस्तुतिर्देवता । जगत्यः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

ता व॒ज्रिणं॑ म॒न्दिनं॒ स्तोम्यं॒ मद॒ इन्द्रं॒ रथे॑ वहतो हर्य॒ता हरी॑ ।
पु॒रूण्य॑स्मै॒ सव॑नानि॒ हर्य॑त॒ इन्द्रा॑य॒ सोमा॒ हर॑यो दधन्विरे ॥१॥

ऋ० १० । ७६ । ६ । १० ॥

भा०—(ता) वे दोनों (हर्यता) कमनीय, कान्तियुक्त, उत्तम गुणवान् (हरी) हरणशील, अश्वों के समान नियुक्त, उत्साह और पराक्रम एवं दो प्रधान पुरुष (वज्रिणं) वज्र को धारण करने वाले (मन्दिनं) अति प्रसन्न एवं अन्यों को सन्तुष्ट रखने वाले (स्तोम्यं) स्तुतियोग्य (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (रथे) रथ के समान रमण साधन इस राष्ट्र में (मदे) आनन्द लाभ के लिये (वहतः) धारण करते हैं। (अस्मै) इस (हर्यते) कमनीय गुणों से युक्त (इन्द्राय) परमऐश्वर्य युक्त राजा को (सोमाः हरयः) सौम्य गुण वाले, उत्तम पुरुष, या अधीनस्थ माण्डलिक जन (पुरूणि) बहुत से (सवनानि) ऐश्वर्य (दधन्विरे) प्रदान करते हैं।

अध्यात्म में—हरयः प्राणाः। रथे देहे । सवनानि बलानि । हरी प्राणापानौ।

अरं कामा॑य॒ हर॑यो दधन्विरे स्थि॒राय॑ हिन्व॒न् हर॑यो॒ हरी॑ तु॒रा।
अर्व॑द्भि॒र्यो हरि॑भि॒र्जोष॒मीय॑ते॒ सो अ॑स्य॒ कामं॒ हरि॑वन्तमानशे॥२॥

ऋ० १० । ९६ । ७॥

भा०—(हरयः) वीर राजगण (कामाय) कमनीय राजा के लिये (अरं) अति अधिक, पर्याप्त (सवनानि दधन्विरे) ऐश्वर्यों को लाकर देते हैं। और (हरयः) वे वीर जन ही (स्थिराय) उस स्थिरता से विद्यमान सुदृढ़ सम्राट् के (तुरा हरी) वेगवान् अश्वों और उत्साह पराक्रम को भी (हिन्वन्) युद्ध में और भी उत्तेजित करते हैं। (यः) जो (अर्वद्भिः) अश्वों, घुड़ सवारों और (हरिभिः) वीर योद्धाओं से (जोषम्) तुष्टि को (ईयते) प्राप्त होता है। (सः) वह इन्द्र ही (अस्य) इस राष्ट्र के (हरिवन्तम्) वीर योद्धाओं से सुसज्जित, (कामम्) सुन्दर, अभिलाषा करने योग्य राजपद को (आनशे) भोग करता है।

अध्यात्म में–कामाय–जीवाय । जोषम्–परमानन्दः । हरिवन्तं कामम् प्राणयुक्तम् जीवात्मानम् । अर्वद्भिः–हरिभिः, ज्ञानवद्भिः विद्वद्भिः ।

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥३॥
ऋ० १० । ७६ । ८ ॥

भा०—(हरि श्मशारुः) पीत वर्ण की श्मश्रुओं और (हरिकेशः) दीप्तिमान केश या किरणों वाले सूर्य के समान तेजस्वी (आयसः) लोह या सुवर्ण का मानो बना हुआ, गौर कान्तनदेह अथवा परमऐश्वर्यवान्, (यः) जो (हरिपाः) वीर सैनिकों का पति होकर (तुरःपेये, वाजपेये) वेगवान साधनों से या हिंसाकारी प्रयोग, युद्ध द्वारा राष्ट्र के पालन कार्य में (अवर्धत) बड़ा शक्तिशाली होजाता है और वह (वाजिनीवसुः) बलवती सेनाओं को बसाने हारा, उनमें स्वयं बसने वाला, या सेनाओं को ही सर्वस्व मानने वाला (अर्वद्भिः) वेगवान् (हरिभिः) अश्वारोहियों या योद्धाओं द्वारा (हरी) अपने उत्साह और पराक्रम से (विश्वा दुरिता) समस्त दुर्गम विपत्तियों को (पारिषत्) पार कर जाता है ।

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः ।
प्र यत् कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः ॥४॥
ऋ० १० । ९६ । ९ ॥

भा०—(यस्य) जिसके (शिप्रे) शीघ्र गतिशील (हरिणी) दोनों बाजू की सेनाएं (वाजाय) संग्राम कार्य के लिये (स्रुवा इव) स्रवणशील दो धाराओं के समान या दो हाथों के समान या यज्ञ से स्रुवों के समान (विपेततुः) विशेष रूपसे या विविध प्रकारों से गति करती हैं और (हरिणी) वे दोनों सेनाएं (वाजाय दविध्वतः) संग्राम के लिये ही आगे बढ़ती हैं । (यत्) जब (कृते चमसे) अन्नादि से सेजाय हुए पात्र या थाली में

(मदस्य) तृप्तिकारी (हर्यतः) मनोहर (अन्धसः) अन्न रस को (पीत्वा) पान करके जिस प्रकार पुरुष अपने (हरी मर्मृजत्) अपनी आंखों को स्वच्छ करता या आगे बढने वाले बाहुओं पर हाथ फेरता है और उसी प्रकार वह इन्द्र, सेनापति (मदस्य) तृप्तिकारी (हर्यतः) कान्तिमान् तेजोमय (अन्धसः) राष्ट्र को भोग कर (हरी मर्मृजत्) अपने उत्साह और पराक्रम को बलवान् करता है।

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्योरत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत्।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद् वयो दधिषे हर्यतश्चिदा॥५

भा०—(अत्यः वाजं न) जिस प्रकार अश्व संग्राम को जाता है उसी प्रकार (हरिवान्) वीर योद्धाओं से युक्त सेनापति (हर्यतस्य) कान्तिमान् राजा के और (पस्त्योः) स्त्री पुरुषों के (सद्म) आश्रय और शरण भूत राष्ट्र को (अचिक्रदत्) प्राप्त होता है। (ओजसा) पराक्रम से ही (मही धिषणा) बड़ी भारी सेना या भूमि (चित् हि) भी उसको (अहर्यत्) अपना स्वामी बनाना चाहती है। और हे पृथिवि! तू (हर्यतः चित्) उस कमनीय राजा के ही निमित्त (बृहत् वयः) बड़ी भारी अन्नादि भोग्य सामग्री (दधिषे) प्रदान करती है।

[३२] परमेश्वर की स्तुति

वरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः। हरिस्तुतिः। १ जगती। २, ३ त्रिष्टुभौ। तृचं सूक्तम्॥

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय॥१॥

ऋ० १०।७६।११॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! परमेश्वर (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (रोदसी) आकाश और पृथिवी को (आ हर्यमाणः) व्यापता हुआ तू (नव्यं नव्यम्) सदा नये से नये (प्रियम्) अतिप्रिय (मन्म) मनन

करने योग्य गुण को (हर्यसि) प्रकट करता है। हे (असुर) शक्तिमान् बलवन् ! (सूर्याय) सूर्य के समान तेजस्वी (हरये) ज्ञानी पुरुष के लिये (गोः) वेदवाणी के (हर्यतं) कमनीय (पस्त्यम्) एकमात्र आश्रय ज्ञान के निधि को (आविः कृधि) प्रकट कर।

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र ।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन् यज्ञं सधमादे दशोणिम् ॥२॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! (जनानां) जनों के बीच में से (प्रयुजः) उत्कृष्ट योग समाधि करने हारे योगीजन (हरिशिप्रम्) दुःखों के विनाशक ज्ञान से पूर्ण (हर्यन्तं) अति कमनीय (त्वा) तुझको (आवहन्तु) साक्षात् प्राप्त करें। हे प्रभो ! तु (प्रतिभूतस्य) साक्षात् भेट किये (मध्वः) मधु अमृत (यथा) के समान (हर्यन्) कामना करता हुआ (सधमादे) एक संग आनन्द लाभ करने के अवसर में (दशोणिम्) दशों इन्द्रिय या प्राणों से युक्त (यज्ञं) यज्ञ रूप आत्मा को (पिब) पानकर, स्वीकार कर अपना। अर्थात् जिस प्रकार पूज्य अतिथि प्रेम पूर्वक भेट किये मधुपर्क को खाता है उसी प्रकार वह परमेश्वर हमारे दश प्राणों से युक्त उसके समर्पित आत्मा को अपने आश्रय में लीन करे।

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते ।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व ॥३॥

भा०—हे (हरिवः) हरणशील प्रलयकारिणी शक्तियों से सम्पन्न ! तू (पूर्वेषां सुतानाम्) पूर्व उत्पन्न किये समस्त जगतों को और पूर्व काल में ज्ञान सम्पन्न जीवात्माओं को भी (अपाः) अपनी शरण ले चुका है। अपने में प्रलीन कर चुका है। (इदं सवनं) यह इस प्रकार का (सवन) स्वीकार करना (ते केवलम्) केवल तुम्हें ही शोभा देता है। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (मधुमन्तं सोमम्) मधु, अमृत रस से युक्त (सोम) सोम

जीव को अमृत ब्रह्मानन्द रस वाले ब्रह्मवित् जीव को (ममद्धि) तू स्वीकार कर। (सत्रा) एक साथ ही (वृध) उस सुख के वर्धक, धर्म-मेघ रूप योगी आत्मा को (जठरे) अपने भीतर (आवृषस्व) जल के समान डाल ले।

[३३] राजा और परमेश्वर का वर्णन

अष्टको वैश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥१॥

ऋ० १० । १०४ । २ ॥

भा०—हे (हरिवः) हरणशील दुःखहारी साधनों या वीर पुरुषों से सम्पन्न! (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! राजन्! (अप्सु) प्रजाओं में (धूतस्य) प्राप्त और (नृभिः) मनुष्यों नेता पुरुषों द्वारा (सुतस्य) उत्पादित अन्न एवं राष्ट्रैश्वर्य को (इह) यहां रहकर (पिब) पानकर, भोगकर। (जठरं पृणस्व) अपने उदर को, कोष को भरले (यम्) जिस भोग्य ऐश्वर्य को (अद्रयः) मेघ के समान उदार जन (तुभ्यम् मिमिक्षुः) तुझे प्रदान करते हैं हे (उक्थवाहः) वेदाज्ञा के अनुसार ऐश्वर्यों को प्राप्त करने हारे धार्मिक राजन्! (तेभिः) उन ऐश्वर्यों से (मदम्) अपने आनन्द तृप्ति को (वर्धस्व) बढ़ा, उनसे संतुष्ट हो।

परमात्मा पक्ष में—हे हरिवन्! शक्तिमन्! (नृभिः) योगिजनों से शुद्ध रूप से निष्पादित, (अप्सु धूतस्य) प्राणों के द्वारा योग साधनों से परिशोधित आत्मा को स्वीकार कर। (यम् अद्रयः मिमिक्षुः) जिसको धर्म मेघ सिद्ध साधक आनन्द रसों से सेचन करते हैं उनसे हे (उक्थवाहः) ज्ञानवन्! तू वृद्धि को प्राप्त हो।

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥२॥

भा०—हे (हर्यश्व) वेगवान् अश्वों से युक्त, राजन्! मैं (प्रयै) उत्कृष्ट मार्ग से मनन करने के लिये (तुभ्यं वृष्णे) बलवान तेरे लिये (सुतस्य) उत्पादित सत्य ज्ञान की (उग्राम्) बलवती, (सत्याम्) सत्य पूर्ण, (पीतिम्) पान योग्य ज्ञान धारा को (प्र इयर्मि) प्राप्त कराता हूं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन्! तू (शच्या) अपनी शक्ति के कारण (विश्वाभिः) समस्त प्रकार की (धीभिः) स्तुतियों से (गृणानः) स्तुति किया जाकर (इह) यहां (धेनाभिः) तुष्टिकारी रस धाराओं या वाणियों से (मादयस्व) स्वयं तृप्त हो, अन्यों को भी तृप्त कर।

परमेश्वर पक्ष में—हे (हर्यश्व) व्याप्त शक्तियों से युक्त! (तुभ्यं वृष्णे) सब सुखों के वर्षक तेरे लिये (प्रयै) अपनी ही उत्कृष्ट गति की प्राप्ति के लिये मैं (उग्रां पीतिं प्र इयर्मि) बलवती पीति अर्थात् स्नेहपूर्ण स्वीकृति को जगाता हूं। (शच्या) महती शक्ति के कारण ही (धीभिः) समस्त धारणावती बुद्धियों द्वारा (गृणानः) स्तुति किया जाकर (विश्वाभिः धेनाभिः मादयस्व) समस्त रस धाराओं से जीवों को तृप्त कर।

ऊती शचीवस्तव वीर्येण वयो दधाना उशिज ऋतज्ञाः।
प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे (शचीवः) शक्तिशालिन्! (तव ऊत्या) तेरे रक्षणकारी शक्ति से और (तव वीर्येण) तेरे सर्वोत्पादक वीर्य से ही (ऋतज्ञाः) सत्य ज्ञान के ज्ञाता (उशिजः) वशी, तेरे प्रिय भक्त-जन (प्रजावत्) प्रजा, पुत्र पौत्रादि से युक्त (वयः) दीर्घ जीवन को (दधानाः) धारण करते हुए (सधमाद्यासः) एक स्थान पर आनन्द लाभ करने हारे विद्वान् पुरुष (गृणन्तः) ज्ञानोपदेश करते हुए (मनुषः

दुरोणे) मनुष्य के गृह के समान इस मनुष्य देह में (तस्थुः) रहते हैं। जीवन यापन करते हैं।

अध्यात्म में—(ऋतज्ञाः) आत्मा को जानने वाले (उशिजः) प्राण गण, हे आत्मन् तेरे वीर्य से ही (वयः) जीवन को धारण करते हुए इस देह में रहते हैं।

॥ इति तृतीयेऽनुवाके तृतीयः पर्यायः ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

---

[३४] इन्द्र परमेश्वर और राजा और आत्मा का वर्णन।

गृत्समद ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । सामसूक्तम् । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः
ऋ० २ । १२ । १ ॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ और सबसे आदि में विद्यमान, (मनस्वान्) ज्ञान, मनन शक्ति से युक्त, (देवः) प्रकाश स्वरूप, सब को सब शक्तियों का दाता और सबका द्रष्टा, (जात एव) प्रकट होकर ही (क्रतुना) अपनी शक्ति से (देवान्) समस्त दिव्य शक्तियों को, सूर्यादि लोकों और विद्वान् पुरुषों को (परि अभूषत्) अपने वश कर रहा है, उनको सुशोभित और कान्तिमान कर रहा है। (नृम्णस्य) नेतृ शक्तियों से युक्त, समस्त प्राणियों में व्याप्त (मह्ना) बड़े भारी सामर्थ्य के कारण (यस्य शुष्माद्) जिसके बल से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों (अभ्यसेताम्) मानो भय से कांपती हैं। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः) वह ही (इन्द्रः) 'इन्द्र' कहाता है।

राजा के पक्ष में—(यः मनस्वान्) जो मनस्वी पुरुष उत्पन्न होते ही (क्रतुना) अपने बल से (देवान् परि अभूषत्) समस्त राजाओं को अपने वश करता है। जिस (नृम्णस्य) मनुष्यों के स्तम्भक पुरुष के (मह्ना) महान् सामर्थ्य और (शुष्मात्) शोषणकारी भयजनक बल से (रोदसी) मित्र और शत्रु दोनों अथवा राज-पुरुषवर्ग और प्रजावर्ग दोनों (अभ्यसेताम्) भय करते हैं वह 'इन्द्र' है। आत्मा के पक्ष में-मनः शक्ति से युक्त जो (क्रतुना) प्राण-बल से (देवान्) इन्द्रियों पर वश करता है। जिसके बल से (रोदसी) प्राण और अपान दोनों (अभ्यसेताम्) भय से मानो चलते हैं वह (इन्द्रः) आत्मा इन्द्र है।

यः पृ॑थि॒वीं व्यथ॑माना॒मदृं॑ह॒द् यः पर्व॑ता॒न् प्रकु॑पिताँ॒ अर॑म्णात्।
यो अ॒न्तरि॑क्षं वि॒म॒मे वरी॑यो॒ यो द्याम॒स्त॑भ्ना॒त् स जना॑स॒ इन्द्रः॑॥२॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (व्यथमानाम्) आकाश में वेग से गति करती हुई (पृथिवीम्) पृथिवी को भी (अदृंहत्) दृढ़ करता है। और (यः) जो (प्रकुपितान्) अग्नियों से धधके हुए (पर्वतान्) ज्वालामुखी पर्वतों को (अरम्णात्) शान्त करता है। और (यः) जो (वरीयः) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (विममे) बनाता या मापता है और (यः) जो (द्याम्) सूर्य और उसके समान प्रकाशमान नक्षत्रादि से मण्डित आकाश-भाग को भी (अस्तभ्नात्) थामता है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् परमेश्वर है।

राजा के पक्ष में—(यः) जो (व्यथमानां) शत्रुओं के भय से पीड़ित पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़, आघात सहने में समर्थ करता है और (प्रकुपितान् पर्वतान्) आग से धधकते ज्वालामुखियों के समान प्रजाओं पर आग्नेय अस्त्रों का वर्षण करने वाले शत्रुओं को भी ठण्डा कर देता है। (यः वरीयः अन्तरिक्षं विममे) जो विशाल अन्तरिक्ष को भी विमानों

द्वारा पार कर लेता है । (यः द्याम् अस्तभ्नात्) जो आकाश को भी अपने वश करता है, उसमें भी शत्रु के विमानों को नहीं आने देता, वह ऐश्वर्यवान् पुरुष सच्चा 'इन्द्र' पद योग्य राजा है ।

यो ह॒त्वाहि॒मरि॑णात् स॒प्त सिन्धू॒न् यो गा उ॒दाज॑दप॒धा व॒लस्य॑ ।
यो अश्म॑नोर॒न्तर॒ग्निं ज॒जान॑ संवृक् स॒मत्सु॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥३॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (अहिम्) अविनाशी प्रकृति तत्व को (हत्वा) व्याप्त करके (सप्त सिन्धून्) सात समष्टि महाप्राणों को अथवा महत्, अहंकार एवं ५ सूक्ष्म तन्मात्रा इनको (अरिणात्) प्रकट करता है । और (यः) जो परमेश्वर (वलस्य) आवरणकारी अज्ञान और अन्धकार को या जड़ता को (अपधाः) दूर करके (गाः उदाजत्) ऋषियों के हृदय में ज्ञान वाणियों को और संसार में सूर्य की किरणों या लोकों को (उदाजत्) चलाता है । (यः) जो (अश्मनोः) द्यौ और पृथिवी के (अन्तः) बीच में रगड़ते दो पत्थरों के बीच में चमकने वाली अग्नि के समान या अरणियों के बीच में निकलने वाली अग्नि के समान (अग्निम्) सूर्य रूप अग्नि को (जजान) उत्पन्न करता है वह (समत्सु) समस्त व्यवहारों में (संवृक्) विघ्नों को दूर करने हारा है, हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वही 'इन्द्र' परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में—(अहिम्) जो सर्प के समान कुटिलाचारी पुरुष का नाश करके (सप्त सिन्धून् अरिणात्) सातों सरणशील समुद्रों को वश करता है । जो (वलस्य अपधाः) आवरणकारी, घेरने वाले शत्रु को दूर करके (गाः) प्रजाओं को उन्नत करता है । (अश्मनोः अन्तः) जो परस्पर में व्याप्त स्त्री पुरुषों के बीच (अग्निम्) ज्ञानवान् पुरुष को निरीक्षकरूप से स्थापित करता है । वह (समत्सु संवृक्) युद्धों में शत्रुओं का वारक है वही 'इन्द्र' है ।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहा कः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥४॥

भा०—(येन) जिस परमेश्वर ने (इमा) ये (विश्वा) समस्त (च्यवना) गतिशील लोक (कृतानि) बनाये हैं। (यः) जो (दासंवर्णम्) उपक्षयशील, विनाशी स्वभाव के (अधरम्) स्थिर न रहने वाले जगत् को (गुहा कः) आकाश में स्थापित करता है । और (जिगीवान् श्वघ्नी इव लक्षम् आददः) विजयी जूआखोर जिस प्रकार लाखों की सम्पत्ति को प्राप्त करता है, अथवा श्वघ्नी कुत्तों से शिकार करने वाला व्याध जिस प्रकार (लक्षम्) लक्ष्य को वेधता है उसी प्रकार जो (लक्षम् आददः) समस्त दृश्यमान जगत् को अपने वश कर रहा है। और (यः) जो (पुष्टानि) समस्त पुष्टि युक्त पदार्थों को (आददः) सबको देता है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह 'इन्द्र' परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में–जो इन सब (च्यवना) नियमों को बनाता है। (दासं वर्णं) जो विनाशकारी हत्यारे पेशे करने वाले वर्ग को (गुहाकः) कैद में डालता है। (यः जीगीवान्) जो विजेता होकर जुएखोर के समान लाखों को प्राप्त करता और (पुष्टानि) समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है वह महान् 'राजा' है।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥५॥

भा०—(यं) जिस (घोरम्) अद्भुत, भयानक, आश्चर्यजनक कर्म करने वाले के विषय में (पृच्छन्ति स्म) लोग प्रश्न किया करते हैं कि (कुह सः इति) वह कहां है ? (उत ईम् एनम्) और उसके विषय में (आहुः) बहुत से कहा करते हैं कि (न एषः अस्ति) वह है ही नहीं। (सः) वह (अर्यः) अज्ञानी पुरुष के (पुष्टीः) हृष्ट पुष्ट शरीरों को भी

(विजः इवः) उद्वेगजनक सिंह के समान (आ मिनाति) विनष्ट करता है। हे (जनासः) लोगो ! (अस्मै) उस ईश्वर पर (श्रद् धत्त) सत्य विश्वास करो कि वह सत् पदार्थ है। और (सः इन्द्रः) वही इन्द्र परम-ऐश्वर्यवान् परमेश्वर है।

राजा के पक्ष में—(यं घोरम्) जिस भयानक घोर संग्रामकारी के विषय में लोग भय से पूछते हैं (कुह सः ?) वह कहां है ? (उत ईम् एनम् आहुः) और वहुतसे निर्भय होकर गर्व से कह देते हैं (न एषः अस्ति) वह कुछ नहीं है। (सः विजः इव) वह भयसंचारी सिंह के समान (अर्यः) शत्रु के (पुष्टीः) समृद्धियां और पुष्ट प्रजाओं को नष्ट करता है, उसको (श्रद् धत्त) सत्य जानो, वह ही बड़ा राजा है।

यो रध्रस्यं चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥६॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (रध्रस्य कृशस्य च चोदिता) धनाढ्य और निर्धन दोनों को ऐश्वर्य का देने वाला है। (यः) जो (नाधमानस्य) प्रार्थना करने वाले (ब्रह्मणः) ब्रह्मज्ञानी और (कीरेः) विक्षिप्त चित्त या प्रार्थी का भी दाता है। (यः) जो (सुशिप्रः) उत्तम सामर्थ्य-वान् (युक्तग्राव्णः) प्राणों को योग द्वारा लगाने और (सुतसोमस्य) ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुए पुरुष का (अविता) रक्षक है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह परमैश्वर्यवान् प्रभु है।

राजा के पक्ष में—जो अमीर गरीब सब पर (चोदिता) आज्ञा चलाता है जो विद्वान् और धनी और (कीरेः) क्रियाकुशल शिल्पी सबको (चोदिता) यथावत् चलाने हारा है (युक्तग्राव्णः) शस्त्रवान् क्षत्रिय (सुतसोमस्य) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने वाले वैश्यों का भी जो (अविता) रक्षक है, हे मनुष्यो ! वह इन्द्र राजा है।

यस्याश्वा॑सः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ७ ॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर के शासन में (अश्वासः) व्यापक शक्ति वाले सूर्य और (यस्य प्रदिशि) जिसके शासन में (गावः) समस्त पृथिवी गण हैं । (यस्य) जिसके शासन में (ग्रामाः) समस्त इन्द्रियगण, जीवगण या लोक हैं (यस्य विश्वे रथासः) जिसके वश में समस्त रमण साधन देह और आत्मा हैं । (यः) जो परमेश्वर (सूर्यं) सूर्य को उत्पन्न करता है (यः उषसं जजान) जो उषा को प्रकट करता है (यः अपां नेता) जो जलों का समुद्रों का, और आप्त पुरुषों के समस्त कर्मों, बुद्धियों का भी प्रवर्त्तक है, हे (जनासः) लोगो ! (सः इन्द्रः) वह परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में—जिसके अधिकार में घोड़े, गौवें (ग्रामः) सैनिक संघ और रथ हैं । जो (सूर्यं) विद्वान् पुरुष और (उषसम्) विदुषी स्त्री को भी प्रकट करता है (यः अपां नेता) जो आप्त पुरुषों और प्रजाओं का नायक है वह 'इन्द्र' कहाने योग्य है ।

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेवर उभया अमित्राः ।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥८॥

भा०—(यम्) जिस परमेश्वर को (संयती) समान रूप से सु-व्यवस्थित, नियम में बद्ध (क्रन्दसी) द्यौ और पृथिवी उनके निवासी जन, पति पत्नी और गुरु शिष्य भी (विह्वयेते) विविध स्तुतियों से याद करते हैं । (परे) परमपद में प्राप्त और (अवरे) इस लोक के जन और (उभयाः अमित्राः) दोनों परस्पर स्नेह न करने वाले शत्रु लोग (यं) जिसको (विह्वयेते) विविध प्रकार से स्मरण करते हैं । और जिस परमेश्वर को (समानं चिद् रथम्) एक जैसे रथ अर्थात् देह में विराजमान प्राणी

भी (नाना हवेते) नाना प्रकार से स्मरण करते हैं, हे (जनासः) मनुष्यो! (सः इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर वही है।

राजा के पक्ष में—(क्रन्दसी) परस्पर का आह्वान करने या ललकार ने वाले (संयती) युद्ध में सज्ज दो सेनाएं (यं) जिस वीर राजा को (विह्वयेते) विविध उपायों से बुलाती हैं (परे अवरे) पास के और दूर के सम्बन्धी और (उभयाः) दोनों पक्षों के परस्पर के शत्रु लोग जिसको विविध प्रकार से बुलाते हैं, (समानं चित् रथम् आ तस्थिवांसा) एक समान रथों पर सवार योद्धा लोग (नाना हवेते) नाना प्रकार से सहायता के लिये बुलाते हैं। हे मनुष्यो! (स इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् राजा 'इन्द्र' पद से कहाने योग्य ही है।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥९॥

भा०—(यस्मात् ऋते) जिसके बिना (जनासः) लोग (न विजयन्ते) कभी किसी बातपर भी विजय नहीं पाते, सफल नहीं होते (युध्यमानाः) युद्ध करते हुए लोग भी (यं अवसे हवन्ते) जिसको अपनी रक्षा के लिये बुलाते हैं (यः) जो (विश्वस्य) समस्त विश्व का (प्रतिमानम्) प्रतिमान, उसके प्रत्येक पदार्थ का निर्माण करने वाला एवं समस्त विश्व को अपने में धारण कर तद्रूप (बभूव) हो गया है (यः) जो (अच्युतच्युत्) समस्त पदार्थों को भी कालवेग से विनाश करदेने वाला है, हे (जनासः) लोगो (सः इन्द्रः) वह इन्द्र, परमेश्वर है।

राजा के पक्ष में—जिसके बिना लोग विजय नहीं पाते। युद्ध करने वाले जिसको अपनी रक्षा के लिये बुलाते हैं (यः विश्वस्य) जो सब राजाओं को (प्रतिमानम्) प्रतिपक्ष होकर बराबरी करने और उनके बलों को तोल लेने में समर्थ (बभूव) हो, (यः अच्युतच्युत्) जो दृढ़तम राज्यों को उखाड़ देने में समर्थ हो, वह राजा 'इन्द्र' कहाने योग्य है।

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥१०॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (महि एनः) बड़े २ पापों, अपराधों को (शश्वतः) निरन्तर, लगातार (दधानान्) करने और (अमन्यमानान्) तिसपर भी अपने अपराधों को त्यागने के लिये स्वीकार न करने वालों को (शर्वा) अपने क्लेशदायी उपाय से (जघान) दण्डित करता है । और (शर्धते) निन्दा करने वाले पुरुष को (शृध्याम्) सहनशक्ति (न अनु ददाति) उसके अनुकूल उसकी शक्ति वृद्धि के लिये नहीं प्रदान करता। अर्थात् निन्दक, ईर्षालु तुच्छ पुरुष में दूसरे को वश करने का बल नहीं देता । (यः दस्योर्हन्ता) दूसरे का नाश करने वाले पुरुष का स्वयं नाशकारी, दण्डकर्त्ता है । हे (जनासः) मनुष्यो ! (स इन्द्रः) वह इन्द्र परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में—(महि एनो दधानान्) बड़े २ अपराधों को करने वाले दुष्ट पुरुषों को (अमन्यमानान्) और जो उसका मान न करें, उन गर्वीले लोगों का (शर्वा) अपने शस्त्र से (जघान) मारता या दण्ड देता है जो अपने निन्दाकारी को (शृध्याम् न अनुददाति) सहायता नहीं देता । (यः दस्योः हन्ता) जो दस्यु का घातक है, हे लोगो ! वह 'इन्द्र' कहाने योग्य है ।

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (पर्वतेषु) पर्वतों अर्थात् पर्व वाले मासों में या (क्षियन्तम्) विद्यमान (शम्बरम्) चन्द्र को (चत्वारिंश्याम्) ४० वें (शरदि) वर्ष में (पुनः अन्वविन्दत्) उसी स्थान पर कर देता है । अथवा (पर्वतेषु क्षियन्तं शम्बरं) मेघों में विद्यमान जल

को जिस प्रकार विद्युत् या वायु प्राप्त करता है और जिस प्रकार (चत्वारिंश्यां शरदि) ४०वें वर्ष के पश्चात् (पर्वतेषु) पालन शक्ति एवं पूर्ण ज्ञान से युक्त विद्वानों में विद्यमान या पोरुओं में विद्यमान (शम्बरम्=संवरम्) अच्छी प्रकार से गोपनीय ज्ञान-राशि वेद या ब्रह्म ज्ञानमय शब्द ब्रह्म या ब्रह्मचर्य के पूर्ण बल को पूर्ण आजन्म ब्रह्मचारी (अनु अविन्दत्) प्राप्त करता है उसी प्रकार (यः) जो (अनु अविन्दत्) सदा पूर्ण बल पराक्रम को प्राप्त किये रहता है और (यः) जो परमेश्वर (ओजायमानं) बल पकड़ने वाले (अहिम्) सर्प के समान कुटिल (दानुम्) मर्म के काटने वाले (शयानम्) हृदय में होने वाले काम विकार को (जघान) नष्ट करता है । हे (जनासः स इन्द्रः) मनुष्यो ! वह इन्द्र है ।

राजा के पक्ष में—(पर्वतेषु) पालन करने हारे शासकों में विद्यमान (शम्बरम्) शासन योग्य बल को युवा पुरुष अपने ४०वें वर्ष में प्राप्त करता है और जो (दानुं शयानं) बल के काटने वाले गुप्त सांप के समान छुपे (ओजायमानं अहिम्) पराक्रमशील कुटिल शत्रु और काम को नाश करता है वह वीर पुंगव पुरुष 'इन्द्र' है ।

यः शम्बरं पर्यतरत् कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत् सुतस्य ।
अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत् स जनास इन्द्रः ॥१२

भा०—(यः) जो परमेश्वर (कसीभिः) अपनी ज्ञान दीप्तियों से (शम्बरम्) ज्ञान को आवरण करने वाले अज्ञान को (परि अतरत्) पार

१२–ऋग्वेदेनास्ति । यः शम्बरं पर्य तरक्षसीभिर्योत्रा कृकदस्नापिबत्सुतस्य ।
अन्तर्गिरौ यजमानं बभ्रुं जनं यस्मिन्नामूर्छत्स जनास इन्द्रः
इति क्वचित् ।

(प्र०) 'परीयत' इति क्वचित् (द्वि०) कृकदस्ना, कृकस्ना इति क्वचित् ।
(तृ०) 'बभ्रुं जनं' इति च क्वचित् । अस्याः पदपाठोऽपि नोपलभ्यते ।

कर जाता है । और (यः) जो (अचारुक-आस्ना) अरमणीय, कष्टदायी, कालरूप मुख से (सुतस्य) उत्पादित जगत् का (अपिबत्) पान करता है, ग्रस लेता है । (अन्तः गिरौ) पर्वत के बीच में जिस प्रकार वायु मूर्छित होजाता है उसी प्रकार पर्वत के समान अति गुरुतम (यस्मिन्) जिस परम ऐश्वर्यवान् अपने स्वरूप में वह परमेश्वर (यजमानं) ईश्वरोपासक (बहुं जनम्) बहुतसे जनों को (अमूर्च्छेत्) मोहित कर लेता है । अथवा (गिरौ अन्तः) पर्वत पर विचरण करता हुआ पुरुष जिस प्रकार स्वयं ऊंचा होजाता है उसी प्रकार जिसके स्वरूप में मग्न बहुतसे उपासकों को जो (आ अमूर्छेत्) उन्नत पद, मोक्ष तक प्राप्त कराता है । हे (जनासः) लोगो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् प्रभु है ।

राजा के पक्ष में—(यः) जो (कसीभिः) अपनी शासन व्यवस्थाओं से (शम्बरम्) शान्तिदायक शासन-बल को (परि अतरत्) सर्वत्र फैलाता है और (यः) जो (अचारुक-आस्ना) अमनोहर, कष्टकारी मुख सेना आदि दमन द्वारा राष्ट्र का (अपिबत्) भोग करता है । (गिरौ अन्तः) पर्वत के समान (यस्मिन्) जिसके अपने आश्रय पर वह (बहुं यजमानं जनं अमूर्च्छेत्) बहुतसे दानशील करप्रद जनों को उन्नत करता है । हे (जनासः) लोगो ! (सः इन्द्रः) वह इन्द्र कहाने योग्य है ।

कसीभिः— कसि गतिशासनयोः, कस इत्येके कश इत्यन्ये । इत्यत 'ई' प्रत्यय औणादिकः । मूर्च्छामोहसमुच्छ्राययोः । भ्वादिः । अत्र समुच्छ्रायोऽर्थः ।

१२, १६, १७ ये तीन मन्त्र ऋग्वेद में नहीं हैं । उनका पदपाठ भी कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है । बृहत्सर्वानुक्रमणी में भी इस सूक्त को पञ्चदश ऋचा वाला ही माना है । कदाचित् ये तीन ऋचाएं किसी शौनक शाखा से अतिरिक्त अन्य शाखा में उपलब्ध हों ।

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥१३॥

भा०—(यः) जो परमात्मा (सप्तरश्मिः) सूर्य के समान सात रश्मियों अर्थात् सात बड़े २ नियामक बलों से सम्पन्न है। वह (तुविष्मान्) वायु के समान बड़ा बलवान्, (वृषभः) मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षण करने वाला है। वह (सप्त सिन्धून्) सात सिन्धुओं, बड़े बड़े तत्वों, सात प्राणों के समान (सर्तवे) सर्वत्र गति करने के लिये ही (अवासृजत्) बनाता है। (यः) जो (वज्रबाहुः) हाथ में वज्र लिये, संहारकारी, लकड़हारे के समान (द्याम्) आकाश की तरफ (आरोहन्तम्) पुनः बीज से अंकुरित होकर फैलने वाले वट के समान विकट रूप से फैलने वाले (रौहिणम्) संसाररूप रौहिण या बट को (अस्फुरत्) काट देता है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह इन्द्र, प्रभु है।

राजा के पक्ष में-राज्य के सप्त अंग, रूप सात रश्मियों से युक्त होकर वह सूर्य के समान तेजस्वी, वायु के समान बलवान्, राज्य का कर उठाने से वृषभ के समान अथवा प्रजाओं पर ऐश्वर्य वृद्धि करने वाला होने से मेघ के समान होकर अपने सातों (सिन्धून्) स्रोतों को फैलने के लिये ही उत्पन्न करता है। और जो (वज्रबाहुः) खड्ग हाथ में लेकर (द्याम् आरोहन्तम्) आकाश में फैलते हुए (रौहिणम्) वट के समान क्रम से अपनी जड़ें फैलाने वाले (रौहिणम्) वट स्वभाव के शत्रु को (अस्फुरत्) विनाश करता है। (सः इन्द्रः) हे मनुष्यो ! वह राजा इन्द्र वायु या विद्युत् के समान है।

बड़े प्रबल राजा का वायु और कुटिल गर्वी शत्रु राजा का शाल्मलि के दृष्टान्त से वर्णन देखो शान्तिपर्व अ० १२२ । १२४ ।

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥१४॥

भा०—(द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी दोनों लोक (चित्) भी (अस्मै नमेते) इसके आगे झुकते हैं । और (अस्य शुष्मात् चित्) इसके बल से ही (पर्वताः भयन्ते) पर्वत, मेघ भी भय से कांपते हैं । (यः) जो (सोमपाः) समस्त जगत् का पालक या समस्त ऐश्वर्यों का पालक होकर (निचितः) सर्वत्र व्यापक (वज्रबाहुः) वज्र के समान सब को पापों से वर्जन करने में समर्थ बलशाली और (वज्रहस्तः) वारक बल से ही सबको दण्ड देने वाला है । हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह इन्द्र, परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में-(द्यावापृथिवी) राजा प्रजा या नरनारी जिसके आगे झुकें, (पर्वताः) पालन शक्ति से युक्त ऊंचे पर्वत के समान बड़े भूमिपाल भी जिसके बल से कांपते हैं, वह (सोमपाः) राष्ट्र का भोक्ता (वज्रहस्तः वज्रबाहुः) वज्र के समान बलवान् बाहु वाला और खड्गहस्त होकर (निचितः) सुदृढ़ शरीर, संचित ऐश्वर्यवान् और बलवान् हो वह राजा 'इन्द्र' है ।

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥१॥

भा०—जो परमेश्वर प्रभु ! (सुन्वन्तम्) यज्ञ करने वाले की, (अवति) रक्षा करता है । (यः पचन्तम्) जो पालन करनेहारे को, अर्थात् वीर्य, विद्या और बल को परिपक्व करने वाले की रक्षा करता है (यः) जो (ऊत्या) अपने रक्षाकारिणी शक्ति से (शंसन्तं) स्तुति करने वाले और (यः शशमानम्) जो ऊंचे गति करने वाले की रक्षा करता है । (यस्य) जिस को (ब्रह्म) ब्रह्म, वेद, ब्राह्मबल (वर्धनम्) बढ़ाता है (यस्य सोमः वर्धनम्) जिसको सोम, वीर्य, क्षात्रबल और राष्ट्र बल बढ़ाता है । (यस्य इदं राधः) जिसका यह समस्त ऐश्वर्य है । (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर और राजा है ।

जातो व्य/ख्यत् पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य ।
स्तविष्यमाणो नो यो अस्मद् व्रता देवानां स जनास इन्द्रः ॥१६॥

भा०—(जातः) उत्पन्न बालक जिस प्रकार (पित्रोः उपस्थे) माता पिता दोनों के गोद में (व्यख्यत्) नाना प्रकार से अपने भाव प्रकट करता है और (भुवः) अपने उत्पन्न करनेहारी माता और (परस्य जनितुः) दूसरे उत्पादक पिता को भी नहीं जानता इसी प्रकार परमेश्वर भी (जातः) प्रादुर्भूत होकर (पित्रोः) पालन करने वाली पृथिवी और आकाश इन दो रूपों में (वि अख्यत्) विविध रूपों में दिखाई देता है। वह (भुवः) समस्त संसार के उत्पत्ति स्थान और (जनितुः) उत्पादक रूप से (परस्य) अपने से अन्य किसी दूसरे को (न वेद) नहीं जानता अर्थात् वही पृथ्वी के समान सर्वाश्रय पिता के समान सर्वोत्पादक है। और (यः) जो (स्तविष्यमाणः) स्तुति किया जाकर (नः) हमें (अस्मद्) हमारे और (देवानां व्रता) देव, दिव्य पदार्थ, सूर्य, वायु, अग्नि, जल, आकाशादि पदार्थों और विद्वानों और शरीरस्थ इन्द्रियों के (व्रताः) नियत, निश्चित धर्मों, कर्त्तव्यों और शक्तियों को (आ) प्रकट करता है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह 'इन्द्र' है।

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद् रेजन्ते भुवनानि विश्वा ।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः ॥१७॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (सोमकामः) सोम, ब्रह्मानन्द रस की कामना करने वाले योगिजनों को अतिप्रिय, (हर्यश्वः) वेगवान्, कान्ति-

१६–(प्र०) 'जातो व्यक्तः पित्रोरुपस्थे', 'व्यख्यत्', 'व्यख्यत्', व्यख्यः, 'जातो व्यख्यत्'। (द्वि०) 'भुवन वेदजनितुः'। (तृ०) स्तविष्यमाणोऽन्नोनो अस्मद्, 'स्तविष्यमाणोऽन्नो यो अस्मद्' (च०) 'वर्त्ता-देवानां' इति नाना पाठाः ॥

मान्, व्यापक शक्तियों से सम्पन्न तेजोमय रश्मियों से युक्त सूर्य के समान (सूरिः) सबका प्रेरक है। (यस्मात्) जिससे (विश्वा भुवनानि) शक्तियें प्राप्त करके समस्त लोक चलायमान हैं। (यः शम्बरं जघान) जो आवरणकारी अज्ञान को नाश करता है और (यः च शुष्णम् जघान) जो प्राणों के शोषण करने वाले क्षुत् पिपासादि कष्टों को अन्न प्रदान करके नाश करता है और (यः) जो (एकवीरः) एकमात्र वीर्यवान्, सर्वशक्तिमान् है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

राजा के पक्ष में—(सोमकामः) जो राष्ट्र का अभिलाषी (हर्यश्वः) वेगवान् अश्वों से युक्त है, जिसके भय से सब लोक कांपते हों, जो अधीनस्थ प्रजाओं के घेरने वाले (शम्बरं) उनकी शान्ति, सुख को नाश करने वाले और (शुष्णं) प्रजा का अत्याचारों से रक्त शोषण करने वाले का (जघान) नाश करता है (सः एकवीरः) वह एकमात्र वीर पुरुष 'इन्द्र' है।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥१८॥

भा०—(यः) जो (दुध्रः चित्) बड़ा दुर्धर्ष अजेय होकर ही (सुन्वते पचते) दानशील और पाकशील पुरुष को (वाजम्) वीर्य और अन्न (आदर्षि) प्रदान करता है (स किल) वह तू अवश्य (सत्यः असि) सत्य ही है। तेरे होने में कोई सन्देह नहीं है। (विश्वह) नित्यप्रति हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (वयं) हम लोग (ते प्रियासः) तेरे प्रिय और (सुवीरासः) उत्तम वीर्यवान् होकर (विदथम्) ज्ञान स्तुति का (आवदेम) वर्णन करें।

[३५] परमेश्वर का वर्णन।

नोधा गौतम ऋषिः। इन्द्रो देवता। १, २, ७, ९, १४, १६ त्रिष्टुभः। शेषाः पंक्तयः। षोडशर्चं सूक्तम् ॥

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥ १ ॥

ऋ० १ । ६१ । १ ॥

भा०—(तवसे) बड़े बलवान् (तुराय) शत्रुनाशक, (माहिनाय) गुणों से महान, (ऋचीषमाय) वेदमन्त्रों में कहे स्वरूप के समान, (अध्रिगवे) बेरोक गति वाले, सर्वव्यापक, (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् इन्द्र प्रभु के लिये मैं (प्रयः न) भूखे को जिस प्रकार अन्न देते हैं उसी प्रकार (ओहम्) अति विचारणीय (स्तोमं) स्तुति प्रदान करता हूं। और (राततमा) अति प्रेम से देने योग्य (ब्रह्माणि) वेद मन्त्रोक्त स्तुति वचन भी (हर्मि) निवेदन करता हूं। अथवा (इन्द्राय) उस परमेश्वर के (ओहम्=आ-उ-अहम्) मैं (राततमा ब्रह्माणि आ-हरामि उ) अति प्रेम से देने योग्य ब्रह्म-ज्ञानों को प्रस्तुत करता हूं।

राजा के पक्ष में—(ब्रह्माणि) अन्नादि पदार्थ या बड़े अधिकार।

अस्मा इदु प्रयं इव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥ २ ॥

भा०—(अस्मै) इस (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (प्रयः इव) अन्न के समान (आंगूषं) स्तुति को (प्र यंसि) प्रदान करता हूं। और (बाधे) अपने सब पीड़ाओं को दूर करने के लिये (सुवृक्ति) सब विघ्नों के निवारक उसकी स्तुति को (भरामि) प्रस्तुत करता हूं। इस (प्रत्नाय पत्ये) अति पुरातन सनातन स्वामी के लिये ही (इत् उ) विद्वान् लोग (हृदा) हृदय से, (मनसा) मन से और (मनीषा) मनन शक्ति के द्वारा (धियः) अपनी इन्द्रियों को (मर्जयन्त) बराबर पवित्र किया करते हैं।

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्ये/न ।
मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै ॥३॥

भा०—(अस्मा इद् उ) इस इन्द्र के लिये ही (त्यम्) उस, चिर-काल से स्मरणीय (उपमम् स्वर्षाम्) सुखप्रद, आनन्ददायी, (आंगूषम्) स्तुति वचन को (आस्येन) अपने मुख से (भरामि) प्रस्तुत करूं। और (मतीनां) मनन करने हारे समस्त पुरुषों में सबसे बड़े (मंहिष्ठम्) महान्, पूजनीय परमेश्वर (सूरिम्) परम मेधावी, सूर्य के समान सर्व प्रेरक परमेश्वर को (सुवृक्तिभिः) दुःखों के निवारण करने हारी (अच्छो क्तिभिः वावृधध्यै) उसकी महिमा की वृद्धि के लिये स्तुति करता हूं।

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय ।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ॥ ४ ॥

भा०—(तष्टा इव रथं न) जिस प्रकार शिल्पी गढ़ कर रथ को तैयार करता है उसी प्रकार (तत्सिनाय) उस परम हृदय के प्रेमी, आनन्द मय, रसमय (गिर्वाहसे) समस्त स्तुतियों के पात्र (मेधिराय) परम मेधावी या परम पवित्र (अस्म इद् उ इन्द्राय) इसही परम लक्ष्य भूत परमैश्वर्यवान् प्रभु के लिये (सुवृक्ति) उत्तम रीति से संसार दुःखों के वर्जक, (विश्वमिन्वम्) सब पदार्थों के ग्राह कराने वाले, (स्तोमम्) स्तुति समूह और (गिरः) उत्तम वेदवाणियों को (सं हिनोमि) अच्छी प्रकार प्रस्तुत करता हूं।

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे ।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥५॥

भा०—(अस्मै इव इन्द्राय) इस परम ऐश्वर्य वाले के लिये ही (श्रवस्या) अन्न, यश, कीर्त्ति और ज्ञान की प्राप्ति के लिये जिस प्रकार

(सप्तिम्) वेगवान् अश्व को रथ में जोड़ा जाता है उसी प्रकार (इन्द्राय अर्कं) इन्द्र के लिये अर्चनाकारी मन्त्र को मैं (जुह्वा) स्तुतिशील वाणी से (सम् अञ्जे) प्रकट करता हूं । और (वीरम्) वीर शूर (दानौकसम्) दान के एकमात्र आश्रय (गूर्तश्रवसम्) प्रशस्त कीर्तिमान् (पुरां दर्माणम्) शत्रु के गढ़ों के समान भीतरी बन्धन रूप आत्मा के कोशों के तोड़ने वाले उसकी (वन्दध्यै) स्तुति करने के लिये मैं भी उसी (इन्द्राय अर्कं सम् अञ्जे) प्रभु की स्तुति को प्रकट करता हूं ।

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय ।
वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥६॥

भा०—(अस्मा इद् उ) इसको प्राप्त करने के लिये ही (त्वष्टा) शिल्पी के समान रचयिता योगी (स्वपस्तमम्) उत्तम शुभ कर्मों से युक्त (स्वर्यम्) गुरु द्वारा उपदेश करने योग्य या सुख प्राप्त कराने वाले (वज्रम्) लोहार या शिल्पी जिस प्रकार (रणाय) रण के लिये तलवार को गढ़ता है उसी प्रकार वह योगी ज्ञान वज्र को (रणाय) मोक्ष सुख में रमण करने के लिये (तक्षत्) गढ़ता है, तय्यार करता है । (कियेधाः) नाना योग मुनियों को धारण करते हुए उनको अपने वश करने में समर्थ पुरुष (येन) जिस (तुजता) अज्ञान नाशक (वज्रेण) ज्ञानवज्र से (वृत्रस्य) आवरणशील अज्ञान का (चित्) भी (मर्म) मर्म, रहस्य (तुजन्) उसका नाश करते ही (विदत्) प्राप्त करता है ।

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवां चार्वन्ना ।
मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥

भा०—(अस्य मातुः इद् उ) इस समस्त सृष्टि के कर्ता का ही (महः) यह महान् कर्म है, कि वह (सवनेषु) अपने महान् सवनों में, ईश्वरीय सृष्टि उत्पत्ति आदि कार्यों में (पितुं) पालन करने योग्य समस्त

संसार-रूप सोम को (चारु अन्ना) उत्तम भोज्य अन्नों के समान वह (सद्यः) निरन्तर (पपिवान्) खाता या लीलता ही रहता है। वह (विष्णुः) व्यापक (सहीयान्) सबका वशकर्त्ता (पचतं) परिपक्व कर्म वाले, या पाक करने वाले, अपने आत्मा को साधना द्वारा पकाने वाले मुमुक्षु को (मुषायत्) अचानक ले जाता है। और (अद्रिम् अस्ता) अद्रि, शासन रूप वज्र का (अस्ता) प्रक्षेप्ता वह परमेश्वर ही (तिरः) अपने पास आये (वराहं) श्रेष्ठ ज्ञान से पूर्ण, स्तुतिशील आत्मा को (विध्यत्) विद्ध करता है, उसको अपने प्रेम में वश करता है।

अस्मा इदु ग्नाश्चिद् देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः ॥८॥

भा०—(ग्नाः चित्) गमन योग्य युवति स्त्रियां जिस प्रकार अपने पति के लिये (अर्कम् ऊवुः) सूर्य के समान तेजोमय वीर्य को प्रजारूप से धारण करती हैं उसी प्रकार (अहिहत्ये) अज्ञान के नाश के लिये (देव-पत्नीः) संसार की दिव्य पालक शक्तियां, या देव-परमेश्वर की पालक श-क्तियां और (ग्नाः) गमनयोग्य स्तुतिवाणियां (अस्मै इन्द्राय इत् उ) इस इन्द्र परमेश्वर के ही (अर्कम्) अर्चनीय स्वरूप को (ऊवुः) अपने भीतर धारण करती हैं। (उर्वी) विशाल (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों को वह (परि जभ्रे) सब प्रकार से व्याप्त है। और (ते) वे दोनों (अस्य महिमानं) इसके महान् सामर्थ्य को (न परि स्तः) सीमित नहीं कर सकतीं।

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्।
स्वराळिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय ॥९॥

भा०—(अस्य इत् इव) इस परमेश्वर का ही (महित्वम्) महान् सामर्थ्य (दिवः प्ररिरिचे) महान् आकाश से भी बढ़ गया है। और (पृथि-

व्याः) पृथिवी से और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से भी (परि) परे (प्र रिरिचे) गया हुआ है । (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (इन्द्रः) ऐश्वर्य-वान् (स्वरिः) उत्तम प्रबल शत्रुमान् और (अमत्रः) उत्तम योद्धा के समान चढ़ाई करने में कुशल, (विश्वगूर्त्तः) सबसे वन्दनीय होकर (दने) दमन करने योग्य शत्रु पर भी (रणाय) संग्राम के लिये (आववक्षे) सब पदार्थों को धारण करता है ।

अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः ।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः ॥१०॥

भा०—(अस्य इत् एव) उसके ही (शवसा) बल पराक्रम से (शुषन्तं) सूखते हुए, भयभीत (वृत्रम्) अज्ञान रूप वृत्र को, वायुके बल से भिन्न भिन्न होते मेघ को जिस प्रकार बिजुली नाश करती है अथवा परा-क्रमी राजा के पराक्रम से जिस प्रकार भयभीत विघ्नकारी शत्रु को वीर राजा नाश करता है उसी प्रकार (वज्रेण) ज्ञान-वज्र से (इन्द्रः) वह स्वयं ऐश्वर्यवान् (विवृश्चत्) नाना प्रकार से नाश करता है । और जिस प्रकार इन्द्र, वायु मेघ से (अवनीः) जन्तुओं की रक्षा करने वाले (व्राणाः) रुके हुए जलों को नीचे बरसाता है और फिर (श्रवः) अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह इन्द्र भी (गाः न) सूर्य की गौओं, रश्मियों के समान (अवनीः) अपने पालन करने वाली भूमियों को (अमुञ्चत्) त्यागता या प्रदान करता है और वह (सचेताः) प्रेम युक्त होकर (दावने) दानशील पुरुष को (श्रवः) अन्न और ख्याति और ज्ञान (अभि अमुञ्चत्) सब प्रकार से देता है ।

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद् वज्रेण सीमयच्छत् ।
ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन् तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥११॥

भा०—(अस्य इत्) इस परमेश्वर के ही (त्वेषसा) दीप्तियुक्त प्रखर तेज से (सिन्धवः) बहने वाले जल (रन्त) नाना प्रकार की क्रीड़ाएं करते हैं । (यत्) क्योंकि वह ही उनको (वज्रेण) अपने बल से (सीम्) सब प्रकार से (परि अयच्छत्) नियम में बांधता है । वह ही (ईशानकृत्) समस्त सामर्थ्यवान्, ऐश्वर्ययुक्त सूर्य, वायु, विद्युत् आदि पदार्थों का रचयिता होकर (दाशुषे) दानशील पुरुष स्वयं (दशस्यन्) बहुत ऐश्वर्य प्रदान करता है और वह (तुर्वणिः) अति वेग से सर्वत्र व्याप्तिशील विद्युत् जिस प्रकार (तुर्वीतये) अति वेग से जाने वाले पुरुष को (गाधं कः) अपना पूर्ण वैद्युतिक ऐश्वर्य सामर्थ्य प्रदान करती है उसी प्रकार वह परमेश्वर भी (तुर्वणिः) अति शीघ्र सबको प्राप्त होने हारा होकर (तुर्वीतये) शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होने वाले साधक पुरुष को (गाधं कः) अपना ज्ञानैश्वर्य प्रदान करता है ।

सामर्थ्यवान् राजा या एंजिनीयर पुरुष के पक्ष में—उसके प्रताप से नदियें नहर के रूपों में क्रीड़ा करती हैं । वह वज्र से, शक्ति से उनको बांधों द्वारा वश करता है । समस्त (ईशानकृत्) विद्युत्, वायु आदि शक्तियों को उत्पन्न करता है । शीघ्रगामी के लिये (गाधं कः) उसी प्रकार के उत्तम साधन, ऐश्वर्य उत्पन्न करता है ।

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥१२॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (ईशानः) सबका स्वामी (तूतुजानः) अति वेग से सर्वत्र व्याप्त सबको तीव्रगति देनेहारा और (कियेधाः) न मालूम तू कितने बल पराक्रम और ऐश्वर्य को धारण करनेहारा है । अथवा (कियेधाः) तू सर्वत्र व्याप्त होकर समस्त संसार को धारण कर रहा है । तू ही (अस्मै वृत्राय) इस सर्व आवरणकारी जगत् के मूल कारण रूप

तमोमय मेघ पर, शत्रु पर खड्ग के समान और मेघ पर बिजली के समान (वज्रम्) उसके निवारक वज्र या वीर्य या बल का (प्र भर) प्रयोग करता है । और (अर्णांसि इष्यन्) मेघ के जल बरसाने की इच्छा करता हुआ वायु जिस प्रकार (अपां चरध्यै) जलों के प्रवाह करने के लिये (तिरश्चा) तिरछे बिजुली रूप वज्र से प्रहार करता है और जिस प्रकार विजिगीषु राजा (अर्णांसि इष्यन्) धन ऐश्वर्यों की कामना करता हुआ (अपां चरध्यै) प्रजाओं के या सेनाओं के आगे बढ़ाने के लिये (तिरश्चा वज्रेण) तिरछे चलने वाले तलवार से शत्रुओं के शरीरों का (गोः पर्व न) डोम कसाई जिस प्रकार मरी गाय के पोरु २ को काटता है उसी प्रकार बोटी २ काटता है, उसी प्रकार हे परमात्मन् ! तू भी (अपां चरध्यै) आप्त जनों के ज्ञान प्राप्त कराने के लिये (अर्णांसि इष्यन्) नाना ज्ञान सुखों को प्राप्त कराना चाहता हुआ अपने (तिरश्चा) समस्त तीर्णतम, परमपद तक पहुंचने वाले ज्ञान वज्र से ही (गोः पर्व न) मानो वेदवाणी के एक २ पोरु को (वि रद) विविध रूप से खोल देता है । दृष्टान्तों से ही राजा के पक्ष में स्पष्ट है ।

अ॒स्येदु॒ प्र ब्रू॑हि पू॒र्व्याणि॑ तु॒रस्य॒ कर्मा॑णि॒ नव्य॑ उ॒क्थैः ।
यु॒धे यदि॑ष्णा॒न आयु॑धान्यृघा॒यमा॑णो निरि॒णाति॒ शत्रू॑न् ॥१३॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! (यद्) जब (युधे) संग्राम के लिये (आयुधानि) शस्त्र अस्त्रों को (इष्णानः) मारता हुआ और (शत्रून्) शत्रुओं को (ऋघायमाणः) मारता हुआ (निरिणाति) आगे बढ़ता है तभी (अस्य इत् तुरस्य) उस शीघ्रकारी अतिवेगवान् बलवान् विजेता के (पूर्व्याणि कर्माणि) पूर्व वीर कर्मों को (प्र ब्रूहि) कहाकर इससे वह और भी उत्तेजित होकर वीरता दिखावे क्योंकि वह ही (उक्थैः नव्यः) उत्तम वचनों द्वारा स्तुति के योग्य है ।

परमेश्वर के पक्ष में—(युधे) अपने भीतरी शत्रुओं से संग्राम करने के लिये (आयुधानि इष्णानः) उपायों को करता हुआ (शत्रून् ऋघायमाणः निरिणाति) आत्मा के बल को काटने वाले काम, क्रोध आदि को विनाश करता हुआ आगे बढ़ता है। तब इस परमेश्वर के ही पूर्व के सृष्टि रचना आदि कर्मों की स्तुति करे, क्योंकि वह ही (नव्यः उक्थैः) स्तुति-वचनों से स्तुति के योग्य है।

अस्येदु भिया गिरयश्च दृळ्हा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद् वीर्याय नोधाः ॥१४॥

भा०—(अस्य इत् भिया) इसके ही भय से (गिरयः च दृढ़ाः) समस्त पर्वत दृढ़ होकर बैठे हैं। (अस्य जनुषः च भिया) इस सर्वोत्पादक परमेश्वर के ही बल से (द्यावा च भूमा) आकाश और भूमि दोनों लोक (तुजेते) चल रहे हैं, कांपते हैं। (वेनस्य) इसी प्रज्ञावान् मेधावी, कान्तिमान् परमेश्वर के (ओणिं) रक्षा की (उपो जोगुवानः) नाना प्रकार से प्रार्थना करता हुआ (नोधाः) स्तुतिशील पुरुष (सद्यः वीर्याय भुवत्) शीघ्र ही वीर कर्म करने के लिये समर्थ होजाता है।

अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद् वव्ने भूरेरीशानः ।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥१५॥

भा०—(एषाम्) इन समस्त लौकिक पदार्थों में से (त्यत्) वही अलौकिक, सर्वोत्तम पदार्थ (अस्मै इत्) इस परमेश्वर को (अनुदायि) समर्पित किया जाता है (यत्) जिसको वह (एकः) एकमात्र (भूरेः) बहुत भारी ऐश्वर्य का (ईशानः) स्वामी होकर (वव्ने) स्वीकार करता है, मांगता है। (इन्द्रः) वह परमेश्वर ही (सौवश्व्ये सूर्ये) उत्तम अश्वों, इन्द्रियों से युक्त (सूर्ये) सूर्य के समान तेजस्वी पद के निमित्त (पस्पृधानं) स्पर्धा करते हुए, उस पद को प्राप्त करने में यत्नशील (सुष्विम्) उत्तम

यत्नशील (एतशं) आवागमनकारी जीव आत्मा को (प्र आवत्) अच्छी प्रकार रक्षा करता है ।

सूर्य के पक्ष में-(इन्द्रः) वायु, सौवश्व्ये सूर्ये पस्पृधानं सुष्विम् एतशं प्रावत्) उत्तम रश्मियों से युक्त सूर्य के प्रकाश में स्पर्धा करने वाले 'एतशं' उत्तम जल वर्षी मेघ की रक्षा करता है ।

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन् ।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥१६॥

भा०—हे (हारियोजन) ज्ञानी पुरुषों को योग द्वारा साक्षात् करने योग्य समस्त सूर्यों को प्रेरणा करने हारे ! हे (इन्द्र) परमेश्वर ! वेगवान् पदार्थों और प्राणों को युक्त करने वाले ! आत्मन् ! (ते एव) तेरे ही लिये (गोतमासः) उत्तम वेदवाणी में निष्ठ विद्वान् पुरुष (सुवृक्ति) उत्तम हृदय हारि (ब्रह्माणि) वेद मंत्रों और ब्रह्मज्ञान के वचनों का (अक्रन्) साक्षात् करते हैं (एषु) इनमें ही तू (विश्वपेशसं धियं) नाना मनोहर स्वरूप वाली धारणावती बुद्धि को (धाः) प्रदान करता है । वह इन्द्र, (प्रातः) प्रातःकाल ही (धियावसुः) समस्त कर्मैश्वर्यवान्, परमेश्वर (मक्षू) यथा शीघ्र (आजगम्यात्) ज्ञान करने योग्य, प्राप्तव्य एवं उपासना करने योग्य है । अथवा वही हमें नित्य प्रातः प्राप्त हो ।

[३६] ईश्वर स्तुति

भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः ।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान् ॥१॥

भा०—जो परमेश्वर (एक इत्) एकमात्र (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के लिये (हव्यः) स्तुति करने योग्य है, (तम् इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान्

परमात्मा को (आभिः गीर्भिः) इन वाणियों से (अभि अर्च) साक्षात् स्तुति करता हूं । (यः) जो (वृषभः) सब सुखों की वर्षा करने हारा और वृषभ के समान (वृष्ण्यावान्) समस्त बल वीर्यों से युक्त, (सत्यः) सत्यस्वरूप, (सत्वा) सत् पदार्थों का स्वामी, (सहस्वान्) परमशक्तिमान्, (पुरुमायः) पूर्ण ज्ञानवान्, एवं (पुरुमायः) अनेक निर्माणकारिणी शक्तियों से युक्त, एवं अनेक विध अद्भुत आश्चर्यजनक शक्तियों से युक्त (पत्यते) जाना जाता है ।

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः ।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥२॥

भा०—(नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पालक, (नवग्वाः) नव स्तुतिवाणियों को उच्चारण करने वाले, (सप्त) सप्त, सातों प्राण जिस प्रकार आत्मा की उपासना करते हैं उसी प्रकार उनके समान परमात्मा की उपासना करने और उसके प्रति ज्ञानमार्ग से सर्पणशील, (विप्रासः) परम मेधावी, (तम उ अभि वाजयन्तः) उसी का ही साक्षात् ज्ञान लाभ करते हुए स्तुति किया करते हैं । वे (नक्षद्-दाभम्) व्याप्त दोषों और शत्रुओं के नाशक, दुःखों से तारक (पर्वतेष्ठाम्) पर्वत पर स्थिर सर्वोच्च (अद्रोघवाचम्) द्रोह रहित वाणी के या आज्ञा के देने वाले, अनुलंघनीय आज्ञा के दाता (शविष्ठम्) अतिबलशाली, शक्तिमान् उस इन्द्र को (मतिभिः) मनन योग्य स्तुतियों द्वारा मनन करते हैं ।

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः ।
यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् तमा भर हरिवो मादयध्यै ॥३॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (अस्कृधोयुः) सदा अविनाशी, अखण्ड, महान्, (अजरः) अजर, (स्वर्वान्) सुखमय लोकों का स्वामी है । हे (हरिवः) वेगवान् शक्तियों के स्वामिन् ! तू (मादयध्यै) समस्त जीवों

को तृप्त करने के लिये (तत्) वह अपूर्व ऐश्वर्य (आ भर) हमें प्राप्त करा। हम लोग (अस्य) इस (पुरु वीरस्य) बहुतसे वीर पुरुषों से युक्त, (नृवतः) मनुष्य सेवकों से युक्त, (पुरुक्षोः) बहुतसी अन्न समृद्धि से युक्त (रायः) ऐश्वर्य, राज्यादि की (तम् इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर से (ईमहे) याचना करते हैं।

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनशुः सुम्नमिन्द्र।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से रक्षकरूप में बुलाये जाने, नित्य स्मरण करने योग्य! हे (पुरुवसो) बहुत ऐश्वर्यों से युक्त! एवं बहुत से लोकों में बसने और बहुतों को बसाने में समर्थ! हे (खिद्वः) शत्रुओं के खेदजनक या समस्त दुःखों के विनाशक या सबको दीन विनीत करनेहारे! हे (दुध्र) दुर्धर! घोरूप! (यदि) जिस प्रकार से (पुराचित्) पहले भी (जरितारः) तेरे स्तुतिकर्त्ता विद्वान् पुरुष (ते सुम्नम्) तेरे सुखकारी ऐश्वर्य को (आनशुः) प्राप्त करते थे (नः) हमें (तत् वि वोचः) उसका विशेष रूप से उपदेश कर। (असुरघ्नः) असुरों के विनाश करने वाले (ते) तेरा (कः भागः) कौनसा भाग है ? और (किं वयः) तेरा उपादेय अन्न या बल क्या है ?

तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ ॥५॥

भा०—(यस्य) जिस विद्वान् की (वेपी) क्रिया शक्ति से युक्त, बलवती, (वक्वरी) ज्ञानोपदेश करने वाली (गीः) वाणी (तम्) उस (वज्रहस्तं) वज्र हाथ में लिये (रथेष्ठाम् इन्द्रम्) रथ पर स्थित सेनापति के समान ज्ञानवज्र हाथ में लिये, रसमें, परमानन्द में स्थित इस ऐश्वर्यवान् आत्मा के विषय में (पृच्छन्ती) प्रश्न करती हुई, जिज्ञासा करती हुई, (तुविग्राभम्)

बहुतसे लोकों काग्रहण करने वाले, उनके वशीकर्त्ता, (तुविकूर्मिम्) बहुत से कर्मों के करनेहारे, विश्वकर्मा (रभोदाम्) बलप्रद, ज्ञानप्रद इन्द्र की (गातुम्) स्तुति करना (इषे) चाहती है वही पुरुष (तुम्रम्) उस सर्वव्यापक को (अच्छ) भली प्रकार (नक्षते) प्राप्त करता है ।

अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन ।
अच्युता चिद् वीलिता स्वोजो रुजो वि दृह्ला धृषता विरप्शिन् ॥६॥

भा०—हे (स्वतवः) स्वयं बलस्वरूप ! इन्द्र ! परमेश्वर ! (अया) इस प्रत्यक्ष (मायया) माया, प्रकृति की शक्ति से (वावृधानं) बढ़ने वाले (त्यं) उस शत्रु के समान अज्ञान आवरणको (मनोजुवा) मन से ग्राहच्य (पर्वतेन) पर्ववत् या पालनकारी ज्ञानवज्र से (विरुजः) विविध प्रकार से नाश कर । और हे विरप्शिन् ! हे महान् ! (अच्युता) न च्युत होने वाली, (वीलिता) हृष्ट पुष्ट अङ्ग वाली (दृह्ला) दृढ़ सेनाओं को हे (स्वोजः) उत्तम बलशालिन् ! तू (धृषता) शत्रु को धर्षण करने वाले बल से (वि रुजः) विनाश कर ।

राजा के पक्ष में—(अया मायया वावृधानं त्यं) इस प्रकार की माया से बढ़ते हुए शत्रु को तू (मनोजुवा पर्वतेन) मनोवेग से चलने वाले वज्र से नाश कर । हे विरप्शिन् ! महान् ! धर्षणशील सामर्थ्य या वज्र से (अच्युता वीलिता विरुजः) दृढ़ सेनाबलों का भी विनाश कर ।

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत् परितंसयध्यै ।
स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि ॥७॥

भा०—(वः) आप लोग (तं) उस (शविष्ठं) अति शक्तिशाली (प्रत्नं) अति पुराण पुरुष को (प्रत्नवत्) पुरातन विद्वानों के समान ही हे मनुष्यो ! (परि तंसयध्यै) स्तुतियों से अलंकृत करने का यत्न करो । (सः) वह (सुवह्मा) उत्तम पदतक पहुंचाने में समर्थ, एवं समस्त उत्तम

पद और पदार्थों को धारण करने वाला, (इन्द्रः) महाराजा के समान महान् ऐश्वर्य युक्त परमेश्वर (अनिमान:) अनन्त बलशाली होकर (विश्वानि) समस्त (दुर्गहाणि) कठिनता से पार किये जाने योग्य, दुर्गम संकटों से (अति वक्षत्) पार कर देता है ।

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोन्तरिक्षा ।
तपा वृषन् विश्वतः शोचिषा तान् ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥८॥

भा०—हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षण करने हारे ! तू (द्रुह्वणे जनाय) द्रोहशील पुरुष के संताप के लिये (पार्थिवानि दिव्यानि अन्तरिक्षा) पृथिवी, आकाश और अन्तरिक्ष के पदार्थों को भी (आदीपय) खूब अच्छी प्रकार प्रज्वलित कर, (तान्) उन द्रोही पुरुषों को (शोचिषा) ज्वालामय तेज से (विश्वतः तप) सब ओर से संतप्त कर । (ब्रह्मद्विषे) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुषों के शत्रु के लिये (क्षाम् अपः च) पृथिवी और जलों को भी (शोचय) शप्त कर । वे उसको सुखकारी न होकर कष्टदायी हों ।

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक् ।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥९

भा०—हे (अजुर्य) अविनाशिन् ! नित्य ! परमेश्वर ! तू (दिव्यस्य जनस्य) ज्ञानयुक्त जन्तुओं या मनुष्यों को और (पार्थिवस्य) पृथिवी पर उत्पन्न (जगत्) जंगम प्राणी संसार का भी (राजा भुवः) राजा है । हे (त्वेषसंदृक्) उज्ज्वल तेजस्वी चक्षु वाले या स्वतः तीक्ष्ण तेजस्विन् ! हे (इन्द) इन्द ! राजन् ! प्रभो ! तू (दक्षिणे हस्ते) दायें हाथ, क्रियामय गतिप्रद साधन में (वज्रं धिष्व) वज्र, वीर्य को धारण कर । (विश्वाः मायाः) तू समस्त मायाओं, प्रज्ञाओं को (विदयसे) विविध प्रकार से धारण करता है । अथवा (विश्वाः मायाः) समस्त छलों को (विदयसे) विविध प्रकार से नाश करता है ।

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्ति शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥१०॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (नः) हमें (शत्रुतूर्याय) शत्रु के नाश के लिये (अमृध्राम्) अविनाशी (बृहताम्) बड़ी भारी (संयतम्) सुसंयत, एक साथ मिलकर गमन करने वाली (सु=अस्ति) उत्तम कल्याणकारिणी सम्पत्ति को (आ करः) रच, बना (यया) जिससे, हे (वज्रिन्) शक्तिधर ! तू (दासानि) दूसरों के विनाशकारी, दुष्ट (वृत्रा) विघ्नकारी शत्रु पुरुषों को (आर्याणि करः) आर्य, श्रेष्ठ स्वामिवत् बनाता है और जिससे (सुतुका नाहुषाणि करः) मनुष्य प्रजाओं को उत्तम पुत्र पौत्र सहित, फला फूला बनाता है ।

स नो नियुद्भिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गहि प्रयज्यो ।
न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मद्र्यद्रिक् ॥११॥

भा०—हे (पुरुहूत) बहुतों से कष्ट दशा में पुकारे जाने योग्य ! सर्वरक्षक ! हे (वेधः) सर्वविधातः ! हे (प्रयज्यो) उत्कृष्ट सर्वोच्च प्रभो ! तू (विश्ववाराभिः) सबसे वरण करने योग्य, सब कष्टों को वारण करने वाली, उन (नियुद्भिः) युद्धकारिणी शत्रु सेनाओं, शक्तियों से (आगहि) हमें प्राप्त हो । (याः) जिनको (अदेवः) अदानशील पुरुष कभी (न वरते) नहीं रख सकता । और (देवो न वरते) केवल इन्द्रियक्रीड़ा का व्यसनी पुरुष भी (न वरते) नहीं रखता । (आभिः) उन सहित तु (तूयम्) शीघ्र ही (मद्र्यद्रिक्) मेरी ओर कृपादृष्टि करता हुआ (आ याहि) आजा ।

[३७] राजा के कर्त्तव्य और परमात्मा के गुण ।

वसिष्ठ ऋषिः । त्रिष्टुभः । एकादशर्च सूक्तम् । इन्द्रो देवता ॥

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः ।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥१॥

भा०—(यः) जो तू हे इन्द्र ! राजन् ! प्रभो ! (तिग्मशृङ्गः वृषभः न) तीक्ष्ण सींगों वाले बैल के समान (भीमः) अति भयंकर (एकः) अकेला ही तू (विश्वाः कृष्टीः) समस्त मनुष्यों को, (प्रच्यावयति) मार गिराता है । (यः) और जो (शश्वतः अदाशुषः) कभी भी न देने वाले कंजूस पुरुष के (गयस्य वेदः) घर का धन (सुष्वितराय) उत्तमदाता को (प्रयन्तासि) प्रदान करता है ।

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा/ समर्ये ।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्य/स्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) तू (तन्वा) अपने विस्तृत बल से या स्वयं (शुश्रूषमाणः) सेवा करता हुआ (समर्ये) संग्राम में और यज्ञ में (त्यत्) समय २ पर (कुत्सम्) शत्रु नाशकारी पुरुष को (आ अवः) सब प्रकार से रक्षा करता है । (यत्) जब (अस्मै) इस (दासं) प्रजा के नाशक, (शुष्णं) प्रजा के शोषक और (कुयवं) कुत्सित संगति वाले पुरुष को (अस्मै) इस (आर्जुनेयाय) अर्जुनी अर्थात् पृथ्वी के हित-कारी पुत्र के समान प्रजा के लिये (शिक्षन्) दण्डित करता हुआ (अर-न्धयः) वश करता है ।

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम् ।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम् ॥३॥

भा०—हे (धृष्णो) शत्रुओं के धर्षण करने में समर्थ ! इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् प्रभो ! तू (धृषता) अपने धर्षण सामर्थ्य या शत्रुनाशक वज्र से (विश्वाभिः ऊतिभिः) अपने समस्त रक्षाकारी सेनाओं से (सुदासं) शोभन, कल्याण दानशील, (वीतहव्यं) पवित्र अन्न के प्राप्त करने वाले पुरुष को (प्र अवः) उत्तम रीति से रक्षा करता है । और (क्षेत्रसाता) क्षेत्र के प्राप्ति के लिये ये (वृत्रहत्येषु) विघ्नकारी पुरुषों के विनाश करने के

कार्यों में (पूरुम्) प्रजा के पालक (पौरुकुत्सिम्) बहुत से शत्रु नाश करने वाले (त्रसदस्युम्) चोर डाकुओं में त्रासभय उत्पन्न करने वाले वीर पुरुषों की भी (प्र अवः) अच्छे प्रकार रक्षा करता है।

त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु ॥४॥

भा०—हे (नृमणः) नेता पुरुषों द्वारा मनन, चिन्तन करने योग्य परम प्रभो ! हे (हर्यश्व) वेगवती महान् शक्तियों में व्यापक (देववीतौ) विजयशील पुरुषों के एकत्र संग्राम में जिस प्रकार राजा (भूरीणि) बहुत से शत्रुओं का नाश करता है उसी प्रकार तू (देववीतौ) देवों, प्राणों के एकत्र भोग के अवसर में (भूरीणि) बहुत से (वृत्राणि) विघ्नों को (हंसि) विनाश करता है। तू ही (दस्युं) प्रजा के नाशक चोर डाकू को (चुमुरिम्) प्रजा के धनको हड़प जाने वाले, (धुनिम्) प्रजा को त्रास देने वाले पुरुषों को और (दभीतये) शत्रु नाशक पुरुष के लिये उनको (सुहन्तु) अच्छे आयुध सम्पन्न होकर (नि अस्वापयः) सर्वथा सुलादे।

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत् पुरो नवतिं च सद्यः।
निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥५॥

भा०—हे (वज्रहस्त) ज्ञानरूप वज्र को हाथ में धारण करने हारे ! (तव) तेरे (तानि) वे (च्यौत्नानि) शत्रुओं को पद दलित करनेवाले बल हैं (यत्) जिनसे (नव नवतिं च पुरः) ९९ पुरों को नाश करने में (सद्यः) शीघ्र ही सफल होता है और (शततमा) सौवें (निवेशने) आश्रयस्थान में (अविवेषीः) प्राप्त हो जाता है और (वृत्रम्) ज्ञानके आवरण कारी (नमुचिम्) अमोच्य, अनादि वासनाबन्धों को (अहन्) विनाश करता है।

सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे ।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम् ॥६॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (रातहव्याय) अन्नादि भोग्य पदार्थों के त्यागी (दाशुषे) दानशील, (सुदासे) कल्याणमय दातव्य पदार्थों के स्वामी पुरुष के लिये (ते) तेरे (सना) अनादि सिद्ध (ता) वे २ अनेक (भोजनानि) भोग योग्य ऐश्वर्य पदार्थ हैं। हे (पुरुशाक) बहुत शक्तिमन् ! (ते वृष्णे) तुझ बलवान् परम पुरुष के प्राप्त करने के लिये (वृषणा) बलवान् (हरी) अश्वों के समान हरणशील वेगवान् प्राण और अपान दोनों को (युनज्मि) योग द्वारा वश करता हूं। और (ब्रह्माणि) ब्रह्म विषयक समस्त ज्ञान और कर्म (वाजम्) वीर्य को (व्यन्तु) प्राप्त करें।

मा ते अस्यां सहसावन् परिष्टावघाय भूम हरिवः परादै ।
त्रायस्व नोवृकेभिर्वरूथैस्तव प्रियासः सूरिषु स्याम ॥७॥

भा०—हे (सहसावन्) शक्तिशालिन् ! हे (हरिवः) ज्ञानवन् ! शक्तिशाली पदार्थों के स्वामिन् ! (ते परिष्टौ) तेरी सेवा या आज्ञा पालन के कार्य में (परादै) उचित कर्तव्य का परित्याग करके (अघाय) अपराध के दोषी हम (मा भूम) न हों। हे इन्द्र ! तू (नः) हमारी (अवृकेभिः) भेड़ियों के समान, एवं चोर-स्वभाव से रहित, सौम्य और ईमानदार (वरूथैः) सेना बलों से (त्रायस्व) रक्षा कर और हे राजन् ! हम (सूरिषु) विद्वानों के बीच में रहते हुए (तव) तेरे (प्रियासः) प्रिय होकर (स्याम) रहें।

प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः ।
नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ॥८॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (ते अभिष्टौ) तेरी ही इच्छा की अनुकूलता में हम (ते प्रियासः सखायः) तेरे प्रिय मित्र (नरः) जन तेरे (शरणे) शरण में रहकर (मदेम) आनन्द प्रसन्न होकर रहें। तू (तुर्वशं) हिंसकों के वश करने में समर्थ, (याद्वं) प्रयत्नशील, उत्साही पुरुष को (अतिथिग्वाय) पूजनीय पुरुषों के लिये (शंस्यं) प्रशंसनीय कार्य (करिष्यत्) करने की इच्छा करता हुआ (नि नि शिशीहि) खूब तीक्ष्ण कर, उनको शत्रुओं के वध के लिये उत्तेजित कर।

सुद्यश्चिन्नु ते मघवन्नभिष्टौ नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था।
ये ते हवेभिर्वि पणीँरदाशन्नस्मान् वृणीष्व युज्याय तस्मै ॥९॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (ते अभिष्टौ) तेरी इच्छा और शासन में रहते हुए (उक्थशासः) ज्ञान वाणियों का उपदेश करने वाले (नरः) नेता लोग (सद्यः चित्) सदा ही (उक्था) ज्ञानों का (शंसन्ति) उपदेश करते हैं। (ते हवेभिः) तेरे युद्धों, संग्रामों द्वारा (ये) जो विद्वान् पुरुष (पणीन्) असुरों को (अदाशन्) वध करते हैं। हे वीर पुरुष (युज्याय) योग द्वारा प्राप्तव्य, (तस्मै) उसकी प्राप्ति के लिये (अस्मान् वृणीष्व) हमें वरण करो।

एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम् ॥१०॥

भा०—हे (नृतम) नरोत्तम ! (तुभ्यम्) तेरे निमित्त (एते नरां स्तोमाः) ये स्तुति समूह या ये प्रजाओं के समूह (अस्मद्रञ्चः) हमारे सन्मुख (मघानि ददतः) नाना ऐश्वर्यों का प्रदान करते हैं। हे इन्द्र ! (वृत्रहत्ये) शत्रु के नाश करने में तू (तेषाम् शिवः) उनका कल्याणकारी (सखा) मित्र (भूः) हो और तू (शूरः) शूरवीर होकर (नृणाम्) प्रजाओं का (अविता च भूः) रक्षक हो।

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व ।
उप नो वाजान् मिमीह्युप स्तीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ११

भा०—हे (इन्द) इन्द ! ऐश्वर्यवन् ! हे (शूर) शूरवीर ! (ऊती) रक्षा के लिये (स्तवमानः) हमसे स्तुति किया गया तू (ब्रह्मजूतः) ब्रह्म अर्थात् अन्नों द्वारा समृद्ध होकर (तन्वा) अपने शरीर अथवा विस्तृत शक्ति से (वावृधस्व) वृद्धि को प्राप्त कर । (नः) हमें (वाजान्) ऐश्वर्य और अन्न (उपमिमीहि) प्रदान कर, और हमें (स्तीन्) पुत्र पौत्र आदि प्रदान कर । हे देवगण ! राजपुरुषो ! (यूयं) आप लोग (सदा) सदा काल (स्वस्तिभिः) उत्तम साधनों से (नः पात) हमारी रक्षा करें ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[३८] ईश्वर स्तुति प्रार्थना।

१–३ मधुच्छन्दा ऋषिः । ४–६ इरिम्बिठिः काण्वः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । षडृचं सूक्तम् ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! (आयाहि) तू आ । (ते हि सुषुम) तेरे लिये ही हम सोमरस, ऐश्वर्यवान् राष्ट्र, ऐश्वर्य को और अध्यात्म में समाधिरस को तैयार करते हैं (इमम् सोमम् पिब) इस सोम रस, 'सोम' अर्थात् राज्यपद का पानकर, भोग कर । (इदं मम बर्हिः) यह आसन के समान मेरा प्रजामय बृहद् राष्ट्र है । इस पर (आसदः) आकर विराजमान हो ।

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! इन्द्र ! (त्वा) तुझको (ब्रह्मयुजा) परब्रह्म महान् शक्ति के साथ योग द्वारा युक्त होने वाले (केशिना हरी) केशों वाले घोड़ों के समान रश्मियों वाले प्राण और अपान (त्वा वहताम्) तुझे प्राप्त करें । तू (नः) हमारे (ब्रह्माणि) ब्रह्मज्ञान विषयक वेदमन्त्रों का (शृणु) श्रवण कर ।

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥३॥ ऋ० ८ । १७ । १ ॥

भा०—(वयम् ब्रह्माणः) हम ब्रह्म-वेद और ब्रह्मतत्व के जाननेहारे विद्वान् लोग (युजा) योग अभ्यास द्वारा हे (इन्द) इन्द्र ! आत्मन् ! (सोमिनः) ब्रह्मरस रूप सोम को प्राप्त करने वाले और (सुतावन्तः) प्राप्त समाधि-रस से सम्पन्न होकर (सोमपाम्) समस्त सोमरस का पान या पालन करने वाले (त्वा) तेरी हम (हवामहे) स्तुति करते हैं ।

राष्ट्रपक्ष में—हम (सोमिनः) सोम, राष्ट्र को धारण करने में समर्थ (सुतावन्तः) प्राप्त ऐश्वर्य या ज्ञान से युक्त (ब्रह्माणः) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुष अपने (युजा) सहयोग से (सोमपाम् त्वाम्) राष्ट्र के पालक तुझको (हवामहे) स्तुति करते या तुझे आज्ञा करते हैं ।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—हे (गाथिनः) ब्रह्म-स्तुतियों का गान करनेहारे और (अर्किणः) अर्चनाशील विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इन्द्रम् इत्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् आत्मा को ही (अर्केभिः) स्तुति वचनों से (बृहत्) महान् बतलाते हो । उसी (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् आत्मा को (वाणीः) समस्त वेदवाणियां (अनूषत) स्तुति करती हैं ।

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ७ । २ ॥

भा०—(इन्द्रः इव) ऐश्वर्यवान् आत्मा ही (वचोयुजा) वाणी या वाक् शक्ति से बन्धे हुए (हर्योः) हरणशील प्राण और अपान के (सचा) साथ २ (आ संमिश्लः) खूब स्वामिवत् रहकर व्याप्त है । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा ही (वज्री) ज्ञान, वैराग्य द्वारा समस्त बन्धनों को वर्जन करने के सामर्थ्य रूप वज्र से युक्त, खड्गहस्त, शत्रुदमनकारी राजा के समान (हिरण्ययः) अति अधिक रमणीय स्वरूप वाला, कान्तिमान् तेजस्वी है ।

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ७ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (दीर्घाय) सुदीर्घ, सुदूर देश तक (चक्षसे) देखने के लिये ही (सूर्यम्) सूर्य को (दिवि आरोहयत्) द्यौ, आकाश में बहुत ऊंचे स्थापित करता है । और वही (गोभिः) अपनी किरणों से (अद्रिम्) मेघ को (वि ऐरयत्) विविध प्रकार से चलाता है ।

अध्यात्म में—(इन्द्रः) ज्ञानी आत्मा, पुरुष दीर्घ दृष्टि को प्राप्त करने के लिये (सूर्यम्) सर्वप्रेरक सूर्य के समान तेजस्वी प्राण को (दिवि) मूर्धा स्थान में चढ़ा लेता है । और वही (गोभिः) प्राणों के बल से (अद्रिम्) न विदीर्ण होने वाले अविनाशी आत्मा को ही (वि ऐरयत्) विविध रूपों से चलाता है ।

राजा के पक्ष में—इन्द्र राजा (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घ दर्शन, दूरदर्शिता के लिये (सूर्यं दिवि आरोहयत्) सूर्य के समान ज्ञानी, तेजस्वी पुरुष को उच्च पद पर स्थापित करता है । और (गोभिः) अपनी आज्ञाओं

(आ द्रिम्) अखण्ड राष्ट्र का या सेनाबल का (वि ऐरयत्) विविध रीति से संचालन करता है ।

[३९] ईश्वर और राजा ।

१ मधुच्छन्दाः २–५ इरिम्बिठिश्च ऋषी । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥ ऋ० १ । ७ । १० ॥

भा०—(वः जनेभ्यः) तुम प्रजाजनों के लिये (विश्वतः परि) सब से ऊपर विद्यमान राजा के समान सर्वहितकारी (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की हम (परि हवामहे) स्तुति करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वही (केवलः) केवल एकमात्र सुख स्वरूप (अस्माकम् अस्तु) हमारा आश्रय हो ।

व्य१न्तरिक्षमातिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥२॥ ऋ० ८ । १४ । ७ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र वायु (यत्) जब (वलम्) आवरणकारी मेघ को (अभिनत्) भेदता है, छिन्न भिन्न करता है और जब (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (वलम्) नगर रोंधने वाले शत्रु को छिन्न भिन्न करता है तब वह मानो (सोमस्य मदे) सोम, सर्वप्रेरक सूर्य के हर्ष में वायु (अन्तरिक्षम् वि अतिरित्) अन्तरिक्ष को व्याप लेता है । और इसी प्रकार वह राजा (सोमस्य मदे रोचना) राष्ट्र के समृद्धि के हर्ष में तृप्त होकर, अति कान्तिमान होकर (अन्तरिक्षम्) शत्रु और अपने बीच के समस्त राजागण को (वि अतिरत्) विविध उपायों से पराजित करता है ।

अध्यात्म में—(इन्द्रः यत् वलम् अभिनत्) इन्द्र, ज्ञानी आत्मा जब आवरणकारी अज्ञान रूप तम का नाश करता है तब (सोमस्य मदे रोचना)

सोम, सर्वप्रेरक ब्रह्मरस के हर्ष से अति उज्ज्वल होकर (अन्तरिक्षम्) अपने अन्तःकरण को (वि अनिरत्) विविध रूप से वश करता है।

उद् गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः।
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥३॥ ऋ० ८।१४।८॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्य सम्पन्न, परमेश्वर (अङ्गिरोभ्यः) ज्ञानवान पुरुषों के लिये (गुहा सतीः) गुहा, अन्तःकरण में विद्यमान (गाः) वेद-वाणियों को (उत् आविः कृण्वन्) ऊपर प्रकट करता हुआ ही (वलम्) अन्तःकरण को घेरने वाले अज्ञान को (अर्वाञ्चं नुनुदे) नीचे गिरा देता है। दूर कर देता है।

अध्यात्म योगी—(अङ्गिरोभ्यः गा आविः कृण्वन्) अङ्ग में, देह में रसरूप से प्रवाहित होने वाले प्राणों से (गुहा सतीः) अन्तःकरण में विद्यमान (गाः) वाणियों को या ज्ञान वृत्तियों को प्रकट करता हुआ आवरणकारी अज्ञान को नाश कर देता है। राजा (अङ्गिरोभ्यः) अंगारों के समान तीव्र दाहक वीर भटों को अपने भीतर विद्यमान आज्ञाएं देकर (वलम्) नगर रोधी शत्रु को मार गिराता है।

इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च।
स्थिराणि न पराणुदे ॥४॥ ऋ० ८।१४।९॥

भा०—(इन्द्रेण) परमेश्वर ने (दिवः) आकाश के (रोचना) प्रकाशमान सूर्य (दृढानि) दृढ, अभेद्य बनाये और (दृंहितानि च) उन को दृढता से स्थापित किया है। वे अपने स्थान और मार्ग से नहीं विचलित होते। वे (न पराणुदे) फिर न परे हटने के लिये ही (स्थिराणि) स्थिर किये गये हैं। इसी प्रकार अध्यात्म में—(दिवः) ज्ञानमार्ग में (रोचना) प्रकाशित सिद्धान्त ज्ञानी आत्मा स्थिर सत्यों को स्थापित करता है। और वे (न पराणुदे स्थिराणि) न त्यागने के लिये स्थिर किये जाते

हैं । राज-पक्ष में—(इन्द्रेण दिवः रोचना) राजा अपने उत्तम राज्य के उच्च कोटि पर विराजमान पदाधिकारियों को दृढ़ मजबूत बनाता और स्थिर नियत करता है। (न प्रणुदे) शत्रुओं से पराजित न होने के लिये ही उनको स्थिर नियत करता है।

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।
वि ते मदा अराजिषुः ॥५॥ ऋ० ८ । १४ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! प्रभो ! (स्तोमः) तेरा स्तुति समूह अथवा तेरा वीर्य, सामर्थ्य अथवा तेरा बड़ा स्वरूप (मदन्) अति हर्षित मानो (अपाम् ऊर्मिः इव) जलों के तरङ्ग के समान (अजिरायते) वेग से बराबर बढ़ा करता है। (ते मदाः) तेरे हर्ष या आनन्द तरङ्ग (वि अराजिषुः) विविध रूपों में प्रकट होते हैं।

वीर्यं वै स्तोमाः । तां० २।५।४॥ यज्ञो वै स्तोमः । श० ८।४।३।२॥

मदः—यो वा ऋचि मदो यः सामन् रसो वै सः श० ४।३।२।५ ॥

[४०] आत्मा और राजा ।

मधुच्छन्दा ऋषिः । मरुतो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा ।
मन्दू समानवर्चसा ॥१॥ ऋ० १ । ६ । ७ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (अविभ्युषा) न डरने वाले, निर्भीक (इन्द्रेण) राजा या सेनापति इन्द्र के साथ (संजग्मानः) संगत होकर तू (सं हि दृक्षसे) बड़ा अच्छा दिखाई देता है। तुम दोनों (समान वर्चसा) एक समान तेजस्वी होकर (मन्दू) अति आनन्द देने वाले हो।

अध्यात्म में—हे जीव तू (अविभ्युषा) अभय परमेश्वर के साथ (संजग्मानः सं हि दृक्षसे) संगत होकर बड़ा अच्छा प्रतीत होता है तुम

दोनों जीव परमेश्वर समान तेजस्वी होकर (मन्दू) अन्तःकरण को तृप्त करने वाले हों ।

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति ।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥२॥ ऋ० १ । ६ । ८ ॥

भा०—ऐश्वर्यमय राष्ट्र रूप, (सहस्वत्) अति बलशाली (मखः) यज्ञ (इन्द्रस्य काम्यैः) इन्द्र को अति प्रिय लगने वाले (अनवद्यैः) दोष रहित, अनिन्द्य, (अभिद्युभिः) तेजस्वी (गणैः) गणों सहित विराजमान (इन्द्रस्य) इन्द्र की (अर्चति) स्तुति करता है । अथवा यज्ञ इन्द्र को प्रिय लगने वाले (गणैः) ऋचा समूहों से उसकी स्तुति करता है ।

एष वै मखो य एष तपति । श० १४ । १ । ३ । ५ ॥

(सहस्वत् मखः) शत्रु को पराजय करने वाले बल से युक्त सूर्य के समान तापकारी सेनापति (अनवद्यैः अभिद्युभिः काम्यैः गणैः सह) निर्दोष, तेजस्वी, कान्तिमान् भटगणों के साथ (इन्द्रस्य अर्चति) इन्द्र का ही आदर सत्कार करता है ।

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥३॥ ऋ० १ । ६ । ४ ॥

भा०—(आत्) देह से मुक्त होजाने के पश्चात् (अह) भी (स्व-धाम् अनु) अपने शरीर धारण सामर्थ्य, (स्व-धाम्) अपनी धारित प्रवृत्ति या इच्छा के (अनु) अनुसार वे (यज्ञियं) अपने आत्मानुरूप (नाम) स्वरूप को (दधाना) धारण करते हुए (पुनः) फिर भी (गर्भत्वम्) गर्भ को (ऐरिरे) प्राप्त होते हैं । पुनः जन्म लेते हैं ।

[४१] आत्मा ।

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रो॑ द॒धीचो॑ अ॒स्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुतः ।

ज॒घान॑ नव॒तीर्नव॑ ॥१॥ ऋ० १ । ८४ । १३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा (दधीचः अस्थभिः) ध्यान-शील मन या वीर्य धारण में समर्थ शरीर की (अस्थभिः) रोगादि विघ्नों को दूर फेंकने वाली शक्तियों से (अप्रतिष्कुतः) किसी से भी पराजित न होकर (नव नवतीः) ९९ (वृत्राणि) परिवर्त्तनशील वर्षों को (जघान= गच्छति) व्यतीत करता है । अर्थात् यह जीव ध्यान योग से और उत्तम शरीर के बल वीर्य की रक्षा से ९९ वर्ष व्यतीत कर १०० वर्ष का आयु व्यतीत करता है ।

अथवा—योग पक्ष में-(इन्द्रः) इन्द्र, आत्मा (दधीचः) ध्यान द्वारा आह्वय प्रभु की (अस्थभिः) तमोनाशक शक्तियों द्वारा (अप्रतिष्कुतः) किसी से पराजित न होकर (नव नवतीः=९ X ९०=८१०) ८१० (वृत्राणि) ज्ञान के आवरणकारी विघ्नों का (जघान) नाश करता है ।

आत्मा की शक्ति प्राकृतिक तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार की। त्रिकाल भेद से ९ प्रकार की । प्रभाव, मन्त्र, उत्साह इन तीन शक्ति भेद से २७ प्रकार की । पुनः सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों के सम विषम भेद से ८१ प्रकार की, दश दिशा भेद से ८१० प्रकार की होजाती है । इतनी शक्तियों से आत्मा इतनी ही व्युत्थान वृत्तियों का नाश करता है ।

इ॒च्छन्नश्व॑स्य॒ यच्छिरः॒ पर्व॑ते॒ष्वप॑श्रितम् ।

तद् वि॑दच्छर्य॒णाव॑ति ॥२॥ ऋ० १ । ८४ । १४ ॥

भा०—(अश्वस्य) व्यापक आत्मा का (यत्) जो (शिरः) शिर के समान मुख्य अंश (पर्वतेषु) पर्व वाले, या पोरु वाले शरीर या मेरु दण्ड में (अपश्रितम्) अज्ञानियों की दृष्टि से बहुत दूर, अज्ञात रूप में स्थित है उसको (इच्छन्) प्राप्त करना चाहता हुआ ध्यान योगी पुरुष

(तत्) उसको (शर्यणावति) शर्यणा अर्थात् चेतना से सम्पन्न अपने हृदय मस्तक भाग में ही ध्यान योग से (विदत्) उसको प्राप्त करता है।

दधीचि की कथा का रहस्योद्भेद देखो साम० अ० । प्र० ३ । २ । ८ । अथि० सं० ७४१३। १ ॥

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥ ऋ० १ । ८४ । १५ ॥

भा०—जिस प्रकार (अत्र) इस (चन्द्रमसः गृहे) चन्द्रमा के गृह, लोक में (त्वष्टुः) उत्पादक सूर्य के (गोः) प्रकाश किरण का (अपीच्यम्) दूर गया हुआ अंश ही (नाम) विद्यमान है उसी प्रकार (चन्द्रमसः गृहे) चन्द्रमा के स्थान में अर्थात् आल्हादजनक सोम चक्र में भी (त्वष्टुः) त्वष्टा अज्ञान के नाशक आत्मा रूप सूर्य के (गोः) प्रकाशक (अपीच्यं नाम) सुगुप्त, स्वरूप प्राप्त है (इत्था) इस प्रकार (अत्र) इस विषय में विद्वान्गण (अमन्वत) जानते हैं।

गृहस्थ पक्ष में-(अत्र ह चन्द्रमसः गृहे) इस शरीर में चन्द्रमा अर्थात् आल्हादजनक के मार्ग में (त्वष्टुः गोः) संगमकारी वीर्यवान्, त्वष्टा, विधाता पुरुष का ही (अपीच्यम् नाम) वीर्य रूप से प्राप्त अंश है जो पुत्ररूप से उत्पन्न होता है। (इत्था अमन्वत) ऐसा ही विद्वान मानते हैं। इसका औपनिषादिक विवरण देखो साम० सं० १४७ ॥

अथवा योगियों के पक्ष में—(अत्र ह चन्द्रमसः गृहे) इस सोम चक्र में (गोः त्वष्टुः) व्यापक सर्वजगत् के कर्त्ता परमेश्वर के (अपीच्यं नाम) भीतर छुपे या अति सुन्दर स्वरूप को (इत्था) साक्षात् वह इस प्रकार का है ऐसा निश्चय पूर्वक (अमन्वत) ज्ञान करते हैं, साक्षात् करते हैं।

[४२] ईश्वर राजा और आत्मा ।

कुरुसुतिः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ।
इन्द्रात् परि तन्वं ममे ॥१॥ ऋ० ८ । ७६ । १२ ॥

भा०—(अष्टापदीम्) आठ पदों, ज्ञानस्थानों वाली और (नवस्रक्तिम्) नव प्रकार की रचना वाली, (ऋतस्पृशम्) सत्य का ज्ञान कराने वाली, (तन्वम्) विस्तृत (वाचम्) वाणी को मैं (इन्द्रात्) ज्ञानैश्वर्यवान्, इन्द्र परमगुरु और परमेश्वर से (परिममे) पूर्णतया ज्ञान करता हूं।

अष्टौ पदानि ज्ञान स्थानानि यस्या सा अष्टापदी । वेदा उपवेदाश्चेत्यष्टौ। नवस्रक्तयो रचनाः यस्याः सा । शिक्षा कल्प व्याकरण निघण्टु निरुक्त छन्दो ज्योतिषं धर्मशास्त्रं मीमांसा चेति नवस्रक्तयः ।

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम् ।
इन्द्र यद् दस्युहाभवः ॥२॥ ऋ० ८ । ७६ । ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! (यद्) जब तू (दस्युहा) दस्यु, दुष्ट पुरुषों का नाश कर रहा (अभवः) होता है तो (उभे रोदसी) दोनों लोक (क्रक्षमाणम् त्वा अनु) शत्रु का कर्शण, विनाश या उन्मूलन करते हुए तेरे अनुकूल होकर (अकृपेताम्) सदा सामर्थ्यवान् बने रहते हैं।

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ।
सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥३॥ ऋ० ८ । ७६ । १० ॥

भा०—जिस प्रकार (सुतम्) तैयार किये हुए रसको (पीत्वी) पान करके कोई वीर पुरुष (उत्तिष्ठन्) उठता हुआ (शिप्रे अवेपयः) अपने

४२–'कुरुस्तुतिः' इति क्वचित् ।

दोनों दाढ़ें तृप्त होकर हिलाता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! राजन् ! तू (चमू) अपनी और शत्रु की दो सेनाओं के बीच संग्राम द्वारा (सुतम्) प्राप्त किये हुए (सोम) ऐश्वर्यप्रद राष्ट्र या राजपद को (पीत्वी) प्राप्त करके (शिप्रे) अपने बलशाली सेनाओं को (ओजसा) अपने बल पराक्रम से उठता हुआ (अवेपयः) कंपा।

परमेश्वर या आत्मा के पक्ष में-(चमू) प्राण और अपान दोनों के बीच में (सुतम्) ध्यान योग से प्राप्त (सोमम्) ब्रह्मरस को पान करके हे इन्द्र आत्मन् (ओजसा उत् तिष्ठन्) अपने ज्ञानबल से ऊपर मुक्ति मार्ग में उठता हुआ (शिप्रे अवेपयः) बाह्य और आभ्यन्तर कर्म बन्धनों को कंपाकर झाड़ देता है।

[४३] परमेश्वर से अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य की याचना।

त्रिशोक ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम्॥

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥१॥ ऋ० ८। ४५। ४०॥

भा०—हे राजन् ! तू (विश्वाद्विषः) समस्त अप्रीतिकर, द्वेष युक्त शत्रुओं को (अप भिन्धि) दूर ही से भेद डाल। उनमें भेद नीति का प्रयोग कर। उनको फोड़ डाल। और (बाधः) बाधा या पीड़ा पहुंचाने वाले (मृधः) संग्रामकारी सेनाओं को (परि जहि) सब प्रकार से विनाश कर और (स्पार्हं) अभिलाषा करने योग्य (तत् वसु) उन नाना ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा।

यद् वीलाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥२॥ ऋ० ८। ४५। ४१॥

भा०—(यत्) जो ऐश्वर्य, बल, धैर्य और ज्ञान (वीलौ) वीर्यवान् बलवान् पुरुष में (यत् स्थिरे) और जो बल या ऐश्वर्य स्थिरता रहने वाले और

(यद्) जो ज्ञान ऐश्वर्य (पर्शाने) विवेकशील विद्वान् में (पराभृतम्) दूर २ देशों से ला ला कर संचित होता है (तत्) वह नाना प्रकार का (स्पार्ह वसु) अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य हमें (आभर) प्राप्त करा।

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति ।

वसु स्पार्हं तदा भर ॥३॥ ऋ० ८ । ४५ । ४२ ॥

भा०—हे प्रभो ! (यस्य) जिस (ते दत्तस्य) तेरे दिये दान (विश्वमानुषः) समस्त संसार का मननशील जीव (वेदति) जानता और प्राप्त करता है (तत्) उस (स्पार्ह वसु) अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य को (आभर) हमें प्राप्त करा।

[४४] सम्राट् ।

इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः ।

नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥१॥ ऋ० ८ । १६ । १ ॥

भा०—हे विद्वानों ! (चर्षणीनाम् सम्राजम्) समस्त मनुष्यों के सम्राट् (इन्द्र) ऐश्वर्यवान्, (नव्यं) स्तुति योग्य, (नरं) सबके नेता, (नृषाहं) सब मनुष्यों को अपने बल से विजय करने वाले, (मंहिष्ठं) सबसे महान् (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (प्र स्तोत) उत्तम रीति से स्तुति करो या उसको (नृषाहं मंहिष्ठं नव्यं इन्द्र) सब मनुष्यों को पराजय करने में समर्थ, स्तुत्य, महान् नेता को (चर्षणीनां सम्राजं प्रस्तोत) सब मनुष्यों के ऊपर सम्राट् रूप से प्रस्तुत करो उसको सम्राट् बनाओ)

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या ।

अपामवो न समुद्रे ॥२॥ ऋ० ८ । १६ । २ ॥

भा०—(समुद्रे) समुद्र में (अपाम्) जलों का (अवः न) जिस प्रकार प्रवाह आता है उसी प्रकार (यस्मिन्) जिस परमेश्वर या प्रभु में

हैं। (विश्वानि) समस्त (अवस्या) कीर्तिजनक (उक्थानि) वचन (रणयन्ति) लगाते हैं, ठीक उपयुक्त होते हैं।

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम्।
महो वाजिनं सनिभ्यः ॥३॥ऋ० ८।१६।३॥

भा०—(तं) उस (ज्येष्ठराजम्) सबसे बड़े महाराज (भरे कृत्नुम्) संग्राम में शत्रुओं के नाशकारी (महः वाजिनम्) बड़े भारी बलवान्, ऐश्वर्यवान् पुरुष को (सनिभ्यः) बड़े दानों के लिये (सुस्तुत्या) उत्तम स्तुति द्वारा (आ विवासे) उसकी सेवा करता हूं। उसका गुण गान करता हूं।

[४५] आत्मा परमात्मा।

देवरातः शुनः शेप ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम्॥

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥१॥ऋ० १।३०।४॥

भा०—(अयम् उ ते) यह साधक आत्मा तेरी ही है। (कपोतः इव) जिस प्रकार (कपोत) कपोत, कबूतर (गर्भधिम्) गर्भ धारण करने में समर्थ कपोती को (सम् अतति) समान रूप होकर प्रेम से उस तक पहुंचता और उससे संग कराता है उसी प्रकार तू हे इन्द्र! तेरी शक्तिको अपने भीतर धारण करने वाले को (सम अतसि) भली प्रकार प्राप्त हो। और तन्मय हो। (तत् चित्) उसी प्रकार (नः वचः) हमारे वचन को भी (ओहसे) तू प्राप्त हो, उसको उसी प्रकार से प्रेम पूर्वक श्रवण कर।

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते।
विभूतिरस्तु सूनृता ॥२॥ ऋ० १।३०।५॥

भा०—हे (राधानां पते) ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! हे (वीर) वीर ! वर्यिवन् ! (यस्य) जिस (ते) तेरा (स्तोत्रं) स्वरूप ही स्तुति करने योग्य है उस तेरी (विभूतिः) विविध प्रकार की ऐश्वर्य सम्पदा ही (सूनृता) शुभ सत्य वाणी स्वरूप (अस्तु) हो । अर्थात् परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वैश्वर्यवान् और सत्य ज्ञानमय है इसी प्रकार आत्मा भी विभूतिमय वीर्यवान् सत्य ज्ञानमय हो ।

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो ।

समन्येषु ब्रवावहै ॥३॥ ऋ० १ । ३० । ६ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त शतक्रतो ! तू (अस्मिन् वाजे) इस संग्राम, या बलयुक्त कार्य में (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (ऊर्ध्वः) सर्वोपरि विराजमान होकर (तिष्ठ) रहे । हम दोनों गुरु शिष्य और स्त्री पुरुष और प्रजा राजा दोनों (अन्येषु) सब प्रजाजन अन्य शत्रुओं के निवारणार्थ (सं ब्रवावहै) परस्पर मिलकर एक दूसरे को उपदेश करें, कथोपकथन करें ।

[४९] आत्मा और राजा

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्त्तारं ज्योतिः समत्सु ।

सासह्वांसं युधामित्रान् ॥१॥ ऋ० ८ । १६ । १० ॥

भा०—(वस्यः) ऐश्वर्य को (अच्छ) प्राप्त करने के लिये (प्रणेतारम्) उत्तम नायक, (समत्सु) संग्रामों और एक आनन्दोत्सवों में (ज्योतिः कर्त्तारम्) ज्ञान प्रकाश और तेज के दिखाने वाले, (युधा) युद्ध द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं को (सासह्वांसम्) पराजय करने हारे पुरुष को हम (अच्छ) प्राप्त करें ।

अध्यात्म में-(वस्यः) देह में बसने वाले प्राण रूप वसुओं में सब से श्रेष्ठ 'वसीयस्' मुख्य प्राण के प्रणेता आत्मा है, जो अति समाधिरस के

अवसरों पर परम आभ्यन्तर ज्योति को उत्पन्न करता है, (युधा) विश्व भावना द्वारा राग-द्वेषादि शत्रुओं को पराजित करता है उसको (अच्छ.) साक्षात् करो। परमेश्वर—समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने वाला, समस्त ज्योतियों का उत्पादक, बाधक शत्रुओं का दलन करता है उसको प्राप्त करो।

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥२॥ ऋ० ८। १६। ११॥

भा०—(सः) वह (पप्रिः) समस्त मनोरथों को और समस्त जगत् को पूर्ण करने वाला एवं स्वयं पूर्ण, सर्वव्यापक परमेश्वर, (पुरुहूतः) प्रजाओं द्वारा याद किये जाने योग्य (नः) हमें (नावा) जैसे केवट नाव से नदी के पार कर देता है उसी प्रकार (स्वस्ति) सुखपूर्वक (विश्वा द्विषः) समस्त शत्रुओं से (अति पारयाति) पार करे।

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च।
अच्छा च नः सुम्नं नेषि ॥३॥ ऋ० ८। १६। १२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (त्वं) तू (नः) हमें (वाजेभिः) अपने पराक्रमों, वीर्यों और ऐश्वर्यों से (दशस्य) रक्षा कर। और (नः) हमें (गातुया च) उत्तम मार्ग से (सुम्नं) उत्तम धन, सुख, (अच्छ नेषि च) प्राप्त कराने के लिये ले चल, मार्ग दर्शा।

[४७] ईश्वर

१–३ सुकक्षः। ४–६, १०–१२ मधुच्छन्दाः। ७–९ इरिम्बिठिः। १३–२१ प्रस्कण्वः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। एकविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥ ऋ० ८। ९३। ७॥

भा०—हम लोग (वृत्राय) बड़े भारी आवरणकारी अज्ञान रूप शत्रु के (हन्तवे) नाश करने के लिये (तम् इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् इस समस्त जगत् के द्रष्टा, अथवा उस साक्षात् दर्शन देने वाले के (वाजयामसि) बल को बढ़ावें । (सः) वह (वृषा) समस्त सुखों का वर्षण करने वाला, बलवान् (वृषभः) वृषभ के समान सबका भार उठाने वाला बड़ा बलशाली (भुवत्) सर्वत्र विद्यमान है ।

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः ।
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥२॥ ऋ० ८ । ९३ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः सः) ऐश्वर्यवान्, वह साक्षात् दर्शनीय परमेश्वर ही (दामने) समस्त पदार्थों के दान देने के लिये (कृतः) बना है । (सः) वह (मदे) परमानन्द रस में (हितः) विद्यमान ही (ओजिष्ठः) सब से बड़ा शक्तिशाली, पराक्रमी है । (सः) वह (द्युम्नी) बड़ा ऐश्वर्य वाला और (सोम्यः) सोम, राष्ट्र के प्राप्त करने योग्य राजा के समान (सोम्यः) सर्वानन्द, रसमय, सबका प्रेरक और उत्पादक है ।

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः ।
ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ९ ॥

भा०—जो (गिरा) वाणी से मानो (वज्रः न) वज्र, बिजुली की कड़क के समान अति भयंकर, (संभृतः) समस्त ऐश्वर्यों और शक्तियों से सम्पन्न, (सबलः) बलवान् (अनपच्युतः) कभी पराजित न होने वाला (अस्तृतः) कभी न मारा जाने वाला नित्य अविनाशी (ऋष्वः) सब शत्रुओं का नाशक होकर (ववक्षे) जगत् और राष्ट्र के भार को धारण करता है ।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥४॥ इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो

वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥ इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥६॥ ऋ० १ । ७ । १-३ ॥

भा०—(४-७) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ३८ । ४-६ ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥ आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ ८ ॥ ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १७ । १-३ ॥

भा०(७-९) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ३ । १-२ तथा २० । ३८ । १-२ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥१०॥ युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥११॥ केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥१२॥ ऋ० १ । ६ । १-३ ॥

भा०—(१०—१२) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । २६ । ४-६ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१३॥ अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः । सूराय विश्वचक्षसे ॥१४॥ अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥१५॥ ऋ० १ । ५० । १-३ ॥

भा०—(१३—१५) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० १३ । २ । १६ -१८॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।

विश्वमा भासि रोचन ॥१६॥ ऋ० १ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक और उत्पादक प्रभो ! तू (तरणिः) सबको पार तराने वाला, (विश्वदर्शतः) विश्व का द्रष्टा, सबको दर्शनीय और (ज्योतिष्कृत् असि) सूर्य के समान ही भीतर भी प्रकाश करने हारा और समस्त सूर्यादि ज्योतियों का उत्पादक (असि) है । हे (रोचन) समस्त संसार के प्रकाशक ! प्रकाशस्वरूप ! तू (विश्वम् आभासि) समस्त विश्व को प्रकाशित करता है और सर्वत्र प्रकाशमान है ।

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।

प्रत्यङ् विश्वं स्व/र्दृशे ॥ १७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (देवानां विशः) देवों, विद्वानों और दिव्य सूर्यादि नक्षत्र लोकों में विद्यमान एवं उत्तम गुणों वाली (विशः) प्रजाओं के (प्रत्यङ्) प्रति और (मानुषीः विशः प्रत्यङ्) मननशील मानुष प्रजाओं के प्रति और (विश्वं प्रत्यङ्) समस्त संसार के प्रति साक्षात् (दृशे) दर्शन देने के लिये (स्वः) सुख स्वरूप ही हो । अर्थात् विद्वान्, मननशील सर्व साधारण प्रजाओं को भी साक्षात् दीख जाते हो । (स्वः) तुम सदा सुखमय मोक्षस्वरूप ही हो ।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।

त्वं वरुण पश्यसि ॥१८॥ ऋ० १ । ३० । ६ ॥

भा०—हे (पावक) परम पावन अग्नि के समान सबके शोधक (येन) जिस (चक्षसा) दयामय चक्षु से (त्वं) तू हे (वरुण) सर्वदुःखवारक ! सदा (पश्यसि) देखा करता है उसी दयादृष्टि से (जनान् भुरण्यन्तम् अनु) समस्त प्राणियों के पालक पुरुष को भी (पश्यसि) देखता है ।

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१९॥ ऋ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य ! सबके प्रेरक, उत्पादक, सूर्य के समान तेजस्विन् ! सूर्य जिस प्रकार (अहः) दिनको (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (मिमानः) बनाता हुआ (द्याम) आकाश और (पृथु) विशाल (रजः) अन्तरिक्ष को (वि एषि) विविध प्रकार से व्यापता है और (जन्मानि पश्यन्) समस्त उत्पन्न होने वाले प्राणियों को देखता है या अपने ही प्रतिदिन के जन्मों को देखता है उसी प्रकार हे परमेश्वर महान् आत्मन् ! तू भी (अक्तुभिः) प्रलयकाल रूप रात्रियों से (अहः) ब्राह्म दिन, सर्ग काल को (मिमानः) मापता या परिमित करता हुआ (द्याम्) इस विशाल आकाश को और (पृथु रजः) विशाल अन्तरिक्ष को भी (वि एषि) विविध सृष्टियों से व्यापता है और (जन्मानि) उत्पन्न लोकों को और अपने ही बनाये नाना सर्गों को भी (पश्यन्) देखता है ।

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥२०॥ ऋ० १ । ५० ८ ॥

भा०—हे (देव सूर्य) सर्वद्रष्टः ! सर्वदाता ! सर्वोपास्य देव ! हे (सूर्य) सर्वप्रेरक, सर्वनियन्तः ! सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (रथे) रथ में जैसे सात घोड़े जुड़कर उसको ढो लेजाते हैं और देह में आत्मा को जिस प्रकार सात प्राण जुड़कर उसको उठाते हैं उसी प्रकार तुझे भी (सप्त हरितः) सात हरणशील व्यापक महान् तेजस्विनी शक्तियां (शोचिष्केशं) देदीप्यमान किरणों वाले (विचक्षणम्) विशेषरूप से जगत् के प्राण (त्वा) तुझको (रथे) परम आनन्दमय रथमें या रमण योग्य विश्व में (वहन्ति) वहन करते हैं, धारण करते हैं ।

अध्यात्म में—हे तेजस्विन् ! सूर्य के समान योगिन् ! (सप्त) सातों

प्राण तुझको उस (ज्योतिष्केशं विचक्षणं) परम ज्योतिर्मय साक्षात् द्रष्टा तक (रथे) परमब्रह्म रस में ले जाते हैं ।

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥२१॥ ऋ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—(सूरः) सबका प्रेरक शूरवीर सेनापति के समान परमेश्वर (रथस्य नप्त्यः) इस रथ स्वरूप, परम रमणीय, भूतों के रमण कराने वाले (नप्त्यः) ब्रह्माण्ड को कभी नष्ट न होने देने वाली, उसको बांधने वाली (शुन्ध्युवः) उसकी प्रवर्त्तक उसमें गति देने वाली, चलाने वाली (सप्त) सात शक्तियों को (अयुक्त) विश्व में प्रयुक्त करता है । और (स्वयुक्तिभिः) अपनी ही योजना रूप (ताभिः) उन शक्तियों से (याति) स्वयं सर्वत्र गति करता है, विश्व को चलाता और विश्व में व्यापता है ।

[४८] ईश्वरोपासना ।

१—३ इन्द्रः । ७—९ सार्पराज्ञी सूर्यो वा देवता । गायत्र्यः । षडृचं सूक्तम् ॥

अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः ।
अभि वत्सं न धेनवः ॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर (धेनवः) गौएं (वत्सम् अभि न) जिस प्रकार अपने प्रिय बच्छे के प्रति वेग से दौड़ती हुई आती हैं उसी प्रकार (आ चरण्यवः) सब ओर से आने वाली और समस्त दिशाओं में जाने वाली अर्थात् सब पक्षों में लगने वाली (गिरः) वेदवाणियां (सिञ्चन्तीः) ज्ञान-रस का प्रवाह बहाती हुई भी (वर्चसा) तेज से, कान्ति से मुग्ध होकर (त्वा अभि) तुझको ही प्राप्त होती हैं । अर्थात् परमेश्वर में इतना बल, पराक्रम, क्षमता है कि सब पक्षों में लगने वाली वाणियां भी परमेश्वर पर ही चरितार्थ होती हैं ।

'अभित्वा' इति द्वाभ्यां सूक्ताभ्यां खिलो इति बृहत् सर्वा० ।

ता अर्पन्ति शुभ्रियः पृञ्चन्तीर्वर्चसा प्रियः ।
जातं जात्रीर्यथा हृदा ॥२॥

भा०—(ताः) वे वेदवाणियें (वर्चसा) अपने ज्ञानरूप तेज से (प्रियः) पूर्ण अर्थ का प्रकाश करनेहारी (शुभ्रियः) पदार्थ का भासन कराने वाली, उज्ज्वल स्वरूप होकर (अर्पन्ति) उस परमेश्वर को (हृदा) अपने मर्मार्थ से ऐसे पकड़ती हैं जैसे (जात्रीः) जनने वाली माताएं (जातं) अपने पुत्र को (हृदा) अपने हृदय से (अर्पन्ति) चिपटा लेती हैं ।

वज्रापवसाध्यः कीर्तिर्म्रियमाणमावहन् ।
मह्यमायुर्घृतं पयः ॥३॥

कृष्णलाल-शोधित-संहितानुसारं ग्रीफिथसम्मतश्च संहितापाठस्तु—

उग्राय यशसो धियः कीर्तिमिन्द्रियमावहान् ।
मह्यमायुर्घृतं पयः ॥३॥

भा०—प्रथम पाठ के अनुसार (वज्रापवसाध्यः ?) (कीर्त्तिः) और कीर्त्ति (म्रियमाण) मरते हुए पुरुष को भी (आवहन्) प्राप्त कराती है । और (मह्यम्) मुझे (आयुः घृतम् पयः) दीर्घ जीवन, घृत, तेज और पुष्टिकारक अन्न (आवहन्) प्राप्त करावें ।

द्वितीय पाठ के अनुसार–(यशसः) यश, वीर्यजनक (धियः) बुद्धियां और कर्म (उग्राय) बलवान् पुरुष को (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति और (इन्द्रियम् इन्द्र का परमैश्वर्य युक्त पद (आवहान्) प्राप्त कराते हैं और (मह्यम् मुझ राष्ट्र के प्रजाजन को (आयुः घृतं पयः) दीर्घ जीवन, तेज और अन्न प्रदान करते हैं । अर्थात् वीर कर्मों से बलवान् पुरुष को कीर्त्ति और साम्राज्य प्राप्त होता है, और प्रजा को जीवन रक्षा, बल और अन्न प्राप्त होता है ।

[४८] ३–(प्र०) 'वज्रापव साध्यः' 'वज्रायवसाध्यः' इति पाठभेदौ (द्वि० 'मावहान्–', 'कीर्त्तिमि–' इति च पाठभेदौ ।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥४॥
अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥५॥
त्रिंशद् धाम वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् ।
प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १८९ । १-३ ॥

भा०—(४-६) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्ववेद काण्ड ६ । ३१ । १-३ ।

[४९] ईश्वरोपासना ।

यच्छका वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिपासथः ।
सं देवा अमदन् वृषा ॥१॥

सेवकलालसम्मतः ग्रीफिथादिसम्मतश्च पाठस्तु—

यच्छक्रं वाच आरुहन्नन्तरिक्षं सिषासतीः ।
सं देवो अमदद्वृषा ॥१॥

भा०—प्रथम पाठ के अनुसार—(शक्राः) शक्तिशाली राजागण के समान शक्तिशाली योगीजन (यत्) जब भी (वाचम्) वेदवाणी का (आरुहन्) आश्रय लेते हैं हे ज्ञानी पुरुषो ! तब २ आप लोग (अन्तरिक्षम्) अपने भीतरी आत्मा को ही (सिपासथः) प्राप्त होते हो । तब (देवाः) प्राणगण और (वृषा) सुखों का वर्षक भीतरी बलवान् आत्मा दोनों (सम् अमदन्) एक साथ आनन्द, प्रसन्न एवं तृप्त होते हैं ।

भा०—द्वितीय पाठ के अनुसार—(अन्तरिक्षं=अन्तर्यक्षं) भीतरी उपास्य देव, हृदय में व्यापक आत्मा और हृदयस्थ परमेश्वर को हे (वाचः)

---

[४९] १–'यच्छक्राः', 'वाचमारुहन्तन्न–', 'सिपासथ', 'सिषासतः' इति पाठभेदाः ।

वाणियो ! जब तुम (सिषासतीः) प्राप्त करती हुई, उस पर लगती हुई, उसको लक्ष्य करती हुई (शक्रम्) उस शक्तिमान् को (आरुहन्) पहुंचती हो, उसके पद का वर्णन करती हो तब (देवः) वह साक्षात् द्रष्टा भीतरी आत्मा या परमेश्वर (वृषा) अति बलवान्, आनन्दरस का वर्षक धर्ममेघ होकर (सन् अमदत्) खूब आनन्द, प्रसन्न एवं संतृप्त होता है ।

शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि । मंहिष्ठ आ मदर्दिवि ॥२॥

सेवकलालश्रीकृष्णसम्मतः पाठस्तु—

शक्रं वाचा भिष्टुहि घोरं वाचाऽभिष्टुहि ।
मंहिष्ठे आमदद् दिवि ॥२॥

भा०—प्रथम पाठ के अनुसार—हे योगिन् आत्मसाधक ! तू (शक्रः) शक्तिशाली आत्मा होकर (अधृष्टाय) 'अधृष्ट', कभी भी धर्षण न किये जाने वाले अच्युत पद के प्राप्त करने के लिये (उरुवाचः) विशाल वेदवाणी के प्रवर्त्तक गुरु की या परमगुरु परमेश्वर की ही (वाचम्) वाणी को (अधृष्णुहि) धारण कर । तू (मंहिष्ठः) पूज्यतम, महान् होकर ही (दिवि) तेजोमय मोक्ष में (आ मदः) आनन्दमय होकर विराज ।

भा०—द्वितीय पाठ के अनुसार—हे साधक ! तू (वाचा) वेदवाणी से (शक्रम्) उस शक्तिमान् परमेश्वर की (अभिस्तुहि) स्तुति कर । (वाचा) वेदवाणी से (घोरं) उस महान् भयंकर उग्र या दयालु परमेश्वर की (अभि स्तुहि) स्तुति कर । (मंहिष्ठः) सबसे अधिक पूजनीय और महान् वह परमेश्वर ही (दिवि) तेजोमय मोक्ष लोक में (आ मदद्) आनन्दमय होकर विराजता है ।

शक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन् वि राजति ।
विमदन् बर्हिरासरन् ॥ ३ ॥

सेवकलालग्रीफियादिसम्मतः पाठस्तु—

शक्रं वाचाभिष्टुहि धामन् धामन् विराजति ।

विमदन् बर्हिरासदत् ॥३॥

भा०—प्रथम पाठ के अनुसार- हे योगिन् ! तू (शक्रः) शक्तिमान् होकर (वाचम् अधृष्णुहि) वेदवाणी को धारण कर । क्योंकि बलवान् पुरुष ही (धामधर्मन्) प्रत्येक तेजोमय पद पर और प्रत्येक धर्म या कर्त्तव्य में (विराजति) विविध प्रकार से शोभा पाता है । वही (विमदन्) विविध प्रकार से आनन्द प्रसन्न होकर (बर्हिः) विस्तृत ब्रह्ममय मोक्ष-धाम को (आ सरन्) प्राप्त होता है ।

भा०—द्वितीय पाठ के अनुसार-(वाचा शक्रम् अभिस्तुहि) वाणी से शक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति कर । वही परमेश्वर (धामन् धामन् वि-राजति) स्थान २ पर विराजता है । वही (विमदन्) विविध प्रकार से आनन्द तृप्त होकर (बर्हिः) ब्रह्माण्ड में (आ सदत्) व्याप्त है ।

तं वो दुस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः । अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ४ ॥ द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् । क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ७७ । १, २ ॥

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये । येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ६ ॥ येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः । सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ३ । ९,१० ॥

भा०—(४-७) इन चार मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्ववेद काण्ड २० । ६ । १-४ ॥

[५०] ईश्वरोपासना ।

कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः ।
नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्व/र्गृणन्त आनशुः ॥१॥

ऋ० ८ । ३ । १३ ॥

भा०—(अतसीनां) वेग से गति करने वाली सभी शक्तियों को (तुरः) गति देने वाले सर्वशक्तिमान् उस परमेश्वर का (नव्यः मर्त्यः) उसके बाद अभी का पैदा हुआ, नया मनुष्य (कत् गृणीत) क्या वर्णन करे ? (नु) क्या (अस्य महिमानम्) इसके बड़े भारी सामर्थ्य (इन्द्रियम्) और ऐश्वर्य का (गृणन्तः) स्तुति करते हुए ज्ञानी लोग (स्वः न हि आनशुः) क्या सुखमय मोक्ष का लाभ नहीं करते हैं ? करते ही हैं ।

कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते ।
कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः ॥२॥

ऋ० ८ । ३ । १४ ॥

भा०—(ऋतयन्तः) सत्य ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले जिज्ञासु पुरुष (कत् उ स्तुवन्तः) तेरी कब स्तुति करते हैं ? और (देवेषु) देव-विद्वानों के बीच में (कः) कोई ही (विप्रः) मेधावी (ऋषिः) मन्त्र द्रष्टा पुरुष (ओहते) उसकी तर्कना करता है ? हे (मघवन् इन्द्र) ऐश्वर्यवन् इन्द्र परमेश्वर ! (सुन्वतः) तेरा स्मरण करनेहारे पुरुष के (हवम्) पुकार को तू (कदा) कब सुनता और (स्तुवतः) स्तुति करते हुए पुरुष के पास तू (कत् उ) कभी (आगमः) प्राप्त होजाता है ? यह सब रहस्य हम नहीं कह सकते । विद्वान् ज्ञानी लोग तुझे कब स्तुति करते हैं विद्वान् तुझे क्या कल्पना करता है ? और योगी तुझे कब स्मरण करता है और तू उसे कब प्राप्त होता है ? ये सब रहस्य गुप्त हैं ।

[५१] ईश्वरोपासना आत्मदर्शन

प्रागाथः प्रस्कण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥
ऋ० ८ । ४९ । १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सुराधसम्) उत्तम ऐश्वर्य सम्पन्न उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् आत्मा को तू (अभि प्रवः) सब प्रकार से वरण कर । उसी की इच्छा कर । और (यथा विदे) जिस प्रकार तू उसे जान पावे उसी प्रकार से उसकी (अभि प्र अर्च) भली प्रकार उपासना कर । (यः) जो (मघवा) ऐश्वर्यवान् (पुरुवसुः) समस्त लोकों, देहों और इन्द्रियों में वास करने वाला (जरितृभ्यः) स्तोता, विद्वान् पुरुषों को (सहस्रेण इव) मानो हज़ारों प्रकारों से (शिक्षति) दान करता है ।

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥
ऋ० ८ । ४९ । २ ॥

भा०—वह इन्द्र (शतानीक इव) सैंकड़ों सेनाओं के स्वामी, सेना पति के समान (प्र जिगाति) सबको विजय करता, अपने वश करता है । और (धृष्णुया) अपनी धर्षणकारिणी शक्ति से (दाशुषे) दानशील पुरुष के (वृत्राणि) विघ्नों को (हन्ति) विनाश करता है । (गिरेः रसाः इव) पर्वत से जिस प्रकार जलों के स्रोत बहते हैं उसी प्रकार (पुरु-भोजसः) बहुत से भोग्य ऐश्वर्यों से समृद्ध (अस्य) इसके (दत्राणि) नाना दान प्रदत्त पदार्थ ही (पिन्विरे) प्रजाओं को तृप्त करते हैं ।

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये ।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥३॥
ऋ० ८ । ५० । १ ॥

भा०—(श्रुतम्) वेद आदि ग्रन्थों द्वारा गुरुपदेश से श्रवण करने योग्य (सुराधसम्) उत्तम रीति से योगादि द्वारा आराधना करने योग्य अथवा (श्रुतम्) जगत्प्रसिद्ध एवं (सुराधसम्) उत्तम ऐश्वर्यवान् (शक्रम्) उस शक्तिमान परमेश्वर को (अभिष्टये) अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये (प्र सु अर्च) खूब अच्छी प्रकार अर्चना कर। (यः) जो (सुन्वते) योगादि द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले (स्तुवते) वेदवाणी द्वारा गुणानुवाद करने वाले को (काम्यं) अभिलाषा योग्य (वसु) ऐश्वर्य (सहस्रेण इव) हजारों प्रकार से (मंहते) प्रदान करता है।

शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः।
गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः ॥४॥
ऋ० ८। ५०। २॥

भा०—(अस्य इन्द्रस्य) इस परमेश्वर के (शतानीकाः हेतयः) सैंकड़ों मुख वाले, सैंकड़ों ओर को जाने वाले शस्त्रास्त्र (दुस्तराः) दुस्तर अजेय हैं, और (इन्द्रस्य) उस महान् ऐश्वर्यवान की महीः) बड़ी (समिषः) इच्छाएं, प्रेरक शक्तियां भी हैं (यद् ईम्) जब भी (सुताः) नाना ऐश्वर्यमय पदार्थ (अमन्दिषुः) उसको तृप्त करते हैं उसका आनन्दरस प्रवाहित करते हैं तब वह (भुज्मा गिरिः नः) नाना भोग्य पदार्थों से सम्पन्न पर्वत या मेघ के समान (मघवत्सु) ऐश्वर्यवानों को (पिन्वते) वे समस्त ऐश्वर्य पदार्थ तृप्त करते हैं।

[५२] ईश्वर स्तुति

मेध्यातिथि ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहत्यः। तृचं सूक्तम् ॥

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥१॥
ऋ० ८। ३३। १॥

भा०—हे (वृत्रहन्) आवरणकारी अन्धकार के नाशक ! (पवित्रस्य) पवित्र, पावन जल और ज्ञान के (प्रस्रवणेषु) झरनों के तटों पर (स्तोतारः) तेरे स्तुति कर्त्ता लोग (परि आसते) विराजते हैं । और (वयं च) हम भी (सुतावन्तः) गुरु शिष्य के वादों द्वारा निर्णीत ज्ञान से सम्पन्न (आपः नः) जल जिस प्रकार (वृक्तबर्हिषः) वृद्धिशील धान्यों को अपने वेग से गिरा देते हैं उसी प्रकार (वृक्तबर्हिषः) वृद्धिशील काम राग का उच्छेद करने वाले असंग पुरुष भी (त्वा परि आस्महे) तेरे आश्रय होकर बैठते हैं ।

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।

कुदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥२॥

ऋ० ८ । ३३ । २ ॥

भा०—हे (वसो) सर्वव्यापक ! सब संसार के बसाने वाले ! (एके उक्थिनः) कुछ एक ज्ञानवान् (नरः) पुरुष (सुते) उत्पन्न इस संसार के आधार पर इसके सर्ग स्थिति और प्रलय के निमित्त से ही (त्वा निः स्वरन्ति) तेरी उपासना स्तुति करते हैं । (तृषाणः) पिपासा-कुल पुरुष जिस प्रकार जल के निमित्त (ओकः आगमः) जल के स्थान पर आ जाता है उसी प्रकार तू भी (वंसगः स्वब्दीइव) उत्तम जल देने वाले मेघ के समान तू भी (कदा) हमें (आगमः) प्राप्त होगा ।

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।

पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥३॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (विचर्षणे) समस्त जगत् के द्रष्टः ! हे (धृष्णो) सबको वश करनेहारे ! समस्त संसार के भार सहने हारे ! आप (कण्वेभिः) मेधावी पुरुषों द्वारा (धृषद्) धर्षण करने, शत्रुओं का पराजय करने वाले (सहस्रिणम्) सहस्रों प्रकार के (वाजम्)

ऐश्वर्य या बल का (आ दर्षि) प्रदान करते हैं। हम भी (मक्षू) निरन्तर उसी (पिशङ्गरूपम्) पीत वर्ण के (गोमन्तम्) गौ आदि पशुओं से युक्त ऐश्वर्य की (ईमहे) याचना करते हैं।

अध्यात्म में-हम (गोमन्तं पिशङ्गरूपम् ईमहे) वाणी से युक्त अथवा गौ प्राणों से युक्त तेजोमय आत्मा को साक्षात् करना चाहते हैं।

[५३] ईश्वर दर्शन।

मेधातिथिः काण्व ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहत्यः। तृचं सूक्तम्॥

कईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः॥१॥
ऋ० ८। ३३। ७॥

भा०—(सुते) समस्त उत्पन्न जगत् में (सचा) एक ही साथ या अन्य देव, दिव्य पदार्थों के साथ (ईं) इस समस्त विश्व को (पिबन्तम्) पान ग्रहण, अपने में आदान करते हुए को (कः वेद) कौन जानता है? और कौन जानता है कि (कद् वयः दधे) वह कितना आयु या कितना जीवन सामर्थ्य धारण करता है। (अयं) यह (शिप्री) ज्ञानवान् और बलवान् होकर ही (अन्धसः) अन्न से या अमृत से (मन्दानः) सदा तृप्त और अन्यों को भी तृप्त करने में समर्थ होकर (ओजसा) अपने बल पराक्रम से सेनापति जिस प्रकार (पुरः विभिनत्ति) शत्रु दुर्गों को तोड़ डालता है उसी प्रकार अपने ज्ञान बल से (पुरः) भक्तों के देह पुरियों को नाश करता है, उनको मुक्त करता है।

अध्यात्म में-यह नित्य आत्मा अपने ही ज्ञानबल से (पुरः विभिनत्ति) सत्व, रजस्, तमस् तीनों से बने देह बन्धनों को तोड़ता है।

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा॥२॥
ऋ० ८। ३३। ८॥

भा०—(मृगः वारणः न) वनैला हाथी (दाना) मद जलों के कारण (पुरुत्र) बहुतसे स्थलों पर (चरथं दधे) विचरण करता है। उसी प्रकार यह इन्द्र जीव (दाना) अपने शुभाशुभ कर्मों द्वारा (पुरुत्र चरथं दधे) बहुत से शरीरों में विचरण करता है अथवा (चरथं दधे) नाना फल भोग प्राप्त करता है। हे इन्द्र! आत्मन् (त्वा) तुझको (नकिः) कोई भी नहीं (नियमत्) बांध सकता। (सुते आगमः) सवन किये सोम के समान योगादि साधनों से सम्पादित इस सोम रूप ब्रह्म रस के निमित्त (आगमः) तू प्राप्त हो और (ओजसा महान्) बलवीर्य से महान् होकर (चरसि) विचरण कर।

य उ॒ग्रः सन्ननि॑ष्टृत स्थि॒रो रणा॑य॒ संस्कृ॑तः ।
यदि॑ स्तो॒तुर्म॒घवा॑ शृ॒णव॒द्धवं॒ नेन्द्रो॑ योष॒त्या ग॑मत् ॥३॥

ऋ० ८ । ३३ । ९ ॥

भा०—(यदि) जब भी (मघवा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (स्तोतुः हवं) स्तुति करनेहारे उपासक की पुकार को (शृणवत्) सुन लेता है तब (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् (न योषति) उससे जुदा नहीं रहता, प्रत्युत (आगमत्) उसे प्राप्त ही होजाता है। उसे मिल ही जाता है। (उग्रः) वीर सेनापति जिस प्रकार उग्र अति बलवान् (सन्) होकर (अनिस्तृतः) किसी से भी मारा न जाकर नित्य अविनाशी (स्थिरः) सदा स्थिर रहने वाला (रणाय संस्कृतः) रण के लिये सज्ज होता है उसी प्रकार जो परमेश्वर (उग्रः) सदा बलवान् (सन्) रहकर (अनिस्तृतः) नित्य अविनाशी, (स्थिरः) सदा ध्रुव, (रणाय संस्कृतः) योगिजनों के रमण के लिये सदा तत्पर रहता है। अथवा—अध्यात्म में—यह आत्मा अविनाशी, बलवान् होकर (रणाय) रमण योग्य देह के लिये, या सदा ब्रह्मरस में रमण करने के लिये (संस्कृतः) सदा संस्कारयुक्त, सदा तत्पर रहता है।

[५४] ईश्वर गुणगान ।

रेभ ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ अति जगती, २,३ उपरिष्टाद् बृहत्यौ । तृचं सूक्तम् ॥

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
क्रत्वा वरिष्ठं वरं आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥१॥

ऋ० ८ । ९७ । १० ॥

भा०—(विश्वाः पृतनाः) समस्त जन (अभि-भूतरं) शत्रुओं के पराजय करने में, शत्रु से अधिक बलवान् (क्रत्वा) कर्म और ज्ञान से (वरे) वरण योग्य कार्य में (वरिष्ठम्) सबसे अधिक श्रेष्ठ, (आमुरिम्) शत्रुओं के नाशक, (उग्रम्) बलवान्, (ओजिष्ठं) सबसे अधिक पराक्रमी (तवसं) महान्, (तरस्विनम्) अति वेगवान, (नरम्) नेता पुरुष को ही (सजूः) समान प्रेम से मिलकर (राजसे) राज्य करने के लिये (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा या स्वामी (ततक्षुः) बनाते हैं ।

अध्यात्म में–(विश्वाः पृतनाः) समस्त व्यापारशील इन्द्रियगण (क्रत्वा वरिष्ठं) बल से सबसे श्रेष्ठ (नरं) नेता को (इन्द्रम्) आत्मा रूप से अपना स्वामी (जजनुः) प्रकट करते हैं ।

परमात्मा पक्ष में—(नरं) समस्त जगत् के प्रवर्तक, सबसे महान् शक्तिशाली को (इन्द्रम्ः जजनुः) इन्द्र ईश्वर करके जानते और कहते हैं ।

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वः्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥२॥

ऋ० ८ । ९७ । ११ ॥

भा०—(यद्) जब भी (वृधे) वृद्धि के लिये (धृतव्रतः) समस्त व्रतों को धारण करने वाला (ओजसा) अपने पराक्रम से, (ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (सम्) संगत होता है तभी (रेभासः) स्तुतिकर्ता

विद्वान् लोग (सोमस्य पातये) अमृत रस का पान करने के लिये (स्वः पतिम्) समस्त सुखों के स्वामी (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को (सम् अस्वरन्) एकत्र होकर स्तुतिगान करते हैं।

राष्ट्र पक्ष में—(यदीं) जब भी व्रत को धारण कर अपने पराक्रम और रक्षा साधनों से युक्त होकर (वृधे) अपने राष्ट्र वृद्धि के लिये राजा तैयार होता है तभी (रेभासः) विद्वान लोग (सोमस्य पीतये) राष्ट्र ऐश्वर्य को स्वीकार करने के लिये इससे एकत्र मिलकर प्रार्थना करते हैं।

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥३॥
ऋ० ८ । ९७ । १२ ।

भा०—(विप्राः) मेधावी विद्वान लोग (अभिस्वरा=अभिस्वरन्) स्पष्ट और ज्ञानोपदेश के साथ विद्यमान (नेमिम्) सबको अपने आगे झुकाने वाले, (मेषम्) सूर्य के समान सबमें चेतना के दाता, उस परमेश्वर को (चक्षसा) अपने ज्ञानदर्शन से ही (नमन्ति) झुकते, उसे नमस्कार करते हैं। हे मनुष्यो ! (वः) आप लोग भी (कर्णे अद्रुहः अपि) कार्य में परस्पर द्रोह न करते हुए भी (सुदीतयः) उत्तम दीप्तिमान् (तरस्विनः) वेगवान, शीघ्रकारी, अप्रमादी होकर (समृक्वभिः) वेदमन्त्रों से (सम् नमन्ति) अच्छी प्रकार उसकी स्तुति करो।

[५५] ईश्वर से ऐश्वर्य की याचना

रेभ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यः । तृचं सूक्तम् ॥

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि ।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥१॥ ऋ० ८ । ८६ । १३ ॥

भा०—मैं (तम्) उस (मघवानम्) समस्त सम्पत्तियों से समृद्ध (सत्रा) एक ही साथ (शवांसि) समस्त बलों को (दधानम्) धारण करने हार (अप्रतिष्कुतं) किसी से भी न पराजित, अद्वितीय शक्तिशाली, (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को (जोहवीमि) स्मरण करता हूं। वह (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (मंहिष्ठः) अति पूजनीय (यज्ञियः च) यज्ञ में सदा पूजनीय (आ ववर्त्तत्) ही सदा सर्वत्र व्याप्त है। वह (नः) हमारे (राये) ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (वज्री) वज्रवान् समस्त कष्टों का वर्जन या वारण करने में समर्थ (विश्वा सुपथा) समस्त उत्तम मार्ग हमारे लिये (कृणोतु) बनावे।

या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥

ऋ० ८ । ८६ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् (स्ववान्) स्वः=आनन्दप्रद भोग्य सम्पदाओं से अथवा सुखमय आनन्द से युक्त तू (याः भुजः) जिन भोग्य सम्पदाओं को (असुरेभ्यः आभरः=आहरः) असुरों से छीन कर लाता है। अथवा-(असुरेभ्यः) प्राणवान् जन्तुओं को (आहरः) प्रदान करता है हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! उन समस्त ऐश्वर्य सम्पदाओं से (अस्य) इस अपने साक्षात् स्वरूप के (स्तोतारम् इत्) अपने स्तुतिकर्त्ता साधक को (वर्धय) बढ़ा और (ये च) जो भी (त्वे) तेरे निमित्त (वृक्त बर्हिषः) धान्य के समान काट देने योग्य देहबन्धनों को काट चुके हों उनको भी बढ़ा।

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ॥३॥

ऋ० ८ । ८६ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (यजमाने सुन्वति) यजमान, यज्ञ करनेहारे पुरुष के सवन करते हुए और (तस्मिन्) उसके (दक्षिणावति) दक्षिणा प्रदान करते समय (तं) उसको (अक्षय्यम्) अक्षय (भागम्) सेवन करने योग्य (गाम् अश्वम्) गौ और अश्व आदि ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान कर (यम्) जिसको (त्वम्) तू (दधिषे) धारण करता है । उस ऐश्वर्य को (पणौ) कुव्यसनी पुरुष के हाथ (मा धेहि) प्रदान मत कर ।

[५६] दानशील ईश्वर

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । षड्‌चं सूक्तम् ॥

इन्द्रो मदा॑य वावृधे शव॑से वृत्र॒हा नृभि॑: ।
तमिन्म॒हत्स्वा॒जिषू॒तेमर्भे॑ हवामहे॒ स वाजे॑षु॒ प्र नो॑ऽविषत् ॥१॥
ऋ० १ । ८१ । १ ॥

भा०—(वृत्रहा) शत्रुओं और काम क्रोधादि विघ्नकारी अन्तः शत्रुओं का नाश करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा और परमेश्वर अपने (शवसे मदाय) बल और तृप्तिकारी आनन्दरस के कारण (वावृधे) सबसे बड़ा है । (महत्सु आजिषु) बड़े २ संग्रामों में (उत ईम् अर्भे) और छोटे २ कार्य में भी (तम्) हम उस इन्द्र, परमेश्वर और सेनापति को ही (हवामहे) याद करते हैं । (सः) वह (वाजेषु) वीर्य और बल के संग्रामादि कार्यों में (नः) हमारी (प्र अविषत्) रक्षा करता है ।

असि॒ हि वी॑र॒ सेन्यो॒ऽसि॒ भूरि॑ पराद॒दिः । असि॑ द॒भ्रस्य॑ चिद्वृ॒धो यज॑मानाय शिक्षसि सुन्व॒ते भूरि॑ ते॒ वसु॑ ॥ २ ॥
ऋ० १ । ८१ । २ ॥

भा०—हे (वीर) वीर ! वीर्यवन् ! तू (सेन्यः असि) सेना, स्वामी सहित वीरगणों का हितकारी है । तू (भूरि परादादिः) बहुत बार श-

त्रुओं को पराजय देने वाला है। तू (दभ्रस्य) अति स्वल्प को (चित्) भी (वृधः असि) बढ़ाने हारा है । तू (सुन्वते यजमानाय) सवन, ब्रह्मोपासना करने वाले आत्मसमर्पक यजमान को (ते) तू अपना (भूरि वसु) बहुतसा धन (शिक्षसि) प्रदान करता है।

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना। युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥३॥ ऋ० १ । ८१ । ३ ॥

भा०—(यद्) जब (आजयः) संग्राम या ब्रह्मकथाप्रसङ्ग (उदीरते) उठ खड़े होते हैं तब (धृष्णवे) सब शत्रुओं को पराजय करने हार को ही (धना) नाना ऐश्वर्य (धीयते) प्रदान किये जाते हैं। उसके सन्मुख समस्त ऐश्वर्य धरे जाते हैं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (मदच्युता) आनन्द, तृप्ति के साथ गति करने वाले (हरी) अश्वों को जिस प्रकार रथों में लगाता है, हे योगिन् ! तू भी (मदच्युतौ) आनन्द, हर्षप्रदर्षण करने वाले (हरी) हरणशील, वेगवान्, बलवान् प्राण और अपान दोनों को (युक्ष्व) योग विधि से वश कर। हे इन्द्र ! तू (कं हनः) किस शत्रु का घात करता है? अथवा हे आत्मन् ! (कं हनः) तू 'क' अर्थात् सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो। (वसौ) अपने वसुस्वरूप ऐश्वर्य में (कं दधः) किस को धारण करता है अर्थात ऐश्वर्य से किसका पालन करता है? अथवा-हे योगिन् ! (वसौ) वसु रूप आत्मा में (कं) सुखस्वरूप परमेश्वर को धारण कर और हे (इन्द्र) आत्मन् ! (वसौ) वासशील आत्म शक्ति में अथवा अपने ऐश्वर्य में तू (अस्मान् दधः) हम समस्त प्राणों या प्राणियों को धारण कर, ऐश्वर्य के आधार पर हमें पालन कर।

मदेमदे हि नो ददिर्यूथा गवामृजुक्रतुः। सं गृभाय पुरू शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर ॥ ४ ॥

ऋ० १ । ८१ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (ऋजुक्रतुः) अति सरल, सत्य, उत्तम, अर्जन योग्य ज्ञान, बल और क्रिया से सम्पन्न होकर (नः) हमें (गवाम्) इन्द्रियों और गौ आदि पशुओं के (यूथा) समूहों को (ददिः) प्रदान करता है । तू (पुरुशता) बहुत से सैकड़ों पालक ऐश्वर्यों को (सं गृभाय) संग्रह कर । (उभया हस्त्या) दोनों हाथों से भर भर कर (वसु शिशीहि) ऐश्वर्य प्रदान कर । (रायः आ भर) हमें नाना धन सम्पदाएं प्राप्त करा ।

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे । विद्मा हि त्वां पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेथा नोविता भव ॥५॥ ऋ० १ । ८१ । ८ ॥

भा०—हे (शूर) शूरवीर ! इन्द्र सर्वशक्तिमान् शत्रुनाशक ! तू (सुते) अपने इस उत्पन्न जगत् में (शवसे) अपने महान् बल और (राधसे) अपने महान् ऐश्वर्य के कारण तू (सचा) सबको एक काल में या नित्य ही (मादयस्व) आनन्द से तृप्त और हर्षित करने में समर्थ हो । (त्वा) तुझ (पुरुवसुम्) बड़े ऐश्वर्यों के स्वामी को ही हम (विद्महि) भली प्रकार जानें, प्राप्त करें । (कामान्) समस्त कामनाओं को (त्वा उपससृज्महे) तेरे ही पर छोड़ते हैं । (अथ नः) और अब हमारा तू ही (अविता भव) रक्षक हो ।

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् । अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥६॥

ऋ० १ । ८१ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (ते) तेरे उत्पन्न किये हुए (एते) ये (जन्तवः) जन्तु या उत्पन्न पदार्थ (विश्वं वार्यम्) समस्त अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य को पुष्ट करते हैं । हे इन्द्र ! परमेश्वर ! हे राजन् ! तू (अर्यः) सबका स्वामी होकर (जनानाम् अन्तः ख्यः हि) समस्त मनुष्यों के भीतर का भी देखता ही है । और (अदाशुषां) अदान

शील कृपणों के भी (वेदः) धनको तू (ख्यः) देखता है तू (नः तेषां वेदः आभर) उनके समस्त धनैश्वर्य हमें प्राप्त करा ।

[५७] ईश्वरस्तुति ।

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १—३ गायत्र्यः । शेषाः पूर्वोक्ताः ।
षोडशर्चं सूक्तम् ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥ ऋ० १ । ४ । १ ॥

भा०—(द्यविद्यवि) प्रतिदिन, नित्य (गोदुहे) गौ को दोहनेवाले के लिये जिस प्रकार (सुदुघाम्) उत्तम रीति से दुग्धादि रस प्रदान करने वाली गौ की (जुहूमसि) स्तुति करते हैं उसी प्रकार (ऊतये) रक्षा के लिये हम उस (सुरूपकृत्नुम्) उत्तम २ पदार्थों को रचने या रूपवान् करने वाले परमेश्वर की (जुहूमसि) स्तुति करते हैं ।

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ४ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (नः) हमारे (सवना) उपासनाओं में (उप आगहि) प्राप्त हो और हमें (सवना उपागहि) ऐश्वर्य युक्त पदार्थ प्रदान करने के लिये प्राप्त हो । तू (सोमस्य) राष्ट्र एवं जगत् के बीच में (सोमपाः समस्त ऐश्वर्य का पालक होकर उसका (पिब) पानकर, भोग कर । (रेवतः) ऐश्वर्यवान् आत्मा को (मदः) परम आनन्द प्रद होकर भी उसको (गोदाः) इन्द्रिय सामर्थ्य और उत्तम भूमि तथा पशु आदि का प्रदान करने हारा है ।

अथवा—(रेवतः) तुम्ह ऐश्वर्यवान् का (मदः) परमानन्द भी (गो-दाः) वेद वाणी का ज्ञान कराता है ।

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ४ । ३ ॥

भा०—(अथा) और (ते) तेरे (अन्तमानां) अति समीप प्राप्त तुझ तक पहुंचे हुए (सुमतीनाम्) उत्तम मननशील विद्वानों के संग से (ते विद्याम) हम तेरे स्वरूप का ज्ञान करें । तू (नः) हमें (आगहि) प्राप्त हो । तू (नः) हमें (मा अति ख्यः) कभी अति क्रमण मत कर, हमें मत भूल ।

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् । इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ ४ ॥ इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आ वृणे ॥५॥ अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् । उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥ ६ ॥ अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ७ ॥ इन्द्रो अङ्ग महद् भयमभी षदप चुच्यवत् । स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ८ ॥ इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ९ ॥ इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ १० ॥

भा०—(४-१०) इन सात मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व २० । २० । १—७ ॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे । अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ ११ ॥ दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे । नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥ १२॥ य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः

यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥ १३ ॥ वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः । पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥ १४ ॥ स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः । कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥ १५ ॥ कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् । पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥१६॥

भा०—(११-१३) इन तीन मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ५३ । १—३ ॥

(१४—१६) इन ३ मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ५२ । १—३ ॥

[५८] ईश्वरस्तुति ।

१, २ नृमेधः । ३, ४ भरद्वाजः इन्द्रः । ४ सूर्यश्च देवते । प्रगाथः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत । वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥१॥ ऋ० ८ । ९९ । ३ ॥

भा०—(सूर्यम् इव) जिस प्रकार किरणें या ग्रह उपग्रह सूर्य का आश्रय लेते हैं और उसी के प्रकाश का उपभोग करते हैं उसी प्रकार इन्द्र परमेश्वर का (आयन्तः) आश्रय लेते हुए हे मनुष्यो ! आप लोग (इन्द्रस्य इव) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही (विश्वा वसूनि इव) समस्त ऐश्वर्यों का (भक्षत) भोग करो । और हम सब लोग (जाते) उत्पन्न हुए (जनमाने) उत्पन्न होनेहारे और भविष्य में उत्पन्न होने वाले इस जगत् में भी (ओजसा) अपने पराक्रम, बल वीर्य के अनुसार (भागं न) अपने भाग अर्थात् प्राप्त किये ऐश्वर्य के अनुसार ही (प्रति

दीधिम) प्रत्येक वस्तु धारण कर रक्खें । इसी प्रकार सूर्य के प्रकाश के समान हम सब राजा के ऐश्वर्यों का भोग करें। वर्त्तमान और भावी में अपने श्रम, बल, पराक्रम के अनुसार अपना भाग प्राप्त करें ।

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः । सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥२॥ ऋ० ८।९९।४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! तू (अनर्शरातिम्) निष्पाप, सात्विकदान वाले (वसुदाम्) ऐश्वर्य के दाता परमेश्वर की (उपस्तुहि) स्तुति कर । हे मनुष्य ! (इन्द्रस्य रातयः) इन्द्र, ईश्वर के समस्त दान (भद्राः) कल्याण और सुख के जनक हैं । (सः) वह परमेश्वर (अस्य विधतः) अपनी सेवा स्तुति करने वाले इस भक्त सेवक के (कामम्) मनोरथ का (न रोषति) घात नहीं करता । परमेश्वर अपने भक्त के मनोरथ को पूर्ण करता है । और (दानाय) दान देने के लिये ही (मनः) अपने भक्त के चित्त को (चोदयन्) प्रेरित करता रहता है ।

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि । महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । १०१ । ११ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके उत्पादक और प्रेरक सूर्य ! परमेश्वर ! तू (बट्) सचमुच (महान् असि) महान्, सबसे बड़ा है । हे (आदित्य) आदित्य ! सबके अपने भीतर समा लेनेहारे, सबके वश करनेहारे ! (बट् महान् असि) तू सचमुच महान् है । (सतः ते) सत् स्वरूप तेरी (महः महिमा) बड़ी महिमा, बड़ा सामर्थ्य (पनस्यते) गाया जाता है । (अद्धा) निश्चय, हे (देव) सर्वद्रष्टः उपास्य देव ! तू (महान् असि) महान् है । अथवा (पनस्यते) स्तुतिशील उपासक के लिये तू ही सबसे बड़ा है ।

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि । मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥४॥ ऋ० ८।१०१ । १२ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक परमेश्वर, सूर्य के समान सबके जीवनाधार ! तू (श्रवसा) तेज, कीर्त्ति, बल और ज्ञान से (बट्) सत्य ही (महान् असि) सबसे बड़ा है । (सत्रा) निश्चय से हे (देव) विजिगीषो ! राजन् ! देव, देदीप्यमान ! हे द्रष्टः ! तू (महान् असि) महान्, सबसे बड़ा है । तू (मह्ना) अपने महान् सामर्थ्य से (देवानाम्) समस्त देव, दिव्य शक्तियों, अग्नि, जल, पृथिवी सूर्यादि लोकों और पदार्थों में (असुर्यः) प्राणों में रमण करने वाले जीवों का हितकारी और (पुरोहितः) सबसे पूर्व विद्यमान रहा है । तू ही (विभु) सर्वत्र व्यापक और विविध प्रकार से विद्यमान) अदाभ्यन्) अविनाशी, नित्य, ध्रुव, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप है ।

[५९] ईश्वरार्चना ।

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । चतुर्भिर्वे ऋचाः ॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥
कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥२॥

भा०—(१-२) इन दो मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्ववेद कां० २० । १० । १, २ ॥

उदिन्न्वस्य रिच्यतेंशो धनं न जिग्युषः । य इन्द्रो हरिवान् न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि ॥३॥ ऋ० ७ । ३२ । १२ ॥

भा०—(जिग्युषः धनं न) विजयशील राजा का धन एवं जिस प्रकार बराबर बढ़ा करता है उसी प्रकार (अस्य) इस परमेश्वर का भी (अंशः) व्यापक सामर्थ्य और ऐश्वर्य भी (इत् नु उद् रिच) सदा

बढ़ता ही चला जाता है। क्या कोई सीमा नहीं ! (यः) जो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (हरिवान्) हरणशील इन्द्रियों पर विजय करने वाले योगी के समान समस्त शक्तियों पर, घोड़ों पर, सारथी या महारथी के समान वश करने वाला है (तं) उसको (रिपः) पाप (न दभन्ति) नहीं सताते। प्रत्युत वह परमेश्वर (सोमिनि) सोम, राष्ट्रैश्वर्यवान् राजा के समान सोम,-आत्मा के वशयिता या ब्रह्मानन्द रसपान करने वाले आत्मवान् योगी को (दक्षं दधाति) बल प्रदान करता है।

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा। पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् ॥४॥ ऋ० ७।३२।१३॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (यज्ञियेषु) यज्ञ, परस्पर संगति से होने वाले राज्यव्यवस्था, सभा, समिति, सत्संगों में अथवा यज्ञ प्रजापति राजा के हितकारी कार्यों में और यज्ञ-परमेश्वर की उपासना के अवसरों में (अखर्वं) गर्वरहित, अति विनयपूर्वक (सुधितं) उत्तम रूप से विचारित, (सुपेशसं) सुन्दर, (मन्त्रम्) परस्पर का विचार मन्त्र और वेदमन्त्र को (दधात) धारण करो, प्रयोग करो। सभा आदि में विनय से अपने विचार कहो और धर्म कार्यों में श्रद्धा भक्ति से मन्त्रों का उच्चारण करो। (पूर्वीः चन) पूर्व से ही किये गये (प्रसितयः) उत्तम राज्य प्रबन्ध व्यवस्था या धर्म मर्यादाएं भी (तं तरन्ति) उसको कष्टों से पार करती हैं (यः) जो (कर्मणा) कर्म से (इन्द्रे) इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा और प्रभु के अधीन होकर (भुवत्) रहता है।

[६०] ईश्वर और राजा का वर्णन

१-३ सुतकक्षः सुकक्षो वा ऋषिः। ४-६ मधुच्छन्दा ऋषिः। गायत्र्यः। षडृचं सूक्तम् ॥

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः।
एवा ते राध्यं मनः ॥ १ ॥ ऋ० ८।८१।२८॥

भा०—(वीरयुः एव हि असि) हे इन्द्र ! राजन् ! प्रभो ! तू वीर पुरुषों को ही प्राप्त होने हारा, उनका हितैषी है । तू (शूरः उत स्थिरः इव असि) शूरवीर और स्थिर रहने वाला, धैर्यवान् है । (ते मनः) तेरा मन और ज्ञान भी (राध्यं एव) आराधना करने योग्य ही है ।

एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः ।
अधा चिदिन्द्र मे सचा ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९३ । २९ ॥

भा०—हे (तुवीमघ) बड़े ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (विश्वेभिः धातृभिः) समस्त पालन करने वाले धाता, धारक, प्रभु स्वामी, पोषक, विधाताओं, राजाओं ने तेरे (रातिः एव) दिये दान को (धायि) धारण किया है । (अधा चित्) और इसी प्रकार हे प्रभो ! (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (मे सचा) मेरे भी साथ तू रह और धन प्रदान कर ।

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते ।
मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ९२ । ३० ॥

भा०—हे राजन् ! हे प्रभो ! (ब्रह्मा इव) यज्ञ में ब्रह्मा के समान और निद्रा में ब्रह्मज्ञानी के समान हे (वाजानां पते) ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! तू (तन्द्रयुः) आलस्य युक्त (मा उ सु भुवः) कभी मत हो । (गोमतः सुतस्य) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न ऐश्वर्य के द्वारा स्वयं (मत्स्व) तृप्त हो । अध्यात्म में—(गोमतः सुतस्य मत्स्व) इन्द्रियों के साधनों सहित उनसे उत्पन्न भीतरी आनन्द और ज्ञानरस से तू तृप्त हो । परमेश्वर पक्ष में—सूर्यादि लोकों सहित उत्पन्न संसार के बीच तू (मत्स्व) स्वयं पूर्णानन्द रूप हो और औरों को भी तृप्त कर ।

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही ।
पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ८ । ८ ॥

भा०—(पक्वा शाखा न) पकी हुई शाखा जिस प्रकार मनुष्य को फूल फल देती और बैठने वाले को भली प्रकार आश्रय देती है उसी प्रकार (अस्य) इस इन्द्र ज्ञानवान् आचार्य के समान साक्षात् आत्मा के द्रष्टा, एवं सर्व जगत् के द्रष्टा परमेश्वर की (सूनृता) शुभ सत्य ज्ञान पूर्ण वाणी और उसके समान ही (सूनृता) उत्तम अन्न से परिपूर्ण (गोमती) पशु आदि से समृद्ध (मही) यही पृथ्वी, (विरप्शी) विविध पदार्थों को देने वाली (एव) ही होती है । ज्ञानवाणी ही (दाशुषे) परमेश्वर को आत्म समर्पण करने वाले अभ्यासी के लिये (पक्वा शाखा न) परिपक्व, पुनः पुनः अभ्यस्त शाखा वेद शाखा के समान ज्ञानप्रद और (शाखा= खे शेते) आश्रय वृक्ष के समान ख अन्तराकाश में रमने वाली होती है ।

एवा हि ते विभूतय ऊतयं इन्द्र मावंते ।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥ ०ऋ १ । ८ । ९ ॥

भा०—(ते) तेरी (विभूतयः एव हि) विभूतियें, ऐश्वर्य ही निश्चय से हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! प्रभो ! (मावते) मेरे जैसे (दाशुषे) दानशील के लिये (सद्यः चित्) सदा के लिये (ऊतयः सन्ति) रक्षा रूप से होजाती हैं ।

एवा ह्यस्य काम्या स्तोमं उक्थं च शंस्यां ।
इन्द्राय सोमंपीतये ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ८ । १० ॥

भा०—(अस्य) इसके (एव) ही (स्तोमः) स्तुति समूह और (उक्थं च) वेद ज्ञान (काम्या शंस्या) मनोहर, स्तुति करने योग्य एवं उत्तम हैं । वे (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् योगी आत्मा के (सोमपीतये) सोमपान, अध्यात्म ब्रह्मरस स्वाद के लिये होते हैं । अथवा (अस्य काम्या शंस्या स्तोम उक्थं च) इस भक्त के मनोहर स्तुति-वचन और वेदमन्त्र भी निश्चय से (सोमपीतये इन्द्राय) सोम का पान करने वाले, आनन्द

रस के सागर, ऐश्वर्यवान् परमेश्वर एवं राष्ट्रपति के पद के भोक्ता ऐश्वर्यवान् राजा के लिये ही होते हैं ।

[६१] पूर्णानन्द परमेश्वर की स्तुति

गोषूक्त्यश्वसूक्तिनावृषी । इन्द्रो देवता । उष्णिहः । षड्टचं सूक्तम् ॥

तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १५ । ४ ॥

भा०—हे ऐश्वर्यवन् इन्द्र ! हम लोग (ते) तेरे (तं) उस प्रसिद्ध (वृषणम्) समस्त सुखों के वर्षक (पृत्सु) मनुष्यों और संग्रामों में (सासहिम्) समस्त शत्रुओं के पराजय करने वाले, सबके वश करने में समर्थ, (हरिश्रियम्) वेगवान् महान् लोकों और वेगवती शक्तियों के आश्रयभूत, विद्वानों के सेवनीय (लोककृत्नुम्) लोकों की रचना करने वाले (मदम्) परम आनन्द रूप शक्ति का (गृणीमसि) वर्णन, स्तुति करते हैं ।

येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥२॥ ऋ० ८ । १५ । ५ ॥

भा०—(येन) जिस तृप्तिकारक सबको प्रसन्न करने वाले प्रकाश से तू (आयवे) साधारण मनुष्य और (मनवे) ज्ञानशील पुरुष को (ज्योतींषि) नाना ज्योतिर्मय सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि (विवेदिथ) प्रदान करता है उससे ही तू (मन्दानः) सदा तृप्त एवं पूर्ण आनन्दमय हो (अस्य बर्हिषः) इस महान् ब्रह्माण्ड के बीच में आसन पर राजा के समान (विराजसि) शोभायमान होता है ।

तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥३॥ ऋ० ८ । १५ । ६ ॥

भा०—(अद्यचित्) आज तक भी (उक्थिनः) स्तुतिकर्त्ता पुरुष (पूर्वथा) पूर्व के समान ही (तत्) उस तेरे स्वरूप का (अनु स्तुवन्ति) बराबर वर्णन करते हैं । वह ही (वृषपत्नीः) वर्षणशील मेघ की शक्तियों को पालन करने वाली (अपः) जलों को जिस प्रकार सूर्य धारण करता है उसी प्रकार वृष अर्थात् बलवान् पुरुष के पालने वाली प्रजाओं को (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अपः) समस्त आप्त प्रजाओं को (जय) अपने वश कर ।

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।

इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥४॥ ऋ० ८ । १५ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (पुरुहूतं) सबसे स्तुति करने योग्य (पुरुस्तुतम्) बहुत विद्वानों से वर्णित (तम् उ) उस परमेश्वर की ही (प्र गायत) अच्छी प्रकार स्तुति करो । हे विद्वान् लोग (गीर्भिः) वेद-वाणियों द्वारा (तविषम्) महान् शक्तिशाली (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (आ विवासत) स्तुति करो, उसकी अर्चना करो ।

यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥५॥ स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥६॥ ऋ० ८ । १ । १५ । २, ३ ॥

भा०—(द्विबर्हसः) दो महान् शक्तियों वाले (यस्य) जिसका (बृहत् सहः) बड़ा भारी बल (वृषत्वना) अपने वर्षण सामर्थ्य से (रोदसी) द्यौ और पृथिवी (गिरीन् अज्रान्) वेगवान् मेघों और पर्वतों को (अपः स्वः) जलों समुद्र और आकाश को भी (दाधार) धारण करता है । (सः) वह तू (पुरुष्टुतः) बहुतसी प्रजाओं द्वारा स्तुति करने योग्य (एकः) अकेला ही (वृत्राणि) समस्त विघ्नों को (जिघ्नसे) विनाश करता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू ही (जैत्रा श्रवस्या) विजय-शील यश-कीर्त्ति जनक ऐश्वर्यों को (यन्तवे) प्रदान करने में समर्थ है ।

[६२] ईश्वर का स्तवन

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिहः । षडृचं सूक्तम् ॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः । वाजे चित्रं हवामहे ॥१॥ उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् । त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥ २ ॥ यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे । सखाय इन्द्रमूतये ॥३॥ हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत । आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥४॥

भा०—(१–४) इन चार मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्ववेद का० २० । १४ । १–४ ॥

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥५॥ ऋ० ८ ९८ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (विप्राय) मेधावी, जगत् को विशेष बल और विविध पदार्थों से पूर्ण करने वाले, (बृहते) महान् (धर्मकृते) जगत् के धारण करने हारे प्रबन्ध को करने वाले, (विपश्चिते) समस्त ज्ञानों और कर्मों को जानने वाले, (पनस्यवे) स्तुति के योग्य, (इन्द्राय) परमऐश्वर्यवान् एवं ज्ञान दृष्टि से, समाधि द्वारा साक्षात् दर्शनीय परमेश्वर के (बृहत् साम) महत्व सूचक 'बृहत्' नामक साम, स्तुतिगान का (गायत) गायन करो ।

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः ।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥६॥ ऋ० ८ । ९८ २ ॥

५–(प्र०) 'गमकृते' इति साम० ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! (त्वम् अभिभूः असि) तू सब संसार में व्यापक और उसका वश करने वाला है । (त्वं) तू (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयः) प्रकाशित करता है । तू (विश्वकर्मा) समस्त जगत् का रचनेहारा एवं जगत् के समस्त कार्यों का कर्त्ता और (विश्वदेवः) समस्त संसार का उपास्यदेव, सब का द्रष्टा समस्त देवों दिव्य शक्तियां एक स्वरूप और (महान् असि) महान्, सबसे बड़ा है ।

विभ्राजं ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥७॥ ऋ० ८ । ९८ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! तू (ज्योतिषा) सूर्य आदि समस्त प्रकाशमान लोकों की ज्योति से (विभ्राजन्) विशेष रूप से चमकता हुआ (दिवः रोचनम्) समस्त कान्तिमान सूर्य और द्यौलोक को प्रकाशित करने वाले (स्वः) महान् आकाश अथवा (स्वः) महान् तेज को या परम धाम को (अगच्छः) प्राप्त है । (देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और दिव्य पदार्थ (ते सख्याय) तेरे समान ख्याति वाले मित्र भाव के लिये (येमिरे) यत्न करते हैं अर्थात् समस्त विद्वान् और सूर्यादि लोक भी तेरी मित्रता चाहते हैं ।

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥८॥ यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरीरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ९ ॥ स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥१०॥

भा०—(८—१०) इन तीन मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० २० ६२ । ४ । ६ ॥

[६३] राजा और ईश्वर

१–२ प्र० द्वि० भुवनः आप्त्यः साधनो वा भौवनः । ३ तृ० च० भारद्वाजो बार्हस्पत्यः । ४–६ गोतमः । ७–९ पर्वतश्च ऋषिः । इन्द्रो देवता । ७ त्रिष्टुप् शिष्टा उष्णिहः । नवर्चं सूक्तम् ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥१॥
ऋ० १० । १५७ । १ ॥

भा०—(इन्द्रः च) इन्द्र सेनापति और (विश्वे च देवाः) समस्त देव विद्वान् गण और विजिगीषु वीर पुरुष हम सब मिलकर (इमा भुवनानि) इन समस्त लोकों को (सीषधाम कम्) अपने वश करें । (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजा (आदित्यैः सह) आदित्य १२ ही मासों या उनके समान नाना प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न राष्ट्र के १२ विभागों या आदित्य के समान तेजस्वी पुरुषों के साथ मिलकर (नः) हमारे (यज्ञम्) राष्ट्र को (नः तन्वं च) हमारे शरीर को और (नः प्रजां च) हमारी प्रजा को भी (चीक्लृपाति) समर्थ, शक्ति सम्पन्न करे ।

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥२॥
ऋ० १० । १५७ । २ ॥

भा०—(यत्) जब (देवाः) विजयी वीर पुरुष अपने (देवत्वम्) विजयी स्वभाव की रक्षा करते हुए (देवाः) सूर्य की किरणों के समान (असुरान्) दुष्ट पुरुषों को (हत्वाय) मारकर (आयन्) लौट आवे तब (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् या शत्रुओं का नाश करने वाला सेनापति राजा (सगणः) अपने सहायक सैनिकगण के साथ (आदित्यैः) सूर्य के समान तेजस्वी और (मरुद्भिः) वायु के समान तीव्रगति वाले शत्रु रूप वृक्षों

को अपने प्रबल वेग से उखाड़ देने में समर्थ वीर पुरुषों के साथ मिल कर (अस्माकं) हम प्रजाओं के (तनूनाम्) शरीरों को (अविता भूतु) रक्षक हो ।

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतं हिमाः सुवीराः ॥३॥
ऋ० ६ । १७ । १५ ॥

भा०—विद्वान् लोग (प्रत्यञ्चम्) शत्रुओं पर चढ़ाई करने में समर्थ (अर्कम्) स्तुति योग्य, एवं आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष को (शची-भिः) शक्तिशाली सेनाओं के साथ (अनयन्) ले जाते हैं, उसको सेनाओं से युक्त करते हैं (आत इत्) और तदनन्तर (इषिराम्) बलवती सर्व-प्रेरक (स्वधाम्) अपने राष्ट्र के ऐश्वर्य को धारण करने वाली शक्ति को (परि अपश्यन) साक्षात् करते हैं । (अया) इस बड़ी भारी राज्य की शक्ति से प्रेरित होकर हम लोग (देवहितम्) विजय चाहने वाले वीरों एवं राजा के हितकारी या अभिलाषा योग्य (वाजसे) संग्राम को या बल को (सनेम) प्राप्त करें और (सुवीराः) उत्तम वीरों और पुत्रों वाले होकर (शतं हिमाः) आयु के सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्द प्रसन्न एवं तृप्त रहें ।

परमात्मा और आत्मा के पक्ष में—(अर्कं) अर्चनीय उपास्य आत्मा को आत्मज्ञानी लोग (शचीभिः) यज्ञ और कर्म सहित साक्षात् करते हैं और उस सर्व प्रेरक, स्वयं शरीर और ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली शक्ति को ही (परि अपश्यन्) सर्वत्र विद्यमान पाते हैं, उस शक्ति से ही हम (देव-हितम्) विद्वानों और प्राणों के हितकारी, उनके पोषक पालक (वाजं) अन्न का हम (सनेम) भोग करें और सौ वर्षों तक पुत्रादि सहित हर्षित रहें ।

य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥४॥ ऋ० १ । ८४ । ७ ॥

भा०—(अङ्ग) हे विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो (एकः इत्) अकेला ही (दाशुषे मर्ताय) दानशील आत्मत्यागी पुरुष को (वसु विदयते) ऐश्वर्य विविध रूपों में प्रदान करता है, वह ही (अप्रतिष्कुतः) विपत्तियों से कभी पराजित न होने वाला अप्रतिहत सामर्थ्यवान् अथवा कभी याचक को न नकारने वाला स्वयं (ईशानः) सर्वेश्वर, सबका स्वामी (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् है।

कुदा मर्तमराधसं पुदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
कुदा नः शुश्रवुद् गिर् इन्द्रो अङ्ग ॥५॥ ऋ० १ । ८४ । ८ ॥

भा०—(अङ्ग) हे विद्वान् पुरुषो ! (अराधसम्) देने योग्य धनसे रहित, कृपण, अदानशील पुरुष को (इन्द्रः) वह शत्रुनाशक, ऐश्वर्यवान्, न जाने, (कदा) कब (पदा क्षुम्पम् इव) पैर से खुम्बी की तरह (स्फुरत्) ठुकरादे। और (नः गिरः) हमारी वाणियों को वह (कदा) कब (शुश्रवद्) सुनले।

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।
उग्रं तत् पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥६॥ ऋ० १ । ८४ । ९ ॥

भा०—(अङ्ग) हे प्रजागण ! अथवा अन्तरात्मन् ! (यः चित् हि) जो भी (सुतावान्) सुत अर्थात् उत्पन्न पदार्थ या ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर (बहुभ्यः) बहुतसे जनों के हित के लिये (त्वा) तेरी (आ विवासति) सेवा करता है। (तत्) तभी वह (इन्द्रः) स्वयं शत्रुनाशक होकर (उग्रम्) भयंकर (शवः) बल को (पत्यते) प्राप्त होता है, उसका स्वामी होजाता है।

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।
येना हंसि न्य१त्रिणं तमीमहे ॥७॥ ऋ० ८ । १२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् शत्रुनाशक ! हे (शविष्ठ) सब से अधिक बलशालिन् ! (येन) जिस बल से तू (अत्रिणम्) प्रजा को

खा जाने वाले दुष्ट पुरुषों को (निहंसि) निग्रह करके दण्ड देता है और (यः मदः) जो सबको प्रसन्न और हर्ष देने वाला (सोमपातमः) सोम नाम राजा के पद या राष्ट्र को अच्छी प्रकार पालन करने में समर्थ होकर (चेतति) सब प्रजाओं को चेताता या ज्ञानवान् करता है (तम् ईमहे) हम उसी को चाहते और प्रार्थना करते हैं ।

जो संसार का पालन करता है और जिस बल से वह दुष्टों का नाश करता है भगवान् ईश्वर से हम वह बल मांगते हैं ।

येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम् ।
येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १२ । २ ॥

भा०—हे राजन् ! (येन) जिस बल से तू (दशग्वम्) दश गमन-शील प्राणों या इन्द्रियों से युक्त (अध्रिगुम्) अजितेन्द्रिय या ' अध्रि=गु ' अस्थिरगति वाले नाशवान् शरीर को (वेपयन्तम्) सञ्चालित करने वाले (स्वर्नरम्) सुख के नेता या सुखमय प्रकाशमय, नर, पुरुष, आत्मा को (आविथ) रक्षा करता है और (येन) जिससे (समुद्रम्) इस महान् आकाश और समुद्र उनमें विद्यमान चराचर जगत् को (आविथ) रक्षा करता है हम तो (तम् ईमहे) उसको जानें, पावें, प्राप्त करें, उसकी याचना करते हैं ।

राजा के पक्ष में—दशों दिशाओं में भाग जाने वाले अधीर शत्रुको कपाने में समर्थ (स्वर्नरम्) सुखमय राष्ट्र के नेता पुरुष और (समुद्रम्) प्रजा और विशाल सेना समूह रूप समुद्र को जिस बलसे रक्षा करता है हे राजन् ! हम उसी बल को चाहते हैं ।

येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः ।
पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १२ । ३ ॥

भा०—हे ईश्वर ! (येन) जिस बल से तू (सिन्धुम्) समुद्र के प्रति (महीः अपः) बहने वाली बड़ी २ जल की नदियों को और (रथान् इव) रथों को महारथी के समान अपनी आज्ञा से (ऋतस्य) सत्य नियम के या चराचर संसार के (पन्थाम् यातवे) मार्ग पर ठीक प्रकार से चलने के लिये (प्रचोदयः) प्रेरित करता है (तम् ईमहे) हम उसीको जानना चाहते हैं और याचना करते हैं ।

सेनापति के पक्ष में—(सिन्धुं प्रति महीः अपः इव रथान् प्रचोदयः) समुद्र के प्रति जाने वाली महानदियों के समान रथों अर्थात् रथारूढ वीरों को (ऋतस्य पन्थाम् यातवे) संग्राम के मार्ग पर चलने की (प्रचो-दयः) आज्ञा देता है (तम् ईमहे) हम उसका ज्ञान करें ।

[६४] ईश्वर और राजा ।

१—३ नृमेधाः । ४—६ गोसूक्त्यश्वसूक्तिनौ । इन्द्रो देवता । उष्णिहः ॥

एन्द्र॑ नो गधि प्रि॒यः स॑त्रा॒जिदगो॑ह्यः ।
गि॒रिर्न वि॒श्वत॑स्पृ॒थुः पति॑र्दि॒वः ॥१॥ ऋ० ८ । ६८ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! तू (नः) हमारा (प्रियः) प्रिय (सत्राजित्) सदा विजयशील एवं एक ही साथ सबको विजय करने में समर्थ और (अगोह्यः) सबके गोचर, कभी छिप कर न रहने वाला होकर तू (नः) हमें (आगधि) प्राप्त हो । तू (गिरिः न) पर्वत के स-मान (विश्वतः) सब प्रकार से (पृथुः) विस्तृत महान् (दिवः पतिः) सूर्य और आकाश का भी पालक है ।

राजा के पक्ष में—राजा प्रजाओं का प्रिय, सदा विजयी, (अगोह्यः) सर्व प्रत्यक्ष, पर्वत के समान विशाल और (दिवः पतिः) ज्ञानवान् पुरुषों की राजसभा का पति है ।

अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥२॥ ऋ० ८ । ९८ । ५ ॥

भा०—हे (सत्य) सत्यस्वरूप ! तू (सोमपाः) सोमरूप संसार या परमैश्वर्य का पालन करने हारा होकर (उभे रोदसी) दोनों लोकों को (अभि बभूथ) वश करता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (सुन्वतः वृधः) अपने सवन करने वाले उपासक को बढ़ाने वाला और (दिवः पतिः) ज्ञानी पुरुष और द्यौ और सूर्य का भी पालक है ।

राजा के पक्ष में—हे सत्य व्यवहार के रक्षक राजन् ! तू (सोमपाः) राष्ट्र का रक्षक होकर (उभे रोदसी अभि बभूथ) राजा और प्रजा दोनों दलों के भी ऊपर है । अपना सवन या अभिषेक करने वाले या कर देने वाले प्रजागण का बढ़ाने वाला और ज्ञानवान् पुरुषों की सभा का पति है ।

त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि ।
हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥३॥ ऋ० ८ । ८९ । ६ ॥

भा०—हे इन्द्र सेनापते ! (त्वं हि) तू निश्चय से (शश्वतीनाम्) शत्रुओं की सदा से चली आयी समस्त (पुराम्) नगरियों या गढ़ों को (दर्त्ता असि) तोड़ने वाला है । तू (दस्योः हन्ता) डाकूजन का नाशक और दण्ड देने वाला और (मनोः) मननशील प्रजाजन का (वृधः) बढ़ाने वाला और (दिवः पतिः) ज्ञानी पुरुषों का या तेजस्वी राजपद का पति है ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे प्रभो ! तू (शश्वतीनाम्) अनादिकाल से चली आई इन समस्त (पुराम् दर्त्ता असि) देहरूप नगरियों को तोड़ने वाला देह-बन्धनों का नाशक है । (दस्योः) क्षयकारी अज्ञान का नाशक और (मनोः) ज्ञान का वर्धक और आत्म-प्रकाश का पालक है ।

एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः।
एवा हि वीर स्तवते सुदावृधः ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । २४ । १६ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) अध्वर्यो ! अध्वर=यज्ञ के सम्पादक, उपासक ! (मध्वः) मधुर (अन्धसः) प्राण और आत्मा का (मदिन्तरम्) अति अधिक आनन्दप्रद, परम तृप्तिकारक रूप सोम रस का (आसिञ्च इत् उ) नित्य सेचन कर उसी आन्तर रस को प्रवाहित कर, (हि) क्योंकि (एवा) इस प्रकार ही (सदावृधः) नित्य वृद्धिशील, नित्य हमारी वृद्धि कराने वाला (वीरः) वीर्यवान् (स्तवते) स्तुति किया जाता है ।

राजा के पक्ष में—(मध्वः अन्धसः) मधुर भोग्य पदार्थ राष्ट्र के ऐश्वर्य का सबसे अधिक सुखकारी भाग राजा को प्रदान कर । नित्य हमारे ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाले वीर की इसी प्रकार अर्चना होती है ।

इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।
उदानंश शवसा न भन्दना ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । २४ । १७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे (हरीणां स्थातः) गतिमान लोकों के बीच में व्यापक एवं संस्थापक अथवा (हरीणाम्) आत्माओं के बीच में, या नाशवान् पदार्थों के बीच में सदा स्थिर ! (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्ण स्तुति, गुण कीर्त्ति को (शवसा) बल द्वारा (नकिः उत् आनंश) कोई भी अभी तक प्राप्त नहीं कर सका, लांघ नहीं सका । और न उस तेरी कीर्त्ति को (भन्दना न) अपने कल्याणकारक और सुखदायक व्यवहार से ही लांघ सका है ।

राजा के पक्ष में—(हरीणां मध्ये स्थातः) हे अश्वों और अश्वारोहियों के बीच में सेनापति रूप से खड़े होने वाले राजन् ! तेरी पूर्व प्राप्त कीर्ति को अभीतक भी न बल से और न उपकार से कोई लांघ सकता है तू इतना वीर और उपकारी बन ।

तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः ।
अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥६॥ ऋ० ८ । २४ । १८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोगों के (वाजानां) समस्त ऐश्वर्यों, बलों, सेनाओं और अन्नादि समृद्धियों के (पतिम्) पालक और (अप्रायुभिः) निरन्तर किये जाने वाले, कभी न टूटने वाले (यज्ञेभिः) यज्ञों उपासना के कर्मों से (वावृधेन्यम्) नित्य बढ़ने वाले, या भक्तों को बढ़ाने वाले (तम्) उस परमेश्वर को (श्रवस्यवः) यश, ज्ञान और अन्न समृद्धि के इच्छुक हम लोग (अहूमहि) स्मरण करते हैं ।

राजा के पक्ष में—(अप्रायुभिः) निरन्तर किये जाने वाले (यज्ञेभिः) राजा प्रजा के परस्पर मिलकर किये कार्यों द्वारा (वावृधेन्यम्) बढ़ने वाले राजा को हम (श्रवस्यवः) यश समृद्धि के अभिलाषी सदा (अहूमहि) आदर से स्वीकार करें ।

[६५] परमेश्वर और राजा ।

विश्वमनाः वैश्यश्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिहः । तृचं सूक्तम् ॥

एतोन्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥१॥ ऋ० ८ । २४ । १९ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्र जनो ! (आ इत् नु) आओ, (यः) जो (एक इत्) एक अद्वितीय अकेला ही (विश्वाः) समस्त (कृष्टीः) आकर्षण शक्ति से बद्ध लोकों के (अभि अस्ति) ऊपर वश कर रहा है उस (स्तोम्यं) स्तुति योग्य (नरम्) सबके नेता, सबके सञ्चालक (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें ।

राजा के पक्ष में—(यः) जो (विश्वाः कृष्टीः एक इत् अभि अस्ति) समस्त मनुष्यों को अकेला ही वश करता है उस (स्तोम्यं नरं स्तवाम) स्तुति योग्य पुरुष के गुणकीर्तन करें ।

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः ।

घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥२॥ ऋ० ८ । २४ । १९ ॥

भा०—हे मित्रो ! आप लोग (गविषे) गौ=स्तुति या वेदवाणियों को प्रेरणा करने वाले और (अगोरुधाय) अपने ज्ञानकिरणों को न रोक रखने वाले, उनको प्रसार करने वाले (द्युक्षाय) प्रकाशस्वरूप, उस परमेश्वर की स्तुति के लिये (घृतात् स्वादीयः) घृत, जल से भी अधिक स्वादु, अधिक स्निग्ध और (मधुनः च स्वादीयः) मधु से भी मधुर (दस्म्यं) दर्शनीय (वचः) वचन का (वोचत) उच्चारण करो ।

राजा के पक्ष में-(गविषे) गौ=आज्ञा के दाता और (अगोरुधाय) गौ भूमियों पर अपना स्वत्व न रखने वाले वा लोगों की भूमि आदि न छीनने वाले, दानशील राजा के प्रति घी से अधिक स्नेहमय और मधु से अधिक मधुर वचन का प्रयोग करो ।

यस्यामितानि वीर्या३ न राधः पर्येतवे ।

ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥३॥ ऋ० ८ । २४ । २० ॥

भा०—हे मित्रो ! (यस्य) जिसके (वीर्या) वीर्य, पराक्रम और बल के व्यापार भी (अमितानि) अज्ञेय एवं असंख्य, मापे नहीं जा सकते और (राधः) जिसका ऐश्वर्य भी (परिएतवे न) पार नहीं किया जा सकता और जिसकी (दक्षिणा) दानशीलता भी (ज्योतिः न) सूर्य के प्रकाश के समान (विश्वम् अभि अस्ति) समस्त विश्व से भी ऊपर, सबसे बढ़कर है, तुम उसकी स्तुति मधुर और स्नेहमय वचनों से करो ।

राजा के पक्ष में-जिसको अनन्त पराक्रम, अपार धन और सर्वोपरि दानशीलता है उसकी स्तुति करो ।

[६६]

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् ।

अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥१॥ ऋ० ८ । २४ । २२ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (व्यश्ववत्) विनीत अश्व वाले पुरुष के समान स्वयं अपने इन्द्रियों पर विजयशील जितेन्द्रिय पुरुष के समान होकर (अनूर्मिम्) भय, पीड़ा रहित, अविक्षुब्ध, गम्भीर (यमम्) सर्व नियन्ता (वाजिनम्) ज्ञान और ऐश्वर्यवान् और (दाशुषे) दानशील, आत्मत्यागी, पुरुष को (अर्यः गयम्) शत्रु के धन, बल, प्राणों के (मंहमानम्) देने वाले (इन्द्रम्) शत्रुहन्ता या तमोनाशक परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति कर । अथवा-(दाशुषे) आत्मत्यागी को (अर्यः) प्रजा और (गयं) धन के (मंहमानं) देने वाले ईश्वर की स्तुति कर ।

प्रजा वा अरीः । श० ३ । ६ । ४ । २१ ॥ अरिः स्वामी ।

राजा के पक्ष में-(अनूर्मिम्) पीड़ाभय, बाधा रहित, (यमम्) राष्ट्र नियन्ता, (वाजिनम्) ऐश्वर्यवान् की स्तुति कर जो (अर्यः) शत्रु के (गयं) धन को जीतकर (दाशुषे) करप्रद प्रजाको (वि) विविध रूपों में (मंहमानं) देनेहारा है ।

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम् ।

सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥२॥ ऋ० ८ । २४ । २३ ॥

भा०—(नूनम्) निश्चय से, हे (वैयश्व) विनीत इन्द्रियरूप अश्वों वाले ! जितेन्द्रिय पुरुष ! तू (दशमं) नवों दिशाओं से भी ऊपर दशवें और (नवम्) सदा नवीन सदा तरुण एवं स्तुति योग्य (सुविद्वांसं) उत्तम ज्ञानवान् सब कुछ जानने वाले (चरणीनाम्) चरणशील, सदाचारी साधकों के लिये (चर्कृत्यम्) सदा उपासना करने योग्य परमेश्वर और (एवं) उसी प्रकार (दशमं) दशमी अवस्था को प्राप्त ६० वर्ष से भी अधिक आयु वाले (नवम्) सदा स्तुत्य उत्तम विद्वान् (चरणीनाम्)

वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः । सुन्वान इत् सिषासति सहस्रा वाज्य वृतः । सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥१॥ ऋ० १।१३३।७॥

भा०—हे इन्द्र परमेश्वर ! (सुन्वन्) तेरा सवन या उपासना करता हुआ पुरुष ही (क्षयं) निवास योग्य उत्तम गृह और लोक को (वनोति) प्राप्त करता है । (सुन्वानः हि) तेरी उपासना करने वाला पुरुष ही (परीणसः) चारों तरफ नाक वाले अर्थात् अति सावधान या चारों ओर से लगे हुए (द्विषः) शत्रुओं को (अवयजति) नाश करता है और साथ ही (देवानाम् द्विषः) विद्वान् पुरुषों के शत्रुओं को भी (अव यजति) नीचे गिराता है । (सुन्वानः इत्) उपासना करने वाला पुरुष ही (वाजी) ज्ञानवान होकर (अवृतः) विघ्न बाधाओं से न घिरकर अकेला ही (सहस्रा) हजारों ऐश्वर्यों को (सिषासति) निरन्तर प्राप्त करता है । (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (सुन्वानाय) उपासक को (आभुवं रयिम्) सब प्रकार के सुखों को उत्पन्न करने वाले ऐश्वर्य को (ददाति) प्रदान करता है और (आभुवम्) पुनः २ आने वाले या अन्त तक रहने वाले, अक्षय (रयिम्) बल वीर्य को (ददाति) प्रदान करता है ।

राजा के पक्ष में—(सुन्वन्) राज्याभिषेक करने वाला प्रजाजन (क्षयं वनोति) निवास योग्य शरण प्राप्त करता है, अपने शत्रु और विद्वानों के शत्रुओं को दबाता है । (अवृतः) स्वयं शत्रुओं से न घिरकर वाजी) संग्रामशील या अश्वारोही होकर सहस्रों ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है । राजा ऐसे अभिषेक करने वाले प्रजाजन को अक्षय, नाना पदार्थों के उत्पादक (रयिम्) ऐश्वर्य का भी प्रदान करता है ।

'सुन्वन्, सुन्वानः', षुञ् अभिषवे । स्वादिः । अभिषवः स्नपनं, पीडनं स्नानं सुरासंधानं चेति भट्टोजी दीक्षितः ।

अथवा-(सुन्वन्) दुष्टों को दण्डित करने वाला पुरुष. गृह प्राप्त करता शत्रुओं को दबाता और अकेला ही सहस्रों ऐश्वर्य प्राप्त करता है। (इन्द्रः) परमेश्वर उसको समृद्ध ऐश्वर्य प्रदान करता है।

'परीणसः'—उपसर्गाच्च । (पा० ५ । ४ । ११९) ति नासिका या नसादेशः । परितो नासिका येषां ते परीणसः अति सावधानाः । कुक्कुरवदिष्टानिष्टवस्त्वाघ्राणपराः ।

मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत् पुरोत जारिषुः । यद् वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् । अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम् ॥२॥ ऋ० १ । १३७ । ८ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणों ! वीर सुभटो ! एवं वैश्य प्रजाजनो ! (अस्मत्) हमसे (तानि) वे नाना प्रकार के (सना) सदा से हमें वंश परम्परा से प्राप्त, नित्य (वः पौंस्या) आप लोगों के पौरुष के कर्म और अधिकार (मो सु अभि भूवन्) नष्ट न हों। और (द्युम्नानि) सना-तन, नित्य या स्थिर (द्युम्नानि) यश और ऐश्वर्य (मा उत जारिषुः) कभी नष्ट न हों। और (अस्मत्) हमारे हाथों से (पुरा) पुर और नगर आदि और उनमें रहने वाले प्राणी (मा उत जारिषुः) नष्ट न हों । (वः) आप लोगों का (यत्) जो (चित्रं) अद्भुत या नाना प्रकार का और (नव्यम्) नवीन और (अमर्त्यम्) मरणधर्मा, साधारण मनुष्य को न प्राप्त होने वाला धन(घोषात्) कहाता है हे (मरुतः) वीर सुभटो ! (तत्) वह और (यत् च) जो कुछ भी (दुष्टरं) दुःखों से प्राप्त किया जाय और (यत् च दुस्तरम्) जो दुस्तर, अपार हो (तत्) वह सब (अस्मासु) हममें (दिधृत) प्रदान करो।

अध्यात्म में-हे (मरुतः) प्राणगण ! (वः) तुम्हारे (तानि सना पौंस्या मो सु अभि भूवन्) वे नाना, सदातन, नित्य आत्मसम्बन्धी बलकर्म नष्ट न हों। अर्थात् इन्द्रियों के सामर्थ्य बने रहें। (अस्मत् द्युम्नानि मोत जारिषुः) तेजोमय ज्ञान हमेस न छूटें वे भी बने रहें। (उत) और चाहे (पुरा) ये देह (अस्मत्) हमसे (जारिषुः) छूट जायं पर (यत्) जो (वः) तुम लोगों के बीच (नव्यं) सदा स्तुत्य, सदा नवीन और (अमर्त्यम्) अमर (चित्रं) चित् स्वरूप में रमण करने वाला आत्मा (घोषात्) कहा जाता है (यत् च दुस्तरम्) और जिसको अज्ञान पा नहीं सकते और (यत् च दुस्तरम्) जिस नित्य, अनन्त को अनित्य प्रलोभन पार कर नहीं सकते, जीत नहीं सकते उस ईश्वरीय बलको (अस्मासु दिधृत) हमारे में धारण कराओ।

अ॒ग्निं होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तं॒ वसुं॑ सू॒नुं सह॑सो जा॒तवे॑दसं॒ विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम्। य ऊ॒र्ध्वया॑ स्वध्व॒रो दे॒वो दे॒वाच्या॑ कृ॒पा। घृ॒तस्य॒ विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑ वष्टि शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य स॒र्पिषः॑ ॥३॥

ऋ० १ । १२७ । १ ॥

भा०—मैं (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर को (दास्वन्तम्) दान देने वाला, (होतारम्) सब कुछ स्वीकार करने वाला, (वसुम्) सब में बसने और सबको बसाने वाला और (सहसः) अपने बल और शक्ति के कारण (सूनुं) सबका प्रेरक, (जातवेदसं) समस्त उत्पन्न पदार्थों को जानने वाला, और (विप्रम् न) विविध विद्याओं से पूर्ण, मेधावी विद्वान के समान (जातवेदसम्) ऐश्वर्यों और वेद विद्याओं के प्रकट करने वाला (मन्ये) मानता और जानता हूं। और उसी प्रकार होता, 'दास्वान्' वसु आदि विशेषणों वाले उस पर परमेश्वर की ही स्तुति करता हूं। (यः) जो (ऊर्ध्वया) सबसे ऊपर वर्त्तमान (देवाच्या) 'देव' दिव्य पदार्थों को

प्राप्त सूर्य, वायु, विद्युत् आदि पदार्थों में प्रकट होने वाले (कृपा) सामर्थ्य से स्वयं (स्वध्वरः) उत्तम प्रजापालन रूप, हिंसा रहित, याग करने हारा (देवः) सबका द्रष्टा और सबका प्रकाशक है और जो (आजुह्वानस्य) आहुति किये गये (सर्पिषः) द्रवीभूत (घृतस्य) घी के कारण उत्पन्न (विभ्राष्टिम् अनु) अग्नि की विविध देदीप्यमान ज्वाला के समान (आजुह्वानस्य) अपने भीतर आहुति किये गये संसरणशील सूर्यादि (घृतस्य) तेजस्वी पदार्थों की (विभ्राष्टिम् वष्टि) नाना प्रकार के कान्ति की स्वयं कामना करता है। अर्थात् उन्हीं की चमक से स्वयं चमकता है।

इसी प्रकार राजा—शत्रुतापक होने से 'अग्नि' राज्य स्वीकार करने से 'होता', दानशील होने से 'दास्वान्', प्रजा को बसाने वाला होने से 'वसु', ऐश्वर्यवान् होने से 'जातवेदा' है। वह विजिगीषु विद्वानों के भीतर विद्यमान सर्वोच्च शक्ति से (स्वध्वरः) उत्तम राष्ट्रपालन रूप यज्ञ, करता है। घृत के तेज से देदीप्यमान अग्नि के समान स्वयं दीप्ति से चमकता है।

यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामं छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत। आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः ॥४॥ ऋ० २ । ३६ । २ ॥

भा०—मारुतो माधवश्च देवते । आषाढ की वायुओं के वर्णन के साथ वीर पुरुषों और अध्यात्म प्राणों का वर्णन है। हे (भरतस्य सूनवः) हे भरण पोषण करने वाले आत्मा के पुत्र के समान उसी के वीर्य सामर्थ्य से उत्पन्न प्राणगणो अथवा (भरतस्य) भरण पोषण योग्य इस चराचर जगत् के प्रेरक प्राणो ! आप लोग (यज्ञैः संमिश्लाः) धार्मिक पुरुषों के समान यज्ञों से युक्त होकर अर्थात् 'यज्ञ' संगति कारक आत्माओं के साथ मिलकर और (पृषतीभिः ऋष्टिभिः) पालन पूर्ण करने वाली शक्तियों सहित (यामम्) प्राप्त होने योग्य रथ रूप देह में (शुभ्रासः)

शोभा देने वाले और (अञ्जिषु) नाना विषयों के ज्ञान कराने में समर्थ इन्द्रिय शक्तियों में रहकर (प्रियाः) अति प्रिय मनोहर, एवं उत्कृष्ट रूप से प्रकट होकर और (बर्हिः) आसन के समान आश्रयरूप महान शक्ति वाले या वृद्धिशील आत्मा में (आसद्य) बैठकर (नरः) नेता या शरीर के प्रवर्त्तक होकर (दिवः) तेजः स्वरूप (पोत्रात्) परम पवित्र शुद्ध आत्मा में (सोमं) प्रेरक बल रूप शक्ति को (पिबत) प्राप्त करो।

योगियों के पक्ष में—(नरः) हे उत्तम पुरुषो ! हे (भरतस्य सूनवः) सबके भरण पोषण करने वाले महान परमेश्वर के पुत्रों के समान योगि जनो ! आप लोग (यज्ञैः संमिश्लाः) उपासनीय आत्मा या उपासना के उचित कर्मानुष्ठानों से युक्त होकर (पृषतीभिः ऋष्टिभिः) आत्मा को पूर्ण करने वाली शक्तियों सहित (यामन्) उस प्राप्तव्य परम परमेश्वर के आश्रय में (शुभ्रासः) सुशोभित होकर स्वतः शुभ्र शुद्ध, निष्पाप कर्मों का आचरण करते हुए (उत्) और (अञ्जिषु) ज्ञान के प्रकाश करने वाले कार्यों में अति प्रिय मनोहर होकर आपलोग (बर्हिः) उस महान ब्रह्म में स्थित होकर (दिवः) सूर्य के समान तेजस्वी (पोत्राद्) पावक, पावनकर्त्ता परमेश्वर से (आ) प्राप्त करके (सोमम्) ब्रह्मानन्द रस का (आ पिबत) निरन्तर मनन करो।

राजा के नियुक्त वीर शासक पुरुषों के पक्ष में-हे (दिवः नरः) ज्ञान-वाली सर्वोपरि विराजमान राजसभा के नेता पुरुषो ! आप लोग (यज्ञैः संमिश्लाः) आदर सत्कारों से युक्त, (यामन्) रथों पर (पृषतीभिः) हृष्ट पुष्ट घोड़ियों, अश्वों और (ऋष्टिभिः) हिंसाकारी हथियारों से (शुभ्रासः) सुशोभित और (अञ्जिषु प्रियाः) आभूषणों द्वारा मनोहर होकर (बर्हिः आसद्य) आसनों पर बैठकर (पोत्रात्) पवित्र कर्त्तव्य से (सोमं आपिबत) सोम, ऐश्वर्य या राष्ट्र का भोग करो।

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु । प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि ॥ ५ ॥ ऋ० २ । ३६ । ४ ॥

भा०—हे (विप्र) विविध विद्याओं में पूर्ण ज्ञानी, मेधावी परमेश्वर ! तू (देवान्) समस्त देवों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों को (आवक्षि) धारण करता है । और (यक्षि च) परस्पर संगत करता और प्रदान करता है । हे (होतः) सबके स्वीकार करने हारे ! तू (त्रिषु योनिषु) तीनों लोकों में (निषद) व्याप्त है । तू (प्रति वीहि) प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हो (प्रस्थितं सोम्यं मधु) अच्छी प्रकार स्थिर जीवों के हितकारी ज्ञान को (पिब) पान कर। (आग्नीध्रात्) अग्नि को धारण करने वाले सूर्यादि लोक से प्राप्त (तव भागस्य) तेरे भजन करने या प्राप्त करने योग्य तेज से तू (तृप्णुहि) समस्त संसार को तृप्त कर ।

विद्वान के पक्ष में—तू (देवान् आवक्षि) दिव्य गुणों को धारण कर । (उशन् च यक्षि) कामनायुक्त होकर फल की आकांक्षा से यज्ञ कर । हे (होतः) होता पुरुष । तू (त्रिषु योनिषु निषद) तीनों गार्हपत्य आदि अग्नियों में विराज । (प्रस्थिते) प्राप्त किये या लाये गये (सोम्यं मधु) सोममय मधुर पदार्थ की (प्रति वीहि) अभिलाषा कर । (आग्नीध्रात्) आग्नीध्रयाग से शेष प्राप्त पदार्थ का (पिब) पान कर और (तव भागस्य तृप्णुहि) अपने भाग से तृप्त हो ।

राजा के पक्ष में—हे विविध ऐश्वर्यों से राष्ट्र को पूर्ण करने वाले विप्र ! तू (देवान् वक्षि) विजयी पुरुषों को धारण कर (यक्षि) उनको वेतनादि दे । (त्रिषु योनिषु) सिंहासन, शासकवर्ग और प्रजावर्ग तीन पर विराज, अथवा स्वराष्ट्र परराष्ट्र और उदासीन सब पर विराज । उपस्थित (सोम्यं मधु) राष्ट्रमय मधु, सौम्य पदार्थ या बल को प्राप्त कर

उसका भोग कर। और अपने (आग्नीध्रात्) अग्नि, तेज धारण करने वाले राजपद से प्राप्त स्वराष्ट्र से तृप्त हो।

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः।
तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत् पिब ६॥
ऋ० २। ३६। ५॥

भा०—हे राजन्! (एषः स्यः) यह सोम रूप राष्ट्र का समस्त अधिकार (ते) तेरे (तन्वः) शरीर के समान विस्तृत राज्य का (नृम्ण-वर्धनः) प्रजाओं के अभिलषित धन को बढ़ाने वाला होकर (सहः) बल, (ओजः) और पराक्रम स्वरूप होकर (दिवि) ज्ञानवान् पुरुषों की बनी राजसभा या ज्ञान में, आकाश में, या तेज में सूर्य के समान और (बाह्वोः) बाहुओं में बलके समान (हितः) रक्खा गया है। यह (तुभ्यम्) तेरे लिये ही (सुतः) अभिषेक द्वारा प्रदान किया है और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! (तुभ्यम्) तेरे लिये ही (आभृतः) सब प्रकार से सुरक्षित एवं सब प्रकार से तुझे प्राप्त कराया गया है। (त्वम्) तू (अस्य) इसमें से (ब्राह्मणात्) 'ब्रह्म' अर्थात् वेदोपदिष्ट भाग से (तृपत्) तृप्त, सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर उसका (आ पिब) सब प्रकार भोग कर।

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ ७॥
ऋ० २। ३७। २॥

भा०—(यम्) जिसको भी (पूर्वम्) मैं पहले, प्रथम मुख्य पद पर (आहुवे) बुलाता हूं (तम्) उसको ही मैं (इदम् हुवे) इस बात का उपदेश करता हूं कि (यः नाम) जो भी (पत्यते) ऐश्वर्यवान् होता है (सः, इत् उ) वह ही निश्चय से (हव्यः) स्तुतियोग्य और (ददिः) दान-शील होता है। हे (द्रविणोदः) ऐश्वर्य के दाता! (ऋतुभिः) संवत्सर

भर में व्यापक शक्तिमान् सूर्यरूप प्रजापति जिस प्रकार (अध्वर्युभिः प्रस्थितम्) आकाश में व्याप्त किरणों से प्राप्त (सोमं) सोम, जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार तू भी (अध्वर्युभिः) राष्ट्र के पालन रूप यज्ञ के कर्त्ता विद्वान् शासकों द्वारा (प्र-स्थितं) प्रस्तुत किये (सोम्यं मधु) राष्ट्र से प्राप्त 'सोम', राजपद के योग्य मधु अर्थात् मधुर, भोग्य अन्न और ऐश्वर्य को (पोत्रात्) अपने व्यापक सामर्थ्य से या पवित्र पालन कर्म से प्राप्त कर और (सोमं पिब) राष्ट्र का भोग कर ।

[६८] परमात्मा, विद्वान्, राजा ।

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥ २ ॥

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ४ । ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो कां० २० । ६७ । मं० १–३ ॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ४ । ४ ॥

भा०—हे विद्वन् ! (यः) जो (ते सखिभ्यः) तेरे स्नेही मित्रों को (वरम्) श्रेष्ठ धन, ऐश्वर्य (आ) प्रदान करता है उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान्, ज्ञानवान् (विग्रम्) विविध विद्याओं के उपदेश करने वाले और (विपश्चितम्) ज्ञानों और कर्मों के जाननेहारे विद्वान् को (परा इहि) प्राप्त हो और उससे (पृच्छ) प्रश्न करके ज्ञान प्राप्त कर । अथवा (परा इहि) दुष्ट पुरुषों से परे रह, और विद्वान् से ज्ञान प्राप्त कर ।

विप्रविपश्चित् शब्दौ मेधाविनामसु पठितौ ॥ अथवा-वेर्नासिकायां ग्रो वक्तव्य इति विप्रः विनासिकः । विविधविद्याकुशल इत्यर्थः ।

परमात्मा के पक्ष में स्पष्ट है । स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । पातं० । योगसू० ।

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।

दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ४ । ५ ॥

भा०—(निदः) निन्दक पुरुष (निः आरत) दूर चले जायं और (अन्यतः चित्) अन्य स्थानों से भी (निर् आरत) परे हों । (उत) और (इन्द्रे इत्) इन्द्र परमेश्वर और आचार्य के अधीन (दुवः) सेवा भक्ति और व्रत (दधानाः) धारण करते हुए विद्वान्जन (नः) हमें (ब्रुवन्तु) उपदेश करें।

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।

स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४ । ६ ॥

भा०—हे (दस्म) शत्रुओं के नाशक अथवा हे दर्शनीयतम! प्रभो ! (अरिः उत) शत्रुगण और (कृष्टयः) साधारण मनुष्य भी (नः) हमें (सुभगान्) उत्तम ज्ञान, ऐश्वर्यवान् (वोचेयुः) कहें । हम (इन्द्रस्य) ज्ञानप्रद गुरु और शत्रुनाशक राजा के (शर्मणि) गृह में, या शरण में (स्याम इत्) सदा रहें ।

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् ।

पतयन्मन्दयत्सखम् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ४ । ७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! हे आचार्य ! (आशवे) ज्ञानोपदेश ग्रहण करने में तीव्र गति वाले शिष्य को (आशुम्) व्यापक, (यज्ञश्रियम्) आत्मा को शोभा देने वाले या यज्ञ, परमात्मा विषयक (नृमादनम्) मनुष्यों के सुखकारी (पतयत् मन्दयत्सखम्) स्वामित्व या ऐश्वर्यदायक समान मित्रों को भी प्रसन्न करने वाले ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा ।

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः ।

प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ४ । ८ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्म और प्रज्ञाओं से युक्त राजन् ! विद्वन् ! तू (अस्य) इस राष्ट्र के ऐश्वर्य को (पीत्वा) प्राप्त करके (वृत्राणाम्) विघ्नकारी, एवं नगररोधक शत्रुओं को (घनः) मारने में समर्थ (अभवः) होजाता है । और (वाजेषु) संग्रामों में (वाजिनम्) अन्न और बल वीर्य वाले अपने देश एवं प्रजाजन और वेगवान् अश्वारोही दल को (प्र अवः) उत्तम रीति से रक्षा कर ।

ज्ञानार्थी के पक्ष में—हे सैकड़ों ज्ञानों को प्राप्त शिष्य ! (अस्य पीत्वा) इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके तू (वृत्राणां) मन को तामस आवरणों से घेरने वाले अज्ञानों का (घनः अभवः) नाशक हो । और (वाजेषु) अन्नादि भोग्य पदार्थों में भी (वाजिनम्) वीर्यसम्पन्न आत्मा को और इन्द्रियगण को (प्र अवः) पालन कर । जितेन्द्रिय हो ।

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ।

धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥ ऋ० १ । ४ । ९ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्मों, बलों से युक्त ! इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! (धनानां सातये) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने के लिये (तं) उस जगत्प्रसिद्ध (त्वा) तुझ (वाजिनम्) बलवान् पुरुष को (वाजयामः) प्राप्त होते हैं तुझ से निवेदन करते हैं या तुझे वीर्यवान् बलवान् और अन्नादि से पुष्ट करते हैं ।

यो रायो३वनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा ।

तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥ ऋ० १ । ४ । १० ॥

भा०—(यः) जो (रायः) ऐश्वर्य का (अवनिः) पृथ्वी के समान आश्रय और रक्षा करने हारा है और (महान्) बड़ा भारी, (सुन्वतः)

उपासना करने वाले भक्त का (सुपारः) उत्तम पालक एवं (सखा) मित्र है । (तस्मै) उस (इन्द्राय गायत) ऐश्वर्यवान् प्रभु की स्तुति गान करो ।

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥ ११ ॥ ऋ० १ । ५ । १ ॥

भा०—हे (स्तोमवाहसः) स्तुतिसमूहों को, वेद मन्त्रों को धारण करने वाले विद्वान् पुरुषो ! अथवा हे वीर्य या पदाधिकार को धारण करने वाले वीर पुरुषो ! (सखायः) हे समान पद के मित्र जनो ! (आ एत तु) आओ और (आ निषीदत) आसनों पर बैठो । और (इन्द्रम् अभि) ऐश्वर्यवान् प्रभु को लक्ष्य करके (प्र गायत) उत्तम स्तुति गान करो उत्तम २ वचन कहो ।

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ५ । २ ॥

भा०—(सुते सोमे) सोम के निष्पन्न हो जाने पर राष्ट्र के व्यवस्थित और राजा के अभिषिक्त हो जाने पर (पुरूणाम्) बहुत सी प्रजाओं में (पुरूतमम्) सबसे श्रेष्ठ पालक और (वार्याणाम्) अभिलाषा के योग्य ऐश्वर्यों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्र) शत्रुविनाशी, इन्द्र, परमेश्वर को (सचा) एकत्र होकर स्तुति करो । उसको चुनो या प्राप्त करो । प्रस्तुत करो ।

[६९] राजा, सेनापति, परमेश्वर ।

ऋष्यादि पूर्ववत् । गायत्र्यः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥ १ ॥ ऋ० १ । ५ । ३ ॥

भा०—(सः घ) वह इन्द्र परमेश्वर ही (नः योगे) हमारे अप्राप्त पुरुषार्थ के प्राप्त करने में (आभुवत्) सहायक हो । अथवा (सः घ नः) वह ही हमारे (योग) चित्त के एकाग्र कर लेने पर समाधि दशा में (आभुवत्) प्रकट होता है (सः राये) ऐश्वर्यवृद्धि के लिये भी वही (आ भुवत्) समर्थ है । (सः पुरन्ध्याम्) वह ही बहुतसे शास्त्रों को धारण करने वाली बुद्धि में भी प्रकट होता है । (सः) वह (नः) हमें (वाजेभिः) बल, वीर्य एवं ऐश्वर्यों सहित (आगमत्) प्राप्त हो ।

राजा के पक्ष में—वह राजा या सेनापति हमें अलब्ध ऐश्वर्य को प्राप्त करने धन प्राप्त करने और देश की रक्षा के कार्य में समर्थ हो और वह संग्रामों द्वारा या अन्नों सहित हमें प्राप्त हो ।

यस्य॑ सं॒स्थे न वृ॒ण्वते॒ हरी॑ स॒मत्सु॒ शत्र॑वः ।
तस्मा॒ इन्द्रा॑य गायत ॥ २ ॥ ऋ० १ । ५ । ४ ॥

भा०—(समत्सु) संग्रामों या आनन्द के अवसरों पर (यस्य) जिसके (संस्थे) रथ में लगे (हरी) घोड़ों को (शत्रवः) शत्रुगण भी (न वृण्वते) सहन नहीं करते (तस्मै) उस (इन्द्राय) इन्द्र की (गायत) स्तुति करो ।

परमेश्वर पक्ष में—(संस्थे) जिसके भली प्रकार से हृदय में स्थित हो जाने पर (यस्य हरी) जिसके दुःखहारी प्राण और अपान शक्तियों के सामने (शत्रवः) आत्मा के बल के नाशक विषयगण (समत्सु) समाधि के रस प्राप्ति के अवसरों पर (न वृण्वते) आत्मा को नहीं घेरते । (तस्मै) उस (इन्द्राय) आत्मा और परमेश्वर के गुणों का (गायत) गान करो ।

सु॒त॒पाव्ने॑ सु॒ता इ॒मे शुच॑यो यन्ति वी॒तये॑ ।
सोमा॑सो॒ दध्या॑शिरः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ५ । ५ ॥

भा०—(सुतपात्रे) उत्पन्न किये गये पदार्थों के रक्षक और पालक के लिये (इमे) ये (शुचयः) शुद्ध, कान्तिमान् (सुताः) सोम पदार्थ (वीतये) भोग और ज्ञान के लिये (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (सोमाः) उत्तम २ भोगों के उत्पन्न करने वाले ये समस्त ऐश्वर्यवान् पदार्थ (दध्याशिरः) शरीर आदि पोषण करने और स्वयं नाश हो जाने वाले हैं। अर्थात् अपने को खोकर दूसरों को पुष्ट करने वाले हैं। अथवा धारण पोषण वाले पदार्थों को अपने में विलीन किये हुए हैं।

परमेश्वर-पक्ष में—(इह) ये (शुचयः) निर्मल पाप रहित (सुताः) ज्ञान से अभिषिक्त योगविद्यानिष्णात परमात्मा के पुत्र के समान (सोमासः) ज्ञानी पुरुष (दध्याशिरः) ध्यानयोग से अपने जीवन और देह को शीर्ण करने में समर्थ होकर (सुत पात्रे) ज्ञान-निष्णात उपासकों को पुत्र के समान पालक परमेश्वर को (वीतये) प्राप्त करने के लिये (यन्ति) जाते हैं। मोक्षमार्ग का अनुसरण करते हैं।

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः।
इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ५ । ६ ॥

भा०—(इन्द्र त्वं) हे जीव! हे राजन्! तू (सुतस्य) प्राप्त राष्ट्र के (पीतये) पालन या भोग के लिये, हे (सुक्रतो) शुभ प्रज्ञा और कर्म करने हारे! (ज्यैष्ठ्याय) संबन्ध से महान पद प्राप्त करने के लिये (सद्यः) सदा (वृद्धः) शक्तियों में महान् होकर (अजायथाः) रह।

परमेश्वर के पक्ष में—हे परमेश्वर! पुत्र के समान अपने उपासकों को (पीतये) अपने भीतर लीन, अपने आनन्द में मग्नकर लेने के लिये तू सदा ही (वृद्धः अजायथाः) महान् है क्योंकि (ज्येष्ठाय) तू ही सबसे ज्येष्ठ या सबसे बड़ा है।

आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः।
शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ५ । ७ ॥

भा०—हे (गिर्वणः) वाणियों द्वारा स्तुति करने योग्य ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! (आशवः) ये समस्त व्यापक पदार्थ और वेगवान् सूर्यादि लोक (सोमासः) और विद्याओं में व्याप्त ज्ञानी पुरुष भी (त्वा आविशन्तु) तुझ को ही प्राप्त हो जाते हैं और (ते) तुझ (प्रचेतसे) प्रकृष्ट उत्कृष्ट ज्ञानवान् के अधीन होकर ही (शं) कल्याणकारी और शक्तिदायक (सन्तु) होते हैं । अथवा-ज्ञानी पुरुष (प्रचेतसे) सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी (ते) तुझे प्राप्त करने के लिये ही (शं) शांतिसम्पन्न, शमदमादि युक्त (सन्तु) हों ।

राजा और जीव के पक्ष में—हे स्तुतियोग्य ! समस्त (आशवः सोमासः) शीघ्रगामी तीव्र बुद्धिमान् विद्वान्‌गण (त्वा आविशन्तु) तेरे अधीन रहें । सर्वोत्कृष्ट ज्ञानवान् पुरुष तेरे लिये कल्याणकारी हों ।

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ५ । ८ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (स्तोमाः) वेदमन्त्रसमूह (त्वां अवीवृधन्) तुझे बढ़ाते हैं (उक्था) अन्य वेदमन्त्र भी हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्मों और प्रज्ञानों वाले ! (त्वां) तुझ को ही बढ़ाते हैं । तेरी ही महिमा का गान करते हैं । (नः गिरः) हमारी वाणियां भी (त्वां वर्धन्तु) तुझे ही बढ़ावें ।

राजा के पक्ष में-(स्तोमाः) समस्त राजा के अधिकार और (उक्था) आज्ञाएं भी (त्वां अवीवृधन्) तुझे बढ़ाते हैं, पुष्ट करते हैं और (नः गिरः) हम प्रजाओं की वाणियां भी (त्वां वर्धन्तु) तुझे बढ़ावें, तेरे मान प्रतिष्ठा और उत्साह को बढ़ावें ।

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् ।
यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ५ । ९ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस परमेश्वर में (विश्वानि) समस्त (पौंस्या) वीर्य, पराक्रम एवं पुरुष के उपयोगी पदार्थ एवं शक्तियें विद्यमान हैं । वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (अक्षितोतिः) अक्षय, अनन्त रक्षाकारिणी शक्ति वाला होकर हमें (इमं) इस (सहस्त्रिणम् वाजम्) हज़ारों सुखों के देने वाले ऐश्वर्य या अन्न को (सनेत्) प्रदान करे । इसी प्रकार वह राजा अक्षय पालन शक्ति से युक्त होकर सहस्रों ऐश्वर्य देने में समर्थ (वाजं सनेत्) संग्राम करे । जिसमें (विश्वानि पौंस्या) समस्त पौरुष बल हैं ।

मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः ।
ईशानो यवया वधम् ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ५ । १० ॥

भा०—हे (गिर्वणः) स्तुति योग्य हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! एवं राजन् ! (मर्त्ताः) मनुष्य (नः) हमारे (तनूनाम्) शरीरों के प्रति (मा अभिद्रुहन्) द्रोह न करें, घात प्रतिघात न करें । तू (ईशानः) सबका स्वामी होकर (वधम्) हम पर उठने वाले शस्त्र या हत्यारे पुरुष को (यवय) दूर कर ।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥९॥ युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ १० ॥ केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ ११ ॥ आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम् ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ६ । १-४ ॥

भा०—(९-११) इन तीन मन्त्रों की व्याख्या देखो कां० २० । २४ । ४-६ ॥ और १२वें मन्त्र की व्याख्या देखो का० २० । ४० । ३ ॥

[७०] राजा परमेश्वर

वीलु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः ।
अविन्द उस्रिया अनु ॥ १ ॥ ऋ० १ । ६ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् ! सूर्य जिस प्रकार (गुहाचित्) आकाश में (वीलु चित्) अपने बल से ही (आरुजत्नुभिः) मेघों को भङ्ग कर देने वाले (वह्निभिः) वहन करने वाले प्रबल वायुओं से मेघों को छिन्न भिन्न करके (उस्रियाः) किरणों द्वारा समस्त लोकों को (अनु अविन्दः) प्राप्त करता है । उसी प्रकार वह परमेश्वर (आरुजत्नुभिः) सब प्रकार दुःखों का नाश करने वाले (वह्निभिः) ज्ञान के नेता विद्वान् पुरुषों द्वारा या शरीर का वहन करने वाले प्राणों द्वारा (वीलु चित्) बलपूर्वक (गुहा) हृदयाकाश में (उस्रियाः) अपने ज्ञान प्रकाशों को फैलाकर (अनु अविन्दः) सबको व्याप्त करता है । अथवा (उस्रियाः) ऊर्ध्वगति, मोक्ष मार्ग में सर्पण करने वाले मुमुक्षु आत्माओं को अपने (अनु) पीछे २ उन पर अनुग्रह करके (अविन्दः) अपने पास ले लेता है ।

राजा के पक्ष में—(वीलु चित्) बल से (गुहा चित्) गुप्त दुर्गों को भी (आरुजत्नुभिः) तोड़ डालने वाले (वह्निभिः) सेना नायकों द्वारा राजा (उस्रियाः) उत्तम पदार्थों को देने वाली प्रजा और भूमियों को (अनु अविन्दः) स्वयं प्राप्त कर लेता है ।

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विददुसुं गिरः ।
महामनूषत श्रुतम् ॥ २ ॥ ऋ० १ । ६ । ६ ॥

भा०—(देवयन्तः) उपास्य देव परमेश्वर की उपासना करनेहारे (गिरः) विद्वान् पुरुष (यथा) जिस प्रकार से (मतिम्) मनन करने योग्य, (वसुम्) सबके बसाने वाले और सबमें बसने वाले (श्रुतम्) सबसे श्रवण करने योग्य, जगत्प्रसिद्ध, (महाम्) महान् परमेश्वर को (अच्छ) साक्षात् (विदद्) जानते हैं उसी प्रकार (ते) वे उसकी (अनूषत) स्तुति किया करते हैं ।

राजा के पक्ष में—(दवयन्तः) अपने प्रमुख राजा को चाहने वाले (गिरः) विद्वान् पुरुष या शत्रुओं को निगलने वाले वीर पुरुष (यथा) जिस प्रकार (मतिम्) मननशील विद्वान् या शत्रु के स्तम्भन करने वाले (वसु) प्रजा के बसाने वाले, (श्रुतम्) जगत्—प्रसिद्ध (महाम्) महान् पुरुष को (अच्छा विदत्) साक्षात् प्राप्त करते या पाते हैं वैसे ही वे उसकी (अनूषत) स्तुति भी करते हैं, उसका आदर करते हैं ।

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संजग्मा॒नो अबि॑भ्युषा ।
म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ६ । ७ ॥

भा०—मरुत् नामक वायु के समान तीव्र वेगवान् एवं शत्रु रूप वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकने वाला सैन्यगण ! (अविभ्युषा) भय रहित साधन या बल से युक्त होकर ही (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् राजा या सेनापति के साथ (संजग्मानः) संगति लाभ करता हुआ (सं दृक्षसे) भला प्रतीत होता है । (हि) क्योंकि दोनों (समानवर्चसा) समान तेज को धारण करने हारे होकर (मन्दू) एक दूसरे की आवश्यकता को पूरा करने वाले एवं परस्पर आनन्द और संतोषदायक होते हैं । ईश्वर पक्ष में-प्राणाभ्यासी योगी (अविभ्युषा) अभय चित्त से संगत होकर परमेश्वर के साथ अपने को मिला पाता है । वे दोनों समान तेज के आनन्दमय होकर एक दूसरे को आनन्दित करते हैं ।

अ॒न॒व॒द्यैर॒भिद्यु॑भिर्म॒खः सह॑स्वदर्चति ।
ग॒णैरिन्द्र॑स्य॒ काम्यैः॑ ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ६ । ८ ॥

भा०—(अनवद्यैः) दोषरहित, अनिन्दित, (अभिद्युभिः) तेजों से उज्ज्वल, (काम्यैः) कान्तिमान् (गणैः) समूहों से ही (मखः) संग्राम भी स्वयं (सहस्वत्) बलशाली (इन्द्रस्य) सेनापति या राजा की (अर्चति) पूजा करता, उसे मान की वृद्धि करता है ।

परमेश्वरपक्ष में– (मखः) यज्ञ, (अभिद्युभिः) उज्ज्वल, (अनवद्यैः) अनिन्दनीय, (काम्यैः) कामना योग्य (गणैः) मरुद्-गण, या विद्वान् पुरुषों द्वारा (सहस्वन् इन्द्रस्य अर्चति) शक्तिमान् परमेश्वर की पूजा करता है । अर्थात् यज्ञ में विद्वान्गण परमेश्वर की ही उपासना करते हैं ।

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि ।
सम॑स्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ६ । ९ ॥

भा०—हे (परिज्मन्) सर्वव्यापक, सब लोकों के प्रेरक तू (अतः) इस अन्तरिक्ष में मेघ या वायु के समान (दिवः) आकाश से सूर्य के समान (वा) और (रोचनाद्) रुचिकर आदित्य से प्रकाश के समान (आगहि) हमें प्राप्त हो । (अस्मिन्) इस तुझ में ही (गिरः) समस्त वेदवाणियें (सम् ऋञ्जते) संगत होती है । अथवा–(अस्मिन्) इस साक्षात् परमेश्वर के ही निमित्त और उसी के आधार पर (गिरः) समस्त ज्ञान प्रकाशक विद्वान् पुरुष (सम् ऋञ्जते) अपनी साधना करते हैं ।

राजा के पक्ष में -अन्तरिक्ष से वायु के या मेघ के समान द्यौलोक से सूर्य के समान और सूर्य से प्रकाश के समान तू (परिज्मन्) हे सर्व राष्ट्र व्यापक अथवा सर्व शत्रुओं पर शस्त्रों के क्षेपण करने हारे वीर ! तू हमें (अधि आगहि) अधिकारी रूप में प्राप्त हो । ऐसे वीर पुरुष पर आश्रित होकर ही समस्त (गिरः) स्तुति-वचन और ज्ञातागण (सम् ऋञ्जते) अपना कार्य साधते हैं ।

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि ।
इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥ ऋ० । १ । ६ । १० ॥

भा०—हम लोग (इन्द्रम्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु से (सातिम्) समस्त धनैश्वर्यों के विभाग करने वाले से ...

याचना करते हैं। वह हमें (इतः) इस (पार्थिवात्) पृथिवी के लोक से (दिवः वा) द्यौ आकाश से या (महो वा रजसः) महान् रजस् अर्थात् अन्तरिक्ष लोक नाना ऐश्वर्य और भोग्य पदार्थों का प्रदान करे। राजा के पक्ष में स्पष्ट है।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—(गाथिनः) उद्गाता लोग, गाथा द्वारा स्तुति करने वाले (इन्द्रम् इत् अनूषत) उस इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की ही स्तुति करते हैं। (अर्किणः) अर्चना करने वाले विद्वान् पुरुष (अर्केभिः) वेदमन्त्रों से (इन्द्रम् इत् अनूषत) उस इन्द्र की ही स्तुति करते हैं और (वाणीः) यजुर्वेद की गद्यमय वाणियें भी (इन्द्रम् अनूषत) इन्द्र की ही स्तुति करती हैं।

राजा के पक्ष में–(गाथिनः) श्लोकपाठकः वन्दीजन, (अर्किणः) अर्चना करने हारे और (वाणीः) उत्तम वाणिएं सभी राजा की स्तुति करते हैं या उसके गुणों का प्रतिपादन करते हैं।

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ७ । २ ॥

भा०—(इन्द्रः इत्) इन्द्र ही (हर्योः) अपने में नित्य विद्यमान (हर्योः) हरण और आहरण अर्थात् उत्पत्ति और विनाश नामक उन दो महान् शक्तियों के साथ आ (संमिश्लः) सब प्रकार से रचा मिला है वे दोनों शक्तियां (वचोयुजा) वचन के साथ योग करती हैं। अर्थात् वचन द्वारा संक्षेप से कही जा सकती हैं। अथवा (वचोयुजा) वेद के वचनों से युक्त है। स्वयं (इन्द्रः) वह परमेश्वर (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान कान्तिमान् और मनोहर होकर भी (वज्री) कठोर वज्र रूप शासन को धारण करता है।

ईश्वर के दोही स्वरूप हैं, वह जगत् के पदार्थों को बनाता है या संहार करता है। इन दोनों कार्यों में जगत् के पदार्थ स्वतन्त्र न रह कर परतन्त्र हैं। संहारक होने से वज्रवान् खड्गधारी रुद्र के समान है। उत्पादक होने से वह तेजस्वी और वीर्यवान् है।

राजा के पक्ष में-(वचो युजा हर्योः सचा संमिश्लः) आज्ञाकारी दो वेगवान् घोड़ों से युक्त है। वह खड्ग धर और सुवर्णवान् है अर्थात् शासन-धर और कोषवान् है।

इन्द्रो॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑स॒ आ सूर्यं॑ रोहयद् दि॒वि।
वि गोभि॒रद्रि॑मैरयत् ॥ ९ ॥ ऋ० १ । ७ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (दीर्घाय चक्षसे) दूर तक देखने के लिये (दिवि) आकाश में (सूर्यम् आरोहयत्) सूर्य को स्थापित करता है। और वह सूर्य (गोभिः) किरणों से या गमनशील वायुओं से (अद्रिम्) मेघ को भी (वि ऐरयत्) विविध दिशाओं में प्रेरित करता है।

राजा या सेनापति के पक्ष में—वह (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घ दृष्टि से दूरतक के भविष्य को देखने के लिये (दिवि) विद्वानों की राजसभा के में सबसे ऊपर (सूर्यम्) आकाश में सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानप्रकाशक विद्वान् को प्रधान पदपर स्थापित करता है और वह (गोभिः) अपनी ज्ञान वाणियों से (अद्रिम्) अखण्ड शासन या अभेद्य बलको (विऐरयत्) विविध प्रकार से प्रेरित करता है। और उसका विविध रूप में उपयोग करता है।

इन्द्र॒ वाजे॑षु नोऽव स॒हस्र॑प्रधनेषु च।
उ॒ग्र उ॒ग्राभि॑रू॒तिभिः॑ ॥ १० ॥ ऋ० १ । ७ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! (सहस्र-प्रधनेषु) हज़ारों प्रकार के उत्कृष्ट धनों को प्रदान करने वाला (वाजेषु) युद्धों में

और हे (उग्रः) अतिभयकारिन् बलवन ! तू अपनी (उग्राभिः) उग्र, भयदायिनी बलवती (ऊतिभिः) रक्षाकारी साधनों से (नः) हमें (अव) बचा ।

राजा के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

इन्द्रं॑ व॒यं म॑हाध॒न इन्द्र॒मर्भे॑ हवामहे ।

युजं॑ वृ॒त्रेषु॑ व॒ज्रिण॑म् ॥ ११ ॥ ऋ० १ । ७ । ५ ॥

भा०—(महाधने) बड़े धन, ऐश्वर्य के देने या व्यय करादेने वाले महासंग्राम में (वयम्) हम लोग (वृत्रेषु) विघ्नकारी शत्रुओं पर सदा वज्र प्रहार करने वाले और (युजं) हमारे सदा सहायक (इन्द्रम् हवामहे) उस परमेश्वर को याद करते हैं । और (अर्भे) छोटे से युद्ध में भी (इन्द्रम् हवामहे) उस इन्द्र की ही स्तुति करते हैं ।

परमेश्वर भक्त का सदा सहायक होने से उसका 'युज्' है और बाधक तामस आवरणों पर ज्ञान वज्र का प्रहार करके उसे काटता है इससे वह 'वज्री' है ।

राजा के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

स नो॑ वृषन्न॒मुं च॒रुं सत्रा॑दाव॒न्नपा॑ वृधि ।

अ॒स्मभ्य॒मप्र॑तिष्कुतः ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ७ । ६ ॥

भा०—हे (वृषन्) सुखों के वर्षण करने हारे ! हे (सत्रादावन्) समस्त अभिलाषा योग्य फलों को एक साथ देने में समर्थ अथवा समस्त प्राणियों के कर्म फलों को एक ही काल में देने में समर्थ ! तू (नः) हमारे (अमुं) परोक्ष में विद्यमान (चरुम्) भोग योग्य कर्म फल को (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (अपा वृधि) खोलदे, प्रकट कर । तू (अप्रतिष्कुतः) कभी याचक को उलटा फेरने वाला, नकारने वाला या प्रत्याख्यान करने वाला नहीं है ।

अथवा—हे (सत्रादावन्) सत्य ज्ञान के देने वाले परमेश्वर तू (अमुं) उस परोक्ष में विद्यमान (चरं) आचरणयोग्य, सत्यमय ज्ञान या मोक्ष द्वार को (अपावृधि) दूर कर। तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अप्रतिष्कुतः) कभी विचलित या विस्मृत नहीं होता।

राजा के पक्ष में-हे (सत्रादावन्) विद्यमान समस्त शत्रुओं को एक ही समय काट देने में समर्थ ! तू (अमुं चरं) उस प्रतिकूल विचरणशील शत्रु को दूरकर। तू (अप्रतिष्कुतः) कभी युद्ध में किसी से भी विचलित या पराजित नहीं होता।

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ १३ ॥ ऋ० १।७।७॥

भा०—(तुञ्जे-तुञ्जे) प्रत्येक दान के प्राप्त होने के अवसर पर दाता के प्रति कहे जाने योग्य (यः) जो (उत्तरे) उत्कृष्ट, शास्त्रसंमत (स्तोमाः) स्तुतिवचन हैं, वे सब उस (वज्रिणः) बलवान्-वीर्यवान् (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य वान् परमेश्वर के ही हैं। (अस्य) इसके लिये (सुस्तुतिम्) और किसी उत्तम स्तुति को (न विन्धे) प्राप्त नहीं करता हूं।

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥ १४ ॥ ऋ० १।७।८॥

भा०—(वंसगः) उत्तम गति वाला दृढांग (वृषा) हृष्टपुष्ट बैल जिस प्रकार (यूथेव) गौ यूथ में शोभा देता है और (ओजसा) अपने बल से (कृष्टीः) खेतों को भी (इयर्त्ति) वाह लेता है उसी प्रकार वह परमेश्वर (वंसगः) संभजन या सेवन योग्य समस्त पदार्थों और लोकों में व्यापक होकर (वृषा) समस्त सुखों का वर्षक इस लोक समूह में शोभा पाते हैं और (कृष्टी) और आकर्षण गुण से सब इन लोकों का (ओजसा) अपने बल से (इयर्ति) चला रहा है। वही (अप्रतिष्कुतः) किसी से

विचलित न होकर, किसी के भी वश न होकर स्वयं (ईशानः) समस्त ब्रह्माण्ड का स्वामी है ।

राजा के पक्ष में—गोयूथ में वृषभ के समान अपने (ओजसा) पराक्रम से (कृष्टीः) प्रजाओं को (इयर्ति) अपने वश करता है और (अप्रतिष्कुतः) किसी से पराजित न होने वाला स्वयं राष्ट्र का स्वामी होता है ।

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति ।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ १५ ॥

भा०—(यः) जो (एकः) अकेला (वसूनाम्) प्रजा को अपने भीतर बसाने वाले लोकों और (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजाओं को (एकः) अकेला ही (इरज्यति) अपने वश करता है । वह ही (पञ्च-क्षितीनाम्) पांचों क्षिति, जीवों के निवास पृथिवी आदि पांचों भूतों के (इन्द्रः) ऐश्वर्य का धारण करने हारा है ।

राजा के पक्ष में जो अकेला समस्त राष्ट्र वासी प्रजाओं को वश करता है और वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद इन पांचों प्रजाओं का (इन्द्रः) स्वामी है ।

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥ १६ ॥

भा०—(विश्वतः जनेभ्यः) समस्त जनों के (परि) ऊपर विद्यमान उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की हम (हवामहे) स्तुति करते हैं । वह (केवलः) केवल, अद्वितीय परमेश्वर ही (अस्माकम्) हमारा और (वः) तुम्हारा सहायक है । राजा भी सबके ऊपर विद्यमान होकर अकेला ही सबका हितकारी है ।

देखो अथर्व० का० २० । ३९ । १ ॥

एन्द्रं सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥ १७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे राजन् ! तू (सजित्वानम्) सदा अपने समान के शत्रुओं को जयशील (सदासहम्) सदा शत्रुओं के परायज करने में समर्थ (सानसिम्) समस्त योग्य पदार्थों के देने वाले (वर्षिष्ठम्) बड़े भारी (रयिम्) ऐश्वर्य को तू (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (आ भर) प्राप्त करा, संग्रह कर ।

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै ।
त्वोतासो न्यर्वता ॥ १८ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (येन) जिस (त्वोतासः) तेरे द्वारा सुरक्षित होकर (मुष्टिहत्यया) चित्त वृत्ति को विषयों में हर ले जाने वाली या आत्मा के स्वरूप को संप्रमोष या विस्मरण करा देने वाली तामस तृष्णा को मार कर (वृत्रा) अन्तःकरण को आ घेरने वाले, योग-सुख के बाधक विघ्नों का का (नि रुणधामहै) सर्वथा निरोध करें और (अर्वता) ज्ञानबल से सभी उसको (नि रुणधामहै) निरुद्ध करें ।

राजा के पक्ष में—हम प्रजागण (त्वा ऊतासः) तेरे से सुरक्षित रह कर (मुष्टिहत्यया) मुक्कों से या शस्त्रों से प्रहार कर २ के (अर्वता) अश्व बल से शत्रुओं को (निरुणधामहै) रोकें ।

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि ।
जयेम सं युधि स्पृधः ॥ १९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वोतासः) तेरे से सुरक्षित होकर हम (घनाः) अज्ञान आवरण के नाश करने में समर्थ होकर मेघ के समान धर्ममेघ स्वरूप होकर अपने चित्त भूमि में आनन्द-रस वर्षाते हुए (वज्रं ददीमहि) ज्ञान रूप वज्र को ग्रहण करें और (युधि) देवासुर

संग्राम में (स्पृधः) चित्त पर स्पर्धा से वश करने वाले नाना विषयों, मलो-भनों को (सं जयेम) भली प्रकार विजय करें ।

राजा के पक्ष में—(वज्रं घना ददीमहि) हम राजा की रक्षा में रह कर हत्याकारी वज्र, बल और खड्ग को धारण करें । और युद्ध में शत्रुओं को विजय करें ।

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् ।
सासह्याम पृतन्यतः ॥ २० ॥

भा०—(त्वया युजा) योग समाधि द्वारा तेरे सहायक प्राप्त होजाने पर हम (अस्तृभिः) अहिंस्य, सदा साथ में विद्यमान (शूरैः) गतिशील प्राणों के द्वारा (पृतन्यतः) गण बनकर आक्रमण करने वाले शत्रुपक्ष विषयों को (सासह्याम) वश करें ।

राजा के पक्ष में—हम (अस्तृभिः) शर वर्षण करने वाले एवं अस्त्रों से युक्त अथवा अहिंसनीय, अजेय शूरवीरों के साथ तुझ सहायक को प्राप्त करके सेनाओं द्वारा चढ़ाई करने वाले शत्रुओं को विजय करें ।

[७१] परमेश्वर

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे ।
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥ १ ॥

भा०—(प्रथिना) विस्तृत विस्तार से जिस प्रकार (द्यौः न) वह आकाश महान् है और विस्तृत प्रकाश से जिस प्रकार यह सूर्य महान् है उसी प्रकार वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् स्वामी भी (महान्) बड़ा और (परः च) सब से परे है । (वज्रिणे) उस वज्रधर परम शक्तिमान् की ही यह (म-हित्वम्) समस्त महिमा (अस्तु) है उसी का बड़ा भारी (शवः) बल है । राजा भी महान् और सर्वोत्कृष्ट हो ।

स॒मो॒हे वा॒ य आश॑त॒ नर॑स्तो॒कस्य॒ सनि॑तौ ।
विप्रा॑सो वा धिया॒यवः॑ ॥ २ ॥ ऋ० १ । ८ । ६ ॥

भा०—(ये) जो पुरुष (समोहे वा) संग्राम में (आशत) लगे रहते हैं और जो (नरः) लोग (स्तोकस्य) पुत्रादि सन्तान की (सनितौ) प्राप्ति में व्यग्र हैं और जो (विप्रासः) मेधावी, ज्ञानवान् लोग (धियायवः) सदा अपनी बड़ी धारणाशील, ज्ञानवती बुद्धि को प्राप्त करना चाहते हैं वे तीनों प्रकार के विजयार्थी, पुत्रार्थी और ज्ञानार्थी सब, हे इन्द्र ! तेरी ही स्तुति करते हैं ।

यः कु॒क्षिः सो॑म॒पात॑मः समु॒द्र इ॑व॒ पिन्व॑ते ।
उ॒र्वीरापो॒ न का॒कुदः॑ ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ८ । ७ ॥

भा०—जो इन्द्र, परमेश्वर (कुक्षिः) समस्त शक्तियों को अपने कोख में रखने वाला (सोमपातमः) संसार के समस्त ऐश्वर्य का सबसे बड़ा पालक होकर (समुद्र इव) समुद्र के समान अगाध भण्डार है (काकुदः) सब से श्रेष्ठ, समस्त दिशाओं में व्यापक (आपः उर्वीः न) जल जिस प्रकार भूमियों को सींचते हैं और उनको हराभरा करते हैं उसी प्रकार वह परमेश्वर समस्त प्राणियों और लोकों के अन्न जल और जीवन से सींचता है ।

अथवा वह समुद्र के समान महान् (पिन्वते) बढ़ता है (काकुदः आपः उर्वीः इव अस्ति) वह तालु में, मुख में होने वाले जलों के समान कभी सूखता नहीं । सायण ॥

अथवा—(आपः) प्राण जिस प्रकार (काकुदः) वाणी को सेचन करते हैं उसी प्रकार वह (उर्वीः पिन्वते) भूमियों को सींचता है । दया० ॥

राजा के पक्ष में—(यः) जो राजा (कुक्षिः) शत्रुओं से ऐश्वर्य आदि सार पदार्थ को सूर्य के समान चूस ले और जो (सोमपातमः) अपने राष्ट्र का सबसे उत्तम रक्षक होकर (काकुदः आपः उर्वीः न), मेघस्थ

जल जिस प्रकार भूमियों को सींचते हैं उसी प्रकार वह (समुद्रः) समुद्र के समान गम्भीर और अपार ऐश्वर्यवान् होकर (उर्वीः) अपनी विशाल प्रजाओं को (पिन्वते) सींचता और बढ़ाता है।

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही ।
पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ८ । ८ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर की (विरप्शी) विविध विद्याओं का उपदेश करने वाली वाणी (मही) बड़ी भारी, अति पूजनीय, (गोमती) नाना वेदवाणियों से युक्त, (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने वाले के लिये तो (एवा) ऐसी (सूनृता) शुभ, उत्तम, सत्य ज्ञान से पूर्ण है कि जिस प्रकार वह उसके लिये (पक्वा शाखा न) पकी, फलों से लदी शाखा ही हो।

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते ।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ८ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! (ते) तेरी (एवा) ऐसी २ अलौकिक (विभूतयः) विभूतियां और विविध ऐश्वर्य और (एवा ऊतयः) ऐसी ही तेरी पालन शक्तियें (मावते) मेरे जैसे (दाशुषे) दानशील, अधीन पुरुष के लिये (सद्यः चित्) सदा ही (सन्ति) विद्यमान हैं।

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या ।
इन्द्राय सोमपीतये ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ८ । १० ॥

भा०—(एव हि) निश्चय ही (सोम पीतये) समस्त पदार्थों को स्वीकार करने वाले या जगत् रूप सोम को अपने भीतर पालन करने, या ले लेनेहारे (इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु का (स्तोमः) स्तुति और उसके गुण कहने वाले ऋग्-गण (च) भी (काम्या) कामना करने और (शंस्या) सदा मुख से उच्चारण करने और कीर्तन करने योग्य हैं।

इसी प्रकार राष्ट्र-पालक राजा के गुण और उत्तम स्तुतियां होनी चाहियें।

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ९ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्रः) ऐश्वर्यवन् ! तू (इहि) आ, प्रकट हो, साक्षात हो। तू (विश्वेभिः) समस्त (सोमपर्वभिः) जगत् के अवयवों अथवा (सोम) अपने प्रेरक बलों के पूर्ण सामर्थ्यों से (अन्धसः) समस्त पृथिवी आदि लोकों को (मत्सि) हर्ष युक्त करता है। अथवा (अन्धसः अन्नादि समस्त जीवन धारण कराने वाले तत्व के (विश्वेभिः सोमपर्वभिः समस्त आनन्दरस से पूर्ण अवयवों से तू स्वयं (मत्सि) हर्षमय होता है। तू (ओजसा) अपने बल पराक्रम से ही (महान्) बड़ा भारी (अभिष्टिः) सबको सब प्रकार से चलानेहारा है।

राजा के पक्ष में— तू (अन्धसः) अन्न के कारण और समस्त (सोमपर्वभिः) राष्ट्र के अंगों द्वारा (मत्सि) हृष्ट हो। तू (ओजसा) पराक्रम से (महान् अभिष्टिः) बड़ा भारी शत्रुओं का विजेता है।

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने ।
चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ९ । २ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (सुते) उत्पन्न हुए इस संसार में (एनं इस (मन्दिम्) हर्ष के आश्रय (चक्रिम्) क्रियाशील जीवात्मा को (मन्दिने) आनन्द के उत्पादक (विश्वानि) समस्त लोकों के (चक्रये जगत् के बनाने वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (आ सृजत) समर्पण करो

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिस्तोमेभिर्विश्वचर्षणे ।
सचैषु सवनेष्वा ॥ ९ ॥

भा०—हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के द्रष्टा ! परमेश्वर ! हे (सुशिप्र) उत्तम ज्ञानस्वरूप ! तू (मन्दिभिः स्तोमेभिः) हृदय को आनन्दित करने वाली, स्तुतियों से (मत्स्व) प्रसन्न हो। और (एषु सवनेषु)

इन ऐश्वर्यों में, इन यज्ञों में (सचा) लगे हुए हम लोगों को भी (आ मत्स्व) आनन्दित कर । अथवा-इन सवनों, पूजा के अवसरों में एक ही साथ समस्त स्तुतियों से तू प्रसन्न हो ।

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।

अजोषा वृषभं पतिम् ॥ १० ॥

भा०—हे (इन्द्रः) परमेश्वर ! (ते) तेरे निमित्त मैं (गिरः) वेदवाणियों का (असृग्रम्) विविध प्रकार से प्रयोग और वर्णन करता हूं । स्त्रियें जिस प्रकार अपने पालक के प्रति अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं उसी प्रकार वे वेदवाणियें (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक, (पतिम्) सब के पालक (त्वाम् प्रति) तेरे ही प्रति (उद् अहासत) जाती हैं, लगती हैं, अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं ।

सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र वरेण्यम् ।

असदित् ते विभु प्रभु ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्रः) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! ज्ञानवन् ! तू (अर्वाग्) साक्षात् हमारे प्रति (चित्रम्) चित्र, आश्चर्यजनक या संग्रह करने योग्य, अद्भुत (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ उस (राधः) आराध्य, अभीष्ट ज्ञान और ऐश्वर्य को (सं चोदय) प्रेरित कर । जो (ते) तेरा (विभु) व्यापक या विविध पदार्थों का उत्पादक (प्रभु) सबसे उत्कृष्ट, शक्तिशाली (असत्) है ।

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः ।

तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ १२ ॥

भा०—हे (तुविद्युम्न) बहुत अधिक ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! तू (यशस्वतः) यशस्वी, (रभस्वतः) उद्योगशील, (अ-

स्मान्) हमें (राये) ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (वज्र) उस उत्तम योग्य स्थान और अवसर में (सु चोदय) उत्तम रीति से प्रेरित किया कर ।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत् ।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ १३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! तू (अस्मे) हमें (गोमत्) गौ आदि पशुओं से समृद्ध, (वाजवत्) ऐश्वर्य युक्त, (बृहत्) बड़ा भारी (पृथु) अति विस्तृत, (श्रवः) अन्न और यश एवं (गोमत्) ज्ञानवाणियों से युक्त (वाजवत्) वीर्य से युक्त (श्रवः) वेद ज्ञान और अन्न (सं धेहि) प्रदान कर और (अक्षितम्) अक्षय, अविनाशी (विश्वायुः) पूर्ण आयु अथवा (विश्वायुः) पूर्णायु देने वाला (अक्षितम्) अक्षय अन्न (धेहि) प्रदान कर ।

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम् ।
इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥ १४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे बाधक शत्रुओं के निवारक राजन् ! तू (अस्मे) हमें (बृहत् श्रवः) बड़ा यश, अन्न, ज्ञान, बल और (सहस्रसातमम्) सहस्रों भोगों के देने वाले (द्युम्नम्) ऐश्वर्य को (धेहि) प्रदान कर । और (ताः) वे (रथिनीः) रथों, वाहनों से युक्त (इषः) सेनाएं और (रथिनीः=रसिनीः इषः) भीतरी ब्रह्मरस से युक्त प्रेरणाएं और उत्तम रस से युक्त अन्नादि खाद्य पदार्थ प्रदान कर ।

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम् ।
होम गन्तारमूतये ॥ १५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! हम लोग (वसोः) पृथ्वी पर और राष्ट्र में और देह में बसने वाले जीवों के (ऊतये) रक्षा के लिये (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् बाधक शत्रुओं के नाशक (वसुपतिम्) समस्त लोकों और

प्राणियों के पालक (ऋग्मियम्) ऋचाओं, वेद मन्त्रों द्वारा जानने योग्य और ऋचाओं, वेद मन्त्रों के कर्त्ता (गन्तारम्) सर्वज्ञ और सर्व व्यापक के (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (गृणन्तः) गुण वर्णन करते हुए हम (होम) उस का स्मरण करते हैं ।

सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः ।
इन्द्राय शूषमर्चति ॥ १८ ॥

भा०—(बृहत् अरिः इत्) बड़े से बड़ा धन का स्वामी पुरुष भी (सुते सुते) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ से (नि ओकसे) अपने गुप्तरूप से निवास करने वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के (शूषम् अर्चति) बल की अर्चना करता है ।

राजा के पक्ष में—(बृहत् अरिः) बड़े से बड़ा शत्रु भी (सुते सुते न्योकसे) अभिषिक्त, या प्राप्त राष्ट्र राष्ट्र में, अर्थात् राष्ट्र के प्रत्येक भाग में विद्यमान (इन्द्राय) शत्रुनाशक राजा के (शूषम्) शोषणकारी बल को (अर्चति) मानता है ।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[७२] परमेश्वर और राजा

परुच्छेप ऋषिः । अत्यष्टयः । तृचं सूक्तम् ॥

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक् स्वः सनिष्यवः पृथक् । तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि । इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः ॥१॥

ऋ० १ । १३१ । २ ॥

[७२]—१. तुजिपालने भ्वादिः । हिंसाबलादान निकेतनेषु—भाषार्थश्च चुरादिः ।

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हम (विश्वेषु सवनेषु) समस्त सवनों, पूजा और अर्चना के अवसरों में (हि) भी (त्वा) तुझ को (एकम्) एक (समानं) सर्वत्र समान भाव से (वृषमण्यवः) सुखों की एकत्र वर्षा करने वाले, मानने वाले और (पृथक्) अपने लिये अलग अलग (स्वः) सुख (सनिष्यवः) प्राप्त करने की इच्छा करते हुए (आयवः) सब मनुष्य अपने (पृथक्) अलग २ ही (त्वा) तेरी (तुञ्जते[1]) स्तुति करते हैं। हम लोग (त्वा) तुझको (नावं न) नाव के समान (पर्षणिम्[2]) पार लगा देने वाला या समस्त मनोरथ के पूर्ण करने वाला और (शूषस्य) उत्पन्न हुए समस्त संसार के और ऐश्वर्य के और समस्त शक्ति के (धुरि) केन्द्र में प्रवर्त्तक रूप मे स्थित (धीमहि) ध्यान करते हैं। और (यज्ञैः) यज्ञों, उपासना-अनुष्ठानों द्वारा (इन्द्रं न) ऐश्वर्यवान् महाराजा के समान (चितयन्तः) जानते हुए (आयवः) मनुष्य लोग तुझे (इन्द्रम्) महान् ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को (स्तोमेभिः) स्तुतियों से (आयवः) प्राप्त होते हैं। अर्थात् परमेश्वर सर्वत्र समान रूप से ऐश्वर्य बरसाता है। सभी जन्तु उसके लिये अपनी २ पृथक् स्तुति करते हैं।

'पर्षणिम्' पारस्य संभक्त्रीं पूरयित्रीं वा फलस्य। इति सायणः।

'तुञ्जते'-तुजि भाषार्थः। चुरादिः। 'शूषस्य' शूष प्रसवे। भ्वादिः॥

राजा के पक्ष में—(विश्वेषु सवनेषु) समस्त अभिषेकों में हे राजन्! तुझ (एकं समानं वृषमन्यवः) एक को सर्वत्र समान रूप से श्रेष्ठ मानते हुए लोग पृथक् २ स्थानों पर अपना २ सुख चाहते हुए पृथक् २ प्रार्थना करते हैं। तुझे सागर के पार लेजाने वाली नाव के समान (पर्षणिं) पालन या रक्षा और शरण प्रद जानकर (शूषस्य धुरि) राष्ट्र रूप ऐश्वर्य

२. पार तीरकर्मसमाप्तौ, इति पारोपपदात्सनेरित्रौणादिकः। पृषोदरादित्वात्साधुः। पिपर्तेरौणादिकः सन्निमत्ययो वा।

के या राष्ट्र संचालक बल के केन्द्र में स्थित हुआ (धीमहि) जानते, मानते हैं । तुझको (इन्द्रं न) इन्द्र प्रभु के समान जानते हुए लोग (स्तोमेभिः) स्तुतियों सहित तुझ (इन्द्रम् आयवः) ऐश्वर्यवान् को ही प्राप्त होते हैं ।

वि त्वां ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्यं साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः । यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि । आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥ २ ॥ ऋ० १ । १३१ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! (अवस्यवः) अपनी तृप्ति और रक्षा चाहने वाले (मिथुना) स्त्री पुरुष, या गुरु शिष्य, या राजा प्रजा मन और आत्मा, के नाना जोड़े (गव्यस्य व्रजस्य साता) गवादि पशुओं के लाभ के लिये और गौ,=वेद वाणियों से उत्पन्न व्रज ज्ञेय ज्ञान को प्राप्त करने के लिये समस्त भोग्य पदार्थों को तुझपर ही न्योछावर करके सर्वस्व त्याग और गौ=इन्द्रियों के समूह पर वश प्राप्त करने के लिये (त्वा) तुझ आचार्य की शरण में (वि ततस्रे) निवास करते हैं अर्थात् गुरुगृह में रहकर ब्रह्मचर्य का विशेष रूप से पालन करते हैं । और वे (निःसृजः) और फिर (सक्षन्ते) तेरे में रमण करते हुए वे (निःसृजः) समस्त कर्म वासना और समस्त फलाशयों मे त्यागी हो जाते हैं (यत्) और जब (स्वःयन्ता) सुखों को प्राप्त होते हुए और (गव्यन्ता) गो समूह या वाणि-समूह या इन्द्रियों को दमन करते हुए (द्वा जना) दोनों जनों को तू ही (समूहसि) अपने शरण भली प्रकार ले लेता है तब ही तू हे (इन्द्र) परमेश्वर (वृषणं) सुखों के वर्षक (सचाभुवं) परस्पर साथ मिलकर उत्पन्न होने वाले, (सचाभुवम्) अन्तरात्मा के सदा साथ अनुभव होने वाले, नित्य, सुखरूप (वज्रम्) ज्ञानरूप बन्धन को काटने में समर्थ वज्र

को, बल को, या ज्ञान को, या अपवर्ग मोक्ष को (आविष्करिक्रद्) प्रकट करता है ।

गृहपति-पत्नी पक्ष में—(निशुना) स्त्री और पुरुष दोनों (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले या जीवन की सुख तृप्ति चाहने वाले ज्ञानधारियों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये हे इन्द्र आचार्य ! (त्वा वि तत्नते) तेरे समीप गुरुगृह में आकर रहते हैं। (निः सृजः) उस समय सबकुछ त्यागकर तेरे पास आकर भी (निः सृजः) सर्वस्व त्यागी बने रहते हैं। और हे इन्द्र गुरो ! परमेश्वर ! (यत्) जब (गव्यन्ता) ज्ञान वाणियों को चाहने वाले (द्वा जना) दोनों जनों को तू (स्वः यन्ता) गार्हस्थ्य सुख को प्राप्त करने के इच्छुक उनको (समूहसि) विवाहित कर देना चाहता है तब (सचा भुवन्) उन दोनों के परस्पर सहयोग से उत्पन्न (वृषणं) प्रजानिषेक के योग्य (सचाभुवन्) सदा साथ विद्यमान रहने वाले (वज्रम्) वीर्य को भी उनमें ब्रह्मचर्य पालन द्वारा (आविः करिक्रद्) प्रकट कर ।

राजा के पक्ष में—स्त्री पुरुष अपनी रक्षा चाहने वाले होकर राजा का आश्रय लेते हैं। सुख चाहने वाले स्त्री पुरुषों को वह जब जान लेता है तब उनके ऊपर राजा प्रजा के सहयोग से उत्पन्न (वज्रं) अपने बल को प्रकट करता है ।

उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्य१र्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः । यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिन् चिकेतसि । आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः ॥ ३ ॥

ऋ० १ । १३१ । ६ ॥

भा०— योगी पुरुष (अस्या उषसः) इस उषा का (जुषेत) सेवन करे अर्थात् योगसाधना से उत्पन्न ज्योतिष्मती प्रज्ञा का आनन्द लाभ करे। और (हविषः) स्वीकार करने और स्तुति करने योग्य (अर्कस्य)

अर्चनीय परमेश्वर का (वीमभिः) स्तुतियों द्वारा (बोधि) ज्ञान करे । वह (हवीमभिः) स्तुतियों द्वारा ही (स्वः साता) परमसुख को प्राप्त होता है हे (वज्रिन्) ज्ञानवज्र को धारण करने हारे ! और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् तू (यत्) जब (मृधः) शत्रु सेनाओं के समान मन को डुलाने वाली व्युत्थान वासनाओं को (हन्तवे) नाश करने के लिये (चिकेतसि) ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब (अस्य मे) इस मुझ (नवीयसः) नये २ दीक्षा प्राप्त (वेधसः) मेधावी, ज्ञानवान् प्रबुद्ध पुरुष के (मन्म) मनन या विचारगम्य स्तुति को (आ श्रुधि) श्रवण कर ।

परमेश्वर के पक्ष में—(उतो) और वह परमेश्वर (अस्या उषसः) इस प्रभातकाल में भी (अर्कस्य जुषेत) हमारी स्तुति को स्वीकार करे । हमारे (हवीमभिः) स्तुति सहित (हविषः) श्रद्धा भाव को (बोधि) जाने । वह (हवीमभिः) स्तुति द्वारा ही (स्वः साता) सुख प्रदान करने हारा है । हे परमेश्वर हमारे शत्रु काम क्रोधादि को विनाश करने के लिये तू (चिकेतसि) हमें ज्ञान प्रदान कर ।

(अस्य नवीयसः मन्म आ श्रुधि) इन नवीन स्तुतिकर्ता की स्तुति को श्रवण कर ।

[७३] परमेश्वर और राजा

तुभ्येदि॒मा सव॑ना शूर॒ विश्वा॒ तुभ्यं॒ ब्रह्मा॑णि॒ वर्ध॑ना कृणोमि ।
त्वं नृभि॒र्हव्यो॑ वि॒श्वधा॑सि ॥१॥

भा०—हे (शूर) दुष्टों के नाशकारिन् ! (तुभ्यं इत्) तेरे ही लिये (इमा सवना) ये समस्त यज्ञ अनुष्ठान हैं. (तुभ्यम्) तेरे ही लिये (वर्धना) तेरी महिमा बढ़ाने वाले (विश्वा ब्रह्माणि) समस्त वेद मन्त्रों को मैं (कृणोमि) प्रकट करता हूं (त्वं) तू (नृभिः) मनुष्यों द्वारा

(हव्यः) स्तुति करने योग्य है । तू ही (विश्वधाः असि) समस्त विश्व का धारण करने वाला है ।

राजा के पक्ष में—(इमा सवना तुभ्यम् इत्) ये समस्त ऐश्वर्य तेरे ही हैं । तेरे लिये (वर्धना ब्रह्माणि) तेरी वृद्धि के लिये ये वेदमन्त्र उच्चारण करता हूं । अथवा तेरी सम्पत्ति की वृद्धि करने वाले इन (ब्रह्माणि) बड़े २ वृद्धिदायक कार्यों को करता हूं तू (नृभिः हव्यः) नेता पुरुषों द्वारा स्तुत्य और (विश्वधाः असि) समस्त राष्ट्र को धारण पालन करने में समर्थ है ।

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र ।
न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥ २ ॥

भा०—हे (दस्म) दर्शनीय परमेश्वर ! और हे शत्रुओं के नाशक ! हे राजन् ! (मन्यमानस्य ते) विचार आदर, और मान किये जाने योग्य तेरे (महिमानम्) महिमा को (नू चित् नु) क्या किसी प्रकार भी कोई (उत् अश्नुवन्ति) पारकर सकते हैं? वे तो (न वीर्यम् उत् अश्नुवन्ति) न कोई तेरे बल को पार कर सकते हैं और हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (न राधः) न कोई तेरे ऐश्वर्य को पार कर सकते हैं । अर्थात् तुझ से बढ़कर न किसी की महिमा, न किसी का बल और न किसी का ऐश्वर्य है ।

प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम् ।
विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ३१ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (वः) तुम लोग (महे) उस महान् (महिवृधे) बड़े ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले अथवा बड़े २ संकटों को काट डालने वाले (प्रचेतसे) उत्कृष्ट ज्ञानवान् परमेश्वर के लिये (प्र भरध्वम्) उत्तम विचारों का मनन करो । और (सुमतिं) शुभ बुद्धि या स्तुति (प्र कृणुध्वम्) करो । हे परमेश्वर तू (चर्षणिप्राः) मनुष्यों को समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण

करने हारा होकर (विशः) मनुष्यों और प्रजाओं को (पूर्वीः) ज्ञान और बल में पूर्ण (प्र चर) कर ।

राजा के पक्ष में—हे मनुष्यो ! तुम (महि वृधे महे) बड़े २ शत्रुओं को गिराने वाले बड़े राजा के लिये (प्र भरध्वम्) भेटें लाओ । उसके प्रति (सुमतिं प्र कृणुध्वम्) उत्तम चित्त बनाये रखो । हे राजन् ! तू (चर्षणिप्राः) प्रजाओं की कामनाओं को पूर्ण करने वाला होकर (विशः) प्रजाओं को (पूर्वीः प्र चर) धन, बल आयुष्य में पूर्ण कर ।

यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः ।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः ॥४॥
ऋ० १० । २३ । ३ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर के (यम्) जिस (रथम्) रमण के साधन, आनन्दप्रद रस को (सूरिभिः) विद्वानों द्वारा (हरी) हरणशील ज्ञान और कर्म दोनों (वहतः) प्राप्त कराते हैं और (यदा) जब (हिरण्यम्) हितकारी और रमणीय, आनन्दकारी (वज्रम्) ज्ञानरूप वज्र प्रकट होता है (अथा) तब (सनश्रुतः) सदाकाल से विख्यात, वेद द्वारा कीर्त्तित, (दीर्घश्रवसः) अति अधिक कीर्त्ति वाले (वाजस्य) ज्ञान और ऐश्वर्य का (पतिः) स्वामी (मघवा) ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर उस रस में (आतिष्ठति) व्याप्त रहता है ।

अध्यात्म में—(अस्य) इस जीव के (सूरिभिः) प्रेरक प्राणों सहित (यं रथं) जिस 'रथ' या रमणीय, रस स्वरूप को (हरी) हरणशील प्राण और अपान (वहतः) प्राप्त कराते हैं और (यदा) जब वह (हिरण्यम् वज्रम्) हित और रमण योग्य वीर्य को और ज्ञान को धारण कर लेता है तब (दीर्घश्रवसः) अति अधिक ज्ञान से युक्त (वाजस्य पतिः)

ऐश्वर्य का स्वामी (सनश्रुतः) सदा से श्रुति द्वारा कीर्तित (मघवा) परमेश्वर आत्मा में (आतिष्ठति) विराजता है ।

राजा के पक्ष में—(यं रथं) जिस रथ के समान सुन्दर राष्ट्र को (हरी) अश्वों के समान दो योग्य विद्वान् राजा और मन्त्री, सभापति और महामात्य (सूरिभिः) विद्वान् सभासदों के साथ मिल कर धारण करते हैं और जब (वज्रं) वज्र, बलशाली दण्ड विधान को भी (हिरण्ययम्) सुवर्ण या रजत के बने राजदण्ड के समान प्रजा के हित और सुख के लिये धरता है तब समझो कि (दीर्घश्रवसः) अति यश या अन्नादि समृद्धि वाले (वाजस्य) संग्राम या बलैश्वर्य का (पतिः) पालक (सनश्रुतः) सदा से विख्यात (मघवा) ऐश्वर्यवान राजा (आतिष्ठति) राज्य पर शासन करता है ।

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते ।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम् ॥ ५ ॥

ऋ० १० । २३ । ४ ॥

भा०—(चित् नु) जिस प्रकार (वृष्टिः) मेघ से आने वाली जल वृष्टि (हरिता) हरे वृक्षों को (अभि प्रुष्णुते) सींचती है इसी प्रकार (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् ज्ञानी पुरुष (स्वा सचान्) अपने में समवेत, अपने पर आश्रित (यूथ्या) समूहों में चलने वाले प्राणियों को (श्मश्रूणि) अपने शरीर में स्थित मोंछ के बालों के समान (अभि प्रुष्णुते) उनको साक्षात् नाना ऐश्वर्यों और स्नेहों से सेचता है । वह ही (सुक्षयं अव वेति) उत्तम निवास या लोक को प्राप्त होता है । और (सुते) ज्ञान के उत्पन्न होजाने पर या उत्पन्न हुए इस संसार में (मधु वेति) मधुर फल भोग मधुर ब्रह्मानन्द का भोग करता है । अपने साथ लगे सांसारिक दुःख बन्धनों को वह ऐसे (उद् धूनोति) झाड़ फेंकता है (यथा) जिस प्रकार

(वातः वनम्) प्रबल वायु वन को कंपा डालता है और पतझड़ कर डालता है ।

राजा के पक्ष में-(चित् नु वृष्टिः हरिता) वृष्टि जिस प्रकार हरे वृक्षों को सींचती है उसी प्रकार वह इन्द्र राजा (स्वा यूथ्या) अपने यूथ के संघ के लोगों को भी (अभि प्रुष्णुते) ऐश्वर्य और स्नेह से बढ़ाता है । वह (सुक्षयं अव वेति) उत्तम गृह राजमहल में रहता है । (सुते) राज्याभिषेक होजाने पर वह (मधु) मधुर राष्ट्र का भोग करता है। (वातः यथा वनम्) वायु जिस प्रकार वन को वेग से तोड़ फोड़ डालता और कंपा डालता है उसी प्रकार वह भी प्रचण्ड होकर (वनम्) शत्रुओं के सेना समूह को (उद् धूनोति) कंपा डालता है ।

यो वाचा विवा॑चो मृध्रवा॑चः पुरू स॒हस्रा॒शिवा ज॒घान॑ ।
तत्त॒दिद॑स्य॒ पौंस्यं॑ गृणीमसि पि॒तेव॒ यस्तवि॑षीं वावृ॒धे शवः॑ ॥६॥

ऋ० १० । २३ । ५ ॥

भा०—(यः) जो ज्ञानवान् पुरुष या परमेश्वर, परम गुरु (वाचा) अपनी उपदेशमय वेदवाणी से (वि-वाचः) विरुद्ध, विपरीत वाणी बोलने वाले और (मृध्र-वाचः) हिंसा करने और दिल दुखाने वाली वाणी को बोलने वाले पुरुषों का और (पुरु) बहुतसे (सहस्रा) हज़ारों (अशिवा) अमंगलजनक, बुरे कर्मों का (जघान) नाश करता है और (यः) जो (पिता इव) पिता के समान (तविषीम्) बड़ी भारी शक्ति और (शवः) बल को (वावृधे) बढ़ाता है । (तत् तत् इद्) वह वह नाना प्रकार के अकथनीय (अस्य) इस परम गुरु परमेश्वर के (पौंस्यम्) बल वीर्य के कार्य का (गृणीमसि) हम वर्णन या स्तुति करें ।

राजा के पक्ष में—(यः) जो (वाचा) अपने वाणी या आज्ञामात्र से (विवाचः) विपरीत बोलने वाले (मृध्रवाचः) हिंसा या युद्ध के वा-

णियों के कहने वाले शत्रु हैं उनको और (पुरु सहस्रा अशिवा) बहुतसे हज़ारों अमंगलजनक कष्टदायी दुःखों का (जघान) नाश करता है । और जो पिता के समान प्रजा की शक्ति बढ़ाता है, उसे पुष्ट करता है । उसके उन नाना (पौंस्यम्) पराक्रम कर्म का हम वर्णन करें । अथवा (अस्य) उसको हम (तत् तत् पौंस्यं) उन २ पौरुष कर्म का (गृणीमसि) उपदेश करें या उसको नाना पौरुष कर्म करने को कहें ।

[७४] राष्ट्र रक्षक राजा के कर्त्तव्य ।

शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । पंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि । आ तू नं इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ १ ॥ ऋ० १।२९।१॥

भा०—हे (सत्य) सत्यस्वरूप ! अविनाशिन् ! सज्जनों के प्रति सद्व्यवहार करने हारे ! एवं सत्यवादिन् ! हे (सोमपाः) समस्त उत्पन्न संसार के रक्षक परमेश्वर ! (यत् चित् हि) जिन २ अवसरों में भी और जिन २ कार्यों में भी हम (अनाशस्ताः इव स्मसि) उत्तम, गुण सामर्थ्यवान् एवं प्रशंसा के योग्य न हों, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! हे (तुवीमघ) बहुत बड़े ऐश्वर्य वाले ! (नः) हमें उन २ (गोषु अश्वेषु) गो आदि पशु और अश्व आदि सेना के साधनों में और (सहस्रेषु) हज़ारों (शुभ्रिषु) शोभाजनक धनैश्वर्यों में भी उनका प्रदान करके (आशंसय) उत्तम प्रशंसा योग्य बना ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! जिन पदार्थों में हम प्रजाजन उत्तम न हों । उन २ गौ आदि ऐश्वर्यों में हमें उत्तम बना ।

शिप्रिन् वाजानां पते शचींवस्तवं दंसनां । आ तू० ॥ २ ॥ ऋ० १।२९।२॥

भा०—हे (शिप्रिन्) उत्तम प्राप्य पारमार्थिक ऐहिक सुख साधनों से युक्त हे बलवन् ! हे (वाजानां पते) ऐश्वर्यों और वीर्यों के स्वामिन् !

हे (शचीवः) शक्तियों वाले ! (तव) तेरे (दंसना) दर्शनीय अलौकिक कर्म हैं। हे (इन्द्र तुवीमघ गोषु अश्वेषु सहस्रेषु शुभ्रिषु नः आशंसय) हे ऐश्वर्यवन् बहुत धनों के स्वामिन् ! तू हज़ारों ज्ञानवाणियों, भूमियों, गौओं और अश्वों, वेगवान् साधनों और शोभाकारी ऐश्वर्यों में कीर्तिमान कर।

राजा के पक्ष में—(शिप्रिन्) बलवन् ! (शचीवः) प्रजा और सेना के स्वामिन् ! (वाजानां पते) अन्नों, संग्रामों और ऐश्वर्यों के पालक (तव दंसना) तेरे नाना दर्शनीय कर्म हैं। आ तू न० इत्यादि पूर्ववत्।

नि ष्वापया मिथूदृशा सुस्तामबुंध्यमाने । आ तू०॥३॥ऋ०१।२९।३॥

भा०—हे (इन्द्र) अविद्या निद्रादि दोषनिवारक ! तू (मिथूदृशा) विषयासक्ति से एक दूसरे को देखने वाले स्त्री पुरुषों को (निःस्वापय) सर्वथा अचेत कर दे। और वे दोनों (अबुध्यमाने) ज्ञानहीन होकर (सस्ताम्) सो जायं। अर्थात् इससे विपरीत विषयासक्ति से रहित तपस्वी व्रती पुरुषों को प्रबुद्ध कर और वे ज्ञानवान् होकर जागते रहें। (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत्।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! (मिथूदृशा) परस्पर मिथुन या स्त्री पुरुषों के जोड़े होकर दीखने वाले गृहस्थ पति पत्नियों को रात्रिकाल में सुख से सोने दे। और वे (अबुध्यमाने) अचेत होकर (सस्ताम्) सुख से सोवें और तू रात्रिकाल में उनका पहरा दे, रक्षा कर। (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत्॥ अर्थात् तेरे राज्य में सब गृहस्थ सुख से जीवन वितावें। अथवा—(मिथूदृशौ) परस्पर हिंसा की दृष्टि से देखने वाले विरोधी लोगों को (निःस्वापय) सुलादे। वे लड़कर (अबुध्यमाने सस्तान्) अचेत होकर सोएं, मरे पड़े रहें। और परस्पर प्रेम से रहने वाले जागृत रहें और ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः । आ तू० ॥४॥ ऋ० १ । २९ । ४ ॥

भा०—(त्याः) वे (अरातयः) शत्रु-सेनाएं (ससन्तु) सो जायं और हे (शूर) शूरवीर ! (रातयः) दानशील, दाता पुरुष (बोधन्तु) ज्ञानवान् होकर सदा धर्म-कार्यों में सावधान होकर रहें (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत् ।

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया । आ तू० ॥५॥ ऋ० १ । २९ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! न्यायाधीश ! (गर्दभम्) गर्दभ के समान कठोर भाषी एवं गर्धा=तृष्णा से व्याप्त लोभी एवं विष से लोगों को मारने वाले (अमुया) अमुक २, नाना प्रकार के (पापया) पाप-पूर्ण रीति नीति से नुवन्तम्) बोलने चालने वाले, चापलूसी करने वाले, असत्य भाषी, छली पुरुष को (संमृण) अच्छी प्रकार विनष्ट कर । और (नः) हमें (शुभ्रिषु) शुभ आचरण द्वारा न्यायपूर्वक प्राप्त गौ अश्वादि धनों में प्रसिद्ध कर । (आ तू न०) इत्यादि पूर्ववत् ।

'गर्दभः'—गर्द शब्दे इत्यतोरभच् । गर्धया धनतृष्णाया भातीति वा गरेण विषेण दृणाति हिनस्तीति वा ।

पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि । आ तू० ॥६॥ ऋ० १ । २९ । ६ ॥

भा०—(कुण्डृणाच्या) दाह करने वाली प्रवृत्ति या गति या चाल करने वाला, कुटिल (वातः) वायु जिस प्रकार (वनात् अधि) वन से (दूरं पताति) दूर ही रहे तो ठीक है उसी प्रकार (कुण्डृणाच्या) दाहकारी, दुःखदायी प्रवृत्ति वाला कुटिल पुरुष भी प्रजागण से (दूरं पताति) दूर ही दूर रहे तो अच्छा है । (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत् ।

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम् । आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । २९ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! तू (सर्वं) सब (परिक्रोशम्) निन्दा करने वाले दुष्टों को (जहि) मार, दण्ड दे और (कृ-

कदाश्वम्) हमारे ऊपर हिंसाकारी, आघात देने वाले, हिंसाकारी प्रयोग करने वाले, अथवा कृकदाश्व=कृकलास, उल्लू या गिरगट के समान धूर्त, छली कपटी पुरुषों को (जंभय) विनाश कर (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत्।

'कृकदाश्वम्' कृका हिंसा, तां दाशति प्रयच्छतीति कृकदाशुः, तम् ॥

[७५] राजा और आत्मा का अभ्युदय ।

वि त्वां ततस्रे मिथुना अंवस्यवों व्रजस्यं साता गव्यंस्य निःसृजः सर्क्षन्त इन्द्र निःसृजः । यद् गव्यन्ता द्वा जनास्वंर्यन्ता समूहंसि । आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥१॥　　ऋ० १ । १३१ । ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो कां० २० । ७२ । २ ॥

विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः । शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयंज्युं शवसस्पते । महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥ २ ॥

ऋ० १ । १३१ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् कर्मबन्धनों के तोड़ने हारे आत्मन् ! (पूरवः) आत्म शक्ति को पूर्ण करने वाले इन्द्रियगण (ते) तेरे (अस्य वीर्यस्य) इस वीर्य के विषय में (विदुः) जानते हैं (यत्) जिससे तू (शारदीः) शरद् अर्थात् वर्षों द्वारा मापी जाने वाली (पुरः) इन देहरूप पुरियों को (अवातिरः) ज्ञानवज्र से खण्डित करता है । और समस्त विरुद्ध बाधाओं को (सासहानः) सहन करता हुआ (शारदीः पुरः) वर्षरूप नादियों को (अवातिरः) पार कर जाता है । हे (शवसस्पते) शक्तिशालिन् ! तू (अयज्युम्) अपने से संग रहित (मर्त्यम्) मरणशील (तम्) इस देह को ही (शासः) शासन करता है और

(इमाः मयः) इन नाना प्रज्ञानों और (इमाः अपः) इन नाना कर्मों को (मन्दसानः) हर्षपूर्वक करता हुआ (महीम् पृथिवीम्) बड़ी भारी पृथिवी अर्थात् ब्रह्मरूप आश्रय भूमि को (अमुष्णाः) भूल जाता है।

राजा के पक्ष में—(पूरवः) पुरवासी जन, हे (इन्द्र) राजन्! (ते अस्य वीर्यस्य विदुः) तेरे इस सामर्थ्य को जानते हैं जिसके बलपर तू (सासहानः) शत्रुओं को पराजित करता हुआ शत्रुओं का ही (अवातिरः) नाश करता है। (शारदीः पुरः) शरत् काल में, युद्ध यात्रा काल में खड़ी की गई (पुरः) शत्रु की गढ़ियों को भी (अवातिरः) नाश करता है। हे (शवसस्पते) बल के स्वामिन्! (अयज्युम्) तुझ से सन्धि न करने वाले, कर न देने वाले शत्रु (मर्त्यं) मनुष्य को (शासः) शासन करता, दण्ड देता है (इमाः अपः) इन जलों को जिस प्रकार सूर्य शरत्काल में स्वच्छ कर देता है इसी प्रकार (इमाः अपः) इन प्राप्त प्रजाओं को (मन्दसानः) सदा प्रसन्न करता हुआ (महीम् पृथिवीम्) बड़ी भारी पृथिवी को (अमुष्णाः) शत्रुओं के हाथों से छीन कर अपने हाथ में कर लेता है।

आदित् ते अ॒स्य वी॒र्य॑स्य चर्किर॒न्मदे॑षु वृषन्नु॒शिजो॒ यदावि॑थ सखीय॒तो यदावि॑थ। च॒कर्थ॑ का॒रमे॑भ्यः॒ पृत॑नासु॒ प्रव॑न्तवे। ते अ॒न्याम॑न्यां न॒द्यं॑ सनिष्णत श्रव॒स्यन्तः॑ सनिष्णत ॥ ३ ॥

ऋ० १। १३१। ५ ॥

भा०—आत्मा-पक्ष में-(आत् इत्) और इसके बाद (ते) वे योगिजन (अस्य वीर्यस्य) तेरे इस सामर्थ्य को (चर्किरन्) चारों तरफ फैलाते या स्तुति करते हैं (यत्) जिससे हे (वृषन्) हृदयों में आनंद-रस के वर्षक ! तू (मदेषु) आत्मा के आनन्द से तृप्त होजाने के अवसरों में उन (उशिजः) कामना युक्त, तुझे चाहने वाले अपने इच्छुकों को (आविथ) प्राप्त होता है और (यत्) जिससे तू (सखीयतः) तुझे

अपने सखा बनाने के इच्छुक पुरुषों को (आविथ) प्राप्त होता है । तू तभी (एभ्यः) उन साधकों के लिये (पृतनासु) काम्य पदार्थों से पूर्ण लोकों में (प्रवन्तवे) उत्कृष्ट पद या ऐश्वर्य के भोग्य के लिये (कारम्) क्रिया सामर्थ्य को (चकर्थ) प्रदान करता है। और (ते) वे भी (अन्याम् अन्याम्) एक से एक अगली (नद्यं) नदी या समृद्ध आत्मदशा को (सनिष्णत) प्राप्त करते हैं और (श्रवस्यन्तः) आत्म ज्ञानोपदेश की कामना करते हुए ही वे एक से एक उन्नत (नदीं) जल पूर्ण नदी, ज्ञान समृद्ध गुरु रूप सरस्वती को (सनिष्णत) प्राप्त होते हैं और ज्ञान लाभ करते हैं।

तीर्थात् तीर्थान्तरं व्रजेत् गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ।

राजा के पक्ष में—(यत्) जिस बल से हे (इन्द्र) राजन् ! सेनापते ! (मदेषु) संग्राम के अवसरों में (उशिजः आविथ) अपने कामनावान्. अभिलाषुक और (सखीयतः) मित्रता के इच्छुक पुरुषों का (आविथ) रक्षा करता है वे (ते अस्य वीर्यस्य चर्किरन्) तेरे इस वीर्य को सामर्थ्य को चारों ओर फैलाते हैं, विस्तृत करते हैं। तू (एभ्यः प्रवन्तवे) उन वीरों के भोग के लिये (पृतनासु) संग्रामों और सेनाओं में भी (कारं चकर्थ) यत्न करता है और (ते) वे वीरगण (अन्याम् अन्याम्) एक से एक आगे आती नदी को (सनिष्णतः) पार करते हुए जाते हैं। वे (श्रवस्यन्तः) यश के अभिलाषी (सनिष्णतः) आगे ही बढ़ते देशों को प्राप्त करते जाते हैं ।

[७६] आत्मा और राजा ।

वसुक्र ऐन्द्रो ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

वने॒ न वा॒ यो न्य॑धायि चा॒कञ्छुचि॑र्वां॒ स्तोमो॑ भुरणावजीगः ।
यस्येदिन्द्रः॑ पुरु॒दिने॑षु॒ होता॑ नृ॒णां नर्यो॒ नृत॑मः क्ष॒पावा॑न् ॥ १ ॥
ऋ० १० । २९ । १ ॥

भा०—हे (भुरणौ) शरीर के पालन पोषण करने वाले माता पिता के समान प्राण और उदान दोनों ! (यः) जो (स्तोमः) स्तोम, वीर्य, सामर्थ्य, अथवा प्राणों का गण (वने) सबके भजन या सेवन करने योग्य या सबका भोग करने वाले आत्मा में (न्यधायि) निहित या स्थित है वह स्तोम, वीर्य या इन्द्रियगण (शुचिः) अत्यन्त विशुद्ध रूप से (चाकं न) मानो तुम्हारी कामना करता हुआ सा (वां अजीगः) तुम दोनों को ही प्राप्त होता है। (यस्य) जिस बल सामर्थ्य को (इन्द्रः) इन्द्र (पुरुदिनेषु) बहुत दिन तक (होता) स्वयं धारण करता हुआ (नृणां) मनुष्यों में (नर्यः) सब से श्रेष्ठ, सबका हितकारी (नृतमः) सबसे मुख्य नायक के समान समस्त प्राणगणों का नेता है और जो (क्षपावान्) समस्त रजों विकारों के नाश करने वाली चिति शक्ति का स्वामी एवं (क्षपावान्) रात्रि के स्वामी चन्द्र के समान घोर जड़ता रूप अन्धकार रात्रि में प्रकाशवान् है। अथवा रात में भी सोते समय पहरेदार के समान मुख्य प्राण के रूप में जागता और शरीर को चेतन बनाये रखता है।

राजा के पक्ष में—हे (भुरणौ) राष्ट्र के पालक राजा और सभापति दोनों ! (यः) जो (शुचिः) शुद्ध (स्तोमः) वीर्य या अधिकार (वने वा न्यधायि) सबसे अधिक चाहने योग्य मुख्य, राजपद या राष्ट्र में स्थित है (चाकं न) मानो तुम दोनों को चाहता सा हुआ वह (वां) तुम दोनों को (अजीगः) प्राप्त हो। जिस अधिकार को (इन्द्रः पुरुदिनेषु होता) राजा बहुत दिनों तक रखता है। वह राजा (नर्यः) सब मनुष्यों का हितकर और (नृणां नृतमः) मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ और (क्षपावान्) जो सूर्य या चन्द्र के समान रात्रि या रमणकारिणी राज्य शक्ति का स्वामी है, या जो क्षपा, अर्थात् शत्रु के नाशकारिणी सेना का स्वामी है।

अथवा (स्तोमः) स्तुति करने योग्य (शुचिः) शुद्धस्वरूप (वः) जो (वने) सेवन करने योग्य इस देह में (वने न शुचिः) वन में अग्नि के समान, या अन्तरिक्ष में सूर्य के समान (चार्क न) समस्त भोगों की कामना करता हुआ (नि अधायि) रक्खा गया है वह हे (भुरणौ) देह के पालन करने हारे प्राण और उदान (वां) तुम दोनों को भी (अजीगः) प्राप्त है । तुम दोनों में भी व्यापक है । (यस्य) जिसको (होता) स्वीकार करने वाला या आह्वान करने वाला स्वयं (इन्द्रः) यह आत्मा (पुरुदिनेषु) बहुतसे दिनों तक रहा । जो स्वयं (नृणां नृतमः नर्यः) शरीर के समस्त नेता प्राणों में सर्वश्रेष्ठ और (नर्यः) सबका हितकारी (क्षपावान्) दोषों के नाशक चेतना शक्ति का स्वामी है ।

इसी प्रकार (स्तोमः) स्तुति योग्य (शुचिः) निष्कपट शुद्ध व्यवहारवान् (चाकम्) प्रजाओं को चाहने वाला विद्वान् पुरुष (वने न) वन में अग्नि के समान (वने) भोग योग्य राष्ट्र में उज्ज्वल होकर हे (भुरणौ) राष्ट्र के पालकरूप सेनापति और सभापति गणो ! वह भी (वां अजीगः) तुम दोनों पर विद्यमान है (यस्य) जिसको (नर्यः) नरों का हितकारी (नृणां नृतमः) मनुष्यों में नरश्रेष्ठ (क्षपावान्) शत्रु क्षयकारी (इन्द्रः) राजा भी स्वयं (पुरुदिनेषु) बहुत दिनोंतक (होता) आदर से स्वीकार करता है ।

प्र ते॑ अ॒स्या उ॒षसः॒ प्राप॑रस्या नृ॒तौ स्या॑म॒ नृत॑मस्य नृ॒णाम् ।
अनु॑ त्रि॒शोकः॑ श॒तमाव॑ह॒न्नॄन् कुत्से॑न॒ रथो॒ यो अस॑त् सस॒वान् ॥२

ऋ० १० । २९ । २ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (नृणाम् नृतमस्य) शरीर के उठाने वाले नेता प्राणगण के बीच सर्वोत्कृष्ट प्राणरूप (ते) तेरी (अस्याः) इस (उषसः) पापदाहक ज्योतिष्मती प्रज्ञा के और (अपरस्याः) दूसरी ब्रह्म विषयक

या अनन्तर भाविनी धर्ममेघ दशा के (नृतौ) प्राप्त हो जाने पर हम (प्रस्याम) उत्तम ज्ञानवान् हो जायं । यद् जो तू (कुत्सेन । समस्त बन्धनों को काटने वाले ज्ञानबल के साथ मिलकर स्वयं (रथः) रमणीय देह स्वरूप होकर (सत्ववान्) कर्म फलों का भोक्ता (असत्) होजाता है वह तू ही अथवा (कुत्सेन) बन्धन काटने वाला ज्ञान के बल से स्वयं (रथः) रस स्वरूप आनन्दमय होकर (सत्ववान) उस आनन्द का भोक्ता (असत्) हो जाता है । (त्रिशोकः) वाणी, मन और प्राण इन त्रिविध तेजों से युक्त होकर (शतम्) सैंकड़ों (नॄन्) नेता प्राणगण को अथवा नर देहों को भी योग विभूति द्वारा (अनु आवहन) अपने में रख कर धारण करता है ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् (ते नृणां नृतमस्य) समस्त मनुष्यों में श्रेष्ठ तुझ नरोत्तम के अधीन रहकर हम (अस्याः उषसः अपरस्याः नृतौ) इस प्रभात और अगली प्रभात वेला के आते २ अर्थात् बहुत शीघ्र, (प्रस्याम) उन्नत हों । तू (कुत्सेन) शत्रुओं को काट गिरा देने वाले वज्र के साथ (यः) जो स्वयं (रथः) महारथ होकर (सत्ववान् असत्) स्वयं राष्ट्र का भोक्ता हो जाता है वह तू (त्रिशोकः सन्) कोश, प्रज्ञा और उत्साह अथवा मन्त्रबल, सेनाबल और कोशबल इन तीनों प्रकार के तेजों से युक्त होकर (शतम्) सैंकड़ों नेता पुरुषों को (अनु) अपने अनुकूल (आवहन्) चलाने में समर्थ है ।

कस्ते मद॑ इन्द्र रन्त्यो॑ भूद् दुरो॒ गिरो॑ अ॒भ्यु१॒॑ग्रो वि धा॑व । कद् वाहो॑ अर्वागुप॑ मा मनी॒षा आ त्वा॑ शक्यामुप॒मं राधो॒ अन्नैः॑ ॥३॥

ऋ० १० । २९ । ३ ॥

भा०—अध्यात्म में—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरा (कः) यह कौनसा (रन्त्यः) अत्यन्त अधिक रमण करने योग्य (मदः) हर्ष और

आनन्द (भूत्) है । जिस का वर्णन नहीं किया जा सकता । तू (उग्रः) अति बलवान होकर हमारे (दुरः) द्वारों के समान (गिरः) उत्तम वाणियों को (अभि वि धाव) लक्ष्य करके विविध रूपों से प्राप्त हो । हे आत्मन् ! (कद्) तू कब (वाहः) प्रवाह स्वरूप महासिन्धु के समान होकर (अर्वाक्) साक्षात् होगा ? और कब (मनीषा) समस्त अर्थों को साक्षात् करने वाली परम प्रज्ञा रूप होकर तू (मा उप) मुझे प्राप्त होगा । और कब (त्वा उपमं) तेरे समीप होकर मैं (अन्नैः) भोग किये जाकर भी क्षीण न होने वाले तेरे अक्षय सुखों के सहित (राधः) परम ऐश्वर्य को (आ शक्याम्) प्राप्त करूंगा ।

राजा के पक्ष में-हे (इन्द्र) राजन ! (ते कः मदः रन्त्यः भूत्) तेरा कौनसा आनन्द सबसे अधिक चित्त रमाने वाला है । वह ही तुझे प्राप्त हो । तू (उग्रः) उग्र, अति बलवान होकर (दुरः) नगर के द्वारों और (गिरः) हमारी वाणियों से स्वागत करते हैं । (ते वाहः) तेरा रथ (कत्) कब (उप) हमारे पास आवे (मनीषा मा उप) तेरी मति मुझ प्रजाजन की तरफ हो । और मैं (त्वा) तेरे (उपमं) समीप पहुंच कर तेरी तरह (अन्नैः राधः) अन्नों सहित ऐश्वर्य को (आ शक्याम्) प्राप्त कर सकूं ।

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन् कया धिया करसे कन्न आगन् ।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

ऋ० १० । २९ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (उ) बतला तू (कत्) कब (द्युम्नम्) अपने ऐश्वर्य का प्रदान (करसे) करता है ? और हे आत्मन ! (नॄन्) मनुष्यों को और (नॄन्) शरीर के नेता प्राणगण को तू (कया धिया) किस धारणशक्ति और किस बुद्धि या किस प्रकार की क्रिया से (त्वावतः)

अपने जैसा (करसे) कर लेता है ? और बतला तू (कत्) कब (नः) हमें (आगन्) प्राप्त होता है ? तू (मित्रः) सबका स्नेही (सत्यः) स्वयं सत्यस्वरूप, समस्त सत्पदार्थों में विद्यमान, या (सः त्यः) वह तू (मित्रो न) सूर्य के समान स्वयंप्रकाश (उरुगायः) महान् स्तुति का पात्र है। (यत्) जब तेरी (मनीषाः) बुद्धियां (समस्य) समस्त प्राणों के (अन्ने) आहार या जीवन या अक्षय ऐश्वर्य के निमित्त (असन्) होती हैं तभी तू सबके (भूत्यै) भरण पोषण के भी समर्थ होता है।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! तू (कद् उ द्युम्नम् करसे) कब ऐश्वर्य उत्पन्न करता है ? (कया धिया नॄन् स्वावतः करसे) और किस उपाय से तू नेताओं और प्रजा लोगों को अपने समान कर लेता है (कत् नः आगन्) हमें कब प्राप्त होता। है ये सब रहस्य ही हैं। तू (मित्रः न सत्यः) मित्र के समान सत्यवादी और सर्वस्नेही, न्यायकारी (उरुगायः) महान् कीर्ति वाला है। और (यत्) जब भी तेरी (मनीषाः) इच्छाएं (असन्) होती हैं तभी तू (अन्ने) अन्न द्वारा (समस्य भूत्या) सबके भरण पोषण करने में समर्थ होता है।

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधा इव ग्मन्।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥ ५ ॥
ऋ० १० । २९ । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! (जनिधाः इव) पत्नियों के धारण पोषण करने वाले पति लोग जिस प्रकार (कामं ग्मन्) अभिलाषा को पूर्ण करते हैं उसी प्रकार (ये) जो (अस्य) इस आत्मा के (कामं) कामना योग्य (अर्थं) पुरुषार्थ के समान ही (पारं) परमपद को (ग्मन्) प्राप्त करते हैं। और हे (तुविजात) बहुतसे देहों में प्रादुर्भूत ! (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् आत्मन् ! (ये नरः) जो लोग (अन्नैः) अन्नादि अक्षय भोगों या सुखों

को प्राप्त करते हुए उनके साथ (पूर्वीः) अभिप्राय या तत्व ज्ञान से पूर्ण (गिरः) वाणियों का (प्रति शिक्षन्ति) प्रदान करते हैं उनको तू (सूरः) सूर्य के समान सबका उत्पादक होकर (प्रेरय) उत्कृष्ट मार्ग पर चला ।

राजा के पक्ष में–(जनिधाः) पति लोग जिस प्रकार पत्नियों की अभिलाषा पूर्ण करते हैं इसी प्रकार (अस्य) इसके (अर्थम् न) अभिलषित के समान (पारं) पालन योग्य या परम, सर्वोत्कृष्ट (कामम्) काम, या संकल्प को पूर्ण करते हैं । और ये (अश्नैः) भोग्य ऐश्वर्यों सहित (पूर्वीः गिरः प्रतिशिक्षन्ति) ज्ञानपूर्ण वाणियों का उसको उपदेश करते हैं, तू उनको (प्रेरय) उन्नति पथ पर और आगे बढ़ा ।

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन ।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन् भवन्तु पीतये मधूनि ॥ ६ ॥
ऋ० १० । २९ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! आत्मन् ! (ते) तुझ (मात्रे) प्रमाता, ज्ञानकर्त्ता के लिये तो (मज्मना) तेरे बल से और (काव्येन) तेरी क्रान्त दर्शी प्रज्ञा के यत्न से (पूर्वी द्यौः) पूर्ण द्यौ (पृथिवी) और पृथिवी ये दोनों (सुमिते) उत्तम रीति से जानी जावें । (वराय) श्रेष्ठ, वरण करने योग्य (ते) तेरे (स्वाद्मन्) सुखपूर्वक भोजन के लिये (घृतवन्तः) घृत, दूध आदि पुष्टिकारक (सुतासः) पदार्थ और (पीतये) पान करने के लिये (मधूनि) मधुर पदार्थ (भवन्तु) हों अथवा (वराय) सब से वरण करने योग्य (ते) तेरे लिये (घृतवन्तः) तेज से युक्त (स्वाद्मन्=स्वाद्मानः) अति आस्वादयुक्त (सुतासः) उत्पन्न आनन्द रस और (पीतये) पान करने के लिये (मधूनि) मधु के समान मधुर ब्रह्मरस और मधुर अनुभव और ज्ञान प्राप्त हों ।

राजा के पक्ष में-हे (इन्द्र) राजन् ! (मज्मना द्यौः) तेरी शक्ति से आकाश और (काव्येन पृथिवी) क्रान्तदर्शिता से पृथिवी (सुमिते) उत्तम रीति से मापी जायं । (वराय ते०) तेरे लिये खाने को उत्तम पदार्थ पान करने के लिये मधुर तृप्तिकर जल हों ।

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः ।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥ ७ ॥

ऋ० १० । २९ । ७ ॥

भा०—(अस्मै इन्द्राय) इस इन्द्र आत्मा के लिये (मध्वः) मधुर ब्रह्मानन्द रस का (पूर्णम् अमत्रम्) भरे हुए पात्र के समान आनन्दरस से पूर्ण (अमत्रम्) सदा साथ विद्यमान (पूर्णम्) पूर्णब्रह्म को (आ-असिचन्) योगी लोग आ सेचन करते हैं । ब्रह्मरस का सब प्रकार से पान कराते हैं । (हि) क्योंकि (सः) वह भी (सत्यराधाः) सत्य स्वरूप ऐश्वर्य का स्वामी है । (सः) वह (नर्यः) समस्त नरों, नेता और प्राणों में श्रेष्ठ, हितकारी (वरिमन्) विशाल सामर्थ्य से या विशाल ब्रह्म के आश्रय पर (वावृधे) बढ़ता है ।(क्रत्वा) और कर्म सामर्थ्य और प्रज्ञा के बल से और (पौंस्यैः च) पौरुष के कार्यों से (पृथिव्या आ अभि वावृधे) पृथिवी को पूर्ण करके सर्वत्र वृद्धि को प्राप्त होता है ।

राजा के पक्ष में-(सः हि सत्यराधाः) वह राजा सत्य न्याय का धनी है । इसलिये उसके लिये (मध्वः पूर्णम् अमत्रं आ असिचन्) मधुर भोग्य पदार्थों के भरे पात्र के समान इस पृथिवी को लोग पूर्ण करते हैं । वह (वरिमन्) अपने बड़े सामर्थ्य के बल पर (क्रत्वा पौंस्यैः च) अपने कर्म और प्रज्ञा बल और पौरुषों से (आ पृथिव्याः अभि वावृधे) समस्त पृथिवी पर बढ़ता और शासन करता है ।

व्या॑नलिन्द्रः पृत॑नाः स्वोजा॒ आस्मै॑ यतन्ते स॒ख्याय॒ पूर्वीः॑ ।
आ स्मा॒ रथं॒ न पृत॑नासु तिष्ठ॒ यं भ॒द्रया॑ सुम॒त्या चो॒दया॑से ॥८॥

ऋ० १० । २९ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) आत्मा (स्वोजाः) उत्तम, ओजस्वी होकर (पृतनाः) समस्त मनुष्यों के भीतर (वि आनट्) विविध रूपों में व्यापक है । (पूर्वीः) पूर्ण सामर्थ्य वाली उत्कृष्ट कोटि की प्रजाएं सदा से (अस्मै सख्याय) इसके मैत्रभाव को प्राप्त करने के लिये (आयतन्ते) यत्न करती रही हैं । हे मेरे आत्मन् ! तू (पृतनासु रथं न) संग्राम के लिये सेनाओं के बीच जिस प्रकार महारथी रथ पर सवार होता है उसी प्रकार तू भी (पृतनासु) समस्त मनुष्यों के बीच (रथम् आतिष्ठ) देह में स्थित है (यम्) जिस देह को तू (भद्रया) सुखप्रद, कल्याणकारिणी (सुमत्या) शुभ या उत्तम सुप्रबद्ध मननकारिणी मन शक्ति या बुद्धि द्वारा (चोदयासे) प्रेरित करता या चलाता है ।

राजा के पक्ष में—(स्वोजाः) उत्तम पराक्रमी (इन्द्रः) राजा (पृतनाः) शत्रु सेनाओं को (व्यानट्) विविध प्रकारों से व्यापता है (पूर्वीः) वे पूर्ण सामर्थ्य वालीशत्रु सेनाएं भी (अस्मै सख्याय आ यतन्ते) इसकी मित्रता या सन्धि के लिये यत्न करती हैं । हे राजन् ! तू (पृतनासु) संग्रामों में (रथं न) रथ के समान (पृतनासु रथं) प्रजाओं में रमणीय सिंहासन या राज्यरूप रथ पर (आतिष्ठ स्म) आरूढ हो । और (यं) जिसको (भद्रया) भद्र कल्याणकारी (सुमत्या) शुभमति से (चोदयासे) संचालित कर ।

[७७] परमेश्वर आचार्य राजा ।

वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः ।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः ॥ १ ॥
ऋ० ४ । १६ । १ ॥

भा०—(सत्यः) सत्यस्वरूप, (ऋजीषी) ऋजु, धर्म मार्ग में सबको प्रेरणा करने वाला, (मघवान्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर और आचार्य (आ यातु) हमें प्राप्त हो । (अस्य) इसके (हरयः) गुण वर्णन करने वाले विद्वान् या शिष्यगण (नः) हमारे (उप आ द्रवन्तु) समीप आवें । (तस्मै इत्) उसके लिये ही हम (सुदक्षम्) उत्तम बलकारी (अन्धः) अन्न आदि समस्त भोग्य पदार्थों को (सुषुम) उत्पन्न करते या उसके निमित्त प्रदान करते हैं । वह ही (गृणानः) उत्तम उपदेश करता हुआ (अभिपित्वम् करते) हमें अभिमत फल प्राप्त कराता है ।

राजा के पक्ष में—सत्य और न्याय प्रिय होने से वह राजा 'सत्य' है, ऐश्वर्यवान् होने से 'मघवा' है । धर्म और सदाचार मार्ग पर प्रजाओं के संचालन से 'ऋजीषी' है उसके (हरयः) घुड़सवार या संदेशहर हमें प्राप्त हों । उसके लिये हम प्रजाजन पृथ्वीपर अन्न आदि ऐश्वर्य उत्पन्न करें । वह (इह) इस राष्ट्र में (गृणानः) स्तुति किया जाकर अथवा उत्तम शिक्षा देता हुआ हमारा (अभिपित्वम् करते) साक्षात् पालन पोषण करे ।

अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन् नो अद्य सवने मन्दध्यै ।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्याय मन्म ॥ २ ॥
ऋ० ४ । १६ । २ ॥

भा०—हे (शूर) दुष्ट वासनाओं के दमन करने में शूरवीर के समान हे परमेश्वर ! तू (अध्वनः अन्तेन) मार्ग के समाप्त हो जाने पर जिस प्रकार रथ से घोड़ों को मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (नः) हमारे (अस्मिन्) इस (सवने) सवन, जन्म में ही (अध्वनः अन्ते) इस

जीवन मार्ग के समाप्त हो जाने पर (मन्द्ध्यै) परम मोक्ष-आनन्द को प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (अव स्य) मुक्त कर इस प्रकार (वेधाः) विद्वान् पुरुष (उशनाः इव) कामनावान् पुरुष के समान होकर ही (चिकितुषे) सर्व भव व्याधि के निवारक एवं ज्ञानप्रद (असुर्याय) प्राणों में रमण करने वाले प्राणियों के हितकारी परमेश्वर की (मन्म) मनन योग्य (उक्थम्) स्तुति (शंसति) कहता है।

क॒विर्न नि॒ण्यं वि॒दथा॑नि॒ साध॒न् वृषा॒ यत् सेकं॑ विपिपा॒नो अर्चा॑त्।
दि॒व इ॒त्था जी॑जनत्स॒प्त का॒रूनह्ना॑ चिच्चक्रुर्व॒युना॑ गृ॒णन्तः॑ ॥३॥

[३ ८] ऋ० ६। १६। ३ ॥

भा०—(यत्) जब (विदथानि) नाना ज्ञानों को और भीतर ज्ञान विभूतियों को (साधन्) साधता हुआ (वृषा) ज्ञानी, बलवान् एवं हृदय में आनन्द-रस का वर्षण करने हारा आत्मा (निण्यम्) गुप्त रूप से विद्य-मान भीतर छुपे (सेकम्) आनन्दरस-प्रवाह को (विपिपानः) विशेष रूप से पान करता हुआ. (कविः) क्रान्तदर्शी, ज्ञानवान् होकर (अर्चात्) स्तुति करता या उस परमब्रह्म की उपासना करता है तब (दिवः) सूर्य के समान परम प्रकाशमय परमेश्वर के अनुग्रह से सप्त कारून्) सात क्रियाशील प्राणों को (इत्था, सत्य रूप से (अ जीजनत्) प्रकट करता है। और (अह्ना) दिनके समय जिस प्रकार सूर्य की सात रश्मियें समस्त पदार्थों का ज्ञान कराती हैं उसी प्रकार भीतरी ज्ञानवान् प्रबुद्ध आत्मा के वे सात मुख्य प्राण या सात ज्वाला (वयुना गृणन्तः) नाना ज्ञानों का वर्णन करते हुए (अह्ना चित्) दिनके समान प्रकाश ही प्रकाश (चक्रुः) कर देते हैं।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥

वे सात जिह्वाएं ही सात कारु अथवा शीर्षगत सात प्राण सात कारु हैं।

वे ही सात ऋषियों के समान समस्त जगत् को नाना ज्ञानों का उपदेश करते हैं।

स्व॒र्यद् वेदि॑ सु॒दृशी॑कम॒र्कैर्महि॒ ज्योती॑ रुरुचु॒र्यद्ध॒ वस्तोः॑ ।
अ॒न्धा तमां॑सि॒ दुधि॑ता वि॒चक्षे॒ नृभ्य॑श्चकार॒ नृत॑मो अ॒भिष्टौ॑ ॥४॥

भा०—वह (नृतमः) समस्त नेताओं में श्रेष्ठ नरोत्तम, परमपुरुष आत्मा (यत्) जो (अर्कैः) किरणों से (सुदृशीकम्) सुन्दर, सुचारु रूप से दर्शन करने योग्य, अति सुन्दर, सूर्य के समान देदीप्यमान (स्वः) परमसुखमय प्रकाशमय (महि ज्योतिः) उस महान् ज्योति को (चकार) प्रकट करता है (यद् वस्तोः) जिसके भीतर रहने के लिये सभी प्राणगण और योगी जन एवं जिस परमब्रह्म नाम की ज्योति में समस्त सूर्य, चन्द्र, तारे आदि (रुरुचुः) कामना करते एवं प्रकाशमान हो रहे हैं। वह ही (अभिष्टौ) अभीष्ट प्राप्ति के निमित्त (विचक्षे) विशेष ज्ञानदर्शन कराने के लिये (नृभ्यः) मनुष्यों के ऊपर छाये (अन्धा तमांसि) घोर, कष्टदायी अन्धकारों को (दुधिता) विनष्ट (चकार) करता है।

व॒व्रक्ष॒ इन्द्रो॒ अमि॑तमृजी॒ष्यु॑१॒भे आ प॑प्रौ॒ रोद॑सी महि॒त्वा ।
अत॑श्चिदस्य महि॒मा वि रे॑च्य॒भि यो विश्वा॒ भुव॑ना ब॒भूव॑ ॥५॥

भा०—(ऋजीषी) महान् संचित ऐश्वर्य वाला, समृद्ध अथवा (ऋच्-ईषी=ऋजु-ईषी) ऋगादि मन्त्रों से स्तुत्य अथवा ऋजुमार्ग पर ले चलनेहारा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (अमितम्) अमित, अपार, पता नहीं कितना (ववक्षे) धारण करता है। वह (महित्वा) महान् सामर्थ्य से (रोदसी), द्यौ और पृथिवी दोनों को (आ पप्रौ) पूर्ण कर रहा है। (यः) जो वह (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभि बभूव) व्याप्त है और सबको वश कर रहा है तो भी (अस्य महिमा) इसका महान् सामर्थ्य (अतः चित् विरेचि) इससे भी अधिक बड़ा है।

विश्वानि शुक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरेच सखिभिर्निकामैः ।
अश्मानं चिद् ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥६॥

भा०—मेघ जिस प्रकार वायुओं के साथ मिलकर जलों को प्रदान करता है उसी प्रकार (शक्रः) शक्तिशाली. (विद्वान्) ज्ञानवान् आत्मा (निकामैः) कामना से राहित (सखिभिः) मित्रभूत चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा (विश्वानि) समस्त (नर्याणि) मनुष्यों के हितकारी (अपः) ज्ञानों और कर्मों, कर्मफलों को (रिरेच) स्वयं त्याग देता है दूसरों पर न्योछावर करता है। और (ये) जो विद्वान् योगीजन (वचोभिः) अपनी स्तुतियों द्वारा (अश्मानं) पर्वत के समान अभेद्य और मेघ के समान रस वर्षक आत्मा को (बिभिदुः) भेदते हैं वे ही (उशिजः) परमपद के आकांक्षी होकर (गोमन्तं व्रजं) इन्द्रियों के समूह को (विवव्रुः) विशेष रूप से संयम करके रोक लेने में समर्थ होते हैं। अथवा वे ही (गोमन्तं) वेदवाणियों से सम्पन्न (व्रजं) परम गन्तव्य मोक्ष पद को (वि वव्रुः) विशेषरूप से वरण करते हैं, प्राप्त करते हैं।

अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन् प्रावत् ते वज्रं पृथिवी सचेताः ।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवञ्छवसा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

भा०—हे (धृष्णो) बाधक, अन्तःशत्रुओं के धर्षणशील, विजयी (शूर) शूरवीर ! सामर्थ्यवन् ! आत्मन् ! (ते) तेरा (वज्रं) वीर्य ज्ञान सामर्थ्य (अपः वव्रिवांसं) ज्ञानों का आवरण करने वाले (वृत्रं) मेघ के समान घेरने वाले, तामस अज्ञान को (पराहन्) मेघ को सूर्य के समान विनाश करता है। और (पृथिवी) समस्त पृथिवी या विशाल शक्ति (सचेताः) तेरे बल से चेतनवती होकर तुझे (प्र आवत्) प्राप्त होती है। (समुद्रियाणि) समुद्र के (अर्णांसि) जलों या आकाशस्थ जलों को जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से ऊपर उठाता है और विद्युत् मेघस्थ

जलों को नीचे फेंकता है उसी प्रकार तू (शवसा) अपने बलसे (पतिः भवन्) सबका पालक होकर (समुद्रियाणि) समस्त पदार्थों के उत्पादक परमेश्वर सम्बन्धी (अर्णांसि) ज्ञानों और बलों को (प्र ऐनोः) उत्तम रीति से सबको प्रकट करता है ।

अपो यदद्रि पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते ।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥८॥

भा०—बलों के प्रकट करने के लिये वायु रूप इन्द्र जिस प्रकार (अद्रिम्) मेघों को तोड़ता है, उसी प्रकार हे (पुरुहूत) इन्द्रियों में व्याप्त आत्मन् ! समस्त प्रजाओं के पुकारे गये विश्वात्मन् ! (यत्) जब भी तू (अपः) ज्ञानों और कर्मों के प्रकट करने के लिये (अद्रिम्) अखण्ड आत्मा में आवरण को (दर्दः) विदीर्ण करता है अर्थात् उस मेघ रूप आत्मा को प्राप्त करता है तब (सरमा) व्यापक ज्ञानशक्ति (ते) तेरे (पूर्व्यम्) पूर्ण पूर्व पूर्व के सनातन रूप को (आविः भुवत्) प्रकट करता है (सः) वह तू परमेश्वर (नः) हमें (भूरिम् वाजं) बहुतसा ऐश्वर्य बल एवं ज्ञान को (नेता) प्राप्त कराने वाला होकर (अंगिरोभिः) अंग अर्थात् देह में रसरूप से विद्यमान प्राणों द्वारा अथवा (अंगिरोभिः) ज्ञानी पुरुषों से (गृणानः) स्तुति को प्राप्त होता हुआ (गोत्रा) ज्ञानकी रश्मियों को रोकने वाले बाधक आवरणों को नाश करता हुआ (आ दर्षि) स्वयं प्रकट होता है ।

[७८] राजा और परमेश्वर ।

शंयुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

तद् वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
शं यद् गवे न शाकिने ॥ १ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २२ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (वः) आप लोग (सुते) राज्याभिषेक हो जाने पर (सचा) सब मिलकर एक साथ (सत्वने) वीर्यवान् शाकिने) शक्तिशाली (गवे न) वृषभ के समान राज्यधुरा को उठाने में समर्थ राजा के लिये (यद्) जो (शं) सुख एवं कल्याणकर हो (तद् गाय) उसका उपदेश करो।

अध्यात्म में—(गवे न शाकिने) वृषभ के समान शक्तिशाली, वीर्यवान् इन्द्र आत्मा के विषय में आप लोग (गाय) उपदेश करो जो (शं) शान्ति, सुखप्रदान करे।

न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः।
यत् सीमुप श्रवद् गिरः ॥ २ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २३ ॥

भा०—(यत् सीम्) जब भी वह हमारी (गिरः) वाणियों, स्तुतियों को (उपश्रवत्) श्रवण कर लेता है तभी (वसुः) जिस प्रकार वसु आदित्य अपने (गोमतः वाजस्य दानं) किरणों युक्त प्रकाश को नहीं रोकता उसी प्रकार वह (वसुः) सब प्राणियों में बसा, सबको वसाने वाला वह परमेश्वर (गोमतः) वाणियों और गऊओं से युक्त (वाजस्य) ऐश्वर्य और ज्ञान के (दानं) दान को (न घ नियमते) नहीं रोक लेता।

कुवित्संस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्।
शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २४ ॥

भा०—(दस्युहा) दस्यु अर्थात् नाशकारी लोगों का विनाशक, राजा के समान दुष्टों का विनाशक परमेश्वर (कुवित्सस्य) बहुत से भोग्य पदार्थ के भोक्ता जीव को (गोमन्तम्) गौओं से युक्त व्रज के समान नाना सुखप्रद इन्द्रियों या किरणों, ज्ञानवाणियों से युक्त (व्रजम्) प्राप्य परमपद को (प्र अगमत्) प्राप्त कराता है। वह ही (नः) हमें (शचीभिः) अपनी ज्ञान शक्तियों से उस परमपद के द्वार को (अप वरत्) खोल दे।

[७९] परमेश्वर ।

वसिष्ठः शक्तिर्वा ऋषिः । बृहत्यौ । द्वयृचं सूक्तम् ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ३२ । २६ ॥

भा०—व्याख्या देखो का० १८ । ३ । ६७ ॥

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३माशिवासो अव क्रमुः। त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोति शूर तरामसि ॥२॥ ऋ०७।३२।२७॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (नः) हमें (अज्ञाताः) अनजाने, (वृजनाः) वर्जन योग्य, हिंसक लोग और (दुराध्यः) दुःखदायी व्याधियें, मानस चिन्ताएं और दुष्ट व्याधियों वाले, (अशिवासः) अमङ्गलकारी लोग भी (मा) न (अवक्रमुः) दबावें । हे (शूर) शूरवीर ! (त्वया) तेरे बल से (वयम्) हम (प्रवतः) प्रकर्ष को प्राप्त होकर (शश्वतीः अपः) नित्य बहने वाली नदियों के समान (शश्वती अपः) चिरकाल से लगे कर्म बन्धनों को (अति तरामसि) पार कर जांय ।

[८०] परमेश्वर ।

शंयुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । द्वयृचं सूक्तम् ॥

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः । येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥ १ ॥ ऋ० ६ । ४६ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (नः) हमें (ओजिष्ठं) सबसे अधिक पराक्रम से युक्त (ज्येष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ, (पपुरि) पालन करने वाला वह (श्रवः) अन्न (आ भर) प्राप्त करा । हे (चित्र) अद्भुत ! हे (वज्रहस्त) वज्र या बल को हाथ में धारण करने वाले ! हे (सुशिप्र)

उत्तम बल और ज्ञानवन्! तू (येन) जिससे (इमे) इन (उभे रोदसी) दोनों लोकों को (आ भाः) पूर्ण कर रहा है।

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन् देवेषु हूमहे। विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसो मित्रान् सुषहान् कृधि ॥२॥ ऋ० ६।४६।६ ॥

भा०—हे (राजन्) राजन्! (देवेषु) समस्त विजयशील पुरुषों में से (उग्रम्) अधिक बलवान् और (चर्षणीसहम्) समस्त लोकों को अपने बल से वश करनेहारे (त्वाम्) तुझको हम (अवसे) रक्षा के लिये (हूमहे) बुलाते हैं। तू (विश्वा) समस्त (पिब्दना) अव्यक्त शब्द करने वाले गुप्त पुरुषों को (विथुरा) व्यथित, पीड़ित (सुकृधि) कर। अथवा (विथुरा) व्यथादायी पुरुषों को (पिब्दना) अप्रकट शब्द वाला होकर शान्त कर। और हे (वसो) सबको वास देनेहारे! तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (सुसहान्) सुख से पराजय करने योग्य (कृधि) कर।

[८१] परमेश्वर की महिमा।

पुरुहन्मा ऋषिः। इन्द्रो देवता। द्व्यृचं सूक्तम् ॥

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः। न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ १ ॥ ऋ० ८। ७०। ५ ॥

भा०— हे (इन्द्र) परमेश्वर! (यद्) यदि (ते) तेरे लिये (शतं द्यावः) सैकड़ों द्यौलोक आकाश और (उ ते शतं भूमीः) सैकड़ों भूमियें भी (स्युः) हों और हे (वज्रिन्) शक्तिमन्! (सहस्रं सूर्याः) हजारों सूर्य और (सहस्रं जातम्) हज़ारों उत्पन्न संसार और (सहस्रं रोदसी) हज़ारों जमीन आस्मान हों तो भी (त्वा न अनु अष्ट) तुझे व्याप नहीं सकते। तेरी बराबरी नहीं कर सकते।

अर्थात् सैकड़ों आकाश ईश्वर की अनन्तता को नहीं व्याप सकते। सैकड़ों भूमि तेरे चित् शक्ति को जीवों द्वारा माप नहीं सकतीं। सहस्रों

सूर्य तेरे तेज की स्पर्द्धा नहीं कर सकते । सहस्रों जगत् पैदा होकर भी उसकी उत्पादक शक्ति को समाप्त नहीं कर सकते । और सैकड़ों द्यौ, पृथिवी उस पूर्ण को व्याप नहीं सकते ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाःसदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥ गीता ११ । १२ ॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः ॥
ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥
बृहदा० ॥

आ प॑प्राथ महि॒ना वृष्ण्या॑ वृषन् विश्वा॑ शविष्ठ॒ शव॑सा ।
अ॒स्माँ अ॑व मघव॒न् गोम॑ति व्र॒जे वज्रि॑ञ्चि॒त्राभि॑रू॒तिभिः॑ ॥२॥
ऋ० ८ । ७० । ६ ॥

भा०—हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षक ! हे (शविष्ठ) सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! तू (महिना) बड़े भारी (शवसा) अपने बल से अपनी शक्ति से (विश्वा) समस्त (वृष्ण्या) बल के कार्यों को (आ पप्राथ) फैला रहा है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (गोमति व्रजे) गौ, इन्द्रियों के इस समूह में या इन्द्रियों से युक्त इस गोष्ठ रूप देह में हे (वज्रिन्) बलवन् ! (चित्राभिः) विचित्र २ आश्चर्यजनक (ऊतिभिः) रक्षा साधनों से (अस्मान् अव) हमारी रक्षा कर ।

[८२] परमेश्वर और उपासक

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यौ । द्वयृचं सूक्तम् ॥

यदि॑न्द्र॒ याव॑त॒स्त्वमे॒ताव॑द॒हमीशी॑य । स्तो॒तार॒मिद् दि॑धिषेय रदावसो॒ न पा॑प॒त्वाय॑ रासीय ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ७ । ३२ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर एवं राजन् ! (यावतः त्वम्) जितने ऐश्वर्य का तू हमें प्रदान करे, (तावद्) उतने धन का (अहम्) मैं

(ईशीय) स्वामी होजाऊं (यत्) जिससे मैं (स्तोतारम्) विद्वान्‌जन को (दिधिषेय) धारण पोषण करूं। हे (रदावसो) ऐश्वर्य के दातः! मैं (पापत्वाय) पाप कार्य के लिये कभी (न रासीय) दान न दूं।

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥२॥
ऋ० ७ । ३२ । १९ ॥

भा०—परमेश्वर कहता है । (दिवे दिवे) दिनों दिन, प्रतिदिन, सदा (कुहचित् विदे) कहीं भी विद्यमान (महयते) उपासना करने वाले सत्पुरुष को मैं (रायः) धनों, ऐश्वर्यों को (आशिक्षयेम् इत्) प्रदान करता ही हूं। भक्त कहता है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वद् अन्यत्) तुझ से दूसरा (नः) हमारा (आप्यम् न) बन्धु नहीं और (त्वदन्यः) तुझसे दूसरा (वस्यः) श्रेष्ठ हमारा (पिता चन न) पिता पालक भी नहीं है ।

[८३] राजा।

शंयु ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ बृहती, २ पंक्तिः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत् । छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥ १ ॥ ऋ० ६ । ४६ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (त्रिधातु) तीन धातु, धारण सामर्थ्यों से युक्त (त्रिवरूथम्) तीनों प्रकार के कष्टों को वारण करने वाला, (स्वस्तिमत्) कल्याणवान् (छर्दिः) छत या सुखों से युक्त (शरणम्) आश्रयस्थान, गृह (मघवद्भ्यः) धनाढ्य पुरुषों और (मह्यम्) मुझको भी (यच्छ) प्रदान कर और (एभ्यः) इनसे (दिद्युम्) देदीप्यमान शस्त्र या क्रोध आदि को (यवय) दूर कर । अथवा (एभ्यः) इनके (दिद्युम्) प्रदीप्त क्रोध या अस्त्र को हमसे (यवय) दूर कर ।

'त्रिधातु'—तीन धातु अर्थात् तीन प्रकार से धारण करने वाला, तिमंजिला, अथवा सुवर्ण, रजत, लोह, इनसे युक्त। अध्यात्म में त्रिधातु वात, पित्त, कफ अथवा शरीर के तीन धारक बल प्राण, उदान, अपान।

'त्रिवरूथम्' तीन तापों को वारण करने में समर्थ, शीत, आतप, वर्षा, तीन कष्ट, अथवा, मानस, वाचिक, कायिक, तीनों पीड़ाओं का वारक अथवा अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों का वारक यह देह।

ये गव्यता मनसा शत्रुमादभुरभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया।
अध स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव ॥२॥
ऋ० ६। ४६। १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (ये) जो पुरुष (गव्यता मनसा) भूमि और गौ आदि पशु लेने की इच्छा वाले मन से (शत्रुम्) शत्रु को (आदभुः) मारने में समर्थ हैं और जो (धृष्णुया) शत्रु को धर्षण करने वाली शक्ति से (अभि प्र घ्नन्ति) मार डालते हैं ऐसे पुरुषों के होते हुए हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! हे (गिर्वणः) स्तुत्य! (इन्द्र) हे शत्रुनाशक! तू (तनूपाः) हमारे शरीरों का रक्षक होकर (नः अन्तमः) हमारा अति समीपतम मित्र एवं रक्षक होकर (भव) रह।

[८४] परमेश्वर

मधुच्छन्दा ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥ ऋ० १। ३। ४॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! हे (चित्रभानो) आश्चर्यजनक दीप्तियों वाले! (इमे सुताः) ये समस्त उत्पन्न पदार्थ और ज्ञानरस से अभिषिक्त शुद्ध आत्मा (त्वायवः) तुझे प्राप्त होना चाहते हैं। तू (आ

याहि । आ. साक्षात् दर्शन दे । ये सब (अण्वीभिः) सूक्ष्म योग क्रियाओं से या ज्ञानप्रकाशों से (तना) नित्य, विभूतिमान् एवं (पूतासः) पवित्र हैं ।

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! तू (धिया इषितः) उत्तम ज्ञानवाली बुद्धि और उत्तम कर्म से प्राप्त होने योग्य और (विप्रजूतः) विद्वानों द्वारा जाना और अर्चना किया गया होकर (वाघतः) उपासक पुरुषों और (ब्रह्माणि उप) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों को या ब्रह्मवेद के वचनों को (उप आ याहि) प्राप्त हो, दर्शन दे । अर्थात् वेदोक्त गुणों सहित प्रकट हो ।

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ३ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (तूतुजानः) अति वेगवान् होकर (ब्रह्माणि उप) वेद स्तुतियों को (उप आयाहि) प्राप्त हो । हे (हरिवः) वेगवान् सूर्यादि लोक के स्वामिन् ! या ज्ञानवान् विद्वानों के प्रभो ! (सुते) उत्पन्न इस संसार में (नः) हमें (चनः) अन्न आदि भोग्य पदार्थ (दधिष्व) प्रदान कर ।

[८५]

मेधातिथिमेध्यातिथी ऋषी । इन्द्रो देवता ।

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१॥
ऋ० ८ । १ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! हे (सखायः) मित्रजनों ! (अन्यत) इन्द्र की स्तुति के अतिरिक्त (मा चित् विशंसत) और किसी की विशेष

रूप से स्तुति न करो। और (मा रिषण्यत) व्यर्थ खेद में मत पड़ो। (सुते) ज्ञान से परिष्कृत आत्मा में एवं उत्पन्न संसार में (इन्द्रम् इत्) ऐश्वर्यवान् (वृषणं) महान् समस्त सुखों के वर्षक परमेश्वर की (सचा) एकत्र मिलकर (स्तोत) स्तुति करो और (मुहुः) वार २ (उक्था च) स्तुतियां (शंसत) कहो।

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम्।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥ ऋ०८।१।२॥

भा०—(अवक्रक्षिणम्) सबको अपने अधीन रखकर अपने प्रति आकर्षण करने वाले (वृषभम्) प्रजाओं पर समस्त सुखों के वर्षक, (अजुरं) जरा रहित, अजर, (गां न) सूर्य और महावृषभ के समान (चर्षणीसहम्) समस्त लोकों और पुरुषों को विजय करने वाले (विद्वेषणम्) विरुद्ध आचारी पुरुषों के द्वेषी, (संवनना) सज्जन पुरुषों के सेवनीय, (उभयंकरम्) निग्रह और अनुग्रह, दण्ड और कृपा दोनों के करने में समर्थ (मंहिष्ठम्) अति पूजनीय एवं अति दानशील (उभयाविनम्) शत्रु और मित्र दोनों की रक्षा करनेहारे और स्थावर, जंगम सबके रक्षक उस परमेश्वर की राजा के समान वार २ स्तुति करो।

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेहा विश्वा च वर्धनम् ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । १ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! परमेश्वर (यत् चित् हि) यद्यपि (इमे जनाः) ये समस्त लोग (त्वा) तुझे (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये ही (नाना) भिन्न २ उपायों से (हवन्ते) स्तुति करते हैं। तो भी (अस्माकं) हमारा (इदं ब्रह्म) यह वेद स्तुति वचन (ते) तेरे गुणों को (विश्वा अहा च) सदा सब दिनों (वर्धनम्) बढ़ाने वाला (भूतु) रहे।

वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥ ४ ॥ ऋ० ८।१।४॥

भा०—हे (मघवन्) परमेश्वर ! (विपश्चितः) समस्त कर्मों और ज्ञानों के ज्ञाता (अर्यः) आगे बढ़ने वाले (जनानां विपः) जनों के बीच में मेधावी, एवं विवेकवान् पुरुष (वि तर्तूर्यन्ते) विशेष रूप से पार हो जाते हैं । हे परमेश्वर ! तू (उपक्रमस्व) हमें प्राप्त हो । और (पुरुरूपम् वाजं) विविध प्रकार का रुचिकर अन्न और बल (आ भर) हमें प्राप्त करा । और (ऊतये) रक्षा के लिये (नेदिष्ठम्) अति समीप (उप क्रमस्व) समीप रह ।

[८६] आत्मा

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ १ ॥
ऋ० ३ । ३५ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्, ज्ञानवन् ! अज्ञाननाशकारिन् आत्मन् ! मैं (सधमादे) एक साथ आनन्द अनुभव करने की समाहित दशा में, जब समस्त प्राण हर्षयुक्त और प्रफुल्लित हों तब (आशू) वेगवान्, (ब्रह्म युजा) उस महान् शक्ति आत्मा के साथ युक्त होने वाले (हरी) दुःखों के विनाशक (सखाया) समान ख्याति वाले, एक दूसरे के मित्ररूप (हरी) शरीर के धारक, प्राण और अपान दोनों को (ब्रह्मणा) परम ब्रह्म के साथ (युनज्मि) योग-अभ्यास द्वारा समाहित करता हूं । हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (सुखं) सुखपूर्वक (स्थिरं) स्थिर रूप से रथम्) एक रस विद्यमान इस देह को स्थिर आसन में (अधितिष्ठन्) स्थित रहता हुआ इस पर वश करता हुआ (प्रजानन्) उत्कृष्ट ज्ञान सम्पादन

करके (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर (सोमम्) सबके प्रेरक परमेश्वर या ब्रह्मरस को (उपयाहि) प्राप्त कर ।

[८७] राजा, आत्मा

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् ।
गौराद् वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन् ॥१॥

ऋ० ७ । ९८ । १ ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (अध्वर्यवः) हिंसा रहित यज्ञ एवं प्रजा पालन रूप राज्यकार्य के सम्पादन करने हारे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (क्षितीनां वृषभाय) राष्ट्र में निवास करने वाली समस्त प्रजाओं के प्रति सुखों के वर्षण करने वाले राजा के लिये (अरुणम्) प्राप्त करने योग्य रुचिकर (दुग्धम्) दुग्ध के समान पुष्टिप्रद अथवा पृथ्वीरूप धेनु से दोहन किये गये (अंशुम्) राजोचित अंश को (जुहोतन) प्रदान करो । वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् , शत्रु के नाश करने में समर्थ होकर (गौरात्) केवल वाणियों मे रमण करने वाले विद्वान् से भी अधिक (वेदीयान्) ज्ञानवान् होकर अथवा (गौरात्) जाज्वल्यमान आदित्य से भी अधिक (वेदीयान्) तेजस्वी और ऐश्वर्यवान् होकर (अवपानं सुतसोमम्) अधीन रखकर पालन करने योग्य सुतसोम अर्थात् अभिषेक द्वारा प्राप्त सोमपद, राष्ट्रपति के पद को (इच्छन्) अभिलाषा करता हुआ (विश्वाहा) सब दिनों ही (याति) राजाओं पर यान या चढ़ाई करता है ।

आत्मा के पक्ष में—हे ((अध्वर्यवः) अहिंसित जीवन यज्ञ के करने हारे योगिजनो ! तुम (क्षितीनां वृषभाय) देह में निवास करने वाले प्राण गणों के बीच में समस्त जीवन रस के वर्षण करने वाले आत्मा के लिये

(अरुणम्) अति प्रकाश युक्त या गतिशील, अरुद्धगति (दुग्धम्) सार रूप से प्राप्त (अंशुम्) व्यापक प्राण की (जुहोतन) आहुति दो। वह (इन्द्रः) आत्मा (गौरात्) इन्द्रियों में रमण करने वाले पुरुष से अथवा इन्द्रियों में रमणशील प्राण से भी अधिक (वेदीयान्) बलशाली होकर (अवपानम्) भीतर ही पान करने योग्य (सुतसोमम्) प्राप्त ब्रह्मरसं को (इच्छन्) चाहता हुआ (विश्वाहा इत्) सदा ही (याति) प्राप्त है।

यद् दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि ।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान् पाहि सोमान् ॥२॥

ऋ० ७। ८९। २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (प्रदिवि) उत्कृष्ट तेजोमय ज्ञानस्वरूप परब्रह्म में आश्रित (चारु) अति उत्तम (यत्) जिस (अन्नम्) अन्न, अक्षय रस को (दिवे दिवे) प्रतिदिन, नित्य (दधिषे) धारण करता है (अस्य) उस साक्षात् प्राप्त रस के (पीतिम् इत्) पान को ही नित्य (वक्षि) चाहता है। (हृदा उत मनसा) हृदय और मन से (जुषाणः) चाहता हुआ और सेवन करता हुआ है (उशन्) सदा उसकी अभिलाषा करता हुआ तू (प्रस्थितान्) इन आगे रक्खे, साक्षात् प्राप्त (सोमान्) ब्रह्मानंद रसों का (पाहि) पान कर।

राजा के पक्ष में—(प्रदिवि) उत्कृष्ट राजसभा के अधीन (यत् चारु अन्नं दधिषे) जिस उत्तम, अक्षय, भोग्य राष्ट्र को धारण करता है और (दिवेदिवे अस्य पीतम्=वृद्धिम् वक्षि) दिनोंदिन उसकी वृद्धि चाहता है। (उत हृदा उत मनसा जुषाणः उशन्) हृदय और मनसे प्रेम करता और चाहता हुआ (अस्य) इस राष्ट्र के उच्च पदों पर स्थित (सोमान्) शासक अधिकारियों और विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर।

'पीतिम्'—ओप्यायीवृद्धौ—प्यायः पीभावः ॥

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच ।
एन्द्र पप्राथोर्वन्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥३॥ ऋ० ७।८२।३॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (इन्द्र) राजन् ! तू (जज्ञानः) उत्पन्न होते राजा बनते ही (सहसे) अपने शत्रुपराजयकारी बल से (सोमं) राजपद एवं राष्ट्र का (पपाथ) उपभोग करता एवं पालन करता है। (ते माता) तेरी माता, तुझे राजा बनाने वाली राजसभा एवं यह पृथ्वी (ते महिमानम्) तेरे महान् सामर्थ्य को (प्र उवाच) कहती है। तू (उरु अन्तरिक्षं) विशाल अन्तरिक्ष को (आ पप्राथ) पूर्ण करता अर्थात् अन्तरिक्ष के समान प्रजाओं का रक्षक और उनपर जलादि वर्षण के समान सुखों का वर्षण करके स्वयं मानो अन्तरिक्ष पद को (आ पप्राथ) प्राप्त करता है। और (युधा) युद्ध द्वारा (देवेभ्यः) विजिगीषु सेना पुरुषों और विद्वानों के लिये (वरिवः) धनैश्वर्यवान् को भी (चकर्थ, उत्पन्न करता है।

अध्यात्म के पक्ष में—(जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ) ज्ञान सम्पादन करता हुआ अपने आत्मिक बल से योगी सोम रस, ब्रह्मरस का पान करता है। हे आत्मन् ! (माता) ज्ञानी पुरुष (ते महिमानम् प्र उवाच) तेरी बड़े महान् सामर्थ्य का वर्णन करता है। (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल हृदयाकाश को तू (पप्राथ) पूर्ण करता, (देवेभ्यः वरिवः चकर्थ) और प्राणों को भी बल प्रदान करता है।

परमेश्वरपक्ष में—शक्तिरूप से प्रादुर्भूत होकर या सृष्टि को उत्पन्न करता हुआ तू अपने बल से (सोमं) इस उत्पन्न संसार को स्वयं (पपाथ) पान करता है, प्रलयकाल में लीन करता है (माता) जननी अखण्ड प्रकृति तेरे इस महान् सामर्थ्य का वर्णन करती है। तू (उरु अन्तरिक्षं) इस विशाल आकाश को विस्तृत करता है (देवेभ्यः) सूर्यादि लोकों को (युधाः) अपने बल से (वरिवः) तू ही तेज (चकर्थ) देता है।

यद् योधया महतो मन्यमानान् साक्षाम तान् बाहुभिः शाशदानान्। यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९८ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! सेनापते ! (यद्) जब तू (महतः मन्यमानान्) बड़े अभिमान करने वालों को (योधय) हमारे से लड़ाता है तब (शाशदानान्) हमारे पक्ष वालों को काटने वाले (तान्) उन शत्रुओं का हम (बाहुभिः) अपनी बाहुओं से ही (साक्षाम) पराजित करें। (यद् वा) और जब भी (नृभिः) उत्तम नेताओं से (वृतः) परिवृत होकर तू स्वयं (अभि युध्याः) शत्रु के मुकाबले पर लड़े तब (त्वया) तेरे द्वारा हम (सौश्रवसं) उत्तम यश और सम्पत्ति प्राप्त कराने वाले (आजिम्) युद्ध का (जयेम) विजय करें।

परमेश्वर पक्ष में—जब भी हमपर परमेश्वर बड़े शत्रुओं से युद्ध का अवसर दे हम उनको अपने बाहुबल से पराजित करें। और हे (इन्द्र) परमात्मन् ! तू (नृभिः) अपनी नेतृ शक्तियों से (अभि युध्याः) उनका नाश करता हो। तब तो हम तेरी सहायता से उत्तम यश, अन्न के देने वाले संग्राम का विजय करें।

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । ९८ । ५ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) वीर राजा या सेनापति के मैं (प्रथमा कृतानि) पहले किये हुए श्रेष्ठ उत्तम कार्यों को (प्रवोचं) वर्णन करूं। (या) और जिन (नूतना) नवीन कर्मों को (मघवा) वह ऐश्वर्यवान् करता है उन को भी मैं (प्रवोचम्) कहूं। (यद्) जब वह (अदेवीः) अविजिगीषु, अयोद्धा, भीरु लोगों की (मायाः) छलकपट की क्रियाओं को (असहिष्ट)

विजय कर लेता है तब (सोमः) उत्तम ऐश्वर्य को देने वाला राष्ट्र (केवलः) समस्त (अस्य) उसके ही वश में (अभवत्) रहता है।

परमेश्वर के पक्ष में—परमेश्वर के पूर्व कल्पों में किये और नवीन इस कल्प में किये जगत्सर्गों के विषय में मैं वर्णन करूं। (यद्) जब वह (अदेवीः) अग्नि आदि दिव्य पदार्थों से अतिरिक्त असत् पदार्थों के द्वारा उत्पन्न (मायाः) भ्रम पूर्ण रचनाओं को अथवा (अदेवीः) प्रकाश रहित (मायाः) प्रकृति के विकृति सृष्टियों को भी (असहिष्ट) अपने वश किये रहता है तब जानो कि (सोमः केवलः) समस्त जगत् ही (अस्य) उसके वशमें (अभवत्) है।

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥६॥

ऋ० ८। ९८। ६॥

भा०—हे राजन्! (इदं) यह (अभितः) इधर उधर सर्वत्र राष्ट्र में विचारने वाला (विश्वं पशव्यम्) समस्त पशु समूह (यत्) जिसको तू (सूर्यस्य) सूर्य के (चक्षसा) प्रकाश से (पश्यसि) देखता है (इदं तव) यह तेरा ही है। (त्वं गवां गोपतिः एकः) अकेले समस्त गौओं के पति, गोपाल के समान भूमियों का एकमात्र पालक है। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (प्रयतस्य) उत्कृष्ट, उत्तम नियन्ता रूप (ते) तेरे ही (वस्वः) ऐश्वर्य का हम (भक्षीमहि) भोग करें।

ईश्वरपक्ष में—(इदम्) यह (अभितः) सब ओर फैला (पशव्यं) दोपायों चौपायों का हितकारी (विश्वम्) समस्त संसार (यत्) जिसको (सूर्यस्य चक्षसा पश्यसि) सूर्य के प्रकाश से तू प्रकाश करता मानो देखता ही है वह (तव) तेरा ही है। (गवाम्) गौओं के स्वामी गोपाल के समान एकमात्र समस्त प्राणियों और भूमियों का पालक तू ही गोपति है।

(प्रयतस्य) उत्तम शासक नियन्ता एवं सर्वत्र प्रयत्न या व्यापार चेष्टा करने वाले तेरे ही (वस्वः) ऐश्वर्य का हम (भक्षीमहि) भोग करते हैं।

बृह॑स्पते यु॒वमिन्द्र॑श्च॒ वस्वो॑ दि॒व्यस्ये॑शाथे उ॒त पार्थि॑वस्य।
ध॒त्तं र॒यिं स्तु॑व॒ते की॒रये॑ चिद् यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ नः ॥७॥
ऋ० ८ । ९८ । ७ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते महान् राष्ट्र के स्वामिन्! एवं बृहती वेदवाणी के पालक विद्वान्! और राजन्! हे इन्द्र! ऐश्वर्यवन्! (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य) दिव्य ज्ञानरूप और (पार्थिवस्य) पृथिवी सम्बन्धी (वसु) ऐश्वर्य के (ईशाथे) दोनों स्वामी हो। आप दोनों स्तुति करने हारे विद्वान् पुरुष को (रयिम् धत्तम्) ऐश्वर्यवान् करो और (यूयम्) तुम (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों से (नः पात) हमारी रक्षा करो।

व्याख्या देखो अथर्व० का० २० । १७ । १२॥

[८८] परमेश्वर सेनापति राजा

वामदेव ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुभः । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

यस्त॒स्तम्भ॒ सह॑सा॒ वि ज्मो अन्ता॒न् बृह॒स्पति॑स्त्रिषध॒स्थो रवे॑ण।
तं प्र॒त्नास॒ ऋष॑यो॒ दीध्या॑नाः पु॒रो विप्रा॑ दधिरे म॒न्द्रजि॑ह्वम् ॥१॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी और बृहत् महान् राष्ट्र और बृहत् महान् ब्रह्माण्ड का पालक है और (त्रिषधस्थः) तीनों स्थान, तीनों लोकों में सूर्य के समान स्थित होकर (रवेण) अपने शासन उपदेश से (सहसा) बल पूर्वक (ज्मः) पृथिवी के (अन्तान्) दशों दिशाओं के दूरस्थ प्रदेशों को (वि) विविध प्रकार (तस्तम्भ) थामता है, वश करता है (प्रत्नाः ऋषयः) पूर्व के ऋषि, मन्त्रद्रष्टा (विप्राः) विविध ज्ञानों से पूर्ण मेधावी लोग (मन्द्रजिह्वम्) आनन्द जनक प्राप्ति

युक्त वचन वाले, सुखप्रद दीप्ति से युक्त उसको (दीध्यानाः) ध्यान करते हुए या धारण करते हुए (पुरः दधिरे) अपने आगे उपास्य रूप से और प्रमाण रूप साक्षी रूप या अध्यक्ष रूप से स्थापित करते हैं।

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे ।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २ ॥
ऋ० ४ । ५० । २ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बड़े शक्ति, वाणी, राष्ट्र और ब्रह्माण्ड के पालक! विद्वन्! सेनापते! राजन्! एवं परमात्मन्! बृहस्पते! (धुनेतयः) शत्रुओं को कंपा देने वाली चढ़ाई करने वाले (सु प्रकेतं) उत्तम उत्कृष्ट ज्ञानवान् तुझको (मदन्तः) हर्ष देने वाले (ये) जो (नः) हम में से (अभि ततस्रे) तेरी साक्षात् स्तुति करते हैं, तेरी शोभा बढ़ाते हैं अथवा (नः अभि ततस्रे) हमारे शत्रुओं का नाश करते हैं (अस्य) उनके (पृषन्तं) नाना फलों के देने वाले, अथवा अन्तरात्मा को और अन्न से सिंचन करने वाले (सृप्रम्) अति व्यापक, विस्तृत, सर्वगामी, (अदब्धम्) अहिंसित, अविनाशी, अखण्ड, (अपूर्वम्) अपूर्व, लोकोत्तर (योनिम्) आश्रय स्थान वेद और राष्ट्र को (रक्षतात्) रक्षा कर।

बृहस्पते या परमा परावदत आ तं ऋतस्पृशो नि षेदुः ।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥ ३ ॥
ऋ० ४ । ५० । ३ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते! परमेश्वर! (या) जो (परमा) सर्वोत्कृष्ट (परावत्) परम ज्ञान की रक्षा करने वाली वेदवाणी है और (अतः) उससे (आ) साक्षात् ज्ञान करनेहारे जो (ऋतस्पृशः) सत्य तत्व को पहुंचने वाले विद्वान् पुरुष (निषेदुः) विराजमान हैं (खाताः अवताः) खने हुए कूपों के समान रस से भरे हुए और (अद्रिदुग्धाः)

मेंघों या पर्वतों से प्राप्त मधुर रसको धारण करने वाले जलाशय या झरने जिस प्रकार (मध्वः) मधुर जल (श्चोतन्ति) झरते हैं उसी प्रकार वे भी (खाताः) तपस्याओं से खने गये, गम्भीर (अवताः) ज्ञान, जल के रक्षक, (अद्रिदुग्धाः) अखण्ड ब्रह्मशक्ति का दोहन करने वाले या मेघ स्वरूप अपने धर्म मेघमय अखण्ड आत्मा के रस दोहन करने वाले होकर (अभितः) सर्वत्र (मध्वः) उस परम मधुर ब्रह्मानन्द रस के (विरप्शम्) महान् राशि को (श्चोतन्ति) झरते, उपदेश करते और वर्षण करते हैं ।

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सुप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सुप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥ ४ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) वह बृहती वेद वाणी का स्वामी परमेश्वर (प्रथमं जायमानः) सबसे प्रथम सृष्टि को प्रकट करता हुआ (महः ज्योतिषः) महान् तेज के (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) विविध ज्ञानों के रक्षास्थान, परब्रह्म, वेदस्वरूप में ही (सप्तास्यः) सात छन्दों रूप सात मुख वाला (तुविजातः) बहुत प्रकार से प्रकट होकर अपने (रवेण) उपदेश से (सप्तरश्मिः) सात रश्मियों वाले सूर्य के समान (तमांसि) समस्त अन्धकारों और उनके समान आत्मा को पीड़ा देने वाले अज्ञानमय दुःखों का (वि अधमत्) विविध उपायों से उनका नाशकरता है ।

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते । स्फुटम् ॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥५॥

भा०—जिस प्रकार (बृहस्पतिः) बड़ा सेनापति (सुष्टुभिः) शत्रु को स्तम्भन करने वाले (ऋक्वता) ज्ञानवान् (गणेन) सेनागण से (फलिगं वलं) शस्त्रास्त्र से युक्त घेरने वाले शत्रु को (रवेण) बड़ी

गर्जना से (रुरोज) नाश करता है उसी प्रकार (सः) वह (बृहस्पतिः) वेद वाणी का—बड़े भारी ज्ञान का पालक (सु-स्तुभा) उत्तम रूप से स्तुति करने वाले (ऋक्वता) ऋग्वेद के मन्त्रों से युक्त (गणेन) विद्वद्गण से और (रवेण) वेदोपदेश के बल से (फलिगम्) फलिग अर्थात् अंग भेदन कर देने वाले शस्त्रास्त्रों सहित आचड़ने वाले (वलम्) व्यापक शत्रुगण को (रुरोज) तोड़ डालता है, पीड़ित करता है। और वह ही (कनिक्रदत्) उपदेश करता हुवा (वावशतीः) हम्भारव करने वाली (हव्यसूदः) घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों को प्रदान करने वाली (उस्रियः) गौओं के समान ज्ञानरस पूर्ण (वावशतीः) नित्य उपदेशमय शब्द करती हुई (हव्यसूदः) ग्राह्य ज्ञान को भरती हुई (उस्रियाः) वेदवाणियों को (उत् आजत्) प्रकट करता है।

ष्टुभु स्तम्भे। भ्वादिः॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

भा०—(एवा) इस उक्त प्रकार के ज्ञानवान् (पित्रे) सबके पालक (विश्वदेवाय) समस्त विजिगीषु पुरुषों के आश्रय या स्वामी एवं समस्त विद्वानों के अध्यक्ष, समस्त दिव्य शक्तियों के आश्रय, (वृष्णे) अति बलवान् पुरुष को हम (यज्ञैः) सत्संगों, यज्ञानुष्ठानों द्वारा (नमसा) आदर पूर्वक नमस्कार और (हविर्भिः) अन्नों द्वारा (विधेम) सेवा करें। हे (बृहस्पते) विद्वन्! राजन्! परमेश्वर (वयम्) हम (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा वाले (वीरवन्तः) वीर पुरुषों और पुत्रों से युक्त और (रयीणां) ऐश्वर्यों के (पतयः) पति स्वामी (स्याम) हों।

[८९] राजा परमेश्वर

कृष्ण ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। एकादशर्चं सूक्तम्॥

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम् ॥१॥

भा०—(प्रतरं) खूब अच्छी प्रकार वेगवान (लायम्) हृदय को लगने वाले बाण को जिस प्रकार (अस्यन्) फेंकता हुआ (अस्ता इव) बाण फेंकने वाला धनुर्धर अपने निशाने पर बाण फेंकता है और नहीं चूकता। और बाण समूहों को फेंकता ही जाता है और जिस प्रकार (भूषन् इव) सुभूषित करने वाला पुरुष रत्नों को जड़ता ही जाता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू भी (अस्मै) इस परमेश्वर को लक्ष्य करके (स्तोमम्) स्तुति समूह को (प्र भर=प्र हर) प्रस्तुत कर ईश्वर पर निछावर कर और सूक्त रत्नों से उसे अलंकृत कर । हे (विप्राः) मेधावी विद्वान पुरुषो ! (वाचा) वाणी से या अपनी प्रबल आज्ञा से जिस प्रकार योद्धा लोग (अर्यः वाचम्) शत्रु की वाणी को दबा लेते हैं उसी प्रकार तुम लोग भी (वाचा) वाणी से (अर्यः) अपने स्वामी परमेश्वर की (वाचम्) वाणी को (तरत) अभ्यास द्वारा पार करो। हे (जरितः) स्तुतिशील विद्वन् ! तू (इन्द्रम्) शत्रुओं के नाशक राजा को (सोमे) राष्ट्रपति पद पर अभिषिक्त करके विद्वान् लोग (निरमयन्ति) प्रसन्न करते हैं इसी प्रकार तू भी (सोमे) अपने सेव्य गुणवान आत्मा में (नि रमय) आल्हादित कर अथवा (इन्द्रम्) अपने आत्मा को (सोमे नि रमय) सोम, परमेश्वर में आल्हादित कर ।

दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम् ।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । ४२ । २ ॥

भा०—हे (जरितः) स्तुतिशील विद्वन् ! (दोहेन) दुग्धदोहन के निमित्त जिस प्रकार (गाम्) गौ को प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार आ-

न्तरिक रस प्राप्त करने के लिये भी (गाम्) स्वादक, या सुर्यस्वरूप आत्मा को (उपशिक्ष) प्राप्त कर । और (जारम्) अपने चिर निवास से देहों और इन्द्रियों को कालवश जीर्ण कर देने वाले (इन्द्रम्) भीतरी साक्षात् प्रत्यक्ष होने वाले, स्वयंद्रष्टा भोक्ता (सखायम्) अपने समान नाम वाले मित्र स्वरूप सखा, आत्मा को (प्र बोधय) ज्ञानवान् कर । और (वसुना पूर्णं) धन से भरे पूरे (कोशम्) खजाने को जिस प्रकार ऐश्वर्य को सुरक्षित करने के लिये सेवन किया जाता है उसी प्रकार (मघ देयाय) ऐश्वर्य की रक्षा के लिये (न्यृष्टम्) सबके आश्रयभूत (शूरम्) शूरवीर इन्द्र को (आ च्यावय) नियुक्त कर ।

राजा के पक्ष में—दोहन के लिये गौ के समान उपगन्तव्य राजा का आश्रय लो, (जारम्) शत्रुओं के नाशक (इन्द्रम्) सेनापति को जागृत करो, सदा सावधान करो । खजाने के समान धन से पूर्ण राजा को ही ऐश्वर्य के संग्रह के लिये नियुक्त करो ।

किमङ्ग त्वां मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मां शिशयं त्वां शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥२॥

भा०—हे आत्मन् ! परमेश्वर ! (अङ्ग) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वाम्) तुझको लोग (भोजम्) सबका पालक, रक्षक (किम् आहुः) क्यों कहते हैं ? इसीलिये कि तू सबकी रक्षा करता है । मैं (त्वा) तुझको (शिशयं) अति तीक्ष्ण, बलवान् (शृणोमि) सुनता हूं । तू (मा) मुझ को भी (शिशायं) तीक्ष्ण, सूक्ष्मबुद्धियुक्त कर । जिससे (मम) मेरी (धीः) धारणावती बुद्धि (अप्नस्वती) श्रेष्ठ कर्म वाली (अस्तु) हो । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (नः) हमें, हे (शक्र) शक्तिशालिन् ! (वसुविदं भगम्) ऐश्वर्यवद, सेवनयोग्य ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा ।

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर (जनाः) लोग (मम सत्येषु) मेरा पक्ष सच्चा, मेरा पक्ष सच्चा है इस प्रकार अपने पक्ष को दृढ़ करने के कलहों में भी (त्वा वि ह्वयन्ते) तुझे विविध नामों से याद किया करते हैं । और (समीके) संग्राम में (संतस्थानाः) अच्छी प्रकार स्थिर होकर युद्ध करने वाले अथवा (संतस्थानाः) संग्राम में अपने जीवनों को समाप्त कर देने वाले भी (विह्वयन्ते) विविध प्रकारों से तुझे पुकारते हैं । पर तू (अत्र) इस लोक में (यः) जो (हविष्मान्) सत्य ज्ञानवान् है उसी को अपना (युजं) साथी बनाता है । और तू (शूरः) स्वयं शूर होकर (आसुन्वता) अपना सवन या चिन्तन करने वाले के साथ (सख्यं वष्टि) मित्रता करना चाहता है ।

इसी प्रकार हे राजन् ! लोग तुझको अपना २ पक्ष सत्य बतलाने के अवसरों पर भी कलहों में बुलाते हैं । युद्धविजयी भी तेरा नाम लेते हैं । पर जो (हविष्मान्) मन्त्रादि से समृद्धिमान् उपाय भेट देने में समर्थ है उसी को अपना साथी बनाता है और (आसुन्वता) अभिषेक करने वाले राष्ट्र के प्रति सख्य करना चाहता है ।

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान् ।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान् प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान् युवति हन्ति वृत्रम् ॥५॥

भा०—(बहुलं) बहुतसारा (स्पन्द्रं) चलनशील, जंगम, गौ आदि पशु (धनं न) धन के समान (यः) जो (प्रयस्वान्) अन्नों का स्वामी जमींदार (तीव्रान् सोमान्) तीव्र सोम अर्थात् वेगवान् 'सोम' वीर्यवान् पुरुषों को (अस्मै) इस राजा के अधीन (आसुनोति) प्रदान करता है । (तस्मै) उसके (सुतुकान् शत्रून्) अति हिंसक (स्वष्ट्रान्) उत्तम शस्त्रों

वाले शत्रुओं को भी (अह्नः प्रातः) दिन का प्रातःकाल भाग जिस प्रकार अन्धकार का नाश करता उसी प्रकार (नि युवति) दूर कर देता है। और उस के (वृत्रम्) विघ्न को भी (निहन्ति) दूर कर देता है।

अध्यात्म में—(यः प्रयस्वान्) जो प्रयासी, परिश्रमी, साधक (अस्मै) इस आत्मा को (तीव्रान् सोमान्) तीव्र, अतिहर्षकर ब्रह्मरसों से स्नान करता है, उन्हीं में निमग्न करता है उसके ही (चुमुकान्) विनाशकारी, आत्मा को निर्बल करने वाले काम क्रोधादि भीतरी शत्रुओं को वह (नि युवति) दूर करता है, (वृत्रं) आवरक अज्ञान को (निहन्ति) निर्मूल करता है। (प्रातः अह्नः) दिन के प्रातःकाल के समान अज्ञान को नाश करता है।

यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे।
आराच्चित् सन् भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम् ॥६॥

भा०—(यस्मिन् इन्द्रे) जिस ऐश्वर्यवान् इन्द्र राजा या परमेश्वर के निमित्त (वयम्) हम (शंसम्) स्तुति (दधिम) धारण करते हैं और (यः) जो (मघवा) ऐश्वर्यवान् (अस्मे) हमारी (कामम्) अभिलाषा को (शिश्राय) आश्रय देता है। (अस्य शत्रुः) उसका शत्रु (आरात् चित् सन्) दूर रहता हुआ (भयताम्) भय ही करे। और (अस्मै) उसके आगे (जन्या) युद्ध सम्बन्धी (द्युम्ना) यश और ऐश्वर्य (अव नमन्ताम्) झुके प्राप्त हों।

आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन।
अस्मे धेहि यवमद् गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥७॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! आत्मन् ! (यः) जो तेरा (शम्बः) शान्ति का साधन, तप या शत्रुशमन करने का साधन वज्र, वीर्य है, हे (पुरुहूत) बहुतों से स्तुति किये हुए ! तू (तेन) उसके बल पर (शत्रुम्)

शत्रु को (आरात् दूरम्) दूर ही दूर से (अप बाधस्व) पीड़ित कर । (अस्मे) हमें (यवमत्) अन्न और (गोमत्) पशुओं से सम्पन्न ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान कर । और (जरित्रे) विद्वान् स्तुतिकर्त्ता पुरुष को (वाजरत्नाम्) वीर्य और ज्ञान से अति रमणीय (धियं) धारणाशक्ति, बुद्धि और क्रिया शक्ति को (कृधि) उत्पन्न कर ।

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन् तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम् ।
नाह दामानं मघवा नि यंसन् नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥८॥

भा०—(यम्) जिस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् आत्मा के (अन्तः) भीतर ही भीतर (वृषसवासः) बलवान् प्राणों द्वारा उत्पन्न, (बहुलान्तासः) प्रभूत बल और सत्यज्ञान को धारण करने वाले (तीव्राः) तीव्र अति प्रबल स्वरूप में (सोमाः) ब्रह्मानन्दरस (प्र अग्मन्) प्राप्त होते हैं । वह (मघवा) ऐश्वर्यवान् आत्मा (दामानं) उन रसों के देने वाले को क्या (न अह) कुछ भी नहीं (नियंसत्) देता ? नहीं, उसको तो वह (भूरि) बहुतसा (वामम्) सुन्दर ऐश्वर्य (नि वहति) प्रदान करता है ।

परमात्मा के पक्ष में—जिस परमेश्वर के भीतर उसके आश्रित (वृष-सवासः) बलवान् साधनों से उत्पन्न 'बहुल', अन्धकारमय मोह रात्रि का अन्त कर देने वाले (तीव्राः सोमरसाः) तीव्र, तपस्वी, ब्रह्मज्ञानी प्राप्त हैं क्या वह परमेश्वर (दामानं) आत्म समर्पण शील भक्त जीव को कुछ नहीं देता ? नहीं । वह उसको बहुत ऐश्वर्य देता है ।

राजा के पक्ष में—(वृषसवासः तीव्राः सोमाः) बलवान् पुरुषों से अभिषिक्त, तीव्र स्वभाव के राजा जिस महान् राजा के वश में हैं क्या वह महान् सम्राट् अपने समर्पण करने वाले आश्रित को कुछ नहीं देता ? नहीं, वह उसको बड़ा ऐश्वर्य देता है ।

उत ग्रहामतिदीवा जयाति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥९॥

भा०—(उत) और (अतिदीवा) अति द्यूत का व्यसनी (श्वघ्नी) जूआखोर (काले) मौके पर जिस प्रकार (कृतम् इव) 'कृत' नाम अक्ष को (विचिनोति) विशेष रूप से संग्रह कर रखता है । और (ग्रहाम्) अपने पासे पर आघात करने वाले अक्ष को जयाति जीत लेता है, उसी प्रकार (इन्द्रः) यह आत्मा भी (अतिदीवा) अति देदीप्त होकर (श्वघ्नी) कुत्ते के समान विषय तृष्णालु इन्द्रिय और मन को मारकर उनको वश करके (काले) यथावसर (कृतम्) अपने किये कर्मफल और सदाचार को (विचिनोति) विशेषरूप से संग्रह कर लेता है और (ग्रहाम्) विघ्नकारी उपद्रव को (जयाति) विजय कर लेता है । (यः) जो पुरुष (देवकामः) देवों, विद्वानों की कामना करता हुआ उनके निमित्त (धन) धन को (न रुणद्धि) नहीं रोकता (तं) उसको (इत्) ही वह (स्वधाभिः) अन्नों सहित (रायः) ऐश्वर्य (संसृजति) प्रदान करता है ॥ का० ७।५०।६-७॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥१०॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥११

भा०—(१०,११) इन दोनों की व्याख्या देखो का० २०।१७।१०, ११॥ तथा का० ७ । ५० । ७ ॥

[९०] राष्ट्रपालक, ईश्वर और विद्वान् ।

भरद्वाज ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥

भा०—(यः) जो (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी और द्यौ और ब्रह्माण्ड का पालक (अद्रिभित्) मेघों के आवरण के दूर करने वाले वायु के समान अद्रि, नदीर्ण होने वाले, दुर्भेद्य, जन्ममरण के बन्धन या अज्ञान का नाशक (ऋतावा) जल से पूर्ण (आङ्गिरसः) अंग २ में व्यापक प्राण के समान जगत् के समस्त देदीप्यमान लोकों में रस या परमबल रूप से विद्यमान (हविष्मान्) शक्तिशाली (द्विबर्हजमा) आकाश के समान दोनों लोक पृथिवी और आकाश में शत्रु और मित्र दोनों में व्यापक अथवा ज्ञान कर्म दोनों में प्रविष्ट सूर्य के समान (प्रावर्मसत्) सर्वोत्कृष्ट तेजः स्वरूप में विद्यमान (पिता) सबके पालक मेघ के समान (वृषभः) समस्त सुखों का वर्षक (नः) हमें (रोदसी) सर्वत्र विश्व में (आरोरवीति) गर्जन करता और ज्ञान का उपदेश करता है।

जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥२॥

भा०—(यः) जो (बृहस्पतिः) बड़े भारी राष्ट्र का पालक या जगत् का पालक, राजा या परमेश्वर या वाणी का पालक विद्वान् (ईवते) आने वाले (जनाय) मनुष्यों के लिये (देवहूतौ) यज्ञ में देवों की आहुति स्थान या प्राणायतन देह में (लोकं चकार) उत्पन्न हुए जीवों का निवासस्थान बनाता है। और (यः) जो (वृत्राणि) आवरणकारी, मोहजन्य अज्ञानों को (घ्नन्) नाश करता हुआ (पुरः) संवत्सर रूप पुरियों को या देहबन्धनों को (वि दर्दरीति) विविध उपायों से वीर सेनापति के समान तोड़ता है। वह (शत्रून्) शत्रुओं को (जयन्) विजय करता हुआ और (अमित्रान्) मित्रों से विपरीत शत्रुपक्ष के अन्य सहायकों को भी (पृत्सु) संग्रामों में (साहन्) पराजित करे।

बृहस्पतिः समंजयद् वसूंनि महो व्रजान् गोमंतो देव एषः ।
अपः सिषांसन्त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥२॥

भा०—(बृहस्पतिः) बड़े भारी राष्ट्र का पालक राजा (वसूनि) ऐश्वर्यों को (सम् अजयत्) विजय करता है । और (गोमतः) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (महः व्रजान्) बड़े भारी समूहों को (एषः देवः) वह विजयी (सम् अजयत्) विजय करता है । वह स्वयं (अप्रतीतः) किसी से भी विरोध द्वारा रोका न जाकर (स्वः) सुखमय (अपः) समस्त राष्ट्र के कार्यों को (सिषासन्) विभक्त करने की इच्छा करता हुआ (अमित्रम्) प्रजा के शत्रु को (अर्कैः) अपने शासनों से (हन्ति) विनष्ट करता है ।

अध्यात्म में—(एषः देवः) विजयी, योगी, बड़ी शक्ति का पालक होकर बहुतसे ऐश्वर्यों और इन्द्रियों से युक्त देहों पर वश करता है । (स्वः अपः) सुखोत्पादक मोक्षमयी बुद्धियों का सेवन करता हुआ (अप्रतीतः) वे रोक टोक होकर (अर्कैः) ज्ञान-किरणों से या स्तुतियों द्वारा (अमित्रम्) विरोधी द्वेष भाव या अज्ञान को नाश करता है ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[६१] विद्वान्, राजा ईश्वर ।

कृष्णाङ्गिरस ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योयास्यं उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥१॥

ऋ० १० । ६७ । १ ॥

भा०—(नः) हमारा (पिता) पालक परमेश्वर (ऋत-प्रजाताम्) इस समस्त ऋत, संसार को उत्पन्न करने वाली और महान यज्ञ को सम्पादन करने वाली, (सप्तशीर्ष्णीम्) सात प्राण अपान आदि शिर वाली, या सात छन्दों वाली अथवा शिरोगत सात प्राण रूप शिर वाली (बृहतीम्) बड़ी भारी (इमां धियम्) इस धारण करने वाली चित् रूप शक्ति या कर्मशक्ति को (आविन्दत्) प्राप्त किये रहता है और वही परमेश्वर (विश्वजन्यः) समस्त जनों का हितकारी एवं सर्वव्यापक (तुरीयं चित्) तुरीय मोक्षपद को भी (जनयत्) उत्पन्न करता है और वही (अयास्यः) प्रयत्न रहित, निश्चेष्ट एवं निष्क्रिय या कभी न थकने वाला या मुख्य परमेश्वर (इन्द्राय) साक्षात् द्रष्टा जीव को (उक्थम्) ज्ञानोपदेश (शंसन्) करता है।

अध्यात्म में—(नः पिता) हमारा पालक मुख्य प्राण, आत्मा, (ऋत-प्रजातां) सत्य ज्ञान को उत्पन्न करने एवं जीवन की जनक (सप्तशीर्ष्णीं धियं) सात प्राणों रूप शिर वाली इस देह धारण में समर्थ (बृहतीम्) बड़ी भारी शक्ति को (अविन्दत्) प्राप्त करता है। वही (तुरीयं स्वित् जनयत्) चतुर्थ दशा जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति इनसे भी उत्कृष्ट 'अमात्र' उन्मनी दशा को उत्पन्न करता है और वही (अयास्यः) मुख्य आत्मा (इन्द्राय) इन्द्र, परमेश्वर या प्राण को (उक्थम् शंसन्) स्तुति या आज्ञा करता है।

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ २ ॥

भा०—(असुरस्य) 'असु' समस्त संसार के प्रेरक बल में रमण करने वाले (दिवः) तेजोमय, सूर्य के समान, तेजस्वी, परमेश्वर के (पुत्रासः) मानो पुत्र के समान उसी से उत्पन्न (वीराः) वीर्यवान् महान्

सामर्थ्यवान् विद्वान् लोग (ऋतम्) उस सत्य ज्ञान का (शंसन्तः) उपदेश करते हुए, उसी की स्तुति करते हुए (ऋजु) नित्य कल्याणमय स्वरूप का (दीध्यानाः) ध्यान करते हुए और स्वयं (विप्रम्) विविध ज्ञानों से पूर्ण (पदम्) ज्ञानगम्य, प्राप्तव्य परमपद को (दधानाः) धारण करते हुए उसका अभ्यास करते हुए (आङ्गिरसः) अग्नि के अङ्गिरों के समान तेजस्वी ज्ञानी विद्वान पुरुष (यज्ञसा) उस सब में पूजनीय उपास्य परमेश्वर के (धाम) धारण सामर्थ्य एवं तेज को (प्रथमं) सर्व श्रेष्ठ रूप से (मनन्त) मनन करते या उसका अभ्यास करते हैं ।

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन् ।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद् गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥३॥

भा०—(बृहस्पतिः) वह बृहती महती शक्ति का पालक परमेश्वर ही (वावदद्भिः) निरन्तर आलाप करने वाले (सखिभिः) मित्रों के समान उसीसे नित्य आपण करने वाले (हंसैः) परमहंसों के साथ उन द्वारा (अश्मनमयानि) पत्थर के समान दृढ़ एवं व्यापक, तामस भोग वासनाओं के बने (नहना) आत्मा को बांधने वाले कर्म बन्धनों को (वि-अस्यन्) विविध प्रकार से तोड़ता फोड़ता है । (उत) और वह (गाः) ज्ञान वाणियों का (अभि कनिक्रदत्) साक्षात् उच्चारण करता है अथवा ज्ञान रश्मियों का साक्षात् दर्शन करता है । और वह (विद्वान्) परमपद को लाभ करने द्वारा ज्ञानवान् विद्वान् होकर (प्र अस्तौत्) परमेश्वर के पद की यथार्थ स्तुति करता है । और (उत् अगायत् च) उत्तम एवं उच्चस्वर से गान करता है । अथवा—(बृहस्पतिः) बड़ी भारी आत्मशक्ति का पालक पति, ज्ञानी (सखिभिः हंसैः इव) परमहंस मित्रों के समान (वावदद्भिः) आलाप करने एवं संवाद द्वारा उपदेश करने वाले सद्गुरुओं से अपने (अश्मन्मयानि नहना) शिला से बने कठोर कारागार-बन्धनों के समान भोगमय बन्धनों को (व्यस्यन्) विशेष रूप से काटता हुआ (गाः

किरणों या ज्ञान-वाणियों को (अभि कनिक्रदत्) साक्षात् कराता है । और (विद्वान्) स्वयं ज्ञानी होकर (प्र अस्तौत् उत् अगायत् च) उसकी स्तुति करता और गान करता है ।

अवो द्वाभ्यां पुर एकंया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥४॥
ऋ० १० । ६७ । ४ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी एवं बृहती द्यौ, पृथिवियों और जगत् की सृष्टि स्थिति संहारकारिणी महती शक्तियों का स्वामी या विद्वान् पुरुष (द्वाभ्यां परः) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों से परे (अवः) नीचे भीतर (गुहा) गुहा रूप हृदय में (तिष्ठन्तीः) विद्यमान (गाः) वेदवाणियों या ज्ञान-रश्मियों को (अनृतस्य) अव्यक्त संसार या जड़ या प्रकृति के (सेतौ) बांधने वाले (तमसि) तमोगुण में (ज्योतिः) अन्धकार में प्रकाश के समान तेजःस्वरूप सत्वमय ज्ञान की (इच्छन्) कामना करता हुआ (तिस्रः) तीनों प्रकार की (उस्राः) ज्ञानमय, कर्म-मय, गानमय अर्थात् ऋग्, यजुः, साम तीनों प्रकार की वेद-विद्याओं को (उत् आ अकः) प्रकट करता है और (तिस्रः) तीनों को (वि आवः) विविध प्रकार से प्रकट करता है ।

अध्यात्म में—(अवः द्वाभ्यां परः) नीचे के दो द्वारों या वाणी या मन से परे (एकया) एकमात्र केवली चितिशक्ति रूप से (गुहा तिष्ठन्तीः) हृदय गुहा में या गुप्त आत्मा में स्थित (गाः) ज्ञान-ज्योतियों को (अनृतस्य) अनृत, असत् या मिथ्याज्ञान के (सेतौ) बांधने वाले (तमसि) अन्धकार रूप तामस आवरण में (ज्योतिः इच्छन्) ज्योति, ब्रह्मज्ञान को चाहता हुआ योगी (उस्राः) ऊर्ध्व, ब्रह्माण्ड, मस्तक में प्रकट रश्मियों को (उत् आवः) प्रकट करता है और (तिस्रः) तीनों द्वारों गुदा, हृदय और ब्रह्मरन्ध्र या अधिष्ठान, मणिपूर और ब्रह्मरन्ध्र तीनों को (वि आवः) खोल लेता है ।

विभिद्या पुरं शयथेमपांचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥५॥
ऋ० १० । ६७ । ५ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहती आत्मशक्ति का पालक योगी (शयथा) शयन या सुषुप्ति रूप में विद्यमान समस्त बाह्य प्राणों के भीतरी आत्मा में अप्यय या विलयन के अभ्यास द्वारा (अपाचीम्) अधोमुखी (पुरं) शत्रु के गढ़ के समान देहगत चित्-पुरी को (विभिद्य) भेदकर (उदधेः) जीवनरूप अमृत के धारण करने वाले मेघ के समान सुखवर्षक या रस-सागर के समान धर्ममेघ समाधि के बल से (त्रीणि) शेष तीन द्वारों को भी (नि अकृन्तत्) सर्वथा काट देता है। और तब (उषसम्) अज्ञान, पाप और कर्मजाल के दहन करने वाली विशोका प्रज्ञा और (गाम्) ज्ञानमयी वाणी और (अर्कम्) अर्चनीय (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी विशुद्ध आत्मस्वरूप को (स्तनयन् द्यौः इव) मेघ की गर्जना से गर्जते हुए आकाश के समान भीतरी नाद से गर्जता, स्वयं प्रकाशमय होकर (विवेद) साक्षात् करता है।

इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण ।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत् पणिमा गा अमुष्णात् ॥६॥
ऋ० १० । ६७ । ६ ॥

भा०—(इन्द्रः) योगज विभूतिमान् योगी (दुघानां) ब्रह्मरस को दोहन करने वाली प्रकाश धाराओं को (रक्षितारं) रोक रखने वाले (वलं) तामस आवरण को (करेण इव) 'कर' अर्थात् करपत्र हिंसा साधन शस्त्र से जैसे शत्रु के देह को काट डाला जाता है और जिस प्रकार किरण से अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार (रवेण) भीतरी नाद रूप रव से (विचकर्त) विनष्ट करता है और वह योगी ही पुनः (स्वेदाञ्जिभिः) स्वेदों को

प्रकट करने वाले प्राणों के आयमन रूप तपों द्वारा (आशिरम्) परमानन्द रस को (इच्छमानः) प्राप्त करना चाहता हुआ (पणिम्) देह में नाना व्यापार करने हारे प्राण को ही (आरोदयत्) दमन करता है । और तब (गाः) आत्मप्रकाश की ज्ञान-धाराओं या किरणों को (अमुष्णात्) प्राप्त करता है ।

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः ।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ६७ । ७ ॥

भा०—(सः) वह ज्ञानवान्, निष्ठ योगी (सत्येभिः) बलवान्, सत्योपदेष्टा (सखिभिः) अपने मित्र, (शुचद्भिः) दीप्तिमान् तेजस्वी (धनसैः) ज्ञान धन के प्रदान करने वाले गुरुओं से जिस प्रकार शिष्य (गोधायसं) ज्ञान-वाणियों को रोक रखने वाले अज्ञान को नाश करता है उसी प्रकार वह योगी भी (सत्येभिः) बलवान्, सत्ववान् (सखिभिः) मित्र के समान सदा साथ विद्यमान, अनुकूलगति वाले (शुचद्भिः) देह को शोधन करने वाले, मलदाहक (धनसैः) बल और ज्ञानप्रद प्राणों के बल से (ईम्) उस (गोधायसम्) प्रकाश के रोकने वाले अज्ञान-आवरण को (वि अदर्दः) विशेषरूप से नष्ट करता है । और (घर्म-स्वेदेभिः) पसीना बहाने वाले (वृषभिः) बलवान् या आनन्द वर्षक, (वराहैः) सु आहृत, उत्तमरूप से वशीकृत, प्रत्याहार द्वारा दमन किये गये प्रबल प्राणों द्वारा (द्रविणम्) अति द्रुतगति वाले मन को भी (वि आनट्) विशेष रूप से वश करता है ।

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः ।
बृहस्पतिर्मिथो अवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ६७ । ८ ॥

भा०—(ते) वे प्राणगण (सत्येन मनसा) सत्य ज्ञान से युक्त एवं सात्विक बल से युक्त मन से, मनके बल से प्रेरित होकर (गोपतिम्) ज्ञान वाणियों, प्रकाश-किरणों और इन्द्रियों के पति आत्मा को (इयानासः) प्राप्त होकर, उसके वश होकर (धीभिः) अपने धारण और ध्यान के सामर्थ्यों या कर्मों या क्रिया सामर्थ्यों द्वारा (गाः) उन ज्ञान-रश्मियों को (इषण्यन्तः) प्रकट और प्रेरित करते रहते हैं। और (बृहस्पतिः) वह महती आत्मशक्ति का पालक योगी (मिथः) परस्पर एक दूसरे को (अवद्यपेभिः) गर्हणीय या निन्दनीय आचरण से रक्षा करने वाले (स्वयुग्भिः) स्वतः समाहित होकर योग करने वाले विद्वानों के समान (अवद्यपेभिः) निन्दित विषय भोगों से रक्षा करते हुए (स्वयुग्भिः) स्व=आत्मा में स्वयं समाहित या स्थिर हुए प्राणगणों से (उस्रियाः) ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड में सर्पण करने वाली आनन्दरस धाराओं को (उत् असृजत) प्रकट करते हैं।

ते व॒र्धय॑न्तो म॒तिभि॑ः शि॒वाभि॑ः सिं॒हमि॑व॒ नान॑दतं स॒धस्थे॑।
बृह॒स्पतिं॒ वृष॑णं॒ शूर॑सातौ॒ भरे॑भरे॒ अनु॑ मदेम जि॒ष्णुम् ॥ ६॥

ऋ० १० । ६७ । ९॥

भा०—(तम्) उस (बृहस्पतिम्) बड़ी आत्मशक्ति के पति, पालक विद्वान् (सिंहम् इव) वन में सिंह के समान (सधस्थे) इन्द्रियों के संघ में (नानदतम्) भीतरी प्राणरूप से नाद करने हारे (वृषणं) बलवान्, आनन्दवर्धक, (शूरसातौ) वीर पुरुषों द्वारा प्राप्त (भरेभरे) प्रत्येक संग्राम में सेनापति के समान विजयी (बृहस्पतिम्) बड़ी सेना के पति राजा के समान, (जिष्णुम्) विषय शत्रुओं पर वश करने हारे योगी आत्मा को (भरेभरे) प्रत्येक यज्ञ में (शिवाभिः) कल्याणमय (मतिभिः) स्तुतियों से (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए हम (अनुमदेम) स्वयं भी आनन्द प्रसन्न होकर रहें।

यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म ।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥१०॥
ऋ० १० । ६७ । १० ॥

भा०—(यदा) जब बृहस्पति, महान् राष्ट्र का स्वामी या विद्वान् पुरुष (विश्वरूपम्) सब प्रकार के (वाजम्) ऐश्वर्य या ज्ञानों को (असनत्) प्राप्त कर लेता है और (द्याम्) ज्ञान की उत्तम कोटि, राजसभा और, (उत्तराणि) उत्कृष्ट (सद्म) स्थानों या पदों को (आ अरुक्षत्) प्राप्त होता है तब (वृषणम्) बलवान् (बृहस्पतिम्) बड़े राष्ट्र के पालक एवं वेद के विद्वान को (आसा) मुखसे (ज्योतिः बिभ्रतः) तेज और प्रकाश के धारण करने वाले (सन्तः) सज्जन पुरुष स्तुति द्वारा (नाना वर्धयन्तः) नाना प्रकार से उसकी वृद्धि करते हैं । उसका गुणानुवाद करते हैं ।

योगी के पक्ष में—वह जब (विश्वरूपम् वाजम्) परमेश्वरीय वाज बल, ज्ञान या विभूति को प्राप्त कर लेता है और मोक्ष और उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त कर लेता है तब उसके (आसा ज्योतिः बिभ्रतः) मुख द्वारा या उपदेश द्वारा ज्ञान ज्योति को धारण करने वाले सत्पुरुष नाना प्रकार से उसके गुणानुवाद करते हैं ।

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः ।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद् रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥११
ऋ० १० । ६७ । ११ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (वयोधै) दीर्घ आयु के धारण करने के निमित्त (सत्याम्) सत्य, यथार्थ (आशिषं) आशीर्वाद (कृणुत) प्रदान करो । आप लोग (स्वेभिः) अपने (एवैः) ज्ञानों द्वारा (कीरिं-चित्) अपने स्तुतिकर्ता, भक्त प्रेमी को सदा (अवथ) रक्षा करते हो । (विश्वाः मृधः) समस्त हिंसाजनक दुःखदायिनी विपत्तियां (पश्चा) पीछे

(अप भवन्तु) दूर हों। हे (रोदसी) स्त्री पुरुषो ! द्यौ और पृथिवी के समान परस्परोपकारक गुरु और शिष्यो ! आप दोनों (विश्वम् इन्वे) समस्त संसार को ज्ञानों प्राणों अन्नों द्वारा तृप्त करने वाले होकर (तत्) हमारे हितकर वेद के वचन को (शृणुतम्) श्रवण करो, कराओ।

इन्द्रो॑ म॒ह्ना म॑ह॒तो अ॑र्ण॒वस्य॒ वि मू॒र्धान॑मभिनदर्बु॒दस्य॑ ।
अह॒न्नहि॒मरि॑णात् स॒प्त सिन्धू॑न् दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥१२॥

ऋ० १० । ६७ । १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् या मेघ के जल को नीचे बहा देने में समर्थ प्रबल वायु या विद्युत् जिस प्रकार (महतः अर्णवस्य) बड़े भारी समुद्र के समान (अर्बुदस्य) जलद मेघ के (मूर्धानम् अभिनत्) शिर के समान मुख्य अंग, जल को (वि अभिनत्) विविध प्रकार से छिन्न भिन्न करता है और (अहिम् अहन्) मेघ को आघात करता और (सप्त)- सर्पण करने वाले, बहने वाले (सिन्धून्) जल धाराओं को (अरिणात्) बहा देता है उसी प्रकार (इन्द्रः) ज्ञानैश्वर्यवान्, अज्ञान का नाशक आचार्य विद्वान्, परमगुरु और आत्मा (महतः) बड़े भारी (अर्बुदस्य) मेघ के समान आनन्दरस वर्षण करने में समर्थ (अर्णवस्य) सागर के समान विशाल गम्भीर आत्मा के (मूर्धानम्) अधिष्ठित देह के मूर्धा भाग को, सूर्यचक्र को (अभिनत्) प्राणशक्ति द्वारा भेदन करता है (अहिम् अहन्) मान को नाश करता (सप्त सिन्धून्) सात, गतिशील शीर्षगत प्राणों को प्रेरित करता है। हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! स्त्री पुरुषो ! या गुरु शिष्यो ! आप लोग (नः) हमें (देवैः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (प्र अवतम्) अच्छी प्रकार रक्षा करो। अध्यात्म में—हे (द्यावापृथिवी) प्राण और उदान तुम दोनों (देवैः) गतिशील प्राणों द्वारा (नः) हमारी (प्र अवतम्) रक्षा करो।

[१२] ईश्वर स्तुति ।

१–१२ प्रियमेधः, १६–२१ पुरुहन्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १–३ गायत्र्यः । ८, १३, १७, २१, १९, पंक्तयः । १४–१६, १८, २० बृहत्यः । शेषा अनुष्टुभः । एकविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।

सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६९ । ४ ॥

भा०—(सत्यस्य सूनुं) सत्य के उत्पादक, प्रवर्त्तक (सत् पतिम्) सज्जनों के पालक (गोपतिम्) इन्द्रियों, भूमियों वेदवाणियों और समस्त लोकों के स्वामी (इन्द्रम्) विद्वान्, आचार्य, राजा परमेश्वर की (अभि प्र अर्च) साक्षात् पूजा, सत्कार और उपासना कर (यथा विदे) जिससे यथावत् ज्ञान प्राप्त हो ।

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।

यत्राभि संनवामहे ॥ २ ॥

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।

यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३ ॥

भा०—(१–३) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो (अथर्व का० २० । २२ । ४—६)

उद् यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि ।

मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥४॥ ऋ०२।६९।७॥

भा०—(यत्) जब (इन्द्रः च) मैं और विभूतिमान् परम=आत्मा हम दोनों (ब्रध्नस्य) सर्वाश्रय इस महान् परमेश्वर के मोक्षमय (विष्टपं गृहम्) विविध तपस्याओं से युक्त अथवा आविष्ट या उपविष्ट पुरुष की रक्षा करने वाले शरण को (उत् गन्वहि) प्राप्त होते हैं तब वहां (त्रिः सप्त)

इक्कीसवें, परम आदित्यस्वरूप, तेजोमय (सख्युः) सखा, मित्र, परमेश्वर के (पदे) ज्ञानमय वेद्य रूप में स्थित होकर (मध्वः) आनन्दरस का (पीत्वा) पान करके (सचेवहि) परस्पर संगत होते हैं।

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥ ५ ॥ ऋ० ८।६९।८ ॥

भा०—हे (प्रियमेधासः) यज्ञ को या पवित्र आत्मा को या मेघ अर्थात् अन्न को प्रिय रूप से प्राप्त करने वाले साधक पुरुषो ! आप लोग उस परमेश्वर की (अर्चत) अर्चना करो (प्र अर्चत) खूब उपासना करो। (अर्चत) नित्य उपासना किया करो। हे (पुत्रकाः) पुरुष, आत्मा का नरक से त्राण चाहने वाले पुत्रो ! (उत) और तुम लोग (पुरं न) दुर्ग के समान (धृष्णु) शत्रु का धर्षण करने वाले उस परमेश्वर के अखण्ड रूप की (अर्चन्तु) उपासना करो, और (अर्चत) नित्य उपासना करो।

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥ ६ ॥ ऋ०८।६९।९॥

भा०—(गर्गरः) शब्द करने वाले स्तुति वाचक के समान कण्ठ या कण्ठगत प्राण या प्रवक्ता गुरु (इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (उद्यतम्) सर्वोत्कृष्ट (ब्रह्म) वेदवचन को (अव स्वराति) बोले, उपदेश करे। (गोधा) वाणी के धारण करने वाली स्त्री एवं इन्द्रियों को धारण करने वाली मनः शक्ति उसी को (परि सनिष्वणत्) सर्वत्र वीणा के समान उपदेश करे, गुने। (पिङ्गा) मधुर ध्वनि करने वाली वाणी, उसी का सर्वत्र (परि चनिष्कदत्) उच्चारण करे।

आ यत् पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः ।
अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे ॥ ७ ॥ ऋ०८।६९।१०॥

भा०—(सुदुघाः) उत्तम रीति से दूध देने वाली और (अनपस्फुरः) न चौंकने वाली, अपीड़ित (एनाः) शुभ्र गौओं के समान या (सुदुघाः) उत्तम जल से पूर्ण (अनपस्फुरः एन्यः) निश्चल, प्रशान्त नदियों या जलधाराओं के समान (यत्) जब भीतर ब्रह्मरस की धाराएं (आ पतन्ति) प्राप्त होजाती हैं तब हे विद्वान् योगाभ्यासी पुरुषो ! तुम लोग (इन्द्राय) आत्मा के (अपस्फुरम्) स्थिर, चंचलतारहित, अविक्षुब्ध, अविच्छिन्न (सोमम्) आनन्दरस को (पातवे) पान करने के लिये (गृभायत) उस को ग्रहण करो, उसका साक्षात् करो ।

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत ।
वरुण इदिह क्षयत् तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव ॥८॥
ऋ० ८ । ६९ । ११ ॥

भा०—(संशिश्वरीः) गौएं (वत्सम् इव) बछड़े को देखकर जिस प्रकार हंभारती हैं उसी प्रकार (तम् अभि) उस आत्मा को लक्ष्य करके (आपः) समस्त प्राण एवं समस्त 'आप्त' या ब्रह्मपद प्राप्त विद्वान् एवं समस्त ज्ञान वाणी और कर्मपद्धतियां भी (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं । (इन्द्रः अपात्) इन्द्र जीवात्मा उसी के रस का पान करता है (अग्निः अपात्) सबके अग्रणी ज्ञानी पुरुष या मुख्य प्राण भी उसी का पान करता है । (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्-गण एवं विषयों में क्रीड़ाशील इन्द्रियगण उसी में तृप्त होते हैं । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ वरण योग्य, आत्मा या अध्यात्म में अपान भी (इह क्षयत्) इसी में स्थिर निवास करता है ।

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥६॥ ऋ० ८।६९।१२॥

भा०—हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ आत्मन् ! तू (सुदेवः असि) सर्वश्रेष्ठ, देव एवं उत्तम सुख और कल्याण का देनेहारा (असि) है । (यस्य

ते) जिस तेरे (सप्त सिन्धवः) सर्पणशील महानदों के समान सातों शिरोगत प्राण (सुर्म्यम्) उत्तम धारायुक्त (सुषिराम् इव) एक धारा के समान एक स्रोत को प्राप्त होकर (काकुदम्) तालु के प्रति (अनुक्षरन्ति) प्रवाहित होते हैं। योगाभ्यासी के सातों प्राणों का रस तालु से अमृतरूप से द्रवित होता है। मानो सात धाराएं एक धार होकर बहती हैं।

अथवा—(सुषिराम् सुर्म्यम् इव) छेदवाली ज्वलनशील बारूद की भरी नालिका के समान फूटते हैं।

यो व्यतीँरफाणयत् सुयुक्ताँ उप दाशुषे।
तक्वो नेता तदिद् वपुरुपमा यो अमुच्यत ॥ १० ॥ ऋ०८।६९।१३॥

भा०—(यः) जो योगाभ्यासी पुरुष (व्यतीन्) विविध विषयों में जाने वाले (सु युक्तान्) उत्तम रीति से सन्मार्ग में लगाये गये, इन्द्रिय रूप प्राणों को (दाशुषे उप) यज्ञशील आत्मा के निमित्त उसी को प्राप्त करने के लिये (उप अफाणयत्) उसके प्रति पहुंचाता है उनको वशकर भीतर की तरफ ही एकाग्र कर लेता है वह (तक्वः) कृच्छ्र तपस्वी (नेता) नायक के समान (यः उपमा) जो उसका साक्षात् ज्ञान कर लेता है (तत् इत्) तब ही (वपुः अमुच्यत) इस शरीर बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अतीदु शक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः।
भिनत् कनीन ओदनं पच्यमानं परो गिरा ॥ ११ ॥ ऋ०८।६९।१४॥

भा०—(इन्द्रः) वह आत्मा या योगाभ्यासी पुरुष (शक्रः) शक्तिमान्, राजा के समान (विश्वाः द्विषः) समस्त शत्रुओं को (अति) अतिक्रमण करके (अति इत्) समस्त दुःखों के पार ही (ओहते) पहुंचा देता है। और वह (कनीनः) अति कमनीय, अति सुन्दर, तरुण, कान्तिमान्, (परः) समस्त इन्द्रियगण और मन से भी परे विद्यमान रहकर (पच्यमानम्

ओदनम्) परिपक्व होने वाले भात के समान, भोग्य ब्रह्मरूप बल को अथवा (परः पच्यमानं ओदनं) परम स्थान पर परिपक्व होते हुए तेज को (गिरा) स्तुति द्वारा या उपदेश द्वारा या ओंकार-रूप नाद द्वारा (भिनत्) भेद लेता है, उसे प्राप्त होजाता है ।

अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम् ।
स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम् ॥ १२ ॥ ऋ०८।६९।१५॥

भा०—(पित्रे मात्रे) मा बाप के लिये (अर्भकः) बच्चा (कुमारकः न) नया कुमार जिस प्रकार नये रथ पर चढ़कर जंगल में वीरता से जाता और मृग और महिषको पकड़ कर लाता और मा बाप के हर्ष का हेतु होता है उसी प्रकार वह योगाभ्यासी भी (अर्भकः) अति सूक्ष्म शरीर होकर (नवं रथं तिष्ठन्) नये रथ, देह पर आरूढ़ होकर (सः) वह (विभुक्रतुम्) बड़े व्यापक ज्ञान और कर्म से युक्त महान् (मृगं) अति पवित्र एवं सबसे खोजने योग्य (महिषं) महान् दानी परमेश्वर को (पित्रे मात्रे) पिता माता के पद पर (पक्षत्) स्वीकार कर लेता है ।

∴ पक्षपरिग्रहे । भ्वादिः ।

आ तू सुशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम् । अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम् ॥ १३ ॥ ऋ०८।६९।१६॥

भा०—हे (सुशिप्र) उत्तम बलशालिन् ! हे (दम्पते) आत्मा के पति के समान समस्त सुखों के उत्पादक प्रकृति के स्वामिन् ! परमेश्वर ! [illegible] चिति शक्ति या बुद्धि के स्वामिन् ! आत्मन् ! तू (हिरण्ययम्) [illegible] ति के समान सुवर्ण के समान तेजोमय कान्तिमान् ([illegible]), या परम रमणीय रस रूप परब्रह्म का (आतिष्ठ) आश्रय [illegible] पर आरूढ़ हो । (अध) उसके बाद हम दोनों जीव और परमात्मा (सहस्रपादम्) सहस्रों पादों से युक्त (अरुषं) अति तेजोमय (स्वस्तिगाम्) सुखमय,

कल्याणमय सत्ता या स्थिति मोक्षपद को प्राप्त कराने वाले (अनेहसम्) पाप रहित या राजस कर्म में प्रवृत्ति रहित (शुभम्) अतितेजोमय उस परमपद को (सचेवहि) प्राप्त करें ।

'सहस्रपादम्' विशेषण से 'रथ' शब्द रस स्वरूप परब्रह्म का वाचक है 'सहस्राक्षः सहस्रपात्' । इसी का आगे भी वर्णन करते हैं ।

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते । अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति दावने ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ६९ । १७ ॥

भा०—(अस्य) इसके (सुधितम्) उत्तम रूप से सुरक्षित (अर्थम्) प्राप्य, परम कोश, आनन्दमय धन या परम पुरुषार्थ को (एतवे) पहुंचने के लिये उपासक लोग (दावने) आत्म समर्पण के निमित्त (यत्) जब जब (आवर्तयन्ति) पुनः २ ज्ञान और कर्म का अभ्यास करते हैं तब २ ही (नमस्विनः) नमस्कार करने वाले, उपासक जन (तं घ) उस (स्वराजम्) स्वतः प्रकाशमान परमेश्वर की ही (इत्था) इस प्रकार सत्य रूप में तब २ (उप आसते) उपासना करते हैं ।

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम् ।
पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत ॥१५॥ऋ०८।६९।१८

भा०—(प्रियमेधासः) पवित्र ब्रह्मज्ञान के प्रिय, (हित-प्रयसः) ... ज्ञान को प्राप्त कर लेने वाले (पूर्वाम् प्रयतिम् अनु) अपने पूर्व जन्म के किये उत्कृष्ट यत्न के अनुकूल (वृक्तबर्हिषः) यज्ञ में जिस प्रकार कुशादि ... ये जाते हैं उसी प्रकार अध्यात्म यज्ञ के लिये प्राणों का आयमन ... मान्, राज... विद्वान् साधक जन (एषाम्) इन में जीव के रहने योग्य ... और वह (कनीनः) ... प से सबसे (प्रत्नस्य ओकसः) पुरातन, पुण्य स्थान या (परः) समस्त इन्द्रियगण अ... ने ही (अनु आशत) निरन्तर उपभोग करते, उसमें

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ।१८॥ ऋ०८।७०।१

भा०—(यः) जो (चर्षणीनां राजा) मनुष्यों के बीच में राजा के समान (चर्षणीनां) दर्शनशील इन्द्रियों के बीच (राजा) स्वयं ज्ञान से प्रकाशित एवं उनका प्रकाशक है । (अध्रिगुः) स्वयं अधृत, अस्थिर, चंचल इन्द्रियों से युक्त होकर भी (रथेभिः याता) रमणकारी नाना देहों से जीवन पथ पर यात्रा करने वाला (विश्वासाम्) समस्त (पृतनानां) शत्रु सेनाओं के विनाशक सेनाओं के (तरुता) नाशक सेनापति के समान समस्त आभ्यन्तर शत्रुरूप वासनाओं का नाशक और (ज्येष्ठः) स्वयं सबसे श्रेष्ठ और (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान का नाशक है उसका मैं (गृणे) स्तुति या उपदेश करता हूं ।

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥१९॥
ऋ० ८ । ७० । २ ॥

भा०—हे (पुरुहन्मन्) अति अधिक पदार्थों के जाननेहारे! बहुत कष्टों के नाशक विद्वन्! (यस्य) जिसके (विधर्त्तरि) विविध उपायों से धारण करने हारे स्वरूप में (अवसे) संसार के रक्षण के लिये (द्विता) निग्रह, अनुग्रह स्वरूप दो प्रकार हैं (तं) उस (इन्द्रं) इन्द्र के (शुम्भ) गुणों को वर्णन कर । और (यस्य वज्रः) जिसका वज्र, बलस्वरूप वीर्य (हस्ताय) दुष्टों का हनन करने के लिये (दिवे सूर्यः न) आकाश में प्रकाश के लिये सूर्य के समान (महः दर्शतः) बड़ा दर्शनीय (प्रति धायि) प्रत्येक पुरुष के लिये स्थित है ।

नकिष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम् । इन्द्रं न
यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्ण्वोजसम् ॥१८॥ ऋ०८।७०।३॥

भा०—(यः) जो (सदा वृधम्) सदा शक्ति को बढ़ाने वाले, (विश्वगूर्त्तम्) सर्व स्तुत्य (ऋभ्वसम्) सत्य के बलसे बढ़ने वाले महान (धृष्णवोजसम्) धर्षणशील पराक्रम वाले (अषाढम्) कभी भी न हारे हुए, सदा जयशील (इन्द्रम्) राजा के समान ऐश्वर्यवान् आत्मा को जो (चकार) साधता है (तम्) उसके पद को (नकिः) कोई भी न (कर्मणा नशत्) कर्म या चेष्टा से ही प्राप्त करता है और (न यज्ञैः) न यज्ञों से ही कोई उसके पदतक पहुंचता है ।

अषाल्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन् महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामी अनोनवुः ॥१९॥
ऋ० ८ । ७० । ४ ॥

भा०—(यस्मिन् जायमाने) जिसके प्रकट होने पर (धेनवः) दुग्ध दोहन करने वाली गौओं के समान नाना ऐश्वर्य से राष्ट्र को पूर्ण करने वाली प्रजा जिस प्रकार (अषाल्हम्) उस पराक्रमी, (उग्रम्) भयङ्कर; सदा बलवान् , (पृतनासु सासहिम्) शत्रु-सेनाओं पर विजय करने वाले राजा की स्तुति करते हैं उसी प्रकार जिस परमेश्वर या आत्मा के प्रकट हो जाने पर (महीः द्यावः) बड़े २ तेजस्वी सूर्य के समान विद्वान् गण (मही क्षामः) बड़ी पृथिवीयां, उनके निवासीजन भी (उरुज्रयः) विशाल स्तुतियों से युक्त होकर (अनोनवुः) नित्य स्तुति करते हैं ।

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥२०॥
आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः ॥२१

भा०—(२०, २१) दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० २० । ८१ । १ ॥ ऋ० ८ । ७० । ५, ६ ॥

[६३) ईश्वर स्तुति

१—३ प्रगाथः ऋषिः । ४—८ देवजामय इन्द्रमातरः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

उत त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ५३ । १ ॥

भा०—हे (अद्रिवः) अखण्ड बलवीर्यवन् ! वज्रिन् ! (त्वा) तुझ को (स्तोमाः) स्तुतिसमूह और स्तुतिकर्ता जन (उत मन्दन्तु) हर्षित करें । तू (राधः कृणुष्व) अन्न और ज्ञान, भक्ति आदि ऐश्वर्य प्रदान कर । (ब्रह्मद्विषः) ब्रह्म, वेद और वेदज्ञ विद्वानों से द्वेष करने वाले पुरुषों को (जहि) नाश कर ।

पदा पणीरराधसो नि बाधस्व महाँ असि ।
नहि त्वा कश्चन प्रति ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ५३ । २ ॥

भा०—(अराधसः) ऐश्वर्य एवं आराधना आदि से रहित (पणीन्) केवल लोक व्यवहार में चतुर लोभी पुरुष को तू (पदा) पैर से (नि बाधस्व) पीड़ित कर । तू (महान् असि) सबसे महान् है (त्वा प्रति) तेरे मुकाबले पर (नहि कः चन) कोई भी नहीं है ।

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।
त्वं राजा जनानाम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ५३ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! (सुतानाम्) अभिषिक्त और (असुतानाम्) अनभिषिक्त सभी जनों का (ईशिषे) स्वामी है । तू (जनानाम्) समस्त उत्पन्न जनों का (राजा) राजा है ।

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
भेजानासः सुवीर्यम् ॥ ऋ० १० । १५३ । १ ॥

भा०—(सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य का (भेजानासः) सेवन करती हुई (अपस्युवः) तदनुकूल आचरण करती हुई स्त्रियां जिस प्रकार (ईक्षयन्तीः) पति आदि का संग लाभ करती हुई (जातम् उपासत) उत्पन्न सुन्दर पुत्र को प्राप्त करती हैं और जिस प्रकार (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य या पुरुष को (भेजानासः) आश्रय करती हुई (अपस्युवः) तदनुकूल कार्य करना या रक्षा चाहती हुई प्रजाएं (ईक्षयन्तीः) उसी के शरण जाती हुई प्रजाएं (जातं इन्द्रम्) प्रकट हुए, प्रत्यक्ष ऐश्वर्यवान् राजा का (उपासते) आश्रय लेती हैं उसी प्रकार (सुवीर्यम् भेजानासः) उत्तम वीर्यवान् परमबलस्वरूप परमेश्वर का (भेजानासः) भजन करती हुई (अपस्युवः) ज्ञान और कर्म का लाभ चाहती हुई (ईक्षयन्तीः) इस परमेश्वर की शरण में जाती हुई (जातम्) हृदय में प्रकट हुए (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (उपासते) उपासना करती हैं।

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं वृषन् वृषेदसि ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १५३ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) तू (बलात्) बल से अग्नि के समान (सहसः) शत्रु पराजित करने हारे सैन्यबल से विजेता के समान और (ओजसः) वीर्य एवं पराक्रम से राजा के समान अथवा पुत्र के समान (अधिजातः) और भी अधिक गुणवान वीर्यवान् और पराक्रमी रूप से प्रकट होता है। हे (वृषन्) सुखों के वर्षक ! तू (वृषा इत् असि) साक्षात् मेघ के समान आनन्द घन होकर आनन्द की वर्षा करता है।

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यन्तरिक्षमतिरः।
उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १५३ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (वृत्रहा) वृत्र, आवरणकारी अन्धकार के नाशक सूर्य और मेघ के छिन्न भिन्न करने वाले वायु या विद्युत्

अथवा आवरणकारी शत्रु के नाशक वीर राजा के समान (असि) है । तू (अन्तरिक्षम्) उक्त सूर्य आदि के समान अन्तरिक्ष=हृदयाकाश को (वि अतिरः) विशेष रूप से व्याप लेता है और (ओजसा) अपने पराक्रम से (द्याम्) आकाश को सूर्य के समान या राजसभा को राजा के समान समस्त (धाम्) तेजोमय शक्ति को (अस्तभ्नाः) धारण करता है ।

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः ।
वज्रं शिशान ओजसा ॥ ७ ॥ ऋ० १० । १५३ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (बाह्वोः अर्कम्) बाहुओं से जिस प्रकार वज्र को धारण किया जाता है उसी प्रकार जो (सजोषसम्) सेवनीय गुणों से युक्त (अर्कम्) अर्चनीय स्वरूप को तू (बाह्वोः) बाहु के समान अपने ज्ञान और कर्म के द्वारा (बिभर्षि) धारण करता है और (ओजसा) अपने वीर्य पराक्रम से (वज्रं शिशानः) ज्ञानरूप वज्र को और भी तीक्ष्ण करता है ।

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा ।
स विश्वा भुव आभवः ॥ ८ ॥ ऋ० १० । १५३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (ओजसा) अपने पराक्रम से (विश्वा जातानि) समस्त उत्पन्न लोकों में (अभिभूः) व्यापक, उनका वशीकर्ता है । (सः) वह परमेश्वर ही (विश्वा भुवः) समस्त पदार्थों के उत्पादक भूमियों को भी गौओं को वृष के समान उत्पादक रूप से (आभवः) सब प्रकार से प्राप्त है ।

[९४] राजा, आत्मा और परमेश्वर ।

आंगिरसः कृष्ण ऋषिः । १-३ १०, ११ त्रिष्टुभः । ४-९ जगत्यः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान् ।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन ॥ १ ॥
[१-११] ऋ० १० । ४४ । १-११ ॥

भा०—(यः) जो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा ! राजा ! (धर्मणा) अपने धारण करने वाले सामर्थ्य से (तूतुजानः) सर्वत्र व्यापक (तुविष्मान्) महान् सामर्थ्यवान् है और जो (अपारेण) अपार अनन्त (महता) बड़े भारी (वृष्ण्येन) बल से (विश्वा सहांसि) और समस्त बलों को (अति) पार करके उनको (प्रत्वक्षाणः) उत्तम रीति से गढ़ता या बनाता है वह (स्वपतिः) समस्त धनों का स्वामी (मदाय) परमानन्द प्रदान करने के लिये (आयात्) हमें साक्षात् प्राप्त हो ।

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ ।
शीभं राजन् सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि ॥ २ ॥

भा०—हे (नृपते) राजन् ! आत्मन् ! (ते रथः) तेरा रथ (सुष्ठामा) उत्तम रीति से युद्ध में स्थिर रहने वाला हो । (ते हरी सुयमा) तेरे घोड़े उत्तम रीति से नियम में रहने वाले हों (ते गभस्तौ) तेरे हाथ में (वज्रः) वज्र, खड्ग (मिम्यक्ष) वर्तमान रहे । तू (सुपथा) उत्तम मार्ग से (शीभम्) शीघ्र वेग से (अर्वाङ् याहि) सम्मुख, आगे प्रयाण कर (पपुषः) राष्ट्र के नित्य पालन करने वाले (ते) तेरे (वृष्ण्यानि) बलों को हम (वर्धाम) बढ़ावें ।

अध्यात्म में—हे आत्मन् ! तेरा देहरूप रथ सदा सुख से स्थिर रहे । तेरे प्राण उदान रूप घोड़े उत्तम रूप से नियम में रहें (गभस्तौ) हाथ में सदा ज्ञानरूप वज्र रहे । तू उत्तम मार्ग से आगे बढ़ । पालनकारी एवं आनन्दरस के पान करने वाले तेरे बलों को हम बढ़ावें ।

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम् ।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु ॥ ३ ॥

भा०—(वज्रबाहुम्) खड्ग को हाथ में लिये (उग्रम्) अति भयंकर, बलवान् (प्रत्वक्षसम्) शत्रु बलों के नाशक, (सत्यशुष्मम्) सत्य बल वाले (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक एवं नरश्रेष्ठ (नृपतिम्) समस्त मनुष्यों के पालक राजा को (उग्रास:) अति बलवान् (तविषास:) बड़े २ (सधमाद:) एक साथ आनन्द लाभ करने वाले (अस्मत्रा) हम में से (इन्द्रवाह:) इन्द्र, राजा के कार्य को वहन करने या सञ्चालन करने में समर्थ योग्य पुरुष (आविहन्तु) राजा को वहन करें राजा को राज्यकार्य में संचालित करें ।

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्जस्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (एवा) इस प्रकार से तू ही (पतिम्) अपने पालक (द्रोणसाचम्) राष्ट्र में विद्यमान (सचेतसम्) ज्ञानवान् (ऊर्जस्कम्भम्) बलों के स्तम्भन करने वाले पुरुषों या प्रजाजन को अपने (धरुणे) धारण पोषण करने वाले सामर्थ्य या शासन में (आवृषायसे) सर्वत्र पुष्ट करता है । तू (ओजः) बल, पराक्रम (कृष्व) सम्पादन कर । (त्वे) अपने में ही तू (संगृभाय) राष्ट्र के समस्त कार्यों को संग्रह कर यथा जिससे तू (केनिपानाम्) बड़े २ विद्वान् ज्ञानी पुरुषों की (वृधे) वृद्धि के लिये (इन: असः) उनका राजा बनकर रह ।

अध्यात्म में—(द्रोणसाचं) देह रूप घर में व्यापक (सचेतसम्) चेतनावान् (ऊर्जस्कम्भम्) बलके धारक (पतिम्) पालक प्राण को हे आत्मन् ! तू (धरुणे) अपने शासन में धारक प्रयत्न में (आवृषायसे) रखता है । तू (ओज: कृष्व) बल सम्पादन कर (त्वे संगृभाय) अपने

में संचित कर (यथा) जिससे (केनिपानाम्) सुखमय आत्मा के परम रस को पान करने वाले अथवा सुखमय परमब्रह्म तक पहुंचने वाले अध्यात्म ज्ञानियों को भी (इनः असः) स्वामी है।

'केनिपानाम्'—केनिप इति मेधाविनाम । केनि शब्दयोरुपपदयोः पततेः पातेर्वा डः। के आत्मनि सुखमये पर ब्रह्मणि पतन्ति गच्छन्ति पान्ति वा रसं इति केनिपाः।

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं भरमा याहि सोमिनः।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा॥५॥

भा०—(अस्मै) हमें (वसूनि) नाना ऐश्वर्य (आगमन्) प्राप्त हों। मैं (हि) तुझको ही (शंसिषं) स्तुति करता हूं। तू (सोमिनः) सोम रस से यज्ञ करने वाले ज्ञानवान् पुरुष के (भरम्) यज्ञ को तू (आयाहि) प्राप्त हो। (त्वम् ईशिषे) तू सबका स्वामी है। (सः) वह तू (अस्मिन् बर्हिषि) इस महान् यज्ञ में, इस आसन पर (आसत्सि) आ विराज। (तव पात्राणि) तेरे पालन सामर्थ्य (धर्मणा) धारण बल से ही (अनाधृष्या) शत्रुओं से विजय किये नहीं जा सकते।

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥६॥

भा०—(प्रथमाः) श्रेष्ठ (देवहूतयः) देव परमेश्वर के उपासक अथवा देव इन्द्रियों के वश करने होरे पुरुष जो (दुष्टरा) दुस्तर अपार (श्रवस्यानि) ज्ञानैश्वर्यों और यशों को (अकृण्वन्) प्राप्त करते हैं वे (पृथक्) सबसे अधिक (प्रायन्) उत्कृष्ट मार्ग पर गमन करते हैं। और (ये) जो (यज्ञियाम्) यज्ञ, आत्मा, परमात्मा सम्बन्धी (नावम्) संसार से पार होने के साधनरूप नौका पर (आरुहम) चढ़ने में (न शेकुः) समर्थ नहीं होते (ते) वे (केपयः) कुत्सित आचरण वाले अज्ञान

होकर (ईर्मा एव) मानों ऋण से ही (नि आविशन्त) नीचे ही नीचे डूबते जाते हैं ।

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे ।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥७॥

भा०—(एव-एव) इसी प्रकार (अपरे) दूसरे लोग (येषां) जिनके (दुर्युजः) कष्ट से योग मार्ग में एकाग्र होने वाले, अवश, दुर्दान्त (अश्वाः) अश्वों के समान अजित इन्द्रिय (आ युयुज्रे) इधर उधर के विषयों में लग जाते हैं वे (दूढ्यः सन्तु) दुष्ट बुद्धि वाले हो जाते हैं । (इत्था) इस प्रकार (ये) जो (उपरे) उत्कृष्ट मार्ग में (प्राक्) उत्तम दिशा में (दावने) सर्व दुःखनाशक और समस्त सुखदायक परमेश्वर के निमित्त (सन्ति) हो जाते हैं (यत्र) जहां (पुरूणि) बहुत से (वयुनानि) ज्ञान और बहुत से (भोजना) नाना भोग्यफल प्राप्त होते हैं, वे कृतकृत्य होते हैं ।

गिरीँरज्रान् रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत् ।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥८॥

भा०—वह परमेश्वर (रेजमानान्) निरन्तर चलने वाले (अज्रान्) गमनशील, कांपने वाले (गिरीन्) मेघों और पर्वतों को भी (अधारयत्) स्थिर करता है, धारण करता है । (द्यौः) प्रकाशमान् सूर्य के समान जो (क्रन्दत्) गर्जना करता और जो (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्षस्थ विद्युत्, मेघ, आदि नाना पदार्थों को (कोपयत्) बड़े वेग से चला रहा है । और जो (समीचीने) परस्पर संगत हुए (धिषणे) सब पदार्थों के आश्रय द्यौ और पृथिवी दोनों को भी (वि स्कभायति) विशेष रूप से थामे हुए हैं । वह (वृष्णः) आनन्द रसों के वर्षण करने वाले समस्त ज्ञानों और बलों

और लोकों को (पीत्वा) अपने भीतर विलीन करके (मदे) अति आनन्द में (वच्यानि) ज्ञान-वचनों का भी (शंसति) उपदेश करता है ।

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः ।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन् बोध्याभगः ॥९॥

भा०—हे परमेश्वर ! मैं (ते) तेरे बनाये या दिये (सुकृतम्) पुण्याचरण रूप या उत्तम रीति से साधित (अंकुशं) अंकुश, प्रेरक वचन या ज्ञान को अपने ऊपर शासक के रूप में (बिभर्मि) धारण करता हूं । (येन) जिससे हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! तू (शफारुजः) निन्दा वचनों से हृदय को पीड़ा देने वाले दुष्ट पुरुषों को भी तू (आ रुजासि) पीड़ित करता है । (ते) तेरे (अस्मिन् सवने) इस महान् ऐश्वर्य या शासन में हमारा (ओक्यम्) निवास (सु अस्तु) उत्तम रीति से हो । और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (आ भगः) सब प्रकार से सेवन करने योग्य तू (सुते इष्टौ) उपासना रूप यज्ञ के सम्पादन करने के अवसर में (बोधि) हमारे अभिप्राय और स्तुति को जान ।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥११॥

भा०—(१०, ११) दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० २० । ११ । १० । ११ ॥ तथा २० । ८९ । १० । ११ ॥

[९५]

१ गृत्समद ऋषिः । २-४ सुदाः पैजवनः । १ अष्टिः । ३-४ शक्वर्यः । इन्द्रो देवता । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

त्रिकंद्रुकेषु महिषो यवांशिरं तुविशुष्मस्तृपत् सोमंमपिबद् विष्णुंना सुतं यथावंशत् । स ईं ममाद् महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥१॥ ऋ० २।२२।१॥

भा०—(महिषः) महान् (तुविशुष्मः) बड़ा बलवान् परमेश्वर (त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (यवाशिरम्) मिलाने और विभाग करने अर्थात् संयोग और विभाग दोनों से मिश्रित (सोमम्) इस संसार के प्रेरक बल को स्वयं (तृपत्) तृप्त, पूर्ण होकर भी (विष्णुना) अपने व्यापक बल से ऐसे (अपिबत्) पान करता है, उसे ऐसे अपने वश करता है (यथा) जिससे (सुतम्) उत्पन्न हुए संसार को वह (अवशत्) अपने वश किये रहता है । वह महान् प्रेरक बल ही उस (महाम् उरुम् ईम्) महान् विस्तीर्ण, तेज पराक्रम वाले परमेश्वर को (महि कर्म कर्तवे) बड़े २ कर्म करने के लिये (ममाद) पूर्ण समर्थ बना रहा है । (सः) वह (देवः) देव, तेजोमय (सत्यः) सत्यमय, बलस्वरूप (इन्दुः) परम ऐश्वर्य रूप होकर (सत्यम्) सत्यरूप (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् (देवम्) परम प्रकाशक, सर्वप्रद परमेश्वर को (सश्चत्) प्राप्त होता है ।

९५—इदं सूक्तं पञ्चमनुक्रमणिकायां पठ्यते । तत्र आद्यानां तिसृणां गृत्समद ऋषिः अन्त्यानां तिसृणां सुदाः पैजवन ऋषिः । उपलब्धसंहितासु चतुर्ऋचमिदं सूक्तमुपलभ्यते । अनुक्रमणिकायां 'अधत्विषीमान्'० 'साकं जातः०' इति ऋग्द्वयं (ऋ० २ । २२ । २, ३) अधिकं पठ्यते, तच्च समीचीनमेव । त्रिकद्रुकेष्विति तृचस्य सामवेदेऽपि तथैवोपलम्भात् । ऋग्द्वयस्यानुपलम्भः प्रमादात् शाखाभेदाद्वा विज्ञेयः ॥

अध्यात्म में—(महिषः) महान् (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा (तृपत्) आनन्द रस से तृप्त होकर (विष्णुना) व्यापक परमेश्वर के संग से (सुतं सोमम् अपिबत्) प्राप्त सोम, ब्रह्मानन्द रस का पान करता है। (सः) वह ब्रह्मरस (महाम् ऊरुम्) उस महान् विस्तृत तेजस्वी, (ईम्) इस योगी पुरुष को (महि कर्म कर्त्तवे ममाद) महान् २ कर्म करने के लिये भी समर्थ करता है। (सः देवः सत्यः इन्दुः) वह तेजस्वी सत्यस्वरूप ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (देवं सत्यम् इन्द्रं सश्चत्) प्रकाशमान ऐश्वर्यवान् आत्मा को ही प्राप्त होता है।

राजा के पक्ष में—(त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (महिषः तुविशुष्मः) सर्वश्रेष्ठ, बड़ा बलवान् राजा (विष्णुना) अपने व्यापक बल सामर्थ्य से (यवाशिरं) शत्रुनाशक सेनापतियों पर आश्रित, उन द्वारा (सुतम्) पीड़ित या ऐश्वर्यजनक (सोमम्) राष्ट्र को (अपिबत्) भोग करता है। वह राष्ट्ररूप ऐश्वर्य (महाम् ऊरुम्) उस महान् विस्तृत बल वाले राजा को (महि कर्म कर्त्तवे ममाद) बड़े २ कार्य करने के लिये प्रेरित करता है (सत्यः देवः इन्दुः सः) सत्य न्याय के बलवाला, करप्रद' ऐश्वर्ययुक्त वह राष्ट्र (सत्यं देवं इन्द्रं) सत्यकर्मा, न्यायी, विजयी, ऐश्वर्यवान् राजा को (सश्चत्) प्राप्त होता है।

अनुक्रमणी के अनुसार नीचे लिखे दो मन्त्र और समझने चाहियें। 'अध त्विषीमान्'० और 'साकं जातः०' ॥ जिनका मूल पाठ इस प्रकार है।

१-अध॒ त्विषी॑माँ अ॒भ्योज॑सा॒ क्रिविं॑ यु॒धाभ॑वु॒दा रोद॑सी अपृणदस्य म॒ज्मना॒ प्र वा॑वृधे । अध॑त्ता॒न्यं ज॒ठरे॒ प्रेम॑रिच्यत॒ सैनं॑ सश्च॒द् दे॒वो दे॒वं स॒त्यमिन्द्रं॑ स॒त्य इन्दुः॑ ॥ ऋ० २।२२।२॥

२-सा॒कं जा॒तः क्रतु॑ना सा॒कमोज॑सा ववक्षिथ सा॒कं वृ॒द्धो वी॒र्यैः॑ सास॒हिर्मृधो॒ विच॑र्षणिः । दाता॒ राधः॑ स्तुव॒ते काम्यं॒ वसु॒ सैनं॑ सश्चद्दे॒वो दे॒वं स॒त्यमिन्द्रं॑ स॒त्य इन्दुः॑ ॥ ऋ० २।२२।३॥

भा०—(१) (अध त्विषीमान् ओजसा युधा क्रिविम् अभि अभवत्) और वह कान्तिमान् इन्द्र अपने पराक्रम और प्रहारशील युद्ध द्वारा अपने सैन्य और प्रजा के नाश करने वाले शत्रु को दबाता है। और वह (रोदसी आ अपृणत्) द्यौलोक और पृथिवी लोक, राजसभा और प्रजाजन दोनों को अपने बल से पूर्ण करता है (अस्य मज्मना सः प्र वावृधे) इस राष्ट्र के बल से वह और अधिक बढ़ता है। और वह राष्ट्र के दो भाग करके (अन्यं) एक भाग को (जठरे) अपने वश में (अधत्त) करता है। और (ईम्) इस दूसरे भाग को (प्र अरिच्यत) अन्य राजाओं को प्रदान करता है। (सैनं० इत्यादि) पूर्ववत्॥

(२) हे इन्द्र ! राजन् ! तू (क्रतुना साकंजातः) कर्म और प्रज्ञा सामर्थ्य से युक्त होकर (ओजस्य साकम्) बल पराक्रम के साथ और (वीर्यैः साकं वृद्धः) वीर्यों, सामर्थ्यों से वृद्धि को प्राप्त होकर (वि चर्षणिः) सब का द्रष्टा राजा, (मृधः सासहिः) संग्रामकारियों का विजेता होकर (स्तुवते काम्यं वसु राधः च दाता) स्तुति करने वालों को धन ऐश्वर्य प्रदान करता है (सत्रत्० इत्यादि) पूर्ववत्।

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके चिदु लोककृत् संगे समत्सु वृत्रहाऽस्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ २॥ ऋ० १०। १३३। १॥

भा०—(अस्मै) इस (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा को (पुरोरथम्) रथ के आगे वर्त्तमान (शूषम्) बल की (प्रो अर्चत) स्तुति करो। (अभीके) भय रहित (संगे) परस्पर के मेल मिलाप में (लोककृत्) समस्त लोकों का उपकार करने वाला, और (समत्सु वृत्रहा) संग्रामों के अवसरों में शत्रुओं का नाश करने वाला होकर (अस्माकं चोदिता) हमें न्यायपथ में लेजानेहारा, हमारा हित (बोधि) जानता है। (अन्यकेषां)

क्षुद्र अन्य शत्रुओं के (धन्वसु अधि) धनुषों पर (ज्याकाः) डोरियें (नभन्ताम्) टूट जायें ।

अध्यात्म में—(पुरोरथम् इन्द्राय शूषम् अर्चतः) रसदर्शन के समक्ष इन्द्र, आत्मा के बल का वर्णन करो । वह (अभीके संगे) साक्षात् संग लाभ होने पर ही (चित्) मानो (लोक कृत्) अपने दर्शन कराता है या आश्रय प्रदान करता है । (समत्सु) परम आनन्द के अवसरों पर (वृत्रहा) आवरक अज्ञानों का नाशक है । वही (चोदिता) इन्द्रियगण का चालक होकर (बोधि) परम ज्ञान प्राप्त करता है । (अन्यकेषां अधि धन्वसु) अन्य क्षुद्र शत्रुओं के धनुषों की (ज्याकाः) डोरियां भी (नभन्ताम्) टूट जाती हैं अर्थात् आत्मिक बल के समक्ष शत्रुओं के हथियार निकम्मे होजाते हैं ।

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् । अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे नभ० ॥३॥ ऋ० १०।१३३।२॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) तू (सिन्धून्) बहने वाले नदी नदों को (अधराचः) नीचे जाने वाला (अवासृजः) बनाता है । और (अहिम्) सूर्य जिस प्रकार मेघ को नाश करता है उसी प्रकार सूर्य के समान कुटिलाचारी पुरुष को भी (अहन्) नाश करता है । तू (अशत्रुः) शत्रुरहित (जज्ञिषे) जाना जाता है । तू ही (विश्वं वार्यम्) समस्त वरने योग्य ऐश्वर्य को (पुष्यसि) पुष्ट करता है । (तं त्वा) उस तुझ को हम (परिष्वजामहे) सब प्रकार से अपनाते हैं । (नभन्ताम्० इत्यादि) पूर्ववत् ।

राजा के पक्ष में—(सिन्धून्) अतिवेग से जाने वाले सेना दलों को अपने अधीन रखकर चलाता है । शत्रु का नाश करता है । तू शत्रु रहित जाना जाता है । समस्त ऐश्वर्य की वृद्धि करता है, हम प्रजाजन तेरा आश्रय लेते हैं ।

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः । अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु । नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ४ ॥ ऋ० १० । १३३ । २ ॥

भा०—(विश्वाः) समस्त (अर्यः) सम्मुख चढ़ाई करने वाले (अरातयः) अराति, करादि न देने वाले शत्रुजन (सु विनशन्त) अच्छी प्रकार नष्ट हों । (नः धियः) हमारी स्तुतियां तुझे प्राप्त हों । हे (इन्द्र) शत्रुनाशक ! (नः यः जिघांसति) हमें जो मारना चाहता है उस (शत्रवे) शत्रु को नाश करने के लिये तू (वधं अस्तासि) वधकारी शस्त्र का प्रयोग करता है । और (या) जो तेरा (रातिः) दानशील हाथ है वह (वसु ददिः) सदा ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

[९६]

१–५, पूरणो वैश्वामित्रः । ६–१० यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः । ११–१६ रक्षोहा ब्राह्मः । १७–२३ विवृहा काश्यपः । २४ प्रचेताः ॥ १–५ इन्द्रो देवता । ६–१० राजयक्ष्मघ्नम् । ११–१६ गर्भसंस्रावे प्रायश्चितम् । १७–२३ यक्ष्मघ्नम् । २४ दुःस्वप्नघ्नम् ॥ १–१० त्रिष्टुभः । ११–२४ अनुष्टुभः । चतुर्विंशत्यृचं सूक्तम् ॥

[९६]—इदं सूक्तं राथहिटनीभ्यां त्रयोविंशत्यृचं पठ्यते । वैतानसूत्रे चतुर्विंशत्यृचं स्वीक्रियते । तत्र पूर्वाः पञ्च पूरणदृष्टाः । ततः पञ्च यक्ष्म नाशन-प्राजापत्यदृष्टाः । ततः षट् रक्षोहब्राह्मदृष्टाः ततः षड् विवृहा काश्यप-दृष्टाः ततश्चैका प्रचेतोदृष्टा दुःस्वप्नघ्नी इति ऋग्वेदीयक्रमेण पठ्यमाना त्रयोविंशतिर्ह्विटनीराथसम्मताः । पाण्डुरंग संहितायां 'हृदयात्ते०' ॥ १७ ॥ इत्येका ऋग् अधिका पठ्यते । मेहनादित्यस्य स्थाने च 'अस्थिभ्यस्ते०' इति ऋक् पठ्यते । 'ऊरुभ्यां०' 'अङ्गेभ्यो०' इत्यनयोः । पाठभेदश्च दृश्यते ।

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च ।
इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन् तुभ्यमिमे सुतासः
॥ १ ॥ [१-५] ऋ० १० । १६० । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यशील ! जीवात्मन् ! तू (तीव्रस्य) तीव्र, तीक्ष्ण ज्ञानवान् (अभिवयसः) सब प्रकार योग्य कर्म-फलों से युक्त (अस्य) इस आनन्द-रस को (पाहि) पान कर, स्वीकार कर। (सर्वरथा) समस्त रमण योग्य देहों में विद्यमान (हरी) हरी हरणशील अश्वों के समान प्राण और अपान दोनों को (इह) इस ज्ञान की दशा में (वि मुञ्च) त्याग कर। हे (इन्द्र) आत्मन् (त्वा) तुझको (अन्ये यजमानासः) और दूसरे विपरीत मार्ग पर लेजाने वाले संगकारी, आसक्तिजनक विषयगण (मा निरीरमन्) सर्वथा भी प्रलोभन में न फांसलें (इमे) ये (सुतासः) समस्त उत्पन्न पदार्थ आभ्यन्तर आनन्दरस (तुभ्यम्) तेरे ही लिये हैं।

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति ।
इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम् ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) जीवात्मन् ! ये (सुताः) उत्पन्न समस्त पदार्थ (तुभ्यम्) तेरे उपभोग के लिये ही हैं। (सोत्वासः) उत्पन्न होने वाले भावी पदार्थ भी तेरे लिये ही हैं। (श्वात्र्याः) अति शुभ्र एवं शीघ्र ही अपने अभिप्राय को बतलाने वाली, सुस्पष्ट (गिरः) वाणियां भी (त्वां आ ह्वयन्ति) तुझे ही लक्ष्य करके पुकारती हैं। हे इन्द्र आत्मन् ! (अद्य) आज (इदं) इस (सवनम्) उपासना को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ तू (विश्वस्य विद्वान्) समस्त संसार का ज्ञाता होकर (सोमम्) सोम रूप ऐश्वर्य एवं आत्मानन्द रस का (पाहि) पान कर।

य उ॑श॒ता मन॑सा॒ सोम॑मस्मै सर्व॒हृदा॑ दे॒वका॑मः सु॒नोति॑ ।
न गा इन्द्र॒स्तस्य॒ परा॑ ददाति प्रश॒स्तमिच्चारु॑मस्मै कृणोति ॥३॥

भा०—(यः) जो पुरुष (उशता) कामनायुक्त, अभिलाषा वाले (मनसा) मन से (सर्वहृदा) पूर्ण हृदय से (देवकामः) उपास्यदेव की प्राप्ति की इच्छा करता हुआ (अस्मै) इसके साक्षात् के लिये (सोमम् सुनोति) ब्रह्मानन्द रस का निष्पादन करता है (इन्द्रः) आत्मा या परमात्मा (तस्य) उस पुरुष के (गाः) प्राप्त होने योग्य ज्ञानेन्द्रियों और वाणियों या शक्तियों को (न परा ददाति) विनष्ट नहीं होने देता । प्रत्युत (अस्मै) उसके लिये (प्रशस्तम् इत्) उत्तम उत्तम फल ही (कृणोति) उत्पन्न करता है ।

अनु॑स्पष्टो भवत्ये॒षो अ॑स्य॒ यो अ॑स्मै रे॒वान् न सु॒नोति॒ सोम॑म् ।
निर॑त्नौ म॒घवा॒ तं द॑धाति ब्रह्म॒द्विषो॑ ह॒न्त्यना॑नुदिष्टः ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (रेवान्) विभूतिमान् होकर भी (अस्मै इस आत्मा के लिये (सोमम्) ब्रह्मरस को (सुनोति) सवन करता है ब्रह्म ध्यान का अभ्यास करता है (अस्य) उसको ही (एषः) वह आत्मा (अनुस्पष्टो भवति) साक्षात् होजाता है । (मघवा) वह ऐश्वर्यवान् आत्मा (तत्) उस अभ्यासी पुरुष को (अरत्नौ) अपने हाथ में अपनी विशेष रमण करने वाले रस में (नि दधाति) स्थापित करता है । और (अनानुदिष्टः) विना प्रार्थना किये ही (ब्रह्मद्विषः) उस महान ब्रह्म से प्रेम न करने वाले मानस दुर्व्यापारों को (हन्ति) प्रसन्न हुए राजा के समान विनाश कर देता है ।

अ॒श्वा॒यन्तो॑ ग॒व्यन्तो॑ वा॒जय॑न्तो॒ हवा॑महे॒ त्वोप॑गन्त॒वा उ॑ ।
आ॒भूष॑न्तस्ते सुम॒तौ नवा॑यां व॒यमि॑न्द्र त्वा शु॒नं हु॑वेम ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् आत्मन् ! (त्वा उपगन्तवा उ) तुझे प्राप्त होने के लिये ही जिस प्रकार अश्वों और गौवों या भूमियों की और अन्नों की कामना करते हुए प्रजाजन अपने राजा के पास पहुंचते हैं उसी प्रकार हम भी (अश्वायन्तः) शीघ्रगामी, बलवान् प्राणों या कर्मेन्द्रियों को चाहते हुए (गव्यन्तः) ज्ञान इन्द्रियों और ज्ञानवाणियों को चाहते हुए और (वाजयन्तः) अन्न या ऐश्वर्य, ज्ञान-समृद्धि चाहते हुए (त्वा हवामहे) तेरा स्मरण करते हैं। हम (आभूषन्तः) तेरी स्तुति करते हुए (ते) तेरी (नवायां सुमतौ) अति नवीन अथवा अति स्तुतियोग्य, उत्तम शुभ मति में रहते हुए (शुनम्) अति सुखस्वरूप (त्वा) तुझे (हुवेम) स्मरण करें।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ ६ ॥
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ८ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम ॥ ९ ॥
आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णव ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥ १० ॥ ऋ० १० । १६१ । १-५ ॥

९—(तृ०) 'शतमिन्द्राग्नी स०' इति राथाभिमतः पाठः।
१०—(प्र०) 'आहार्षत्वा विदं त्वा' इति राथाभिमतः।

भा०—(६-६) इन ४ मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० ३ । ११ । १—४ ॥ मन्त्र १० की व्याख्या देखो अथर्व० ८ । १ । २० ॥

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः ।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥ ११ ॥
यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये ।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥१२॥ ऋ० १०।१६२।१-२४

भा०—(रक्षोहा अग्निः) राक्षसों और विघ्नकारी, प्रजापीड़क जीवों का नाशक अग्नि, ज्ञानवान् पुरुष राजा के समान (ब्रह्मणा संविदानः) ब्रह्मवेद और वेदज्ञ विद्वान् के साथ सहमति करके, (यः दुर्नामा) जो दुष्ट स्वभाव वाला रोग (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ, ग्रहणशील (योनिम्) योनि भाग में (अमीवा) रोगकारक होकर (आशये) बैठा है उसको (इतः) यहां से (बाधताम्) पीड़ित करके दूर करे ॥ ११ ॥ इसी प्रकार (यः ते गर्भं० इत्यादि) पूर्ववत । वह अग्निः (ब्रह्मणा सह) ब्रह्म, ज्ञान बल के साथ (तं क्रव्यादम्) उस कच्चा मांस खाने वाले दुष्ट पीड़ाकारी रोग दुष्ट पुरुष को (निः अनीनशत्) सर्वथा नष्ट करे ।

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम् ।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१३॥ ऋ० १०।१६२।३॥

भा०—हे स्त्री ! (ते) तेरे गर्भाशय में (पतयन्तम्) वीर्यरूप से निषिक्त होते हुए और (निषत्स्नुम्) गर्भाशय में जमते हुए और (सरीसृपम्) उसी में गति करते हुए और (जातम्) उत्पन्न हुए बालक को (यः ३) जो दुष्ट कीटाणु या पुरुष (हन्ति) नाश करता है और (यः) जो (जातम्) उत्पन्न हुए शिशु को (जिघांसति) मार देना चाहता है (तम्) उसको (इतः) इस राष्ट्र और देह से हम (नाशयामसि) नष्ट करदें ।

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये ।
योनिं यो अन्तरारेळिह तमितो नाशयामसि ॥१४॥ऋ०१०।१६२।४॥

भा०—हे स्त्रि ! (यः) जो दुष्ट रोग या पुरुष (ते ऊरू) तेरे जांघों को (विहरति) पृथक् करता है उनका भोग करता है (दम्पती अन्तरा) स्त्री पुरुष, पति पत्नी दोनों के बीच तीसरा होकर (शये) तेरे साथ सोता है और (यः) जो (योनिम् अन्तः) गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसको (आरेळिह) विनाश करता है (तम्) उसको (इतः) यहां से (नाशयामसि) दूर भगावें ।

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१५॥ऋ०१०।१६२।५॥

भा०—हे स्त्रि (यः) जो दुष्ट पुरुष (भ्राता) भाई या (पतिः) पालक पति के समान होकर या (जारः भूत्वा) जार, व्यभिचारी पुरुष होकर (त्वा निपद्यते) तुझे भोग करता है और ऐसा करके (ते यः प्रजां) तेरी जो प्रजा, सन्तति का (जिघांसति) नाश करता है (तम्) उसको (इतः) इस यहां से (नाशयामसि) मार भगावें ।

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१६॥ऋ०१०।१६२।६॥

भा०—और हे स्त्रि ! (यः) जो (त्वा) तुझको (स्वप्नेन) निद्रा (तमसा) या अन्धकार में (मोहयित्वा) तुझे मोहित करके, सुलाकर (त्वा निपद्यते) तुझे भोग करे और इस प्रकार (ते प्रजां जिघांसति) तेरी सन्तति का नाश करना चाहे (तम् इतः नाशयामसि) उसको यहां से दूर करें ।

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १७ ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यं१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ १८ ॥
[१७, १८] ऋ० १० । १६२ । १, २ ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृंहामसि ॥ १९ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृंहामि ते ॥ २० ॥
ऋ० १० । १६२ । ३ ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृंहामि ते ॥ २१ ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृंहामि ते ॥ २२ ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीवर्हेण विष्वञ्चं वि वृंहामसि २३

भा०—(१७–२३) इन ७ मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० २ । २३ । १–७ ॥

१९—इयमृक् राथसम्मतसंहितायां नास्ति ।

२०–(द्वि०) 'वनिष्ठोर्हृदया०' (तृ०) 'यक्ष्मंमतस्नाभ्यां०' इति ऋ०

२१–'यक्ष्मं श्रोणिभ्या भासादद् भंससो वि वृहामिते' इति ऋ०। राथाभिमतश्च ।

२२–नखाः स्थाने–मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥२२॥ इति ऋ० राथाभिमतश्च ।

२३–अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥ इति ऋ०, राथाभिमतश्च ।

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ २४ ॥

भा०—हे (मनसः पते) मन को नीचे गिराने वाले ! दुष्ट विचार एवं दुःस्वप्न ! तू (अपेहि) दूर हो । (अप क्राम) परे हट । (परः चर) परे चला जा । (निर्ऋत्यै) दुष्ट पापप्रवृत्ति को भी (परः) दूर से ही (आ चक्ष्व) हवः विनष्ट कर क्योंकि (जीवतः) जीवनधारी पुरुष का (मनः) मन (बहुधा) बहुत प्रकार के विषयों में लग जाता है ।

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

[९७] राजा

कलिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यः । तृचं सूक्तम् ॥

वयमेनमिदा ह्योपीपेमेह वज्रिणम् ।
तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥ १ ॥

[१-३] ऋ० ८ । ६६ । ७-९ ॥

भा०—(वयम्) हम लोग (ह्यः) गये दिन और (इदा) इस समय आज और कल भी, नित्य (एनम् वज्रिणम्) इस वीर्यवान् पुरुष को (इह) इस राष्ट्र में (अपीपेम) पुष्ट करें । और (अद्य) आज (तस्मै उ) उसको ही (समना) संग्राम के लिये (सुतं) ऐश्वर्य (भर) प्राप्त करा (नूनं) निश्चय से वह (श्रुते) हमारी प्रार्थना सुनने पर (आ भूषत) आजाता है ।

आत्मा के पक्ष में—हम उस आत्मा को सदा पुष्ट करें (तस्मै) उस जीव के लिये ही (समना) संग्राम में (सुतं) वीर्य को प्राप्त कराओ ।

और (श्रुते) वेदोपदेश या गुरुपदेश से उसे (नूनं) निश्चय से (आभूषत) तुम सुशोभित करो ।

वृकश्चिदस्य वारुण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।

सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥ २ ॥

भा०—(उरामथिः) भेड़ों के नाश करने वाले (वृकः चित्) भेड़िये के समान स्वभाव वाला दुष्ट पुरुष और (वारणः) हस्ति के समान बलवान् जीव भी (अस्य वयुनेषु) इसके उत्कृष्ट ज्ञान और मार्गों में (आभूषति) उसके अनुकूल हो जाता है । हे (इन्द्र) राजन् ! तू (नः) हमारे (इमं स्तोमं) इस स्तुति समूह को (जुषाणः) प्रेम से सुनता हुआ (चित्रया धिया) अपनी सबको चेताने वाली बुद्धि और कार्यशैली से (नः आगहि) हमें प्राप्त हो ।

कदू न्वस्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् ।

केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा ॥ ३ ॥

भा०—(अस्य इन्द्रस्य) इस शत्रुहन्ता राजा का (कद् उनु पौंस्यम्) कौनसा शौर्य का काम (अकृतम् अस्ति) नहीं कर लिया है ? अर्थात् इसने सभी प्रकार के वीरता के कार्य कर लिये हैं । और (केन नु श्रोमतेन) किस श्रवण करने योग्य आश्चर्यजनक कार्य से (न शुश्रुवे) उसकी ख्याति नहीं सुनी जाती । वह तो (जनुषः परि) जन्म से ही (वृत्रहा) विघ्नकारी शत्रुओं का नाशक है ।

[९८] राजा के कर्तव्य

शंयुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथौ । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः ।

त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४६ । १ ॥

भा०—हम (कारवः) शिल्पी, विद्वान् लोग (वाजस्य सातौ) अन्न और संग्राम के लाभ करने के लिये (त्वाम् इत् हि) तुझ को ही (हवामहे) बुलाते हैं । (नरः) नेता मनुष्य लोग भी (वृत्रेषु) शत्रुओं के आ चढ़ने पर (सत्पतिम्) सज्जनों के प्रतिपालक (त्वाम्) तुझ को ही स्मरण करते हैं और (अर्वतः) घोड़े या वेगवान् यानद्वारा जाने लायक (काष्ठासु) दिशाओं में या दूर के देशों में भी लोग (त्वां) तुझे ही पुकारते हैं ।

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥ २ ॥

ऋ० ६ । ४६ । २ ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) खड्ग को हाथ में धारण करने हारे ! उग्र दण्ड ! हे (अद्रिवः) अदीर्ण, अमोघ बलवाले ! हे (चित्र) समस्त राष्ट्र का संचय करने एवं चित्र युद्ध करने में कुशल ! (त्वं) तू (धृष्णुया) स्वयं शत्रुओं का धर्षण तिरस्कार और पराजय करने में समर्थ होकर (महः स्तवानः) खूब अधिक गतिशाली होकर हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन्! (जिग्युषे) विजयशील पुरुष को (गाम्) गौ, (अश्वं) अश्व, (रथम्) रथ और (सत्रा) बड़े भारी (वाजं न) नाना अन्न और ऐश्वर्य को भी (सं किर) अच्छी प्रकार आदर से प्रदान कर ।

[९९] राजा, सेनापति

मेध्यातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यौ, प्रगाथः । द्वृचं सूक्तम् ॥

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् । रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ३ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! (ऋभवः) सत्य ज्ञान से प्रकाशित होने वाले विद्वान्‌गण (रुद्राः) स्तुतिशील और (आयवः) दीर्घायु (समीचीनासः) सम्यक्‌दृष्टि वाले, समदर्शी, तत्वज्ञानी मनुष्यगण (पूर्वपीतये) तुझे पूर्ण रीति से ज्ञान द्वारा तेरे आनन्द को प्राप्त करने के लिये (स्तोमेभिः) स्तुति समूहों से (त्वा अभि) तुझे ही लक्ष्य करके (सम् अस्वरन्) एकत्र होकर गाते हैं और (रुद्राः) सत्योपदेष्टा लोग (पूर्व्यम् गृणन्तः) सबसे पूर्व विद्यमान एवं पूर्ण तेरा ही उपदेश करते हैं ।

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ३ । ८ ॥

भा०—(सुतस्य) प्रस्तुत किये अभिषेक द्वारा प्राप्त राज्य के (विष्णवि) व्यापक (मदे) मद या हर्षाधिक्य से ही (इन्द्रः) शत्रुनाशक सेनापति (अस्य इत्) इस राजा के ही (वृष्ण्यं) बलशाली बहुत अधिक (शवः) बल को (वावृधे) बढ़ा देता है । (अस्य) इसके (तम्) उस (महिमानम्) महिमा को ही (आयवः) मनुष्यगण (पूर्वथा) पूर्व के समान (अद्य) आजतक भी (अनुस्तुवन्ति) निरन्तर स्तुति करते हैं ।

[१००] बलवान् राजा और आत्मा

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिहः । तृचं सूक्तम् ॥

अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान् महः ससृज्महे ।
उदेव यन्त उदभिः ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९८ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! हे (गिर्वण) स्तुतियों द्वारा भजन करने योग्य ! (अधा हि) अब (त्वा) तुझ से हम (महः) बड़े (कामान्) अभिलाषायोग्य मनोरथों को (उप स

सृजन्हे) प्राप्त हों ऐसे (उद्रा इव) जैसे जलके मार्ग से (यन्तः) जाते हुए पुरुष (उद्भिः) उन जलों से ही नाना काम्य सुखों को प्राप्त करते हैं।

अर्थात् ईश्वरभक्ति के साथ ईश्वर से और नाना सुख अनायास गौण रूप से ऐसे ही प्राप्त होते हैं जैसे जल मार्ग से जाते हुए को जलों के पान स्नानादि के समस्त सुख अनायास प्राप्त होते हैं।

वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९८ । ८

भा०—हे (शूर) शूरवीर ! शक्तिमन् ! (यव्याभिः वाः न) नदियों से जिस प्रकार समुद्र में जल बढ़ते हैं उसी प्रकार हे (अद्रिवः) वज्रिन् अमोघ शक्तिमन् ! (दिवेदिवे) प्रतिदिन (वावृध्वांसं चित्) स्वयं सदा वृद्धिशील होते हुए भी (ब्रह्माणि) वेद के मन्त्र (त्वा) तेरी महिमा की वृद्धि करते हैं।

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे ।
इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ९८ । ९ ॥

भा०—(इषिरस्य) अति शीघ्रगामी इन्द्र राजा के (उरुयुगे) बड़े भारी जुए वाले (रथे) रथ में जिस प्रकार (हरी) वेगवान् दो अश्वों को लोग जोड़ते हैं उसी प्रकार (इषि रस्य) इच्छा, आत्मसंकल्प में रमण करने वाले या सर्वप्रेरक आत्मा के (उरुयुगे) बड़े भारी योग बल से युक्त (उरौ) बड़े भारी (रथे) रमण योग्य रसमय स्वरूप में (वचोयुजा वाणी के साथ ही सदा योग करने वाले (इन्द्रवाहा) इन्द्र, जीवात्मा का निरोधवृत्ति द्वारा वहन करने वाले (हरी) सदा गतिशील प्राण और अपान को (गाथया) गुण स्तुति के साथ (युञ्जन्ति) युक्त करते अर्थात् योगाभ्यास द्वारा प्राणों का आयमन करते हैं।

[१०१] विद्वान् राजा

मेधातिथिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे॒ होता॑रं वि॒श्ववे॑दसम् ।
अ॒स्य य॒ज्ञस्य॑ सु॒क्रतु॑म् ॥ १ ॥ ऋ० १ । १२ । १ ॥

भा०—हम लोग (अग्निम्) ज्ञानवान्, अग्रणी, (विश्ववेदसम्) समस्त ऐश्वर्यों से युक्त, सब विद्याओं में पारंगत, (होतारं) सब सुखों और ज्ञानों के दाता (यज्ञस्य) यज्ञ राष्ट्र के (सुक्रतुम्) उत्तम रीति से करने वाले पुरुष को (दूतम्) दूत या प्रतिनिधि रूप से (वृणीमहे) नियुक्त करते हैं ।

इसी प्रकार ज्ञानी, ऐश्वर्यवान् उत्तम यज्ञकर्ता को होता, अग्रणी नायक बनाना चाहिये, यह भी स्पष्ट है ।

अ॒ग्निम॑ग्निं॒ हवी॑मभिः॒ सदा॑ हवन्त वि॒श्पति॑म् ।
ह॒व्य॒वाहं॑ पुरुप्रि॒यम् ॥ २ ॥ ऋ० १ । १२ । २ ॥

भा०—हम (हवीमभिः) स्तुतियों और उत्तम उपायों से (विश्पतिम्) प्रजा के पालक राजा (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी और ज्ञानवान्, नेता (हव्यवाहम्) प्राप्तव्य उद्देश्य तक ले जाने वाले (पुरुप्रियम्) बहुतों के प्रिय, सर्वप्रिय, लोकप्रिय, पुरुष को (सदा हवन्त) सदा आदर करो, भेंट आदि उत्तम पदार्थ प्रदान करो ।

अग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हा व॑ह जज्ञा॒नो वृ॒क्तब॑र्हिषे ।
असि॒ होता॑ न॒ ईड्यः॑ ॥ ३ ॥ ऋ० १ । १२ । ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! प्रकाशक ! अग्रणी, नेतः ! तू (वृक्तबर्हिषे) बड़े भारी राष्ट्र और प्रजा को प्राप्त करने हारे राजा के लिये (इह) इस सभाभवन में (देवान्) विद्वान् पुरुषों और अधीन विज-

योग्य पुरुषों को (आवह) प्राप्त करा। तू (नः) हमारे (ईड्यः) स्तुति योग्य, प्रशंसनीय, (होता) यज्ञ में होता के समान ही योग्य पुरुषों को योग्य पदाधिकार देने और उनको स्वीकार करने हारा है।

[१०२] परमेश्वर राजा

विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम् ॥

ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः।
समग्निरिध्यते वृषा ॥ १ ॥ ऋ० ३। २७। १३ ॥

भा०—(अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष अग्नि के समान तेजस्वी, सूर्य के समान (दर्शतः) दर्शनीय, (तमांसि) समस्त अन्धकारों को (तिरः) दूर करता हुआ (ईळेन्यः) सबके स्तुति योग्य (वृषा) समस्त सुखों का वर्षक और (नमस्यः) सबके नमस्कार करने योग्य है। वही नित्य (समिध्यते) खूब प्रज्वलित तेजस्वी किया जाता है।

राजा के पक्ष में—'वृषः' दुष्टों का प्रतिबन्धक। परमात्मा के पक्ष में—मेघ के समान आनन्दघन।

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः।
तं हविष्मन्त ईळते ॥ २ ॥ ऋ० ३। २७। १४ ॥

भा०—(वृषः) मेघ के समान आनन्दघन, समस्त संसार को नियमों में बांधने वाला (अग्निः) सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, (अश्वः) सर्वव्यापक, सर्वभोक्ता (अश्वः न देववाहनः) और अश्व जिस प्रकार विजिगीषु पुरुषों को युद्ध में ले जाता है उसी प्रकार (देव-वाहनः) विद्वानों को अपने धारण करने वाला है। (तं) उसको (हविष्मन्तः) साधनों, ज्ञानों से सम्पन्न पुरुष (ईळते) स्तुति करते हैं।

आत्मा के पक्ष में—देववाहनः=देव, इन्द्रियों और उत्तम गुणों का धारक है।

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि।
अग्ने दीद्यतं बृहत्॥ ३॥ ऋ० ३। २७। १५॥

भा०—हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षक! हे (अग्ने) तेजस्विन्! (वयं वृषणः) हम लोग स्वयं बलवान् होकर (वृषणम्) बलवान् (बृहत् दीद्यतम्) बहुत अधिक सूर्य के समान प्रकाशमान (त्वा) तुझ को (सम् इधीमहि) भली प्रकार प्रदीप्त और तेजस्वी बनाते हैं। तुझे प्रज्व-लित करते हैं।

[१०३] परमेश्वर, विद्वान्, राजा।

१. सुदीतिपुरुमीढौ। २—३ भर्ग ऋषिः। अग्निर्देवता। १, २ बृहत्यौ ३, सतो-बृहती। तृचं सूक्तम्॥

अग्निमीळिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।
अग्निं राये पुरुमीळ्ह श्रुतं नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः॥ १॥
ऋ० ८। ७१। १४॥

भा०—हे (पुरुमीळ्ह) बहुतों को ज्ञान, अन्न, ऐश्वर्यों से सेचन करने हारे विद्वन्! तू (अवसे) रक्षा के लिये (गाथाभिः) वाणियों से (शीरशोचिषं) व्यापक प्रकाशवाले (अग्निम्) ज्ञानवान्, प्रकाशयुक्त परमात्मा की (ईळिष्व) उपासना, स्तुति कर। हे (पुरुमीळ्ह) विद्वन्! (श्रुतम्) श्रवण करने योग्य उस (अग्निम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की (नरः) सभी पुरुष (रायः) ऐश्वर्य के लिये स्तुति करते हैं उसी (छर्दिः) सबके शरणस्वरूप (अग्निम्) परमेश्वर को (सुदीतये) उत्तम कान्ति और उत्तम दीप्ति के प्राप्त करने के लिये भी तू (गाथाभिः ईळिष्व) वाणियों से स्तुति कर।

अग्न॒ आ या॑ह्य॒ग्निभि॒र्होता॑रं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वाम॑नक्तु॒ प्रय॑ता ह॒विष्म॑ती॒ यजि॑ष्ठं ब॒र्हिरा॒सदे॑ ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ४९ । २ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! हे राजन् ! नेतः ! तू (अग्निभिः) अन्य ज्ञानवान् विद्वानों के साथ और तू अन्य नेताओं के साथ (आयाहि) हमें प्राप्त हो । हे परमेश्वर ! तू हमें अन्य ज्ञानवान् विद्वानों सहित प्राप्त हो । (होतारं त्वा वृणीमहे) तुझे होता स्वरूप से वरण करते हैं । तुझ सर्वदाता को हम स्वीकार करते हैं, तेरी स्तुति करते हैं । (यजिष्ठं त्वाम्) यज्ञशील, सबसे अधिक दानशील, संगतिकारक तुझ को (प्रयता) उत्तम नियम में बद्ध (हविष्मती) अन्नादि से समृद्ध (बर्हिः) प्रजा या आसन (आसदे) विराजने के लिये (अनक्तु) प्राप्त हो तुझे प्रकाशित करे ।

परमात्मा के पक्ष में—(प्रयता) उत्तम नियमों में बँधी (हविष्मती) अन्नादि से युक्त (बर्हिः) बृहती द्यौ और पृथिवी (आसदे) तुझ अधिष्ठाता को अपने पर शासन करने के लिये (त्वाम् अनक्तु) तुझे प्रकाशित करे ।

अच्छा॒ हि त्वा॑ सहसः सूनो अङ्गिरः॒ स्रुच॒श्चर॑न्त्यध्व॒रे ।
ऊ॒र्जो नपा॑तं घृ॒तके॑शमीमहे॒ऽग्निं य॒ज्ञेषु॑ पू॒र्व्यम् ॥ ३॥ ऋ० ८।४९।२

भा०—हे (सहसः सूनो) बलके कारण राजसूय द्वारा अभिषेक करने योग्य, अथवा बलों के प्रेरक राजन् ! हे (अंगिरः) राष्ट्र के अंग में रस या बल प्रदान करने वाले ! (अध्वरे) अहिंसित राष्ट्र में (त्वा) तुझे साक्षात् (स्रुचः) लोक (चरन्ति) प्राप्त हों । (ऊर्जः नपातम्) बल पराक्रम और अन्न को कभी नष्ट न होने देने वाले (घृतकेशम्) तेजोयुक्त किरण वाले (पूर्व्यम्) सब से अधिक पूर्ण, पालक औ

सबसे पूर्व सत्कार करने योग्य (अग्निम्) तुझ अग्रणी को हम (यज्ञेषु) सुसंगत प्रजाजनों के बीच (ईमहे) याचना करते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—हे (सहसः सूनो) समस्त बलों के प्रेरक, (अङ्गिरः) अग्नि, सूर्य के समान तेजस्विन्! (अध्वरे) यज्ञ में (स्रुचः) घृत से भरे चमसे (त्वा अच्छा यन्ति) तुझे लक्ष्य करके चलते हैं। हम (ऊर्जः नपातम्) अन्न को नष्ट न होने देने वाले अथवा बल के अक्षय भण्डार रूप, (घृतकेशम्) तेजःस्वरूप, केश या किरणों वाले, सूर्य के समान तेजस्वी (पूर्व्यम्) सबसे पूर्व विद्यमान तुझ (अग्निम्) ज्ञान-वान् से हम (ईमहे) प्रार्थना करते हैं।

[१०४] राजा परमेश्वर

१–२ मेध्यातिथिर्ऋषिः । ३–४ नृमेधः । इन्द्रो देवता । प्रगाथाः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ १ ॥
ऋ० ८ । ३ । ३ ॥

भा०—हे (पुरूवसो) प्रचुर ऐश्वर्य वाले परमेश्वर! (याः मम इमाः गिरः) जो मेरी ये वाणियां हैं वे (त्वा उ) तुझे ही (वर्धन्तु) बढ़ावें, तेरी ही महिमा गावें। (पावकवर्णाः) अग्नि के समान तेजस्वी, (शुचयः) शुद्ध पवित्र आचारवान् (विपश्चितः) ज्ञानवान्, मेधावी पुरुष (स्तोमैः) स्तुति समूहों से (त्वा अनूषत) तेरी ही स्तुति करते हैं।

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ३ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (सहस्कृतः) बल के उत्पादक (समुद्र इव) समुद्र के समान विस्तृत, अक्षय भण्डार वाले, ऐश्वर्यवान् परमेश्वर और राजा

को (सहस्रन्) हजारों (ऋषिभिः) मन्त्रदर्शी ऋषिगण (पप्रथे) विस्तृत या प्रसिद्ध करते हैं । (अस्य) उसकी (सः) वह विख्यात (महिमा) महिमा और (शवः) बल (यज्ञेषु) यज्ञों, उपासनाओं में और (विप्रराज्ये) विद्वानों के प्रदीप्त हृदय में (सत्यः) सत्य है । उसकी ही (गृणे) स्तुति की जाती है ।

राजा के पक्ष में —(सहस्कृतः) शत्रु के पराजय करने योग्य बल से युक्त वह (ऋषिभिः) हजारों ऋषि, मन्त्रदृष्टा विद्वानों द्वारा (समुद्र इव) समुद्र के समान गम्भीर, अक्षय कोशवाला (पप्रथे) प्रसिद्ध किया जाता है । (यज्ञेषु) परस्पर संगत प्रजासंघों में, संग्रामों में और (विप्रराज्ये) विद्वानों के शासन में (अस्य सत्यः महिमा) इसकी सत्य महिमाओं और (शवः) बल की (गृणे) स्तुति, प्रशंसा की जाती है ।

आ नो विश्वा॑सु हव्य॒ इन्द्रः॑ स॒मत्सु॑ भूषतु ।
उप॒ ब्रह्मा॑णि॒ सव॑नानि वृत्र॒हा प॑रम॒ज्या ऋची॑षमः ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ९० । १ ॥

भा०—(हव्यः) स्तुतियोग्य (इन्द्रः) परमेश्वर (नः) हमारी (विश्वासु) समस्त (समत्सु) आनन्द प्रसन्नता की दशाओं में (आभूषतु) प्रकट होवे । और वह (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान का नाशक (परमज्याः) प्रधान २ बाधक कारणों और बंधनों को नाश करने वाला (ऋचीषमः) समस्त स्तुतियों या वेदमन्त्रों में समान रूप से व्यापक परमेश्वर (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों को और (सवनानि) स्तुतियों को (उपभूषतु) प्राप्त करे ।

राजा के पक्ष में—वह (हव्यः) स्तुति योग्य, (विश्वासु समत्सु आभूषतु) समस्त संग्रामों में विद्यमान हो । वह शत्रुनाशक परम प्रबल शत्रुओं का नाशक स्तुतियों का समान रूप से पात्र होकर (ब्रह्माणि) बड़े २

वीर्यवान् पदों अधिकारों को और अन्नों को और (सवनानि) अभिषेक क्रियाओं को (उप भूषतु) प्राप्त हों।

त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत्।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । १० । २ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (त्वं) तू (राधसाम्) ऐश्वर्यों का (प्रथमः) सबसे प्रथम (दाता असि) दाता है। और तू ही (सत्यः) सत्य कर्म-वाला, सच्चा, वास्तविक (ईशानकृत् असि) हमें ऐश्वर्यवान् बनाने वाला है। (शवसः पुत्रस्य) अपने बल से समस्त पुरुषों को विविध कष्टों से रक्षा करने में समर्थ और (तुविद्युम्नस्य) बहुत धनाढ्य तेरे (युज्या) योग्य, उचित (महः) धनों को या तेरे (महः युज्या) बड़े भारी सत्संगों को (वृणीमहे) प्राप्त करें।

राजा के पक्ष में भी स्पष्ट है।

[१०५] राजा, सेनापति

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथाः । पंचर्चं सूक्तम् ॥

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ९९ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुनाशक ! (त्वम्) तू (प्रतूर्तिषु) बड़े २ संग्रामों में सम्मुख आये (विश्वाः स्पृधः) समस्त स्पर्धा करने वालों के (अभि असि) मुकाबले पर आकर उनको पराजित करता है। (त्वं) तू (अशस्तिहा) निन्दाओं का नाशक और (जनिता) शत्रु के लिये निन्दाओं का स्वयं उत्पन्न करने हारा, हे (तूर्य) शत्रुहिंसक ! (तरुष्यतः)

हिंसाकारी दुष्ट पुरुषों का (विश्वतूः) सब प्रकार से नाश करने वाला (असि) है । अथवा, हे इन्द्र तू (तरुष्यतः तूर्व) हिंसा करने की इच्छा वालों का नाश कर ।

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ९९ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुनाशक राजन् ! (मातरा शिशुं न) माता और पिता दोनों जिस प्रकार बालक के पीछे चलते हैं उसी प्रकार (तुरयन्तम्) शत्रुओं के नाशक (ते शुष्मम्) तेरे बल के (अनु) पीछे २ (क्षोणी) शासकवर्ग और प्रजावर्ग दोनों आकाश और पृथिवी के समान वर्त्तमान बड़े और छोटे सभी (ईयतुः) चलते हैं । (यत्) जब तू (वृत्रं) विघ्नकारी का (तूर्वसि) विनाश करता है तब ही (विश्वाः स्पृधः) सब स्पर्धा करने वाले शत्रुगण (ते मन्यवे) तेरे क्रोध के आगे (श्नथयन्त) शिथिल होजाते हैं, दब जाते हैं और कोई विपरीत उद्योग नहीं करते हैं ।

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम् ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । ९९ । ७ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (अजरम्) कभी क्षीण या निर्बल न होकर विद्यमान, सदा उद्यत, (प्रहेतारम्) शत्रु को मार भगाने वाले, (अप्रहितम्) आप कभी पराधीन न हुए (आशुं) शीघ्रगामी, (जेतारम्) विजयशील, (हेतारम्) शत्रु के स्वयं नाश करने वाले (रथीतमम्) रथियों में सर्वश्रेष्ठ (अतूर्तम्) कभी नष्ट या ताड़ित न होने वाले, न पछाड़ खाने वाले अपराजित (तुग्र्यावृधम्) शत्रु नाशकारी वीर सेनाओं

के हितकर बल को बढ़ाने वाले पुरुष को (वः) आप लोग (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (इतः) नियुक्त करो ।

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥ ४ ॥
इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥ ५ ॥

भा०—[४-५] इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ६२ । १६, १७ ॥

[१०६] परमेश्वर

गोषूक्त्यश्वसूक्तिना ऋषी । इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

तव त्यदिन्द्रियं बृहत् तव शुष्ममुत क्रतुम् ।
वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १५ । ७ ॥

भा०—(तव) तेरे (त्यत्) उस (बृहत् इन्द्रियम्) बड़े भारी ऐश्वर्य को, और (बृहत् शुष्मम्) बड़े भारी बल को, (बृहत् क्रतुम्) बड़े भारी विज्ञान को और (वरेण्यम्) सर्वश्रेष्ठ (वज्रं) शत्रुवारक और पापवारक वीर्य को (धिषणा) बुद्धि और शुभमति और तेरी स्तुति (शिशाति) अति तीक्ष्ण कर देती है । अर्थात् अधिक प्रभावोत्पादक बना देती है ।

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः ।
त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥ ऋ० ८ । १५ । ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर (द्यौः) यह महान् आकाश और तारे-गण और (पृथिवी) पृथिवी (तव पौंस्यं) तेरे पौरुष बल और (श्रवः) कीर्त्ति को (वर्धति) बढ़ाते हैं । और (आपः) समस्त जल, मेघ, नदी,

समुद्र आदि और (पर्वतासः च) हिमाचल आदि पर्वत (त्वां हिन्विरे) तुझे ही बतला रहे हैं। मानो तेरी महिमा गा रहे हैं।

त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः ।
त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । १५ । ९ ॥

भा०—हे ईश्वर ! (बृहन्) बड़ा (विष्णुः) व्यापक तेजस्वी सूर्य, (क्षयः) सबका निवास स्थान पृथिवी, (मित्रः) मरण से बचाने वाला अन्न या जल और (वरुणः) सबको आवरण करने वाला मेघ आकाश, (त्वां गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं। और (मारुतं शर्धः) वायु का महान् बल भी (त्वाम् अनु मदति) तेरे ही इच्छानुकूल प्रसन्न होकर चलता है।

[१०७] परमेश्वर

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६ । ४ ॥

भा०—(समुद्राय सिन्धवः इव) समुद्र को प्राप्त होने के लिये जिस प्रकार नदियें झुकी चली जाती हैं उसी प्रकार (अस्य मन्यवे) इसके ज्ञान को प्राप्त करने के लिये या इसके 'मन्यु', संसार को स्तम्भन करने वाले महान् सामर्थ्य के आगे (विश्वा विशः) राजा के आगे प्रजाओं के समान समस्त (कृष्टयः) मनुष्य (नमन्त) आदर से स्वभावतः झुकते हैं।

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ६ । ५ ॥

भा०—(चर्म इव) जिस प्रकार चमड़े या मृगछाला को कोई जब चाहे बिछा देता और जब चाहे लपेट लेता है उसी प्रकार (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (यत्) जो (इमे रोदसी) पृथ्वी और आकाश दोनों लोकों

को (सम् अवर्तयत्) बनाता है । (तत्) वह (अस्य) इस परमेश्वर का (ओजः) महान् पराक्रम ही (तित्विषे) चमक रहा है, स्पष्ट प्रतीत होता है । अर्थात् पृथ्वी आकाश आदि का सुगमता से पैदा होना और बने रहना यह ईश्वरी शक्ति का विलास है ।

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा ।
शिरो बिभेद वृष्णिना ॥३॥

भा०—(चित्) जिस प्रकार (दोधतः) जगत् को भय से कंपा देने वाले दुष्ट पुरुष के (शिरः) शिर को राजा (शतपर्वणा) सैकड़ों पोरु वाले (वज्रेण) शस्त्रों से (विभेद) तोड़ डालता है उसी प्रकार जगत् को कंपाने वाले (वृत्रस्य) सबको आवरण करने वाले समस्त अज्ञान के और प्रकृति के विकार स्वरूप महत् तत्व के (शिरः) शिर, मुख्य भाग को (वृष्णिना) बलवान् (शतपर्वणा) सैकड़ों सामर्थ्यों वाले या सैकड़ों पर्व या काल अवयवों से युक्त कालरूप (वज्रेण) वीर्य से, मेघ को सूर्य के समान (विभेद) छिन्न भिन्न कर देता है ।

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥४॥

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥५॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः॥६॥

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः॥७॥

त्वया॑ व॒यं शा॑शद्म॒हे रणे॑षु प्र॒पश्य॑न्तो यु॒धेन्या॑नि॒ भूरि॑ ।
चो॒दया॑मि त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भिः॒ सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वयां॑सि ॥८॥

नि तद् द॑धि॒षेऽव॑रे॒ परे॑ च॒ यस्मि॒न्नावि॒थाव॑सा दुरो॒णे ।
आ स्था॑पयत मा॒तरं॑ जिग॒त्नुमत॑ इन्वत॒ कर्व॑राणि॒ भूरि॑ ॥९॥

स्तु॒ष्व व॑र्ष्मन् पुरु॒वर्त्मा॑नं॒ समृभ्वा॑णमि॒नत॑ममा॒प्तमा॒प्त्याना॑म् ।
आ द॑र्शति॒ शव॑सा भूर्योजाः॒ प्र स॑क्षति प्रति॒मानं॑ पृथि॒व्याः ॥१०॥

इ॒मा ब्रह्म॑ बृ॒हद्दि॑वः कृणव॒दिन्द्रा॑य शू॒षम॑ग्रि॒यः स्व॒र्षाः ।
म॒हो गो॒त्रस्य॑ क्षयति स्व॒राजा॒ तुर॑श्चि॒द् विश्व॑मर्णव॒त् तप॑स्वान् ॥११॥

ए॒वा म॒हान् बृ॒हद्दि॑वो॒ अथ॒र्वावो॑च॒त् स्वां त॒न्व॑मि॒न्द्रमे॒व ।
स्वसा॑रो मात॒रिभ्व॑री अरि॒प्रे हि॒न्वन्ति॑ चैने॒ शव॑सा व॒र्धय॑न्ति च ॥१२॥

दि॒वं दे॒वानां॑ के॒तुरनी॑कं॒ ज्योति॑ष्मान् प्र॒दिशः॒ सूर्य॑ उ॒द्यन् ।
दि॒वा॒क॒रोऽति॑ द्यु॒म्नैस्तमां॑सि॒ विश्वा॑तारीद् दुरि॒तानि॑ शु॒क्रः ॥१३॥

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः । आप्रा॒द्
द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षं॒ सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ॥ १४ ॥

भा०—(४-१२) ये ९ मन्त्र देखो अथर्व० का० ५ । २ । १-९ ॥ और (१३, १४) दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० १३।२।३४,३५ ॥

सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑मानां॒ मर्यो॒ न योषा॑म॒भ्ये॑ति प॒श्चात् ।
यत्रा॒ नरो॑ देव॒यन्तो॑ यु॒गानि॑ वितन्व॒ते प्रति॑ भ॒द्राय॑ भ॒द्रम् ॥१५॥

ऋ० १ । ११५ । २ ॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य (देवीम्) प्रकाशमान (रोचमानाम्) स्वयं कान्तिमयी (उषसम्) उषा के (पश्चात्) पीछे २ (अभ्येति) चलता है ।

(यत्र) जहां (नरः) मनुष्य लोग (देवयन्तः) प्रकाशमान् दिव्य पदार्थों का अनुकरण करते हुए या उत्तम गुणों को धारण करते हुए (भद्राय) कल्याणकारी उत्तम पुरुष को (भद्रम् प्रति) कल्याणकारी सुखप्रद साथी का प्रदान करते हुए (युगानि) युगल जोड़े (वितन्वते) बनाते हैं। इधर और (न) उसी प्रकार (मर्यः) मनुष्य भी (देवीम्) उत्तम गुणों से युक्त (रोचमानाम्) चित्त को हरने वाली (योषाम्) स्त्री के (पश्चात्) पीछे (अभि एति) चलता है और परिक्रमा करता है।

[१०८] राजा, परमेश्वर।

नृमेध ऋषिः। इन्द्रो देवता। १ गायत्री, २ ककुप् ३ पुर उष्णिक्। तृचं सूक्तम्॥

त्वं न॑ इन्द्रा भ॒रँ ओजो॑ नृ॒म्णं श॑तक्रतो विचर्षणे।
आ वी॒रं पृ॑तना॒षह॑म् ॥१॥ ऋ० ८। ९९। १०॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! राजन्! परमेश्वर! (त्वं) तू (नः) हमें (ओजः) वीर्य, बल, पराक्रम (आ भर) प्रदान कर। हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञावाले! हे (विचर्षणे) विशेष रूप से सब के द्रष्टा! तू हमें (नृम्णम्) धन और (पृतना-सहम्) शत्रुसेना को पराजित करने हारे (वीरम्) वीर पुरुष को (आ भर) प्रदान कर।

त्वं हि नः॑ पि॒ता व॑सो॒ त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ।
अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे ॥ २ ॥ ऋ० १०। ८। ९९। ११॥

भा०—हे (वसो) सबको बसाने हारे! सब में बसने हारे, व्यापक! हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और बलों से युक्त! क्योंकि (त्वं हि) तू ही (नः) हमारे (पिता) पिता के समान पालक, उत्पादक और (माता) माता के समान स्नेही, उत्पादक और शिक्षक (बभूविथ) है। (अधा) इसीसे (ते) तुझसे हम (सुम्नम्) सुख की (ईमहे) याचना करते हैं।

इसी प्रकार राजा भी प्रजा का माता पिता के समान स्नेह से पालन करे, उसको ऐश्वर्य प्रदान करे ।

त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो ।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥३॥ ऋ० ८ । ९९ । १२ ॥

भा०—हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से नित्य पुकारे जाने योग्य ! हे (शतक्रतो) अनन्त प्रज्ञावाले ! हे (शुष्मिन्) बलवन् ! (वाजयन्तम्) ऐश्वर्य प्रदान करने वाले (त्वाम्) तेरी मैं (उप ब्रुवे) स्तुति करता हूं । (सः) वह तू (नः) हमें (वीर्यम्) उत्तम वीर्य, बल (रास्व) प्रदान कर ।

[१०९] राजा, आत्मा, और परमात्मा ।

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । ककुभः । तृचं सूक्तम् ॥

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥
ऋ० १ । ८४ । १० ॥

भा०—जिस प्रकार (विषूवतः) व्याप्त तेज वाले सूर्य की (गौर्यः) श्वेत किरणें (मध्वः पिबन्ति) जल का पान करती हैं । उसी प्रकार (गौर्यः) पृथ्वी पर रमण करने वाली प्रजाएं (विषूवतः) व्यापक, विस्तृत राज्य वाले राजा, 'इन्द्र' के अधीन रह कर (स्वादोः) अति मधुर (मध्वः) अन्न और ऐश्वर्य का (पिबन्ति) रस के समान पान करती, भोग करती हैं । (याः) जो प्रजाएं (वृष्णा इन्द्रेण) बलवान् परमेश्वर के साथ (सयावरीः) नित्य गमन करने वाली, (वस्वीः) धनैश्वर्य युक्त अथवा प्रजायें नित्य, सदा से बसी हुई (शोभसे) अपने अधिक ऐश्वर्य शोभा के लिये (स्वराज्यम्) अपने स्वतन्त्र राज्य शासन के अनुकूल रह कर ही (मदन्ति) सदा आनन्द प्रसन्न रहती हैं ।

अध्यात्म में—(गौर्यः) गौ, ज्ञानवाणियों में रमण करने वाली आत्मसाधक प्रजाएं (त्रिपूवतः) व्यापक (स्वादोः मध्वः) सुस्वादु ब्रह्मरस का आस्वादन करती हैं । वे (इन्द्रेण सयावरीः) आत्मा या परमेश्वर के साथ नित्य प्राप्त होकर भी (शोभसे) अपनी विभूति के निमित्त (स्व-राज्यम् अनु) अपने स्व=आत्मा के प्रकाश के अनुसार ही (मदन्ति) आनन्द लाभ करती हैं ।

आत्मा को अपने सात्विक भाव के अनुसार ही ब्रह्मरस की प्राप्ति होती है । अधिक सात्विक पुरुष अधिक आनन्द उठाते हैं ।

ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् २

भा०—(ताः) वे (पृश्नयः) नाना वर्णों की या हृष्ट पुष्ट (पृशना-युवः) परस्पर के स्पर्श या सम्पर्क या परस्पर प्रेम को चाहती हुई, सुसंग-ठित होकर (अस्य) इस राष्ट्र के लिये (सोमम्) राज्य, ऐश्वर्य को (श्रीणन्ति) परिपक्व करती हैं, उसकी रक्षा करती और उसकी वृद्धि करती हैं । (धेनवः) रसपान करानेहारी गौवों के समान (प्रियाः) अति प्रिय प्रजाएं (स्वराज्यम् अनु वस्वीः) अपने स्वायत्त राज्य के कारण अति ऐश्वर्यवती होकर ही (सायकम्) शत्रुओं के अन्त कर देने वाले (वज्रं) शत्रुनिवारक बल या शस्त्रों को भी (हिन्वन्ति) शत्रु पर प्रहार करती हैं ।

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः ।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥३॥

भा०—(ताः) वे प्रजाएं (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (अस्य) इस अपने राष्ट्रपति के (सहः) शत्रु पराजयकारी बल का (नमसा) आदर से या अन्नादि पदार्थों से (सपर्यन्ति) सत्कार करती हैं और (अस्य) इसके बने (पुरूणि) बहुतसे प्रजापालन सम्बन्धी (व्रतानि)

नियमों का (स्वराज्यम् अनु वस्वीः) स्वायत्त राज्य शासन के द्वारा ऐश्वर्य-वान् होकर (पूर्वचित्तये) अपने आप पूर्ण ज्ञानवान् या पूरी रीति से सचेत और उत्तरदायी होने के लिये (सश्चिरे) पालन करती हैं।

[११०] परमात्मा, आत्मा।

श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥१॥ ऋ० ८। ९२। १९॥

भा०—(मद्वने) हर्ष और आनन्दस्वरूप का सेवन करने वाले (इन्द्राय) साक्षात् द्रष्टा, आत्मा के (सुतम्) ऐश्वर्य को लक्ष्य करके (नः गिरः) हमारी वाणियां (परि स्तोभन्तु) स्तुतियां करती हैं। (अर्कम्) उसी अर्चना योग्य, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर की (कारवः) उत्तम विद्वान् पुरुष (अर्चन्तु) स्तुति करते हैं।

यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥२॥ ऋ० ८। ९२। ३॥

भा०—(यस्मिन् अधि) जिसके आश्रय पर (विश्वाः श्रियः) समस्त सेवन करने योग्य लक्ष्मियां और समस्त शोभाएं और (सप्त संसदः) सात संसद्, राजा के आश्रय सात संसद्, राष्ट्र संस्थाओं के समान परमेश्वर के आश्रय सात लोक, और आत्मा के आश्रयभूत शरीर के सात प्राण या सात धातुएं (रणन्ति) शोभा देती हैं (इन्द्रम्) आत्मा को लक्ष्य करके (सुते) परम आनन्द रस प्राप्त होने पर (हवामहे) हम स्तुति किया करते हैं।

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत।
तमिद् वर्धन्तु नो गिरः ॥३॥ ऋ० ८। ९२। २१॥

भा०—(त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (देवासः) दिव्य, तेजोमय महान् शक्तियां (चेतनम्) एक चेतनस्वरूप, सबके भीतर ज्ञाता रूप से विद्यमान (यज्ञम्) सबको संगत करने वाले, परस्पर मिलाए रखने वाले, परम पूजनीय, सबको शक्ति देने वाले परमेश्वर को (अत्नत) विस्तृत करते हैं । उसी के सामर्थ्य को प्रकट करते हैं । (नः गिरः) हमारी वाणियां भी (तम् इत्) उस परमेश्वर को ही (वर्धन्तु) बढ़ाती हैं उसी का यश फैलाती हैं ।

आत्मा के पक्ष में-(त्रिकद्रुकेषु) ज्योति, गौः आयु अर्थात् मन इन्द्रियगण और जीवन इन तीन रूपों में (देवासः) प्राणगण (चेतनं यज्ञम्) चेतन आत्मा को ही (अत्नत) विस्तृत करते हैं उसके ही सामर्थ्यों का विस्तार प्रकट करते हैं अथवा (देवासः) विद्वान्गण सर्वत्र उसी परमेश्वर या आत्मा के सामर्थ्यों का निरूपण करते हैं (इम् इत् नः गिरः वर्धन्तु) उसी को हमारी वाणियां भी प्रकट करती हैं ।

[१११] आत्मा ।

पर्वत ऋषिः । सोमो देवता । उष्णिहः । तृचं सूक्तम् ॥

यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥१॥ ऋ० ८ । १२ । १७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! साक्षात् अपने स्वरूप का दर्शन करने हारे (यत्) जब तू (विष्णवि) व्यापक परमेश्वर के ध्यान में मग्न होकर (सोमम् मन्दसे) परम ऐश्वर्य को भरपूर प्राप्त करके आनन्दित होता है और (यद् वा घ) जब भी तू (आप्त्ये) प्राणों के परिपालक (त्रिते) सबसे उत्कृष्ट अपने ही स्वरूप में (सोमं मन्दसे) आनन्दरस या ऐश्वर्य को लाभ कर तृप्त होता है और (यद् वा) जब भी (मरुत्सु) प्राणों के

बीच में (मन्दसे) आनन्द लाभ करता है तब २ (इन्दुभिः सम् मन्दसे) ऐश्वर्यों और हृदय को द्रवित करने वाले रसों से ही तृप्त होता है।

यद्वा शक्र परावति समुद्रे अधि मन्दसे।
अस्माकमित् सुते रणा समिन्दुभिः ॥२॥ ऋ० ८। १२। १७ ॥

भा०—(यद्वा) और जब भी हे (शक्र) शक्तिशालिन् आत्मन्! तू (परावति) दूर विद्यमान (समुद्रे) रसों के परम भण्डार, समस्त लोकों के उद्भवस्थान परमेश्वर रूप परम रससागर में (अधि मन्दसे) आनन्दरस का लाभ करता है तब भी (अस्माकम् इत् सुते) हमारे ही अपने सेवन किये योगादि साधनों से प्राप्त आनन्द में (इन्दुभिः सम् रण) हृदय को द्रवित करने वाले परमानन्दों से ही रमण करता है।

यद्वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते।
उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥३॥ ऋ० ८। १२। ८ ॥

भा०—हे (सत्पते) सज्जनों के प्रतिपालक ! हे सत् परमेश्वर के स्वरूप तक पहुंचने वाले आत्मन्! (यत् वा) जब भी तू (सुन्वतः यजमानस्य) सवन क्रिया, उपासना और योगसाधना करने वाले एवं (यजमानस्य) देव पूजन करने वाले पुरुष की (वृधः) वृद्धि करता है (वा) और (यस्य उक्थे) जिस किसी के भी कहे स्तुति, वचन में (रण्यसि) आनन्द अनुभव करता है तब भी तू (इन्दुभिः सम्) हृदय को द्रवित करने वाले अपने ही आनन्द, रसों में तृप्त होता है।

[११२] आत्मा और राजा।

सुकक्ष ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिहः। तृचं सूक्तम् ॥

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य।
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥१॥ ऋ० ८। ९३। ४ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) मेघों को अपने प्रखर तेज से विनाश करने वाले सूर्य के समान अपने तेजों से आवरणकारी अज्ञान पटलों के नाशक हे (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्विन् ! सबके प्रेरक ! एवं राजन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् आत्मन् ! (यत् अद्य) जब आज के समान नित्य (सम् अभि) जिस पदार्थ को भी लक्ष्य करके तू (उत् अगाः) उदय होता है, उठता है (तत् सर्वं) वह सब भी (ते वशे) तेरे वश में हो जाता है ।

यद्वां प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे ।
उतो तत् सत्यमित् तवं ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ८३ । ५ ॥

भा०—हे (सत्पते) सत् तत्व के पालक, सत्स्वरूप अविनाशिन् ! (यत् वा) और जब भी तू (प्रवृद्धः) अति शक्तिशाली होजाता है तब (न मरा) तू कभी नहीं मरता (इति) ऐसा ही (मन्यसे) जाना जाता या तू स्वयं जाना करता है । (उतो) और (तत्) वह (तव) तेरा (सत्यम् इत्) सत्य स्वरूप ही है, वही तेरा 'सत्' परमेश्वर में वर्तमान स्वरूप है ।

ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे ।
सर्वांस्ताँ इन्द्र गच्छसि ॥३॥ ऋ० ८ । ८३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (ये) जो (सोमासः) आनन्दरस या ऐश्वर्य के (परावति) परम पद मोक्ष में स्थित, परमेश्वर और (अर्वावति) समीप में स्थित अपने आत्मा के भीतर (सुन्विरे) सवन किये जाते हैं, अनुभव किये जाते हैं (तान् सर्वान् गच्छसि) तू उन सब को ही प्राप्त होता है ।

राजा के पक्ष में—जो ऐश्वर्य दूर और समीप के देशों में उत्पन्न होते हैं तू उन सबको प्राप्त होता है ।

[११३] राजा, सूर्य और परमेश्वर।

भर्गो ऋषिः। इन्द्रो देवता। प्रगाथः। द्व्यृचं सूक्तम्॥

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्॥१॥
ऋ० ८। ६१। १॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा, (अर्वाक्) साक्षात् (नः) हमारे (इदं) इस (उभयम्) अपने अनुकूल और अपने प्रतिकूल दोनों प्रकार के (वचः) वचन को (शृणवत्) सुने। वह (सोमपीतये) सोमपान करने, राष्ट्र के पालन करने के लिये (मघवा) ऐश्वर्यवान् होकर (सत्राच्या धिया) विवेकपूर्वक सत्य मात्र के ग्रहण करने वाली बुद्धि से (शविष्ठः) अति बलवान् होकर (आ गमत्) प्राप्त हो।

ईश्वर के पक्ष में—इन्द्र परमेश्वर हमारे वैदिक और लौकिक, ऐहिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के वचन सुने, वह सदा विद्यमान धारणा-शक्ति से युक्त सर्व शक्तिमान् होकर हमें आनन्दरस प्राप्त कराने के लिये प्राप्त हो।

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः॥२॥
ऋ० ८। ६१। २॥

भा०—(स्वराजं) स्वयं अपने बल और तेज से प्रकाशमान, (वृषभम्) श्रेष्ठ, (तम् हि) उस पुरुष को (धिषणे) समस्त विश्व को धारण करने वाले आकाश और पृथिवी जिस प्रकार सूर्य को (ओजसे) पराक्रम के कार्य के लिये समर्थ करती हैं उसी प्रकार (तम्) उस वीर पुरुष को (धिषणे) धारण में समर्थ नर और नारीगण अथवा राजा-प्रजावर्ग मिलकर (ओजसे) बल पराक्रम की वृद्धि के लिये (निः ततक्षतुः) अपना

राजा बनाते हैं । हे इन्द्र ! राजन् ! तू भी (उपमानाम्) अपने समान अन्यों के बीच में (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ होकर (निषीदसि) विराजता है । (ते मनः हि) तेरा मन भी अवश्य (सोमकामं) राष्ट्रैश्वर्य की कामना करता है ।

[११४] राजा और आत्मा ।

सौभरिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यौ । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥१॥ ऋ० ८ । २१ । १३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! आत्मन् ! तू (जनुषा) जन्म से ही, स्वभाव से ही, (अभ्रातृव्यः) शत्रुरहित है । तू (अनाः) नेतारहित है, अर्थात् तू सबका नेता है, तेरा कोई नेता नहीं । (अनापिः) तेरा कोई बन्धु नहीं प्रत्युत तू सबका बन्धु है, तू (सनात् असि) चिरन्तन, पुराण पुरुष है, सबसे अधिक पुरातन सनातन है, तू भी (युधा इत्) युद्ध द्वारा ही (आपित्वम्) शत्रुपक्ष से बन्धुता सन्धि द्वारा मेल (इच्छसे) चाहता है । अर्थात् युद्ध करके ही शत्रु को भी अपना मित्र बना लेता है ।

परमेश्वर के पक्ष में—उसका कोई न शत्रु है, न बन्धु, उसका कोई नायक नहीं, अतः (अनाः) विनायक है । वह सनातन है, (युधा) योग द्वारा ही वह आत्मा का बन्धु होना चाहता है ।

नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित् पितेव हूयसे ॥२॥
ऋ० ८ । २१ । १४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! तू (सख्याय) अपने मित्रता के लिये भी (रेवन्तं) केवल धनवान् स्वयं भोक्ता, कंजूस को (नकिः) कभी भी

नहीं (विन्दसे) प्राप्त करता है, क्योंकि वे (सुराश्वः) सुरा, राज्यलक्ष्मी से समृद्ध, एवं सुरा, मदकारी पदार्थों के सेवन से मदमत्त होकर (ते) तेरे उत्तम जनों को (पीयन्ति) विनाश किया करते हैं। (यदा) जब तू (नदनुम्) मेघ के समान गर्जन करता है तब (सम् ऊहसि) तू भली प्रकार मेघ के समान ही समृद्धियों को भी प्राप्त कराता है और (आत् इत्) तभी प्रजाओं द्वारा (पिता इव) पालक पिता के समान (हूयसे) पुकारा जाता है।

[११५] राजा, परमेश्वर ।

वत्स ऋषिः। इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥१॥ ऋ० ८ । ६ । १० ॥

भा०—(अहम् इत्) मैं ही केवल (ऋतस्य) सत्य ज्ञान, व्यक्त जगत् और राष्ट्र के व्यवस्था कानून के और (पितुः) पालक प्रभु की (मेधाम्) पवित्र सत्संगकारी बुद्धि को (परि जग्रभ) सब प्रकार से ग्रहण करता हूं, धारण करता हूं, इसलिये (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) हो जाता हूं ।

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् ।
येनेन्द्रः शुष्ममिद् दधे ॥२॥ ऋ० ८ । ६ । १० ॥

भा०—(अहम्) मैं (प्रत्नेन) बड़े पुरातन, सनातन से चले आये, नित्य (मन्मना) वेदमय ज्ञान से (कण्ववत्) मेधावी ज्ञानी पुरुष के समान (गिरः) वाणियों को (शुम्भामि) प्रकट करता हूं। (येन) जिस से (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा (शुष्मम्) बलको (इद्) ही (दधे) धारण करता है। महा मन्त्री वेदानुकूल आज्ञाओं को प्रकाशित करे जिस से राजा का बल बढ़े।

परमेश्वर ही के पुरातन ज्ञानरूप से वाणियों को प्रकट करता है जिस से जीवों के ज्ञानबल की वृद्धि होती है।

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः।
ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः ॥२॥ ऋ० ८।६।१२॥

भा०—हे राजन्! (त्वम्) तेरी (ये) जो पुरुष (तुष्टुवुः) स्तुति नहीं करते और (ये च) जो (ऋषयः) साक्षात् मन्त्रद्रष्टा या तर्कशील विद्वान् होकर (तुष्टुवुः) स्तुति भी करते हैं, तुझे उपदेश भी करते हैं उन सब में (मम इत्) मेरी स्तुति द्वारा ही (सुष्टुतः) उत्तम रीति से स्तुति या उपदेश किया जाकर तू (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त हो।

परमेश्वर के पक्ष में—हे परमेश्वर जो तेरी स्तुति नहीं करते हैं और जो मन्त्रार्थद्रष्टा होकर तेरी स्तुति करते हैं उन सब में तू ही (सुस्तुतः) उत्तम स्तुति करने योग्य है। तू (मम इत् वर्धस्व) मेरी वृद्धि कर अथवा उनमें तू (मम सुस्तुतः सन् वर्धस्व) मेरे द्वारा उत्तम रीति से स्तुति किया जाकर वृद्धि को प्राप्त हो। अर्थात् उन सबसे अधिक मैं तेरी स्तुति करूं, तेरे यश को बढ़ाऊं।

[११६] आत्मा, परमेश्वर, राजा।

मेध्यातिथिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहत्यौ। द्वयृचं सूक्तम्॥

मा भूम निष्ट्या इवेन्द्र त्वदरणा इव।
वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥ १ ॥
ऋ० ८।१।१३॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! राजन्! हम (त्वत्) तेरी कृपा से कभी (निष्ट्याः इव) नीचों के समान संवरहित, निःसहाय और (अरणाः इव) रण या रमण के अयोग्य, अशक्त, दुःखी (मा भूम) न होजावें। और (प्रजहितानि) छोड़ दिये गये या शाख आदि से रहित, निःसहाय

(वनानि इव) वृक्षों के समान भी (मा भूम) न हों । हे (अद्रिवः) वज्रवन्, अमोघ बल से युक्त ! हम (दुरोपासः) शत्रुओं से सन्ताप दिये जाने योग्य कभी न होकर, अपने गृहों में सुख से रहते हुए सदा तेरा (अमन्महि) स्मरण करें ।

प्र॑मन्महि॒ शव॑सानो॒ अनु॑ग्रासश्च वृत्रहन् ।
स॒कृत् सु ते॑ मह॒ता शू॑र॒ राध॑सा॒नु स्तोमं॑ मुदीमहि ॥२॥

ऋ० ८ । १ । १४ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) शत्रुओं के नाशक ! विघ्ननाशक ! हम (अना-शवः) संग्राम में अति शीघ्र न होकर और (अनुग्रासः च) उग्र, भयंकर भी न होकर (अमन्महि इव) ऐसा ही चाहते हैं कि (सकृत्) एक बार भी हे (शूर) शूरवीर ! (महता राधसा) तेरी बड़ी भारी आराधना से (स्तोमम्) स्तुति के साथ (अनुमदीमहि) अति आनन्द तृप्ति का लाभ करें ।

राजा के पक्ष में—हम (अनाशवः अनुग्रासश्च) जो सेना पुरुषों के समान तीव्रगामी हैं और जो उग्र बलवान् हैं । वे भी ऐसा चाहते हैं कि (ते राधसा) तेरे ऐश्वर्य से एक बार (स्तोमं अनु मदीमहि) तेरी स्तुति करके ही हम प्रसन्न हुआ करें, हमारा राजा बड़ा बलवान् है, ऐश्वर्यवान् है ।

[११७] राजा, आत्मा ।

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् । तृचं सूक्तम् ॥

पिबा सोम॑मिन्द्र॒ मन्द॑तु त्वा॒ यं ते॑ सु॒षाव॑ हर्य॒श्वाद्रिः॑ ।
सो॒तुर्बा॒हुभ्यां॒ सुय॑तो॒ नार्वा॑ ॥ १ ॥ ऋ० ७ । २२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! आत्मन् ! तू (सोमं पिब) सोम राष्ट्र के ऐश्वर्य का पान कर, भोग कर । हे (हर्यश्व) तीव्रगति वाले घोड़ों से युक्त !

(यं) जिस राष्ट्रैश्वर्य को (अद्रिः) तेरा अभेद्य वज्र, शासन (सुषाव) उत्पन्न करता है वह (त्वा) तुझे तृप्त करे, आनन्दप्रद हो। वह (सोतुः) आज्ञाकारी सर्वप्रेरक महामात्य की (बाहुभ्याम्) शत्रुओं को बाधन या पीड़ा देने वाली बाहुओं से, सेना बल से (सुयतः) उत्तम रीति से सुव्यवस्थित सुप्रबद्ध होकर (सुयतः अर्वा न) सुसंयत अश्व के समान सन्मार्ग पर चले।

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि।
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥ ऋ० ७। २२। २ ॥

भा०—हे (हर्यश्व) वेगवान् अश्वों वाले ! (यः) जो (ते) तेरा (युज्यः) परस्पर संयोग, सत्संग से प्राप्त होने वाला (चारुः) उत्तम (मदः) हर्ष या तृप्तिकर बल (अस्ति) है और (येन) जिससे तू (वृत्राणि) विघ्नकारी शत्रुओं को (हंसि) विनाश करता है हे (प्रभूवसो) अधिक ऐश्वर्यवाले ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (सः) वह (त्वाम्) तुझको (ममत्तु) आनन्द प्रसन्न रक्खे।

अध्यात्म में—(यः ते युज्यः चारुः मदः) जो तेरा योग समाधि से उत्पन्न व्यापक आनन्द है, जिससे हे (हर्यश्व) दुःखहारी प्राणों वाले जीव ! तू (वृत्राणि हंसि) बाधक तामस कारणों को विनष्ट करता है। (प्रभूवसो) अधिक सामर्थ्यवान् शरीरवासिन् जीव ! वह तुझे सदा आनन्दित रक्खे।

बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्।
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ३ ॥ ऋ० ७। २२। ३ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् ! (यां) जिस (प्रशस्तिम्) उत्तम शासन सम्बन्धी वाणी या शिक्षा को (वसिष्ठः) सबसे श्रेष्ठ पुरोहित विद्वान् (अर्चति) तेरे लिये उपदेश करता है उसका और (इमा)

इस (मे) मेरी (वाचम्) उत्तम वाणी को भी (सुबोध) उत्तम रीति से, जान और (सधमादे) एकत्र सुख अर्थात् हर्ष अनुभव करने के स्थान सभा भवन में भी (इमा ब्रह्म) इन ब्रह्म-वेदवचनों को (जुषस्व) प्रेम से सेवन कर ।

[११८] राजा ।

१, २ भर्गो ऋषिः । ३, ४ मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १ ॥
ऋ० ८ । ६१ ५ ॥

भा०—हे (शचीपते) शक्ति के पालक ! हे (इन्द्र) शत्रुनाशक ! तू (विश्वाभिः) समस्त (ऊतिभिः) रक्षा साधनों से (सु शग्धि) उत्तम सुखकारी पदार्थ प्रदान कर । (भगं न) ऐश्वर्यवान् के समान (यशसं) यशस्वी (त्वा) तुझ को (वसुविदम्) ऐश्वर्यों का देने वाला जानकर ही हे (शूर) शूरवीर हम (त्वा अनु चरामसि) तेरे पीछे अनुसरण करते हैं ।

पौरो अश्वस्य पुरुकृद् गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ६१ । ६ ॥

भा०—हे (देव) दानशील देव ! तू (अश्वस्य पौरः) अश्वों को पूर्ण करने वाला और (गवाम् पुरुकृत्) गौ आदि पशु सम्पत्ति को बढ़ाने वाला और (हिरण्ययः उत्सः) सुवर्ण आदि धनैश्वर्य का अक्षय कोप (असि) है । (त्वे) तेरे दिये (दानम्) दान को (नकिः हि) कोई भी नहीं (परिमर्धिषत्) नाश कर सकता । हे राजन् (यत् यत्) जो जो

पदार्थ भी मैं (यामि) याचना करूं। तू (तत् तत्) वह (आ भर) प्राप्त करा।

इन्द्रमिद् देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये॥ ३॥
ऋ० ८।३।५॥

भा०—(देवतातये) देवों के लिये या दिव्यगुणों के प्राप्त करने और विद्वान् पुरुषों के उपकार के लिये (इन्द्रम् इत्) इन्द्र को ही हम (हवामहे) बुलाते हैं। (प्रयति अध्वरे) यज्ञ के प्रारम्भ में (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर का स्मरण करते हैं। (वनिनः) इन्द्र का भजन सेवन करते हुए हम (इन्द्रम्) इन्द्र को (समीके) युद्ध में (हवामहे) बुलाते हैं। और (धनस्य सातये) धन के प्राप्त करने के लिये (इन्द्रं हवामहे) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् का ही स्मरण करते हैं।

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः॥ ४॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ही (शवः मह्ना) अपने बल के महान् सामर्थ्य से (रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों लोकों को (पप्रथत्) विस्तृत करता है। (इन्द्रः) वह ईश्वर ही (सूर्यम् अरोचयत्) सूर्य को प्रकाशित करता है। (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक (इन्द्रे) इस महान् परमेश्वर के आश्रय पर ही (येमिरे) नियम में व्यवस्थित हैं। (इन्द्रे) परमेश्वर के आश्रय पर ही (सुवानासः) समस्त जीवों को उत्पन्न करते हुए (इन्दवः) द्रव पदार्थ जल आदि, एवं प्राकृतिक तेजस्वी पदार्थ नियम से कार्य कर रहे हैं।

[११९] ईश्वर।

१. आयुः श्रुष्टिगुश्च ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभौ। द्व्यृचं सूक्तम्॥

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥
ऋ० ८ । ५२ । ९ ॥

भा०—(पूर्व्यम्) सबसे पूर्व विद्यमान (मन्म) मनन करने योग्य ज्ञान को (अस्तावि) वर्णन किया जाता है । वही (ब्रह्म) महान् ज्ञान है विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्राय) परमेश्वर के निरूपण करने के लिये (वोचत) उच्चारण करो । (ऋतस्य) सत्य ज्ञान, वेद के ज्ञान से (पूर्वीः) पूर्ण (बृहतीः) वाणियों को (अनूषत) स्तुतिरूप से कहो । और (स्तोतुः) यथार्थ वचन कहने वाले पुरुष की (मेधाः) उत्तम बुद्धियां आप से आप (असृक्षत) उत्पन्न होती हैं ।

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ५२ । १० ॥

भा०—(तुरण्यवः) अति शीघ्रता से कार्य सम्पादन करने वाले अप्रमादी, (विप्रासः) बुद्धिमान्, विद्वान् पुरुष (मधुमन्तम्) ज्ञानवान्, (घृतश्चुतम्) तेज के देने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी, (अर्कम्) स्तुति करने योग्य परमेश्वर की (आनृचुः) स्तुति करते हैं । वह (अस्मे) हमारे लिये (रयिः) समस्त ऐश्वर्य (पप्रथे) विस्तृत करता है । (सुवानासः) अभिषेक करने वाले (इन्दवः) ऐश्वर्य और (वृष्ण्यं शवः) बलवान् पुरुषों का बल सब (अस्मे) हमें प्राप्त हो ।

[१२०] परमेश्वर ।

देवातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ४ । १ ।

भा०—(यत्) क्योंकि हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! तू (नृभिः) मनुष्यों से (प्राक्) पूर्व से, (अपाक्) पश्चिम से, (उदङ्) उत्तर से और (न्यङ्) नीचे से भी अर्थात् आगे पीछे ऊपर नीचे सब तरफ से (हूयसे) बुलाया जाता है। हे (सिम) सर्वश्रेष्ठ ! हे (प्रशर्ध) उत्कृष्ट बलशालिन् ! शत्रुनाशक ! तू (पुरु) बहुत अधिक (आनवे) प्राणधारी, विद्वान् पुरुषों और (तुर्वशे) धर्मार्थ काम, मोक्ष के अभिलाषी, कामनावान् पुरुषों के बीच में उनके भले के लिये (नृपूतः) नेता पुरुषों द्वारा अभिषिक्त, पूजित, उपासित (असि) होता है।

यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभि स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ४ । २ ॥

भा०—(यद् वा) और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! तू (रुमे) उपदेश और श्रुतिसम्पन्न ज्ञानी पुरुष में, (रुशमे) हिंसाकारी क्षत्रिय पुरुष में, (श्यावके) देश देशान्तर जाने वाले व्यापारी पुरुष में और (कृपे) शारीरिक शक्ति वाले, श्रमी पुरुष में, इन चारों में (सचा) समान भाव से (मादयसे) स्वयं तृप्त, आनन्दमय, एवं सबके आत्मा को आनन्दित करता है। (स्तोमवाहसः) स्तुतियों को धारण करने वाले, (कण्वासः) मेधावी विद्वान् पुरुष (ब्रह्मभिः) ब्रह्म, वेदमन्त्रों से, हे (इन्द्र) ईश्वर ! (आयच्छन्ति) तुझे स्मरण करते हैं। तू (आगहि) साक्षात् प्राप्त हो, दर्शन दे।

[१२१]

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः । द्वृचं सूक्तम् ॥

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ३२ । २२ ॥

भा०—हे (शूर) शूर, सब पदार्थों के वेग देनेहारे ईश्वर ! (अदुग्धा धेनवः इव) दोहने योग्य, दुधार गौवें, जिनको अभी दुहा न गया हो वे जिस प्रकार अपने स्वामी के प्रति स्नेह से आती हैं उसी प्रकार हम (स्वर्दृशम्) सूर्य के समान सब के द्रष्टा (अस्य जगतः) इस जगत्, जंगम संसार और (तस्थुषः) स्थावर संसार के (ईशानम्) स्वामी तुझको (अभि नोनुमः) लक्ष्य करके स्तुति करते हैं ।

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ २ ॥

ऋ० ७ । ३२ । २३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वावान्) तुझसा (अन्यः) दूसरा (न दिव्यः न पार्थिवः) न आकाश में और न पृथिवी में (न जातः न जनिष्यते) न पैदा हुआ है और न पैदा होगा । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हम (अश्वायन्तः) अश्वों की कामना करते हुए और (गव्यन्तः) गौओं की कामना करते हुए (वाजिनः) अन्न और धनों के स्वामी होकर (त्वा हवामहे) तेरी स्तुति करते हैं ।

[१२२] ऐश्वर्यवान् राष्ट्र, गृहस्थ और राजा ।

शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥१॥

ऋ० १ । ३० । १३ ॥

भा०—(क्षुमन्तः) अन्न धन आदि से सम्पन्न होकर (याभिः) जिन स्त्रियों और उत्तम प्रजाओं के साथ हम (मदेम) आनन्दयुक्त और प्रसन्न रहें वे (तुविवाजाः) बहुत बलवान्, ज्ञानवान् और (रेवतीः) ऐश्वर्य और सौभाग्यवती होकर (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र या गृहस्थ में,

(नः) हमारे (सधमादः) साथ आनन्द, और हर्ष तृप्ति, तुष्टि लाभ करने वाली (सन्तु) हों ।

आ घ त्वावान् त्मनाप्त स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः ।
ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ३० । १४ ॥

भा०—हे (धृष्णो) विपक्ष के धर्षण करने हारे ! अति प्रगल्भ ! राजन् ! (चक्र्योः) रथ के चक्रों का (अक्षं न) अक्ष जिस प्रकार अरों द्वारा चक्रों को अपने में धारण करके रथ को तो सम्भालता ही है और स्वयं भी अपने को सम्भाले रहता है इसी प्रकार तू भी अपने ऊपर स्वयं और पर राष्ट्र के चक्रों को अपने नीति बल से धारण करके भी तू (त्वावान्) अपने जैसा ही अद्वितीय होकर, (त्मना आप्तः) स्वयं अपने आत्म सामर्थ्य से स्थिर होकर (स्तोतृभ्यः) स्तोता, विद्वान् पुरुषों के लिये (इयानः) प्रार्थित होकर उनको अभिमत पदार्थ (आ ऋणोः) प्राप्त कराता है ।

आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम् ।
ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ३० । १५ ॥

भा०—(शचीभिः अक्षं न) वहन करने वाली शक्तियों से प्रेरित होकर 'अक्ष' धुरा जिस प्रकार दूर स्थान पर स्थित पहुंचाता और अभिमत फल को प्राप्त कराता है उसी प्रकार, हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रजाओं और कर्मों में कुशल विद्वन् ! तू (जरितॄणाम्) विद्वान्, यथार्थ गुणों के प्रवक्ता पुरुषों को (दुवः) परिचर्या, सेवा को प्राप्त कर उनके (कामं) अभिलषित इच्छा के अनुकूल पदार्थ को (आ ऋणोः) प्राप्त कराता है ।

[१२३] सूर्य और राजा ।

कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता । त्रिष्टुभौ । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

तत् सूर्य॑स्य दे॒व॒त्वं तन्म॑हि॒त्वं म॒ध्या कर्तो॒र्वित॑तं॒ सं ज॑भार।
य॒देदयु॑क्त ह॒रित॑ः स॒धस्था॒दाद्रात्री॒ वास॑स्तनुते सि॒मस्मै॑ ॥१॥

भा०—(सूर्यस्य) सूर्य का, यही (देवत्वम्) देवत्व, दानशीलता है और (तत् महित्वम्) वह बड़ा महान् सामर्थ्य है जो (मध्या) अन्तरिक्ष के बीच में से (विततम्) विस्तृत मेघ को भी (सं जभार) संहार कर देता है। और (यत्) जब (सधस्थात्) अपने एकत्र होने के केन्द्र से (हरितः) रस हरण करने वाले किरणों को (अयुक्त) डालता है (आत्) तभी (रात्री) रात्रि को और (वासः) दिन को भी (सिमस्मै) समस्त जगत के लिये (तनुते) फैलाता है, करता है।

राजा के पक्ष में—(सूर्यस्य तत् देवत्वम्) सूर्य के समान सर्वप्रेरक तेजस्वी राजा की वह दानशीलता और (तत् महित्वम्) वह महान् सामर्थ्य है कि (कर्तोः मध्या) कार्य के बीच में (वितते) विस्तृत शत्रुरूप विघ्न को भी (सं जभार) संहार करदे। (यत्) जब वह (सधस्थात् हरितः अयुक्त) अपने राजसभा से आज्ञा लेजाने वाले संदेशहरों को और किरणों के समान अधिकारियों को नियुक्त करता है तभी (रात्री) रात्रि के समान सुखदायी राज्यव्यवस्था और (वासः) दिन के समान आच्छादक शरण (सिमस्मै) सबके लिये समान रूप से (तनुते) कर देता है।

तन्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्याभि॒चक्षे॒ सूर्यो॑ रू॒पं कृ॑णुते॒ द्योरु॒पस्थे॑।
अ॒न॒न्तम॒न्यद्रुश॑दस्य॒ पाज॑ः कृ॒ष्णम॒न्यद्ध॒रित॒ः सं भ॑रन्ति ॥२॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य (द्योः उपस्थे) आकाश के बीच में स्थित होकर भी (मित्रस्य) 'मित्र' नाम प्राण वायु और (वरुणस्य) वरुण अर्थात् मेघ के भी (रूपं) रूप को (अभिचक्षे) साक्षात् स्पष्ट हो (कृणुते) करता है। और (अस्य) इसका (अनन्तम्) अनन्त (रुशत्)

दीप्तिमान् (पाजः) तेज या किरण (अन्यत्) और है और (कृष्णम्) आकर्षण करने वाला बल (अन्यत्) अन्य है, जिसको (हरितः) हरणशील किरणें और लोकों को धारण करने वाली दिशाएं और गतिशील लोक (सं भरन्ति) धारण करते हैं।

[१२४] परमेश्वर, राजा और आत्मा।

वामदेव ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः, २ पादनिचृत्। षड्चं सूक्तम्।

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥ ऋ० ४। ३१। १ ॥

भा०—(चित्रः) पूजनीय, (सदावृधः) सदा बढ़ाने हारा, (सखा) मित्र (नः) हमें (कया ऊत्या) न जाने किस परिचर्या या विधि से (आ भुवत्) साक्षात् हो और न जाने (शचिष्ठया) अति शक्तिवाली (कया) किस प्रज्ञा के (वृता) वर्त्तन या व्यवहार से वह हमें प्राप्त हो? अथवा, नहीं जानते वह हमारे उत्साह और ऐश्वर्य की वृद्धि करने हारा हमारा मित्र किस प्रकार के रक्षा कार्य और किस महान् शक्तिशाली कर्म द्वारा हमें प्राप्त होता है।

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥ ऋ० ४। ३१। २ ॥

भा०—(अन्धसः) ऐश्वर्य के (मदानां) आनन्दप्रद हर्षों में से (कः) कौनसा (सत्यः) सत्य, सज्जनों को हितकर हर्ष (त्वा) तुझको (मत्सत्) प्रसन्न, तृप्त करे जिससे तू (दृळ्हा) दृढ़ से दृढ़ (वसु) ऐश्वर्यों को (आरुजे) अति रोग के समान भयंकर शत्रु या पीड़ाजनक कष्टों के लिये वारदे। अथवा—(दृढ़ा चित् वसु) दृढ़ से दृढ़ शरीर रूप निवास स्थानों को (आरुजे) तोड़ने में समर्थ हो।

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतं भवास्यूतिभिः ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (नः) हमारे (सखीनाम्) मित्र, (जरितॄणाम्) विद्वानों का तू (शतम् ऊतिभिः) सैकड़ों रक्षा साधनों से (सु अभि अविता भव) उत्तम रक्षक हो ।

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥४॥
आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥५॥
प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतं हिमाः सुवीराः ॥ ६ ॥

भा०—[४–६] तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ६३ । १—३ ॥

[१२५] राजा ।

कीर्तिर्ऋषिः । इन्द्रः, ४, ५ अश्विनौ च देवते । त्रिष्टुभः, ४ अनुष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ।।

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम ॥ १ ॥
ऋ० १ । १३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुनाशक ! हे (मघवन्) धनों के स्वामिन् ! तू (प्राचः) सन्मुख के (अमित्रान्) शत्रुओं को (अप नुदस्व) दूर कर । हे (अभिभूते) पराजय करने हारे ! तू (अपाचः) पीठ पीछे लगे शत्रुओं को (अप नुदस्व) दूर कर । (उदीचः) हमारे

ऊपर, अधिकार प्राप्त शत्रुओं को (अप) दूर कर । और (अधराचः) हमारे नीचे के भृत्य रूप से वर्त्तमान शत्रुओं को भी (अप) दूर कर (यथा) जिससे हे (शूर) शूरवीर ! हम (तव) तेरे (उरौ) बड़े भारी (शर्मन्) शरण में (मदेम) हर्ष, सुख प्राप्त करें ।

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः ॥ २ ॥
ऋ० १० । १३१ । २ ॥

भा०—(अङ्ग) हे इन्द्र ! (यवमन्तः) जौ आदि धान्यों के पैदा करने वाले खेतिहर लोग (यथा) जिस २ प्रकार के (यवं चित्) जौ आदि धान्य को (अनुपूर्वम्) क्रम से (वियूय) जुदा कर २ के (कुवित्) बहुतसा (दान्ति) काट लेते हैं उस २ प्रकार के तू (इह इह) नाना प्रदेशों में भी (एषाम्) उन लोगों के यवादि नये धान्यों के (भोजनानि) भोजनों को (कृणुहि) कर (ये) जो (बर्हिषः) यज्ञमय प्रजापालक राजा या इस राष्ट्र के (नमोवृक्तिं) नमनकारी बल या दण्ड व्यवस्था या शासन के भंग के अपराध को (न जग्मुः) नहीं करते । अथवा (बर्हिषः) उस महान् ब्रह्म परमेश्वर के (नमो वृक्तिम् न जग्मुः) नमस्या, या पूजा में विच्छेद नहीं करते ।

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु ।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १३१ । ३ ॥

भा०—(स्थूरि) एक बैल या एक घोड़े वाली गाड़ी या रथ से (ऋतुथा) ठीक२ काल में, ठीक२ अवसर पर (नहि यातम् अस्ति) नहीं पहुंचा जा सकता । (न उत) और न (संगमेषु) सज्जनों के सभा सत्संगों में (श्रवः) यश ही प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् एक घोड़े के रथ

से समयपर युद्ध में नहीं पहुंचा जा सकता और न संग्राम में विजय, यश ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये (विप्राः) मेधावी विद्वान् पुरुष (गव्यन्तः) गौत्रों के इच्छुक (अश्वायन्तः) अश्वों के इच्छुक (वाजयन्तः) और अन्न धनैश्वर्य के इच्छुक होकर (इन्द्रम् वृषणं) ऐश्वर्यवान् बलशाली राजा और परमेश्वर को ही (सख्याय) अपने मित्र होने के लिये वरण करते हैं।

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥४॥ ऋ० १० । १३१ । ४ ॥

भा०—हे (अश्विना) व्यापक अधिकार वाले दो बड़े अधिकारी पुरुषो! (नमुचौ) कभी भी न छोड़ने योग्य (असुरे) असुर. दुष्ट पुरुषों के हनन कार्य में (सचा) सदा साथ रहकर (युवम्) तुम दोनों (शुभस्पती) शुभ कार्यों के पालक होकर (सुरामम्) राज्य लक्ष्मी के साथ वर्तमान राष्ट्र की (विपिपाना) नाना कर्मों में रक्षा करते हुए (कर्मसु) समस्त कर्मों में (इन्द्रं) मुख्य राजा की (अवतम्) रक्षा करो।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥५॥
ऋ० १० । १३१ । ५ ॥

भा०—और (यत्) जब (शचीभिः) अपनी प्रज्ञाओं और शक्तियों से (सुरामं) उत्तम रमण योग्य राष्ट्र का (व्यपिबः) नाना प्रकार से भोग करता है और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (सरस्वती) उत्तम ज्ञान से युक्त विद्वत् सभा (त्वा) तुझको (अभिष्णक्) पीड़ा रहित करती है (पितरौ पुत्रम् इव) माता और पिता जिस प्रकार पुत्र की रक्षा करते हैं उसी प्रकार (अश्विना) व्यापक विस्तृत अधिकारों से युक्त दो बड़े अधिकारी (काव्यैः) अपने उपदेशों से और (दंसनाभिः) दर्शनीय

एवं शत्रु नाशक बड़े २ कर्मों से हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन्! तुझको (अवथुः) रक्षा करते हैं।

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १३१ । ६ ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ७ ॥
ऋ० १० । १३१ । ७ ॥

भा०—[६, ७] इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० का० ७ । सू० ९१ और ९२ ॥

[१२६] जीव, प्रकृति और परमेश्वर ।

वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणी च ऋषयः। इन्द्रो देवता। पंक्तिः। त्रयोविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१॥

भा०—आत्मज्ञान का वर्णन। इन्द्रियगण (सोतोः) रस ग्रहण करने के लिये (वि असृक्षत) नाना प्रकार का यत्न करते हैं। परन्तु वे (इन्द्रं देवम्) उनको शक्ति प्रदान करने वाले परमैश्वर्यवान् आत्मा के स्वरूप को (न अमंसत) नहीं जानते। (यत्र) जिन प्राणों के ऊपर (वृषाकपिः) उनमें समस्त सुखों का वर्षण करने वाला और उनमें कम्पन या स्पन्द रूप से स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला होकर (पुष्टेषु) भृति वेतनादि द्वारा पुष्ट भृत्य जनों में (अर्यः) स्वामी के समान (आमदत्) बड़े हर्ष अनुभव करता है। अर्थात् (अर्यः) स्वामी जिस प्रकार (पुष्टेषु) अपने हृष्ट

पुष्ट भृत्यों और प्रजाजनों के बीच बड़ा आनन्द लाभ करता है उसी प्रकार जो (अर्यः) समस्त प्राणों में व्यापक उनमें गति देने हारा उनका स्वामी होकर (पुष्टेषु) अन्नों से परि पुष्ट अंगों में (अमदद्) बड़े आनन्द अनुभव करता है वही (मत्सखा) वास्तव में मेरा मित्र भीतरी आत्मा है। यह (विश्वस्मात्) सबसे (उत्तरः) उत्कृष्ट: (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् साक्षात् सूर्य के समान तेजस्वी है। और जिस परमेश्वर के आश्रय में रहकर लोग नाना प्रकार का आध्यात्मिक आनन्द लेने का यत्न करते हैं पर वे उसको जानते नहीं हैं। जीव आत्मा जिसमें नित्य आनन्द लेता है वही मुझ उपासक का मित्र है। वह सबसे बड़ा है।

अध्यात्म में-इन्द्र आत्मा है, वृषाकपि प्राण है, ब्रह्माण्ड में इन्द्र परमेश्वर है, वृषाकपि जीव है। राष्ट्र में—राजा इन्द्र है, वृषाकपि सेनापति है।

वृषाकपि इन्द्र का पुत्र है, इन्द्राणी वृषाकपि और इन्द्र तीनों का इस सूक्त में संवाद ऐतिहासिक लोग मानते हैं। परन्तु यह अलंकार है।

परा॑ हीन्द्र॒ धाव॑सि वृ॒षाक॑पे॒रति॒ व्यथि॑ः ।
नो अह॒ प्र वि॑न्दस्य॒न्यत्र॒ सोम॑पीतये॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! तू जब (वृषाकपेः) सुखों के वर्षण करने और दुःख कारणों के कंपा देने वाले जीवात्मा से (परा धावसि) परे चला जाता है तब तू (अतिव्यथिः) बड़ी व्यथा, अर्थात् भीतरी चित्त के कष्ट का कारण होजाता है। (अह) और (अन्यत्र) अन्य स्थानों अर्थात् संसार के दृश्यों या व्युत्थित दशाओं में (सोमपीतये) परम आनन्द रस, सोमपान कराने के लिये अथवा सोमरूप आत्मा को स्वयं पान करने, उसको अपनी शरण में ले लेने के लिये (नो प्रविन्दसि) दूरतक भी ढूंढे नहीं मिलता, वह (इन्द्रः) परमेश्वर (विश्वस्मात्) सबसे अधिक (उत्तरः) उत्कृष्ट, ऊंचा है।

परमेश्वर का साक्षात् न करके योगी साधक उसके लिये व्याकुल हो उठता है । वह ईश्वर फिर दुनियां के भोगों में उसे नहीं मिलता । वह भोग बन्धनों में पड़े उसको परम रस नहीं देता और अपने में नहीं मिलाता । वह ईश्वर सबसे महान् है ।

किमुयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः । यस्मां इरस्यसीदु न्वर्यो वा पुष्टिमद् वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (अयं) यह (वृषाकपिः) सूर्य के समान तेजस्वी, मेघ के समान अपनी आत्मभूमि में आनन्दरस का धर्म-मेघ समाधि द्वारा वर्षण करनेहारा, कपि, सूर्य के समान अति तेजस्वी आत्मा (हरितः) आदित्य के समान तेजस्वी, तेरे द्वारा हरण किया गया, तुझ में आकृष्ट एवं (मृगः) अपने को शुद्ध करने और तुझ को नित्य खोजने में लगा हुआ, (त्वा) तेरे प्रति (किम् चकार) क्या प्रिय कार्य या उपकार करता है कि (यस्मै) जिसको तू (नु) भला (अर्यः वा) स्वामी के समान (पुष्टिमत्) गवादि धन धान्य से युक्त समस्त (वसु) ऐश्वर्य, (इरस्यसि इत् उ) दिये ही चला जा रहा है ? ठीक है (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह तू ऐश्वर्यवान् परमेश्वर सबसे उत्कृष्ट, सबसे बढ़कर है ।

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि । श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! (यम् इमम्) जिस इस (वृषाकपिम्) सामर्थ्यवान् तेजस्वी, (प्रियम्) अपने प्रिय, जीव को तू (अभिरक्षसि) सब ओर से रक्षा करता है उस जीव को (अस्य कर्णे) इसके कर्म के निमित्त (वराहयुः) वायु को कामना करने वाला (श्वा) आशु गतिशील प्राण (नु) ही (जम्भिषत्) उसे पकड़ लेता, या बान्ध

लेता है अथवा-(वराहयुः) वायु या प्राण वायु के अभिलाषी, अथवा (वराहयुः) उत्तम कहाने योग्य पदार्थों का अभिलाषी (श्वा) कुक्कुर के समान भोग करने वाला देह इसको (जम्भिषत्) अपने बन्धन में डाल लेता है। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वह परमेश्वर ही सबसे ऊंचा है जो कभी देह बन्धन में नहीं आता।

जिस सामर्थ्यवान् जीव का ईश्वर रक्षक है वह जीवात्मा जब २ भी कर्म करता है तब २ प्राण से जीवित, भोगायतन देह उसको बांध लेता है। परन्तु संसार को चलाने हारे परमेश्वर पर वह देहबंधन नहीं लगता।

प्रिया तुष्टानि मे कुपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥५॥

भा०—(कपिः) विषय वेगों से कम्पित, विचलित होजाने वाला, वानर के समान अति चञ्चल स्वभाव होकर यह आत्मा (मे) मेरे (तष्टानि) बनाये गये, मुक्त प्रकृति में से परमेश्वर द्वारा सृजे गये, (प्रिया) प्रिय लगने वाले, (व्यक्ता) व्यक्त, प्रकट हुए पदार्थों को वह (वि अदूदुषत्) विविध प्रकार से भोग कर लेता है (नु अस्य) इसके तो मैं, प्रकृति (शिरः) शिर, अर्थात् मुख्य स्वरूप को (राविषं) नष्ट कर देती हूं। (दुष्कृते) दुष्ट आचरण करने वाले के लिये मैं (सुगं न भुवम्) सुखकारिणी कभी नहीं होती। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह ऐश्वर्यवान् परमेश्वर सबसे उत्तम है।

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥६॥

भा०—(मत्) मुझसे बढ़के (स्त्री) कोई स्त्री, (सुभसत्-तरा न) उत्तम कान्तिमती, सौभाग्यवती नहीं है। और मुझसे बढ़कर कोई स्त्री (सुयाशुतरा) सुख पूर्वक पति का संग करने वाली, उसको सुखप्रद

(न भुवत्) नहीं है। (मत्) मुझसे बढ़कर (प्रतिच्यवीयसी) पति के प्रति विनय से झुकने वाली भी कोई दूसरी नहीं है। (सक्थ्युद्यमीयसी न) जिस प्रकार स्त्री पति के संगकाल में जंघा आदि उठाती है उसी प्रकार मुझसे बढ़कर कोई दूसरी सक्थि अर्थात् समवाय शक्ति से (उद्यमीयसी) ईश्वरीय तेज को नियमन करने, धारण करने वाली भी नहीं है। इस लिये (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् मुझ प्रकृति का पति परमेश्वर ही सबसे ऊंचा है।

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति । भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ७ ॥

भा०—(उवे) हे (अम्ब) व्यापक शक्तिमति ! हे (सुलाभिके) सुख का लाभ कराने हारी (अंग) अंग, हे व्यक्तरूप प्रकृते ! (भसत्) देदीप्यमान तेज (मे) मेरे हों। (सक्थि मे) यह तेरी समवाय शक्ति (मे) मेरे उपयोग में आवे। (मे शिरः) मेरा शिर, मुख्य चित्त (वि-हृष्यति इव) विविध रूपों से हर्ष को प्राप्त होता है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् परमात्मा तो सबसे ऊंचा है। जीव कहता है कि ईश्वर विश्व से ऊंचा है। प्रकृति का यह सब सौभाग्य और सक्थि अर्थात् आसक्ति अर्थात् भोग्य शक्ति या जीवों को बांधने वाली शक्ति जीवके उपयोग में ही आती है। मैं जीव ही उससे प्रसन्न होता हूं, ईश्वर भोग बन्धनों में नहीं पड़ता।

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने । किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ८ ॥

भा०—सुन्दर स्त्री जिस प्रकार उत्तम बाहु वाली, (सु अङ्गुरिः) उत्तम अंगुलियों या अंगों वाली, (पृथुष्टुः) विशाल केश पाशवाली और (पृथु जाघना) विशाल नितम्ब वाली होकर (शूर पत्नी) शूरवीर पति की स्त्री होती है। इसी प्रकार हे प्रकृति ! तू भी हे (सुबाहो) उत्तम रीति से

जीवों को बांधने या संसार के जन्म मरण में पीड़ा देने वाली (स्वङ्गुरि) हे शोभन, प्रत्येक अवयव अवयव में दीप्ति वाली ! हे (पृथुजाघने) विस्तृत व्यापक शक्तिवाली ! हे (शूरपत्नि) सबके प्रेरणा करने वाले, जगत् के सञ्चालक परमेश्वर को अपना पति, मानने वाली उसी की आज्ञा पालन करने हारी ! नु (किं रे) क्यों, किस निमित्त (नः) हमारे (वृषाकपिम्) जीव आत्मा को (अभि अमीषि) लक्ष्य कर उसपर क्रोध करती है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) ऐश्वर्यवान् मैं परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है।

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते। उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ९ ॥

भा०—(अयं शरारुः) यह व्याघ्र के समान हिंसाकारी मृत्यु (माम्) मुझ चेतना को (अवीराम् इव) वीर राजा से रहित प्रजा के समान या वीर पुरुष पति से रहित स्त्री के समान अरक्षित सा जानकर (अभि मन्यते) मेरा विनाश करना चाहता है और मुझे डर दिखाता है। परन्तु (उत अहम्) मैं तो (वीरिणी) वीर्यवान् आत्मा रूप वीर पति वाली या वीर्यवान् प्राण रूप पुत्र वाली (इन्द्रपत्नी) इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपना पालक प्राप्त करने वाली, (मरुत्सखा) शत्रुओं को मार देने वाले वीर पुरुषों के समान प्राणों को मित्र रूप से रखने हारी हूं। (और इन्द्रः) वह परमेश्वर (विश्वस्मात् उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट है।

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति। वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १० ॥

भा०—(वा) जिस प्रकार (नारी) स्त्री (संहोत्रं) एकत्र मिल कर करने योग्य होत्र, हवन, यज्ञ में और (समनम्) संग्राम में (अव गच्छति स्म) जाया करती है और (ऋतस्य) सत्यज्ञान का (वेधाः) प्राप्त करने हारी या सत्य व्यवस्था का विधान करने हारी (वीरिणी) वीर

पुत्रवती और (इन्द्रपत्नी) ऐश्वर्यवान् पुरुष या स्वामी की स्त्री होकर (महीयते) आदर और सत्कार का पात्र होती है। उसी प्रकार (पुरा) पहले (नारी) समस्त भुवन के कार्यों की नेत्री प्रवर्त्तिका प्रकृति अथवा 'नर', सबके प्रवर्तक परमेश्वर के, स्त्री के समान सदा साथ रहने वाली उसकी महती शक्ति, (संहोत्रम्) एक साथ मिलकर एक दूसरे के ग्रहण करने वाले संगमय यज्ञ को और (समनम्) समष्टि प्राण शक्ति के धारण की क्रिया को (अव गच्छति) प्राप्त करती है। अर्थात् प्रधान शक्ति ही नाना संयोग विभाग करती तथा वही सर्वत्र प्राण सञ्चार करती है। वही (ऋतस्य) सत्यज्ञान या सत्, गतिमत् रूप से प्रकट हुए जगत् की (वेधाः) विधात्री है। वही (वीरिणी) वीर्यवती (इन्द्रपत्नी) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपना मुख्य पालक रखने वाली स्त्री के समान उसकी सहचारिणी होकर (महीयते) बड़ीभारी शक्ति के रूप में प्रकट होती है। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वह परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है।

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥११॥

भा०—(आसु नारिषु) इन समस्त नारियों में से मैं (इन्द्राणीम्) इन्द्र की स्त्री के समान उसके सदा साथ रहने वाली परमेश्वर की ऐश्वर्यवती प्रकृति को (सुभगाम्) सबसे अधिक उत्तम ऐश्वर्यवती सौभाग्यवती (अश्रवम्) गुरूपदेश द्वारा श्रवण करता हूं (अपरं चन) और जिस प्रकार अन्य स्त्रियों के पति बूढ़े होकर मर जाते हैं उस प्रकार (अस्याः पतिः) इसका पति (जरसा) आयु के अन्त कर देने वाले बुढ़ापे के कारण (नहि मरते) नहीं मरता। वह अजर अमर है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) इन्द्र परमेश्वर समस्त संसार से ऊंचा है।

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१२

भा०—हे (इन्द्राणि इन्द्र की परमशक्ते ! प्रकृते ! (अहम्) मैं परमेश्वर भी (सख्युः) समान आत्मा या, इन्द्र नाम को धारण करने वाले सखा अपने मित्र (वृषाकपेः) आनन्द वर्षण कारक हृदय में कम्पन या रोमञ्च उत्पन्न करने हारे उस जीव के (ऋते) विना न रारण) मैं क्रीड़ा या विनोद नहीं करता अर्थात् मैं जगत् सर्जन रूप लीला का विस्तार नहीं करता। वह वृषाकपि जीव भी कैसा है ? (यस्य जिसका (इदम्) यह (अप्यं-हविः जलों में जिस प्रकार अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में उत्पन्न वा लिङ्ग शरीरों में स्थित वा उनसे बना हुआ प्रियम् हवि) अति प्रिय, ग्रहण करने योग्य अन्न, चेतनादायी प्राण ही (देवेषु) गन्ध आदि ज्ञानों के प्रकाशक इन्द्रिय गण में (गच्छति) प्राप्त होता है । और (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है ।

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत् त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १३

भा०—हे (वृषाकपायि) आनन्द रस के वर्षण से हृदय को रोमाञ्चित करने हारे, साधक पुरुष की जननि ! सत्वभूमे ! प्रकृते ! हे (रेवति) ऐश्वर्यवति ! हे (सुपुत्रे) सुखपूर्वक पुरुषों का त्राण करने हारी ! हे (सुस्नुषे) सुखका प्रस्रवण कराने हारी ! आत्मा में सुख बहाने वाली! (ते इन्द्रः) तुझे ऐश्वर्य का देने वाला तेरा पति, परमेश्वर (प्रियम्) अतिप्रिय (काचित्करम्) अति सुखकारी (हविः) उपादेय अन्न रूप जगत् को और (उक्षणः) आनन्दरस, या वीर्य के वर्षण, या सेचन करने में समर्थ प्राणों को आत्मा जिसप्रकार प्राणों को और सूर्य जिस प्रकार मेघों को अपने भीतर लेलेता है

इसी प्रकार वह परमेश्वर जीवनरस के वर्षक प्रसारक सूर्यों को (घस्त्) अन्न के समान अपने भीतर ग्रस जाता है अपने भीतर ले लेता है ।

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१४

भा०—(मे) मेरे लिये तो (उक्ष्णः) वीर्य सेचन, या सुख-वर्षण में समर्थ, प्राणों के (पञ्चदश) पन्द्रह और (विंशतिम्) बीस, या इनमें प्रविष्ट आत्मा को (साकम्) एक साथ (पचन्ति) विद्वान लोग परिपक्व करते हैं, तपस्या द्वारा इनको दृढ करते हैं । (उत) और (अहम्) मैं अद्मि) उनका भोग करता हूं, इनको स्वीकार करता हूं । (पीव इत्) और मैं अति बलवान् रहता हूं । वे (मे) मेरे (उभा कुक्षी) दोनों कोखों को (पृणन्ति) पूर्ण करते हैं । इसी प्रकार (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर (विश्वस्मात्) सबसे (उत्तरः) उत्कृष्ट है ।

पंचदश-दश इन्द्रियगत प्राण और प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, ये पांच मिलकर १५ हुए । इनके भीतर प्रविष्ट होकर रहने वाला आत्मा 'विंशति' है ।

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् ।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१५

भा०—(न) जिस प्रकार (तिग्मशृंगः) तीव्र सींगों वाला (वृषभः) वीर्य सेचन में समर्थ सांड यूथेषु अन्तः) गौओं के रेवड़ के बीच में (रोरुवत्) बराबर गर्जना करा करता है उसी प्रकार नाना के हृदयों में रस वर्षण करने हारा परमेश्वर (तिग्मशृंग:) अन्धकारों का नाश करने वाले तीव्र प्रकाश से युक्त होकर (यूथेषु अन्तः) नाना यूथों, संमिलन करने योग्य स्थानों, हृदयों में (रोरुवत्) अपनी ध्वनि कर रहा है

'सोहं' का नाद बजाता रहता है। हे इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! यं) जिस परम रस को (भावयुः) भक्ति भावों से युक्त उपासक (ते) तेरे निमित्त या तुझ से (सुनोति) उत्पन्न करता है, प्राप्त करता है वह (मन्थः) सब दुःखों का मथन, विनाश कर देने वाला एवं हृदय को मथन कर देने वाला, अति आह्लादकारी (ते) तेरा आनन्दरस (हृदे) हृदय को (शं) शांति देने वाला होता है । (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) इन्द्र परमेश्वर सबसे उत्कृष्ट परमानन्दकारी है ।

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्याऽकपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १६

भा०—(यस्य) जिसका (कपृत्) कपाल, मस्तक (सक्थ्या अन्तरा) जांघों के बीच तक देवता के प्रति मनौती के लिये, या अपने से बड़े बलवान् को देखकर उसके आगे झुकने के लिये (रम्बते=लम्बते) लटक जाता है (न सः ईशे) वह स्वामी के समान शासन करने में समर्थ नहीं होता । (सः इत् ईशे) वही शासन करता है (निषेदुषः) राज्यासन पर विराजे हुए (यस्य) जिसका (रोमशं) लोमों या मूछों वाला मुख (विजृम्भते) विविध प्रकार से या विशेष रूप से खुलता और आज्ञा देता है । (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) शत्रुनाशक ऐश्वर्यवान् राजा ही सबसे उत्कृष्ट है ।

अध्यात्म में—(यस्य) जिस जीवात्मा का (कपृत्) अल्प पालन सामर्थ्य या सुखग्राही चित्त (सक्थ्या अन्तरा) आसक्ति योग्य पदार्थों के बीच में ही (रम्बते, लम्बते) लटक जाता है, मुग्ध होजाता है । (न सः ईशे) वह संसार का स्वामी, ईश्वर नहीं हो सकता । (सः इत् ईशे) वही ईश्वर है (निषेदुषः) निगूढ रूप से सर्वत्र व्यापक (यस्य) जिसका बनाया (रोमशम्) लोमयुक्त मुख के समान तेजस्वी किरणों से युक्त सूर्य (विजृम्भते)

विविध दिशाओं में फैलता है। अथवा [रोमशं=रु शब्दे। रौति शब्दयति इति रोम तेन युक्तं] सर्व उपदेशकारी, प्रवचन या गुरुपदेश के समान ज्ञान विविध रूपों से प्रकाशित होता है वह (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) परमेश्वर सबसे ऊंचा है। अथवा [रोमशं=लोमशं। लूयते इति लोम तद्=श्यति नाशयति इति लोमशम्]-अन्धकारों का काटने वाला और विघ्नों और जन्ममरण के बन्धनों को काटने वाला जिसका ज्ञानमय तेज सूर्य के समान चारों तरफ प्रखरता से विस्तृत है वह परमेश्वर सबसे ऊंचा है।

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेन्तरा सक्थ्याऽकपृद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१७

भा०—(सः) वह (न ईशे) सबका स्वामी नहीं बन सकता (यस्य) जिसका (निषेदुषः) बैठे २ (रोमशं विजृम्भते) लोमयुक्त मुख केवल जंभाई लेता है। बल्कि (सः इत् ईशे) वह ही पुरुष सामर्थ्यवान् ऐश्वर्य का स्वामी बनता है (यस्य) जिसका (कपृद्) सुख और आनन्द से पूर्ण करने वाला स्वरूप, तेज या सामर्थ्य (सक्थ्या अन्तरा) परस्पर मिले हुए आकाश और पृथिवी के बीच में (रम्बते) मध्याह्न के सूर्य के समान विद्यमान रहता है। इसी कारण (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर सबसे अधिक ऊंचा है।

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१८

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! (अयम्) यह (वृषाकपिः) सुखों का हृदय में वर्षण करने और दुःख के कारणों को कंपा कर अपने से पृथक् कर देने में समर्थ आत्मा (परस्वन्तं) अपने भीतर बसे, 'मैं परमेश्वर से दूर हूं' ऐसे भाव को अब (हतं विदत्) विनष्ट हुआ जाने। अब वह (असिं) दुखों के काटने वाले, तीव्र तलवार के समान ज्ञानवज्र को (सूनाम्)

परब्रह्म की तरफ प्रेरणा करने वाली तीव्र बुद्धि और (नवं चरुम्) स्तुति योग्य तप या आचरण को और (एधस्य) तीव्र तेज के (आचितम्) पूर्ण सञ्चित (अनः) जीवन, इन सबको वह (विदत्) प्राप्त करे। क्योंकि (इन्द्रः) वह ईश्वर (विश्वस्मात् उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट है।

अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १९

भा०—(अयम्) यह मैं साक्षात् (विचाकशत्) विवेक पूर्वक देखता हुआ और (दासम् आर्यम्) दास, आर्य, नाशक और पालक स्वामी दोनों का (विचिन्वन्) विवेक करता हुआ (एमि) परिणाम पर आता हूं। (पाकसुत्वनः) जो पुरुष अपने आत्मज्ञान का परिपाक करता है और जो नित्य आत्मज्ञान रूप रस को योग समाधि द्वारा सवन करता है, उसको (पिबामि) मैं उसी का साक्षात् कर स्वीकार करूं और (धीरम्) मैं धीर, धीमान् उसी पुरुष को (अभि अचाकशम्) साक्षात् स्वयं देखता हूं और दूसरों दर्शाता हूं कि (विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः) वह ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है।

धन्वं च यत् कृन्तत्रं च कति स्वित् ता वि योजना।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२०॥

भा०—हे (वृषाकपे) आत्मभूमि में आनन्दरस के वर्षणशील और सुख के पान करनेहारे आत्मन्! (धन्व च) निर्जल देश और (कृन्तत्रं च) दुखदायी शरीर का छेदन भेदन करने वाला कांटेदार वन (ता) वे सब कुछ (कतिस्वित्) कितने ही (योजना) योजन हैं, अर्थात् वे कितने पदार्थों का योग कराने में समर्थ हैं? यह संसार धन्व अर्थात् मरुदेश के समान है जहां मृगमरीचि का से लुब्ध होकर मनुष्य भ्रमता है। इसी प्रकार यह संसार कांटेदार झाड़ियों से भरा, कण्टकाकीर्ण कष्टप्रद वन के समान है इसमें कितने पदार्थ हैं जो पुरुष के सदा साथ योग देने वाले हैं? एक भी

नहीं। तब तब हे जीव! तू अस्तम् एहि अपने गृह के समान शरणप्रद उस परमेश्वर को प्राप्त हो जो (नेदीयसः) अति निकट विद्यमान (गृहान्) गृह अर्थात् स्त्री पुत्र कलत्रादि के समान ग्रहण करने योग्य आत्मा या आत्मा के हितकारी गुरु जनों को वि प्र एति विशेष रूप से प्राप्त हो। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) और महान् गृहरूप शरण वही इन्द्र, परमेश्वर है जो सबसे उत्कृष्ट है।

पुन॒रेहि॑ वृषाकपे सुवि॒ता क॑ल्पयावहै ।
य ए॒ष स्व॑प्न॒नंश॒नोऽस्त॒मेषि॑ प॒था पुन॒र्विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥२१॥

भा०—हे जीव! विद्वन्! हे (वृषाकपे) बलवान् होकर आनंदरस का पान करनेहारे मुमुक्षो! (पुनः एहि) तू फिर आ, लौट आ. संसार में न भटक कर पुनः ईश्वर रूप शरण को प्राप्त हो। हम दोनों, ईश्वर और प्रकृति मिलकर पुत्र के लिये माता पिता के समान (सुविता) तेरे लिये सुख, कल्याणजनक फल ही (कल्पयावहै) उत्पन्न करेंगे। (यः एषः) जो तू (स्वप्ननंशनः) स्वप्न, निद्रा और प्रमाद और मृत्यु को दूर करता हुआ आदित्य के समान (पथा) सन्मार्ग से इस मोक्ष मार्ग से पुनः अस्तम् एषि) फिर गृह के समान शरणरूप परमेश्वर को प्राप्त हो।

जिस प्रकार सूर्य उदय होकर पुनः अस्त को प्राप्त होता है इसी प्रकार तेजस्वी मुमुक्षु भी मोक्ष मार्ग से अस्त अर्थात् शरण रूप ईश्वर को प्राप्त हो। जहां वह सूर्य के समान ही महान् आनन्द सागर में अस्त हो जाय, विलीन, मग्न होजाय।

यदुद॑ञ्चो वृषाकपे गृ॒हमि॑न्द्राजग॑न्तन ।
क्व॑१॒स्य पु॑ल्व॒घो मृ॒गः कम॑गं जन॒योप॑नो॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥२२

भा०—हे (वृषाकपे) बलवान् आनन्दरस पान करनेहारे! हे (इन्द्र) आत्मज्ञान के साक्षात् करने हारे मुमुक्षो! (यत्) जब (उद्

अन्च:) उदय को प्राप्त होने वाले, ऊपर उठने वाले, पुरुष (गृहम्) गृह के समान शरण, सबको अपने भीतर, शरण में ले लेने वाले परमेश्वर को प्राप्त होजाते हैं तब बतला कि (पुल्वघः) अति पापभोगी (स्यः मृगः) वह विषयों को खोजने वाला (जनयोपनः मृगः इव) मनुष्यों के विध्वंस करने वाले भूखे सिंह के समान लोलुप जीव (क अगंन् कम्) भला कहां चला जाता है ?

अर्थात् मृग, सिंह जिस प्रकार (पुलु-ऊघः–पुरु-अघः) बहुतों को मारता है और (जनयोपनः) बहुत से जन्तुओं का नाश करता है । वह जिस प्रकार पुरुष को गृह में आजाने फिर दिखाई नहीं देता. वह वन में ही रह जाता है इसी प्रकार जब मुमुक्षु ईश्वर को प्राप्त होजाता है तब (पुल्वघः) पुरु अर्थात् इन्द्रियों द्वारा नाना पाप भोग करने हारा (मृग:) विषय को खोजने वाला, (जनयोपनः) जन्म का नाश करनेहारा जीव फिर (क स्यः) वह कहां रहता है वह तो (कम्) सुखस्वरूप उस आनन्दमय को प्राप्त होजाता है जो (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) परमेश्वर सबसे ऊंचा है ।

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्यां उदरमामयद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः

भा०—(पर्शुः ह नाम) पर्शु नाम (मानवी) मननशील पुरुष की सहचारिणी बुद्धि या विचारशक्ति जिस प्रकार (साकम्) एक साथ ही (विंशतिम्) बीस को (ससूव) उत्पन्न करती है । १० इन्द्रियों के स्थूल साधन और १० भीतरी ग्राहक सूक्ष्म साधन इन सबको मनु मननशील आत्मा की विचारशक्ति ही उत्पन्न करती है । वही सर्वत्र स्पर्श करनेहारी व्यापक होने से 'पर्शु' कहाती है । (भल) हे जीव ! (त्यस्याः) उसका (भद्रं) कल्याण (अभूत्) होता है (यस्या उदरम्) जिसके पेट को (आमयत्) जीव गर्भ–प्रसव से पीड़ित करता है । इसी प्रकार (मानवी)

मननशील परमेश्वर की वह (पर्शुः ह नाम) सदा पार्श्ववर्त्तिनी, सहचारिणी स्त्री के समान व्यापक प्रकृति है जो (विंशतिम्) २० प्रकृति विकारों को एक ही साथ उत्पन्न करती है। (त्यस्याः) उससे भी (भद्रम्) सुखकारी जगत् (अभूत्) उत्पन्न होता है (यस्या) जिसके (उदरम्) उदर, गर्भाशय के समान भीतर में (आमयत्) व्याप्त होकर वह परमेश्वर स्वयं पीड़ित करता है उसमें विक्षोभ उत्पन्न करता है । (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वही परमेश्वर समस्त संसार से उत्कृष्ट है ।

'पर्शु मानवी' को देखकर यवन या इस्लाम सम्प्रदाय ने कदाचित् आदम की पसली से हौवा बनाकर सृष्टि क्रम चलाने की कथा गढ़ी है ।

॥ अथ कुन्तापसूक्तानि ॥

[१२७ (१)] स्तुति योग्य पुरुष का वर्णन ।

तिस्रो नाराशंस्यः । अतः परं त्रिंशद् ऋच इन्द्रगाथाः ।।

इ॒दं जना॒ उप॑ श्रुत नरा॒शंस॒ स्तवि॑ष्यते ।
ष॒ष्टिं स॒हस्रा॑ नव॒तिं च॑ कौरम॒ आ रु॒शमे॑षु दद्महे ॥१॥

भा०—हे (जनाः) मनुष्यो ! (इदम् उपश्रुत) आप लोग इस बात को कान लगाकर श्रवण करो कि (नराशंसः) प्रजाओं के नेता पुरुषों के गुणों का (स्तविष्यते) यहां वर्णन किया जाता है । (कौरम) पृथ्वी पर रमण, या युद्ध क्रीड़ा करनेहारे ! राजन् ! सेनापते ! हम लोग (षष्टिं सहस्रा) छः हज़ार (नवतिं च) नव्वे पुरुषों को (रुशमेषु) शत्रुओं के नाशकारी सेना के दलों में (आ दद्महे) नियुक्त करें ।

१—'कौरम' इति राथसम्मतः । 'कोरम' इति ५ चित् ।

६०१० पुरुषों द्वारा चक्रव्यूह का वर्णन पहले कर आये हैं।

नाराशंसी: शंमतिः। प्रजावै नारा, वाक्शंसः। इति तै० ब्रा०१।६।३॥

'कौरम=कौरव' कुरुषु भवः, साधुर्वा कौरवः। कुर्वन्ति इति कुरवः। खेलाचाराः अथवा कौ पृथिव्यां रमत इति वा।

उष्ट्रा यस्य प्रवाहिणो वधूमन्तो द्विर्दश।

वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः ॥२॥

भा०—(यस्य) जिसके (प्रवाहिणः) उत्तम स्थान को प्राप्त कराने वाले (वधूमन्तः) वधू अर्थात् हिंसाशील शत्रु नाशक शक्तियों वाले (द्विः दश) बीस (उष्ट्राः) ऊंट हैं। और (यस्य) जिसके (रथस्य) रथ की (वर्ष्माः) चोटियां (दिवः) आकाश को (उपस्पृशः) छूती हुई (ईषमाणाः) चलते हुए (दिवः) आकाश को (नि जिहीडते)) नीचा दिखाती हैं।

अथवा—(यस्य) जिस राजा के (द्विः दश) बीस, (वधूमन्तः) हिंसा करने वाली शत्रु नाशक शक्तियों से युक्त (उष्ट्राः) शत्रु को दग्ध करने वाले (प्रवाहणः) आगे बढ़ने वाले या उत्तम अश्व आदि सवारियों पर चढ़ कर चलने वाले हों। और (रथस्य) रथ की (वर्ष्मा) ऊंची ध्वजाएं (ईषमाणाः) चलतीं (उपस्पृशः) गगन को छूने वाली (दिवः नि जिहीडते) आकाश या सूर्य को भी तिरस्कार करती हैं।

इस सूक्त के अध्यात्मिक अर्थ भी निकलते हैं।

एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः।

त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥३॥ (१)

२—'प्रवाहणः' इति सं० पा०। 'वधूमती', इति क्वचित्। 'वरिम्णा' इति क्वचित्। 'जहीडते', 'जिहीषते' इति च क्वचित्।

३—(प्र०) 'इषाय' इति क्वचित्। 'ऋषये' इति राथलन्तः।

भा०—(एषः) वह प्रसिद्ध पुरुष (शतं निष्कान्) सौ स्वर्णमुद्राएं (दश स्रजः) दस मालाएं और (अर्वतां) घोड़ों के (त्रीणि शतानि,) तीन सौ (गोनाम्) गौवों के (दश सहस्रा) दस हज़ार अर्थात् ३०० घोड़े और दस सहस्र गौवें इषाय इच्छा करने वाले, जन को (मामहे) प्रदान करता है। वही व्यक्ति 'नराशंस' अर्थात् सर्व साधारण प्रजाजनों से स्तुति करने योग्य होता है।

(२) विद्वान् पुरुष का कर्त्तव्य

तिस्रो: रैभ्य ऋचः।

वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पुक्वे शकुनः।
ओष्ठे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव ॥४॥

भा०—हे (रेभ) स्तुतिशील ! विद्वन् ! (वच्यस्व वच्यस्व) अच्छी प्रकार वचन बोल, उत्तम प्रवचन कर। (पक्के) पके फलवाले (वृक्षे) वृक्ष पर (शकुनः न , जिस प्रकार पक्षी प्रसन्न होकर मनोहर ध्वनि करता है उसी प्रकार (वृक्षे पक्के) काटने योग्य इस देह के पकजाने पर या परिपक्व ज्ञान होजाने पर तू वच्यस्व वच्यस्व) ईश्वर की स्तुति कर, अपने से न्यून अपरिपक्व ज्ञानवालों को प्रवचन द्वारा प्रसन्नता से उपदेश कर। और (जिह्वा) जीभ (क्षुरः) छुरे के समान और (ओष्ठे) होंठ (भुरिजोः इव) कैंची के फलकों के समान (चर्चरीति) चलें।

४— वन्यस्व' इति क्वचित्। (द्वि०) 'वृक्षेण' इति क्वचित्। 'नष्ट' इति शं० पा०।

'स्वासते' इति शं० पा०।

'वाचं श्रीणिहीपुर्नावीरस्तारन्' [१]'। इति शं० पा०।

प्र रेभासो मनीषा वृषा गाव इवेरते।
अमोत पुत्रका एषाममोत गा इवासते ॥५॥

भा०—(रेभासः) विद्वान् जन और (मनीषाः) उनकी उत्तम मनन पूर्वक कही वाणियां (वृषाः गावः इव) सांडों और गौवों के समान (प्र ईरते) आगे बढ़ती हैं। (उत) और (अमा) घर पर (गाः इव आसते) गौओं के समान बैठती हैं, रहती हैं।

प्र रेभ धियं भरस्व गोविदं वसुविदम्।
देवत्रेमां वाचं क्रुधीषुं न वीरो अस्ता ॥६॥

भा०—हे (रेभ) स्तुतिशील विद्वन्! तू (गोविदं) उत्तम ज्ञानमय परमेश्वर को प्राप्त कराने वाली और (वसुविदम्) समस्त ब्रह्माण्ड और देह में बसने वाले परमात्मा और आत्मा का ज्ञान कराने वाली (धियम्) बुद्धि को (भरस्व) धारण कर। और (इषुं न) बाण को जिस प्रकार अस्ता) फेंकने वाला धनुर्धर फेंकता है। (देवत्रा) उपास्य देव के निमित्त ही (इमां वाचं) इस वाणी को (क्रुधि) प्रदान कर, प्रेरित कर।

'देवत्रा वाचं श्रीरीहीषुर्नावीरस्तारन्' यह पाठ शंकरपाण्डुरंग सम्मत है। उसका पद पाठ—देवत्रा। वाचं। श्रीरीहि। इषुः। न। अवीः। अस्तारन्॥

(३) उत्तम राजा का स्वरूप 'परिक्षित्'

अथ कल्पः पारिक्षित्यः।

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्याँ अति।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः ॥७॥

भा०—(विश्वजनीनस्य) समस्त जनों के हितकारी (परिक्षितः) समस्त प्रजा की रक्षार्थ उनके चारों ओर रक्षक रूप से विद्यमान और

अपने इर्द गिर्द प्रजा को बसा लेने वाले (वैश्वानरस्य) समस्त नेताओं और प्रजाजनों के स्वामी, अग्नि के समान सबको जीवनाधार, सूर्य के समान तेजस्वी (राज्ञः) उस राजा की (सुस्तुतिम्) उत्तम स्तुति (आतुनोत) करो, अथवा-(आशृणोत) श्रवण करो। (यः) जो (देवः) दानशील एवं विजयशील होकर (मर्त्यान् अति) मनुष्यों से बढ़ जाता है।

'परीक्षित्'—अग्निर्वै परीक्षित् । अग्निर्हि इमाः प्रजा परिक्षेति अग्निं हि इमाः प्रजाः परिक्षियन्ति । ऐत, ६ । ५ । ६ ॥

परिक्षिन्नः क्षेममकरोत् तम आसनमाचरन्।
कुलायं कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥८॥

भा०—(परिक्षित्) प्रजा को अपनी रक्षा में बसाने वाला राजा (कौरव्यः) समस्त कर्म कुशल पुरुषों में श्रेष्ठ (पतिः) पालक होकर (जायया) स्त्री के समान अपनी पृथ्वी या प्रजा के साथ ही (कुलायं कृण्वन्) एक कुटुम्बसा बनाता हुआ (आसनम्) आसन, सिंहासन प्राप्त करके भी (तमः=तपः) तप का (आचरन्) आचरण करता हुआ (नः) हमारे (क्षेमम्) कल्याण (अकरोत्) करे ।

अथवा—(तमः आसनम्) शत्रुओं को कष्टदायी (आसन) अपने सिंहासन या 'आसन' नामक षाड्गुण्य का प्रयोग करता हुआ प्रजा का (क्षेमम् अकरोत्) कल्याण करता है और (वदति) आज्ञा देता, शासन करता है ।

कतरत् त आ हराणि दधि मन्थां परिस्रुतम् ।
जाया पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥९॥

भा०—(परिक्षितः राज्ञः) प्रजा के उत्तम रीति से बसाने हारे, उत्तम रक्षक राजा के (राष्ट्रे) राष्ट्र में (जाया) स्त्री, प्रजा (पतिम्) पति

९—(द्वि०) परिश्रुतम्' जायाः 'मन्था' इति शं० पा० ।

को। (वि पृच्छति) विविध प्रकार के प्रश्न पूछती है कि (दधि) दही, ऐश्वर्य, (मन्थम्) मठा, मथनबल और (परिस्रुतम्) सब ओर से प्राप्त मक्खन या घी इनमें से (ते) तेरे लिये (कतरत्) क्या पदार्थ (आहराणि) ला उपस्थित करूं ?

अभीव स्वः प्र जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम्।
जनः स भद्रमेधते राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥१०॥

भा०—(स्वः अभि इव । मानो सूर्य के धूप में हुआ । पक्वः यवः) पका जौ आदि अन्न जिस प्रकार (बिलम् पथः) खेत की हल से बनी रेखाओं पर (प्रजिहीते) खड़ा हो उसी प्रकार (सः जनः) वह प्रजाजन भी (परिक्षितः राज्ञः राष्ट्रे) प्रजाओं को सब प्रकार से बसाने और उसकी रक्षा करने वाले राजा के राष्ट्र में (भद्रम्) अत्यन्त सुख (एधते) खूब अधिक मात्रा में भोग करता है। उत्तम राजा के राज्य में प्रजा खूब समृद्ध हो जाती है।

(४) राजा को विद्वान् का आदेश और समृद्ध प्रजाएं

अथ नवर्चः कारव्याः । अनुष्टुभः ॥

इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम्।
ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत् ते पृणादरिः ॥११॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (कारुम्) क्रियाशील, कर्मस्थ पुरुष को (अबूबुधत्) जगाता और चेताता है कि (उत् तिष्ठ) उठ (जनम्) सबको उपदेश करता हुआ तू (वि चर) विविध देशों में विचरण कर। (मम इत्) मेरे ही (उग्रस्य) बलवान् पुरुष के अधीन रक्षा में (चर्कृधि) रह कर काम कर। (सर्वः अरिः) समस्त शत्रु भी (ते पृणात्) तेरा पालन करें।

१०–(द्वि०) 'पथो' (तृ०) 'मेधते' इति क्षे० पा०।
११–(द्वि०) 'जनम्' इति क्षे० पा०

इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति ॥१२॥

भा० (इह गावः) इस राज्य में हे गौवो ! (प्रजायध्वम्) तुम खूब पैदा होवो । (इह अश्वाः) इस राष्ट्र में हे घोड़ो ! तुम खूब बढ़ो । (इह पूरुषाः) इस राज्य में हे पुरुषो ! वीर्यवान् बलवान् मर्दो ! खूब बढ़ो ! (इह) इस देश में (सहस्रदक्षिणः) हजारों का दान देने वाला (पूषा) प्रजा का पालक पोषक पुरुष (निषीदति) विराजता है ।

मेमा इन्द्र गावो रिषन् मो आसां गोपती रिषत् ।
मासाममित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत ॥१३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! (इमाः गावः) ये गौवें (मा रिषन्) पीड़ित न हों । (आसां गोपतिः) इनका गोपति, स्वामी भी (मा रिषत्) पीड़ित न हो । हे (इन्द्र) राजन् (आसाम्) इनपर (अमित्रयुः) शत्रु रूप से वर्त्तने वाला, इनसे स्नेह का व्यवहार न करने वाला (मा ईशत) स्वामी न हो । (स्तेनः मा ईशत) चोर डाकू स्वभाव का पुरुष भी इनका स्वामी न हो ।

उप नो न रमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम् ।
वनादधिध्वनो गिरो न रिष्येम कदाचन ॥१४॥

भा०—(वयम्) हम सब (सूक्तेन वचसा) उत्तम रीति से कहे गये, उत्तम ज्ञान युक्त वेद के सूक्त रूप वचन से (नरम्) उस सबके नेता नरश्रेष्ठ, पुरुषोत्तम, सबके प्रवर्तक, राजा और परमेश्वर की (उप नोनुमसि) उपासना पूर्वक प्रेम से स्तुति करें । वह (नः) हमारी (अधिध्वनः) उच्च ध्वनि वाली (गिरः) वाणियों को (वनात्) सेवन करे । हम (कदाचन्) कभी (न रिष्येम) पीड़ित और दुखी न हों ।

१३–'नेमा' इति शं० पा० ।

[१२८ (५)] दिशाओं के नामभेद से पुरुषों के प्रकार भेद

अथ पञ्च कल्पाः ॥

यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः ।
सूर्यं चामू रिशादसं तद् [तं] देवाः प्रागकल्पयन् ॥१॥

भा०—(यः) जो (सभेयः) सभा के कार्य में कुशल.(विदथ्यः) ज्ञानपरिषत् और संग्राम में कुशल, (सुत्वा) सोम सवन करने हारा, राष्ट्र को अपने शासन में रखने हारा, (यज्वा) दानशील, यज्ञकर्ता (पुरुषः) पुरुष हो (तद् [तम्] अमुम्) उस (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी (रिशादसम्) हिंसक प्राणियों के नाशकारी पुरुष को ही (देवाः) विद्वान् विजयेच्छु पुरुष (प्राक्) सबसे आगे चलने हारे मुख्य पदपर (अकल्पयन्) नियुक्त करते हैं ।

यो जाम्या अमेथयद् यत् सखायं दुधूर्षति ।
ज्येष्ठाय यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति ॥२॥

भा०—(यः) जो पुरुष (जाम्या) अपनी बहिन से (अमेथयत्) संग करे और (यत्) जो (सखायं) मित्र को (दुधूर्षति) मारना चाहता है। और जो (ज्येष्ठाय) अपने से बड़े भाई के लिये (अप्रचेताः) उत्तम रीति से आदर नहीं करता (तद्) उसको (अधराग्) नीचे गिरने वाला (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं । उसको समाज से च्युत कर देना चाहिये ।

यद् भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः ।
तद् विप्रो अब्रवीदुदग् गन्धर्वः काम्यं वचः ॥३॥

---

(१०) 'रिशादसा तं' इति शं० पा० ।

भा०—(यत्) जो (भद्रस्य) भले सज्जन (पुरुषस्य) पुरुष का (पुत्रः) पुत्र (दाधृषिः) साहसी, अपने शत्रुओं और प्रतिपक्षियों को दबाने और पराजय करने में समर्थ (भवति) होता है (तत्) उसको (विप्रः) विविध प्रकारों से प्रजा के सुखों से पूर्ण करने हारा (गन्धर्वः) वाणी को धारण करने हारा विद्वान् पुरुष (काम्यम्) प्रिय मनोहर (वचः) वचन का (अब्रवीत्) उपदेश करता है। वह (उदग्) 'उद्‌ग्' अर्थात् उदय को प्राप्त होने वाला होता है।

यश्चं प॒णिर॑भुजि॑ष्ठो॒ यश्च॑ रे॒वाँ अदा॑शुरिः।

धी॒राणां॒ शश्व॑तामह॒ तद॑पा॒गिति॑ शुश्रुम ॥४॥

भा०—और (यः च) जो (पणिः) व्यापारी, व्यवहारवान् होकर भी (अ-भुजिष्ठः) दूसरों का पालन नहीं करता या धन का भोग नहीं करता और (यः च) और जो (रेवान्) धन सम्पन्न होकर भी (अदाशुरिः) दूसरों को दान नहीं करता (शश्वतां) पूज्य, (धीराणाम्) बुद्धिमान् पुरुषों के बीच में (अह) निश्चय से वह (अपाग्) 'अपाग्' नीचे पद के पाने योग्य है (इति) ऐसा (शुश्रुम) सुनते हैं।

ये च॑ दे॒वा अय॑ज॒न्ताथो॒ ये च॑ परा॒दुदुः।

सूर्यो॒ दिव॑मिव ग॒त्वाय॑ म॒घवा॑नो॒ वि र॑प्शन्ते ॥५॥

भा०—(ये च) और जो (देवान्) विद्वान् पुरुषों का आदर सत्कार करते हैं (अथो) और (ये च) जो (परा ददुः) दान करते हैं, (दिवम् गत्वाय सूर्य इव) आकाश को प्राप्त हुए सूर्य के समान (दिवम्) मोक्ष या परलोक को प्राप्त या दिव्यतेज या ज्ञान प्रकाश या उन्नत पद को (गत्वाय) प्राप्त होकर (मघवानः) धनवान्, ऐश्वर्यवान् पुरुष (विरप्शन्ते) विविध प्रकारों से शोभा को प्राप्त होते हैं।

४–(प्र०) पणिरभुजिष्ठो। शं० पा०।

(६) योग्य और अयोग्य पुरुषों का वर्णन ।

अथ षट्जनकल्पाः । अनुष्टुभः ॥

योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिरहिरण्यवान् ।
अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तो ता कल्पेषु संमिता ॥६॥

भा०—(यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्म के जानने वाले विद्वान् या बड़े पुरुष का (पुत्रः) पुत्र होकर भी (अब्रह्मा) स्वयं ब्रह्म, वेद का विद्वान् नहीं है वह (अनाक्ताक्षः) विना अंजी आंख के समान उत्तम रूप से देखने और विवेक करने में समर्थ नहीं है । (अनभ्यक्तः) शरीर पर तेल आदि न लगाये हुए के समान सुन्दर और चित्ताकर्षक, या स्वस्थ भी नहीं है । वह (अमणिः) मणि भूषणादि को न पहनने वाले के समान गुणहीन रहता है । वह (अहिरण्यवान्) सुवर्णादि धारण न करने वाले के समान निर्धन और ज्ञान और गुणों का दरिद्र रहता है । (ता उ ता) ये सब (कल्पेषु) क्रिया सामर्थ्यों में (सं-मिता) समान जाने गये हैं ।

'ब्रह्मणः पुत्रः'—विद्वान का पुत्र । विद्वान् से उत्पन्न पुत्र और शिष्य दोनों होते हैं ।

> उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
> ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥
> कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
> संभूतिं तस्य तां विद्याद् यद् योनावभिजायते ॥ १४७ ॥
> आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
> उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरामरा ॥ १४८ ॥

६–'अमणिनो अहिरण्यवः' । इति शं० पा० ।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ॥ १५० ॥
मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥
वेदप्रदानात् आचार्यं पितरं परिचक्षते ।
शूद्रेण हि समस्तावद् यावद्वेदे न जायते ॥१७२॥ (मनु०अ०२)

पैदा करने वाले पिता से ब्रह्मज्ञान का देने वाला पिता बड़ा है। माता पिता पैदा कर लेते हैं सही, वह तो योनिमात्र से उत्पत्ति है परन्तु आचार्य उसको 'सावित्री' से उत्पन्न करता है, वह उसकी नित्य जाति है। ब्राह्म जन्म का देने वाला विद्वान् बालक भी बूढ़े का पिता है। अज्ञानी पुरुष बालक के समान है, ज्ञान देने वाला पिता है। उपनयन द्वितीय जन्म है। उसमें सावित्री माता और पिता आचार्य है। वेद प्रदान करने से आचार्य पिता है। वेद को विना पढ़े पुरुष शूद्र है।

य आक्ताक्षः स्वभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवान् ।
सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तो ता कल्पेषु संमिता ॥७॥

भा०—(यः ब्रह्मणः पुत्रः) जो ब्रह्मवेत्ता, वेदज्ञ का पुत्र वा शिष्य, (सु-ब्रह्मा) स्वयं उत्तम वेद का ज्ञाता विद्वान् होजाता है वह (आक्ताक्षः) अंजी आंख वाले के समान उत्तम रीति से शास्त्र की चक्षु से युक्त होजाता है। वह (सु-अभ्यक्तः) गात्र में तैल आदि लगाने वाले के समान,

७-'सुभ्यक्तः', 'समणिः सुहिरण्यवान्'। इति शं० पा०।

सुन्दर और स्वस्थ रहता है। वह (सुमणिः) उत्तम मणि को धारण करने वाले के समान सुशोभित और (सुहिरण्यवान्) उत्तम सुवर्ण आदि धन के स्वामी के समान ज्ञान का धनी होता है। (ता उ ता) वे वे सब जन (कल्पेषु) कर्म के सामर्थ्यों में (सं-मिता) समान हैं।

अप्रपाणा चं वेशन्ता रेवाँ अप्रंदिदिश्च यः।
अयंभ्या कन्या कल्याणी तो ता कल्पेषु संमिता ॥८॥

भा०—(वेशन्ता) बावड़ी, तालाब (अप्रपाणा) जिसका जल पीने योग्य न हो, अथवा जिसके जल पीने आदि के लिये घाट न हो, (रेवान्) वह धनी पुरुष (यः च) जो (अप्रददिः) कभी दान नहीं करता है और वह (कन्या) जो (कल्याणी) सुख देने वाली, ऊपर से रूपादि उत्तम कल्याण, शुभ, गुण लक्षणों से युक्त होकर भी (अयभ्या) मैथुन के योग्य न हो। अथवा (कन्या अकल्याणी) वह कन्या सुखकारी शुभ लक्षणों से युक्त न होकर (अयभ्या) मैथुन करने योग्य भी न हो, अर्थात् अगम्या हो। (ता उ ता) वे सब (कल्पेषु) कर्म सामर्थ्यों में (सं-मिता) समान हैं। अर्थात् पीने योग्य जल से रहित, अपेय, खारे या सड़े जल वाला सरोवर, अदानशील कंजूस और अगम्या, दुर्भगा कन्या तीनों समानरूप से निन्दनीय और त्याज्य हैं।

सुप्रपाणा चं वेशन्ता रेवान्त्सुप्रंददिश्च यः।
सुयंभ्या कन्या कल्याणी तो ता कल्पेषु संमिता ॥९॥

भा०—(सुप्रपाणा च वेशन्ता) सरोवर उत्तम पान करने योग्य जल वाला, (रेवान्) धनाढ्य पुरुष (यः च) जो (सुप्रददिः) उत्तम

८—'अप्रतिदिदिवः' इति सं० पा०।

९—'सुप्रतिदिदिवः' इति सं० पा०।

सात्विक दान देने वाला और (कल्याणी कन्या) कल्याणकारी, शुभ, रूप, गुण लक्षणों से युक्त कन्या जो (सुयभ्या) सुखपूर्वक मैथुन करने योग्य अर्थात् गृहस्थ धर्मपालन करने योग्य, 'सुभगा' है (ता इ ता) वे वे सब पदार्थ (कल्पेषु) कर्म सामर्थ्यों में (संमिता) समान बतलाये गये हैं अर्थात् वे तीनों उत्तम और ग्रहण करने योग्य हैं।

परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्या चायुधिंगमः।
अनाशुरश्वोऽयामी तो ता कल्पेषु संमिता ॥१०॥

भा०—(महिषी च) और वह रानी जो (परिवृक्ता) पति द्वारा छोड़दी गई है (च) और (स्वस्त्या) सुख से, कुशलपूर्वक (अयुधिगमः) युद्ध में न जाने वाला, भीरु सैनिक, (अश्वः) वह घोड़ा, (अनाशुः) जो तेज़ न हो, (अयामी) और जो पुरुष किसी नियम में न रह सके (ता इ ता) ये सब (कल्पेषु संमिता) कर्म-सामर्थ्यों में समान हैं। ये सब कार्य के अवसर पर त्यागने योग्य हैं।

वावाता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः।
स्वाशुरश्वः सुयामी तो ता कल्पेषु संमिता ॥ ११ ॥

भा०—(महिषी च) और महिषी, रानी जो (वावाता) उत्तम पुरुष सुगन्धयुक्त हो, सुख से पतिसंग करनेहारी, उसकी प्रेमपात्र हो, और वह सैनिक जो (स्वस्त्या) सुख से, कुशलपूर्वक, वीरता से (युधिगमः) युद्ध में गमन करे, (आशुः अश्वः) वह अश्व जो उत्तम तीव्र गति वाला हो और (सुयामी) सुख से नियम में रहने वाला संयमी पुरुष (ता इ ता) ये सब (कल्पेषु) कर्म-समार्थ्यों में (संमिता) समान हैं। ये काम के अवसर पर ग्रहणयोग्य लाभकारी, श्रेष्ठ हैं।

१०–'च युधिंगमः', 'अनाशुरश्वा–' इति शं० पा०।

११–'आशुरश्वश्चायामी' इति शं० पा०।

(७) वीर राजा का कर्त्तव्य ।

अथातः पञ्च इन्द्रगाथाः ।

यदिन्द्रो दाशराज्ञे[ऽ]मानुषं विगाहथाः ।
वरूथः सर्वस्मा आसीत् स ह यक्षाय कल्पते ॥१२॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार से हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! (दाशराज्ञे) तू दशों दिशाओं के राजाओं के बीच (मानुषं) मनुष्य समूह को, अथवा (अमानुषम्) सामान्य मनुष्य से विलक्षण होकर (विगाहथाः) विचरता है । तू ही (सर्वस्मा) सबको (वरूथः) घर के समान शरण देने वाला और आपत्ति विपत्तियों और शत्रु के आक्रमणों को रोकने वाला (आसीत्) होता है (सः ह) वह ऐसा पुरुष ही (यज्ञाय) यज्ञ, प्रजापति पद के योग्य (कल्पते) होता है ।

त्वं वृषाक्षं [वृषाक्षुं] मघवन्नम्रं मर्याकरो रविम् ।
त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः ॥१३॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! हे (नर्य) नेताओं में कुशल ! (त्वं) तू (वृषा) बलवान् होकर भी (रजिम्) राजस भाव में लिप्त (अक्षम्) अपने आंख को या इन्द्रियों को अथवा (वृषाक्षुं) भूमि को घेरकर व्यापने वाले वृत्र के समान प्रबल शत्रु को (नम्रम्) नम्र, विनयशील, विजित (अकरः) करता है । और (त्वं) तू (रौहिणं)

१२–'यदिन्द्रो दाश–' इति तै० ब्रा० भाष्ये सायणः । 'विरूपः', 'यदिन्द्रादो' 'यक्षाय' इति शं० पा० । 'यज्ञाय' इति राथः । यज्ञाय इति क्वचित् ।
१३–वृषाक्षुं, वृषाक्षं, वृषाक्षं, वृषापाडमघ–इत्यादि नानापाठाः । नर्या, मर्या मर्यो, इत्यादयः पाठाः । व्यास्यो, वास्यो इति च पाठौ । 'वृषपाद' इति राथकामितः ।

रोहिण, वट के समान अपने नाना दृढ़ मूलों पर स्थिर राजा को भी (वि आस्यः) विविध उपायों से उखाड़ डालता है और (वृत्रस्य) मेघ के समान फैलने और राष्ट्र के घेरने और शस्त्रास्त्रों की वर्षा करने वाले शत्रु के भी (शिरः) शिर, मुख्य सेनाभाग को (अभिनत्) तोड़ डालता है, छिन्न भिन्न कर देता है।

यः पर्वतान् व्यदधा यो अपो व्यंगाहथाः।
इन्द्रो यो वृत्रहा महान् तस्मादिन्द्र नमोऽस्तु ते ॥१४॥

भा०—(यः) जो तू (पर्वतान्) पर्वतों के समान दृढ, अभेद्य शत्रुओं को भी (वि अदधाः) छिन्न भिन्न करता है और (यः) जो (अपः) जलों या नदियों के या समुद्र के समान अपार सेनाप्रवाह को भी (वि अगाहथाः) विविध रूपों से विचरता है (यः) और जो तू (इन्द्रः) शत्रुविदारक होकर (महान्) बड़ा भारी (वृत्रहा) घेरनेवाले शत्रु को नाश करने हारा है (तस्मात्) इस कारण से हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् विद्युत् के समान तीव्र, वेगवान् (ते नमः अस्तु) तुझे हमारा आदर पूर्वक नमस्कार है।

पृष्ठिं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन्।
स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम् ॥१५॥

भा०—(औच्चैःश्रवसम्) ऊंचे कानों वाले, (धावन्तं) वेग से दौड़ते हुए, (पृष्ठिं) वेगवान् अश्व को (अब्रुवन्) लोग कहते हैं कि हे (अश्व) वेगवान् अश्व ! तू (जैत्राय) विजय करने के लिये (सुस्रजम्) उत्तम माला धारण करने वाले, या उत्तम सेना व्यूह की रचना करने वाले (इन्द्रम्) सेनापति वीर पुरुषों को (स्वस्ति आवह) कुशलपूर्वक लेजा, उसको सवारी दे।

१४—व्यदधाद् 'वृत्रहानमह' इति शं० पा०।

युक्ता श्वेता औच्चैःश्रवसं हर्यौ युञ्जन्ति दक्षिणम् ।
पूर्वतमं स देवानां बिभ्रदिन्द्रं महीयते ॥१६॥

भा०—(श्वेताः) अति गतिशील, तीव्रगामी घोड़ियों को (युक्त्वा) रथ आदि में जोड़कर (हर्योः) वेगवान् दोनों तरफ के अश्वों में से (दक्षिणम्) दायें में स्थित, या अति वेगवान्, बलवान्, क्रियाशील (औच्चैः श्रवसम्) ऊंचे कान के घोड़े को (युञ्जन्ति) रथ में लगाते हैं। (सः) वह उत्तम अश्व (देवानां पूर्वतमम्) सब देवों, विजिगीषु पुरुषों में सबसे श्रेष्ठ (इन्द्रम्) शत्रु नाशकारी बलवान् सेनापति को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (महीयते) पूजित होता है।

इति कुन्तापसूक्तम् ।

[१२९] वीर सेना और गृहस्थ में स्त्री का वर्णन ।

अथ ऐतशप्रलापः ॥ ऐतश ऋषिः । अग्नेरायुर्निरूपणम् ॥ अग्नेरायुर्देवताधानं
यानं वा पङ्क्तिविंशत्यात्मकं सूक्तम् ॥

एता अश्वा आ प्लवन्ते ॥१॥ प्रतीपं प्रातिसुत्वनम् ॥२॥

भा०—(एताः) ये तीव्रवेग वाली (अश्वाः) अश्वाएं, घुड़सवारों की सेनाएं (प्रातिसुत्वनम्) प्रतिपद में अभिषेक को प्राप्त हुए राजा के (प्रतीपम्) विरुद्ध (आ प्लवन्ते) दौड़ रही हैं।

तासामेका हरिक्निका ॥३॥ हरिक्निके किमिच्छसि ॥४॥

भा०—(तासाम्) उनमें से (एका) एक (हरिक्नि[क्नि]का) हरि=क्निका] प्राण हरण करने वाले कर्मों को छोड़ने वाली है। वह 'हरिक्निका' कहाती है ॥ ३ ॥ हे (हरिक्निके) प्राणहारी कर्मों, दुष्टों को छोड़ने वाली ! तू (किम् इच्छसि) क्या चाहती है ?

१६–'पेत्वा श्वेता' इति सं० पा० ।

गृहस्थ पक्ष में—(एताः अश्वाः आ प्लवन्ते) ये सांसारिक सुख की इच्छा करने वाली स्त्रियें (प्रतीपं) सुन्दर (प्रातिसुत्वनम्) प्रतिसव.पुत्रोत्पादक करने में समर्थ वीर्यवान् पति को प्राप्त होती हैं। (तासाम् एका) इनमें से एक= प्रत्येक (हरिक्किका=हरिकन्यका) मनोहर कन्या है । अथवा (हरिक्लिका= हरि कलिका) हरणशील गर्भधारण समर्थ कला, कामकला से युक्त है ।

पति को प्राप्त हो जाने पर पति पूछे कि हे-(हरिक्किके) मनोहर, गर्भाधारण में समर्थ स्त्रि ! तू क्या चाहती है ?

साधुं पुत्रं हिरण्ययंम् ॥५॥ क्वाह तं परास्यः ॥६॥

भा०—सेना उत्तर देती है-(साधुं) शत्रुओं को वश करने में समर्थ (पुत्रम्) पुरुषों की रक्षा करने हारे, दुःखों से बचाने वाले (हिरण्ययम्) तेजस्वी पुरुष को चाहती हूं ॥५॥

सेनापक्ष में-(ह) निश्चय से (क) कहां तू (तम्) उसको (परा अस्यः) दूर फेंक सकती है। अथवा (अहतं क परास्यः) बलपूर्वक आघात खाये हुए बाण को तू दूर कहां फेंकती है ? ॥६॥

स्त्री के पक्ष में-स्त्री कहती है-(साधुं हिरण्ययं पुत्रम्) उत्तम, तेजस्वी पुत्र को चाहती हूं ।

पुनः पति पूछता है—हे स्त्रि ! तू निश्चय से (तं) उस बालक को (क) कहां (परास्यः) दूर करेगी, कहां छोड़ेगी ?

यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः ॥७॥

भा०—सेनापक्ष में-(यत्र) जहां (अमूः) वे दूर शत्रुसेनाएं (शिंशपाः) अति निन्दाजनक वचन कह रही हैं वहां ही मैं शस्त्रास्त्र फेंकती हूं ।

स्त्री—(यत्र) जहां (अमूः) वे दूरस्थ (शिंशपाः) शिशु बालकों के पालन करने वाले माता, पिता, आचार्य अथवा पालकों के समान पालक

तीनों (शिशपाः) वेदविद्याएं हों, या वाणी, मन और कर्म तीनों की पालक संस्थाएं हों, वहां मैं अपने बालक को छोड़ दूंगी ।

परि॑ त्रयः ॥८॥ पृदा॑कवः ॥९॥ शृङ्गं॑ धम॑न्त॒ आसते ॥१०॥

भा०—सेनापक्ष में—उन सेनाओं के ऊपर (परि त्रयः) वे तीन (पृत्-आकवः) सेना संग्रामों में आज्ञा देने वाले (शृंगं धमन्तः) सींग अर्थात् नरसिंगे फूंकते हुए (आसते) बैठते हैं ।

स्त्री-पक्ष में—जहां उन संस्थाओं के ऊपर (परि त्रयः) तीन (पृदा-कवः) मनुष्यों को उपदेश करने वाले विद्यमान हैं और वे (शृङ्गं) अज्ञान नाशक ज्ञान का (धमन्तः) उपदेश करते हुए (आसते) विराजते हैं ।

ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । भ्वा० ।

अ॒यमि॒हाग॑तो॒ अर्वा॑ ॥११॥ स इ॑च्छ॒का सं ज्ञा॑यते ॥१२॥

सं ज्ञा॑यते गो॒मय्या॒द् गोग॑तिरि॒व ॥१३॥

भा०—(अयम्) यह (अर्वा) ज्ञानवान् पुरुष और अश्व के समान वेगवान् बलवान् पुरुष (इह आगतः) यहां आगया है ।

(शक्ना) जिस प्रकार घोड़ा लीद से भली प्रकार पहचाना जाता है उसी प्रकार बलवान् पुरुष भी (शक्ना) शक्ति से ही पहचाना जाता है ।

११—'अयन्महाते अर्वाहिः' इति शं० पा० । सहिछकं, सरत्सकं' सहि छकं, सइछकं ॥

१२—छकं सबागते इति नाना पाठाः । 'सइच्छकं सबागते । इति शं०पा० ॥

१३—सबागते, सबावमे, सवागते, गोमती, गोपती, गोगती इत्यादि नाना पाठाः । सवावने गोमीवां गोगतीरिति, इति शं० पा० ।

(गोमयात्) गोबर से जिस प्रकार (गोगतिः) गौ या बैल के जाने का मार्ग पता लग जाता है उसी प्रकार वह विद्वान् पुरुष भी (गोमयात्) वाणिमय ज्ञान से और शक्तिमान् पुरुष (गोमयात्) भूमिमय राष्ट्र से (सं ज्ञायते) पता लग जाता है ।

पुंसां कुले किमिच्छसि ॥१४॥

भा०—हे स्त्रि ! तू (पुंसां) वीर्यवान् (कुले) पुरुषों के कुल में प्राप्त होकर (किम् इच्छसि) क्या चाहती है ?

हे सेने-तू (पुंसां) पुरुषों के (कुले) समुदाय में आकर क्या चाहती है?

पक्कौ व्रीहियवा इति ॥ १५ ॥

भा०—(पक्कौ) पके (व्रीहियवौ इति) धान और जौ चाहती हूं । गृहस्थ सदा पके धान और जौ के खेत की इच्छा करता है । व्रीहि अर्थात् वंशवृद्धि करने वाले पुरुष और पुरुष वीर्य-'व्रीहि' है और स्त्रियां युवतियां 'यव' हैं । वे दोनों परिपक्व वीर्य हों यही सबकी अभिलाषा है । सेनापक्ष में—'व्रीहि' धान्य सम्पत्ति या बृहत् राष्ट्र और 'यव' शत्रुनाशक वीर ये दोही पदार्थ सेनाओं को इष्ट हैं ।

व्रीहियवा अंधा इति ॥१६॥

भा०—(व्रीहियवौ) उक्त धान्य और जौ इन दो को ही (अधाः) क्या तुम भोजन करती हो ?

अजगर इवाचिका: ॥१७॥

१४–पुमां कुस्ते निमिच्छसि इति शं० पा० ।

१५–पल्य बद्ध वयो इति शं० पा० ।

१६–'बद्धवो अवा इति' इति शं० पा० ।

१७–'अजागार केविका' इति शं० पा० ।

भा०—'अजगर इव) जिस प्रकार अजगर. महासर्प (अविकाः) छोटी२ भेड़ों को खाकर तृप्त होता है उसी प्रकार मैं सेना छोटी २ (अविकाः) राजधानियों या जागीरों, रियासतों को भी अपने भीतर कर लेती हूं।

स्त्री के पक्ष में—अजगर जिस प्रकार भेड़ों को खाकर तृप्त होता है इसी प्रकार मैं भी (अविकाः) जीवन के रक्षा करने वाली इन अन्न की बनी चपातियों को खाकर ही तृप्त होती हूं।

अश्वस्य वारो गोशफश्च ते ॥१८॥

भा०—हे पुरुष ! (अश्वस्य वारः) अश्व के बाल और (गो० शफः) गौ का खुर (ते) तुझे प्राप्त हों। अर्थात् चंवर और गौओं के चरण अर्थात् गो सम्पत्ति दोनों प्राप्त हों।

हे राजन् ! तुझे (अश्वस्य वारः) अश्वारोहीगण का शत्रुवारण करने वाला बल और (गोशफः च) वाणी के संघ और भूमियों के संघ (ते) तुझे प्राप्त हों।

श्येनपर्णी सा ॥१९॥

भा०—(श्येनपर्णी) श्येन के समान शत्रु पर वेग से आक्रमण करने वाले पुरुष के पालन सामर्थ्य से युक्त, अथवा श्येनाकार व्यूह के पक्षों को धारण करने वाली (सा) वह सेना है। अथवा-स्त्री श्येन के समान वीर एवं ज्ञानवान् पुरुष को पालक पति रूप से स्वीकार करने वाली है।

अनामयोपजिह्विका ॥२०॥

भा०—(सा) वह स्त्री सदा (अनामया) रोगरहित, स्वस्थ और (उपजिह्विका) जिह्वा को वश करने हारी हो।

सेना-(अनामया) रोगरहित. स्वस्थ, पीड़ा से रहित, राष्ट्र को हानि न पहुंचाने वाली और (उपजिह्विका) सेनापति की आज्ञा के वशवर्ती

१९-'श्येनीपती सा' इति शं० पा०।

और (उपजिह्विका) दीमक के समान शनैः २ परराष्ट्र का गुप्त रूप से भोग करने वाली, सुरंग आदि के गुप्त मार्गों से जाने वाली हो।

[१३०] भूमि और स्त्री।

को अपांवहाद्विमा दुग्धानि ॥१॥

भा०—(कः) कौन (इमा) इन (दुग्धानि) गौओं के दूधों के समान दोहकर प्राप्त हुए ऐश्वर्यों को (अप अवहत्) ले जाने में समर्थ है? अथवा गृहस्थ स्वयं जिस प्रकार समस्त गौओं के दूधों को ले जाता है उसी प्रकार (कः) प्रजापति, राजा ही समस्त प्रजाओं और भूमियों से दुहे रत्न आदि ऐश्वर्यों को (अप अवहत्) ढोकर लेजाता है।

को असिक्न्याः पयः ॥२॥

भा०—(कः) कौन (असिक्न्याः) गहरे काले रंग की गौ का (पयः) दूध लेता है।

प्रजापति पक्ष में—(कः) राजा प्रजा पालक ही (असिक्न्या) उस भूमि को जिस में नहरों और कूप आदि साधनों से सेचन नहीं होता उस भूमि का भी (पयः) पुष्टि कारक अन्न (अपावहत्) प्राप्त करता है।

को अर्जुन्याः पयः ॥३॥

भा—(अर्जुन्याः) अर्जुनी, श्वेत गौ का (पयः) दूध (कः) कौन ग्रहण करता है ! (कः) प्रजापति राजा ही (अर्जुन्याः) श्वेत धातु रत्न आदि से पूर्ण पृथिवी और धनार्जन करने वाली प्रजा का (पयः) पुष्टिकारक, धनैश्वर्य आदि ग्रहण करता है।

कः काण्र्याः पयः ॥४॥

---

[१३०] १–'को अर्य बहुलिमा इषूनि' इति शं०पा० । 'इषुनि, इष्णुनि इति पाठौ।

भा०—(कार्ष्यांः) कृष्णा गौ का (पयः) दूध (कः) कौन ग्रहण करता है ? (कः) प्रजापति, राजा ही (कार्ष्यांः) कृषि की जाने योग्य भूमि को (पयः) पुष्टिकारक अन्न आदि प्राप्त करता है ।

एतं पृच्छ कुहं पृच्छे ॥५॥

भा०—(एतं) इस विद्वान् पुरुष से (पृच्छ) प्रश्न करो । (कुह· पृच्छे) मैं कहां पूछूं ?

कुहा कं पक्कर्कं पृच्छे ॥६॥

भा०—(कुहा) कहां (कं) किस (पक्कं) परिपक्व ज्ञान वाले पुरुष को प्राप्त कर मैं (पृच्छे) प्रश्न करूं ।

यवा नोपतिष्ठन्ति कुक्षिम् ॥७॥

भा०—(यवाः) जौ आदि अन्न, खाद्य पदार्थ (कुक्षिम्) पेट में (न उपतिष्ठन्ति) नहीं ठहरते ।

अकुप्यन्तः कुपायवः ॥८॥

भा०—(अकुप्यन्तः) जो कभी क्रोध नहीं करते हैं वे भी (कुपायवः) क्रोध करने लगते हैं ।

आमणिका मणिच्छदः ॥९॥

५—'कुहपृच्छ' इति शं० पा० ।

६—'पृच्छ' इति शं० पा० ।

७—'यवानो यतिस्वभिकुभिः' इति श० पा० । 'यवावो' इति क्वचित् ।

८—'कुपायकु': । इति शं० पा०

९—'आमणत्कः' इति क्वचित् । 'आमणको' इति श० पा० । मणछ्कः मण रसख इति क्वचित् मणत्सक इति श० पा० ।

भा०—(मणिच्छदः) मणियों से भूषित वस्त्र पहनने वाले पुरुष भी (अमाणिकाः) मणियों से रहित हो जाते हैं । अर्थात् धनाढ्य भी दरिद्र हो जाते हैं ।

देव त्वा प्रति सूर्यम् ॥१०॥ एनीहरिक्किणका हरिः ॥११॥

भा०—हे (देव) देव ! राजन् ! (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी (त्वा प्रति) तुझे ही (एनी) श्वेत (हरिक्णिका) अति शीघ्रगति वाली घोड़ी या पूर्वोक्त सेना और (हरिः) वेगवान् या वीर अश्व प्राप्त हो ।

अथवा-(हरिक्किका एनी) मनोहर निर्दोष निर्मल कन्या और (हरिः) उत्तम अश्व तुझे प्राप्त हों ।

प्रदुद्रुवुर्मघा प्रति ॥१२॥

भा०—(मघा प्रति) दान योग्य ऐश्वर्यों को लेने के लिये (प्रति प्रदुद्रुवुः) दौड़ रहे हैं । सेना में अश्वारोही और जगत् में पुरुष सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये दौड़ रहे हैं ।

शृङ्ग उत्पन्ने ॥१३॥ मा त्वाभि सखा नो विदत् ॥१४॥

भा०—(शृङ्गे) सींग नरसिंगा (उत्पन्ने) बजने पर अर्थात् युद्ध की घोषणा हो जाने पर हे राजन् (त्वा) तुझ को (नः) हमारा (सखा अपि) मित्र राजा भी (मा विदत्) प्राप्त न करे, वह तुझको न जाने कि तू कहां सुरक्षित है ।

१०—'देवत्वप्रतिसूर्य' इति शं० पा० ।

११—'एनश्चिपंक्ति का हविः' इति शं० पा० । 'पक्तिका' इति क्वचित् ।

१२—'प्रदुद्रुवो' इति शं०पा० ।

१३—'शृङ्ग उत्पन्न' इति शं० पा० ।

१४—'मात्वाभि' 'विदन्' इति शं० पा० ।

वशायाः पुत्रमा यन्ति ॥१५॥

भा०—(वशायाः) वश करने हारी पृथ्वी या राष्ट्र के (पुत्रम्) समस्त पुरुषों को कष्टों से त्राण करने में समर्थ पुरुष की शरण (आ-यान्ति) सब प्राप्त होते हैं। वशा का पुत्र राजा है। देखो वशाप्रकरण ॥

इरां देवममदत् ॥१६॥

भा०—(इरा) पृथ्वी, ऐश्वर्य को देने वाली होकर (देवम्) विजिगीषु को उसी प्रकार प्रसन्न करती है जैसे स्त्री, अपने अभिलाषा करने वाले पति को चाहती है।

अथो अयमयामिति [अयंन्वयंन्विति] ॥१७॥

भा०—(अथो) तब सब लोग कहा करते हैं (अयम् अयम् इति) यह वह पुरुष है, यह वह पुरुष है, जो राजा, विजयी, भूमि रूप राज-लक्ष्मी का पति है।

अथो अयमिति [अथो अयांन्विति] ॥१८॥

भा०—(अथो अयम् इति) और यह वह पुरुष है।

अथोऽश्वा अस्थूरि नो भवन् ॥१९॥

भा०—(अथो) इस प्रकार (नः) हमारे (अश्वाः) अश्व, घुड़-सवार (अस्थूरि) दोष रहित, (भवन्) हों।

१५–'मायन्ती' मायति' इति क्वचित्।

१६–'इरावे दुमयं दत' इति श० पा०।

१७–'इयन्नियन्निति' इति शं० पा०। 'इयमियमिति' इति राथह्विट्'।

१८–'इयन्निनति' इति शं० पा०।

१९–'अस्थिरो भवन्' इति श० पा०।

इयत्तिका शलाकका ॥२०॥

भा०—(इयत्तिका) इतनी बड़ी (शलाकका) शलाका, सलाई या मानदण्ड है। इसका वर्णन अगले सूक्त में है।

[१३१] राजशक्ति का वर्णन।

आमिनोति विभिद्यते ॥१॥

भा०—इतना छोटी सी शलाका या मानदण्ड है। पर वह ही (आमिनोति) सब भूमि को माप लेता है। वह (विभिद्यते) स्वयं भी नाना अंशों में बंटी होती है। इसी प्रकार राजा की शक्ति मानदण्ड के समान है। वह छोटी होकर भी समस्त पृथ्वी को मापती है। और स्वयं भी नाना खण्डों या विभागों में बंटती है।

तस्यं कर्त निर्भञ्जनम् ॥२॥

भा०—(तस्य) उसी दण्ड के बल से (निभञ्जनम्) शत्रु का आमर्दन, पराजय भी (कर्त) कर डालो। जिस प्रकार दण्ड से मापा जाता है। उसी प्रकार दण्ड से ही मारा भी जा सकता है उसी प्रकार राजशक्ति से भी शत्रु का नाश करो।

वरुणो याति वसुभिः ॥३॥

भा०—वह (वरुणः) शत्रुओं का वारण करनेहारा राजा और स्वयं भूत पालक (वसुभिः) बसनेवाली प्रजाओं, और वसु, विद्वानों और ऐश्वर्यों से युक्त होकर (याति) प्रयाण करता है।

२०—'उयं यकांशलोकका' इति श० पा०।

[१३१]१—'आमिनो निति भद्यते' इति श० पा०।

२—'तस्य अनु', 'तस्यनु', 'तस्य मत्नु', 'तस्यमतु' इति नाना पाठाः। 'तस्यअनु' इति श० पा०।

३—'वस्तभिः इति श० पा०।

शतं वायोरभीशवः ॥४॥

भा०—(वायोः) वायु के समान तीव्र वेग वाले अश्व को नियम में रखने के लिये जिस प्रकार लगामें होती हैं। उसी प्रकार वायु के समान उग्र वेग से जाने वाले और शत्रुरूप वृक्षों को तोड़ने फोड़ने वाले राजा के भी (शतं) सैकड़ों (अभीशवः) रोक थाम करनेहारे साधन हैं। अथवा (शतं अभि-शवः) उसके पास सैकड़ों 'शव', बल और क्रिया साधन हैं। वही 'शतक्रतु' है।

शतमश्वा हिरण्ययाः। शतं रथा हिरण्ययाः।
शतं कुथ्या हिरण्ययाः। शतं निष्का हिरण्ययाः ॥५॥

भा०—(शतं) सैकड़ों उस राजा के अधीन (हिरण्ययाः) सुवर्ण से मण्डित, अथवा उत्तम गति से जाने वाले (अश्वाः) अश्व, अश्वारोही हैं। (शतम् हिरण्ययाः रथाः) सैकड़ों स्वर्णादि से मण्डित, अथवा अति सुन्दर विहार योग्य (रथाः) रथ हैं (शतं कुथ्याः) सैकड़ों खजानें (हिरण्ययाः) सोने आदि रमणीय, सुन्दर रत्नों से भरे हुए हैं। (शतं निष्काः) सैकड़ों स्वर्णमुद्राएं, या आभूषण उसके (हिरण्ययाः) सुवर्ण रत्नादि के बने हैं।

अहल कुशवर्त्तक ॥६॥

भा०—(अहल) हे 'अहल' अविलेखनयोग्य! तुझ को कोई उखाड़ नहीं सकता। तू (कुशवर्त्तक) कुश घास के समान रहता है। जैसे कुश घास जहां हल नहीं चलता वहां जम आता है। और हल चल जाने पर फिर भी बार २ आता है इसी प्रकार राज भी जड़ से नहीं उखड़ता। वह बार २ सिर उठाता है।

४—'शतेवाभ.र्तीशवः' इति शं० पा०।

शफे न पीव ओहते ॥ ७ ॥

भा०—(शफे) घोड़े के जिस प्रकार खुर भाग में (पीवः) स्थूल मांस भाग (न) नहीं (ओहते) रहता । इसी प्रकार राजा के चरण भाग, सेवक लोगों में अधिक स्थूलता, या भोगविलास नहीं होना चाहिये । अथवा-जिस प्रकार (शफेन) खुरके बल से (पीवः) स्थूल शरीर (ओहते) धारण किया जाता है इसी प्रकार चरण स्थानीय पुरुषों या आज्ञा के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त करता है ।

आयं वनेनं तेज[द]नीं ॥८॥

भा०—(तेजनी=तेदनी) अग्नि को भड़काने वाली पूणी, (आयवने न) कोयलों को ऊपर नीचे करके जिस प्रकार अग्नि को भड़का देती है या 'कशा' जिस प्रकार आग को तीव्र कर देती है उसी प्रकार भेद छेदकर राजा सब को वश करता है ।

वनिंष्ठौ नाव गृह्यते ॥९॥

भा०—जिस प्रकार खाया हुआ भोजन आंतों में अटकता नहीं प्रत्युत पच कर कुछ मल बाहर हो जाता है और शेष अंगों में मांस रुधिर आदि बनकर चला जाता है उसी प्रकार राजा के पास आया धन भी भुक्त होकर पुनः अन्यों के पास चला जाता है ।

इदं मह्यं मदूरिके ॥१०॥

भा०—हे (मदूरिके) 'मदूरिके'! सबको अति आनन्दित करनेहारी राजसभे ! तू इदं) यह राज्यैश्वर्य (मह्यम्) मुझ योग्य पुरुष को प्रदान कर ।

ते वृक्षाः सह तिष्ठन्ति ॥११॥

भा०—(ते) तेरे निमित्त वे समस्त राजागण (वृक्षाः) पृथ्वी को घेर कर, उनमें जड़ जमा कर खड़े हुए वृक्षों के समान राज्य जमा कर तिष्ठन्ति) स्थिर खड़े रहते हैं ।

पाकंवलिः ॥११॥

भा०—राजा (पाकबलिः) परिपक्व वीर्य होकर ही बलवान् होता है।

शकंबलिः ॥१३॥

भा०—(शकबलिः) वह शक्तिशाली पुरुष से मिल कर सामर्थ्यवान् होकर ही बलवान् होजाता है।

अश्वत्थः खदिरो धवः ॥१४॥

भा०—वह (अश्वत्थः) अश्व के समान चतुरंग सेना रूप चारों चरणों पर विराजता है। वह (खदिरः) खदिर वृक्ष के समान दृढ एवं (खदिरः) अतिस्थिर होकर विराजता है। वह (धवः) उत्तम पुष्पवान् धव नामक वृक्ष के समान सुन्दर, सुभूषित और मनोहर है।

अरंदुपर्णः ॥१५॥

भा०—वह (अरदुपर्णः) अरदुपर्ण नामक वृक्ष के समान दृढ एवं स्थायी, अविनाशी, पालन सामर्थ्य से युक्त है।

शय हुत इव ॥१६॥

भा०—वह राज्य में रहता हुआ भी ऐसा प्रसुप्त सत्ता से रहे, मानो (हतः इव) मरसा गया हो, लोग उसे भूलसा जायँ। उसकी तीक्ष्ण शक्ति से उद्विग्न होते रहें।

व्याप्तः पूरुषः ॥१७॥

भा०—वह राष्ट्र में ऐसा व्यापक होकर रहे जैसे समस्त ब्रह्माण्ड में परम पुरुष और शरीर में आत्मा व्याप्त है और उसके प्रत्येक अवयव को चेतन और क्रियावान् कर रहा है।

अदूहमित्पीयूषम् ॥१८॥

१८—'अदूहमित्यापूषकम्' इति शं० पा०।

भा०—सभी राजा के अधीन विद्वान्‌गण मिलकर (पीयूषम्) परिपुष्ट करने वाले रस को इसी प्रकार भूमि से प्राप्त करें जैसे गौ से दुग्ध दुहा जाता है और सूर्य की रश्मियां पृथ्वी से जिस प्रकार जल खींचती हैं।

अश्वस्य ऋश्व परस्वतः ॥१६॥

भा०—वह राजा (परस्वतः च) परस्वान् नामक जंगली घोड़े से भी अधि-अर्धः) अधिक बलशाली हो अथवा (परस्वतः) स्वराष्ट्र परराष्ट्र से भी अधिक ऐश्वर्यवान् और समृद्ध हो।

द्वौ च हस्तिनो दृती ॥२०।

भा०—जिस प्रकार (हस्तिनः) एक हाथी के (द्वौ च दृती) दो विदारण करने वाले दांत होते हैं उसी प्रकार (हस्तिनः) उत्तम, प्रशस्त चतुर हाथ वाले धनुर्धर योद्धा के (द्वौ च) दोनों हाथ (दृती) शत्रु की सेनाओं को विदारण करने में समर्थ हों।

[१३२]

आदलाबुकमेककम् ॥१॥

भा०—(आत् एककम्) और वह एकमात्र (अलाबुकम्) तुम्बे के समान रहता है। अर्थात् जिस प्रकार तुम्बा एकमात्र समस्त जल के बीच में रहकर भी उसके ऊपर तैरता है इसी प्रकार अग्रणी राजा समस्त प्रजा और सेना के ऊपर विराजता है। और स्वच्छन्दता से जल प्रवाह और सेना प्रवाह के साथ जाता है।

अलाबुकं निखातकम् ॥२॥

भा०—परन्तु तुम्बा तो बहुत चंचल होता है उसके विपरीत वह (अलाबुकम्) उस तुम्बे के भी समान है जो (निखातकम्) भीतर से खनकर खोखला कर लिया गया है। जिस प्रकार भीतर से खोखला तुम्बा

जलपात्र बन कर अपने भीतर जलों का आश्रय रहता है उसी प्रकार वह अग्रणी राजा समस्त प्रजाओं का आश्रय रहता है । अथवा—

कर्करिको निखातकः ॥३॥

भा०—वह अग्रणी पुरुष (कर्करिकः) कर्करी के फल के समान (निखातकः) भीतर से खुदा हुआ, खोखला किया होता है । वह जिस प्रकार अपने ऊपर लगे सप्त स्वर के तन्त्रियों की ध्वनि को प्रबल और मधुर करता है उसी प्रकार राजा भी सर्वाश्रय होकर सबके उत्साहों, हर्षों और इच्छाओं को द्विगुणित करता है ।

तद् वात उन्मथायति ॥४॥

भा०—(तत्) वह राजा (वातः) वायु के समान वेगवान् होकर (उन्मथायति) शत्रु दल को उथल पुथल करके नष्ट कर डालता है ।

कुलायं कृणवादिति ॥५॥

भा०—वह (कुलायं) गृह, आश्रय, बड़ा संगठन (कृणवात्) बनावे (इति) इस कारण से ।

उग्रं वनिषदाततम् ॥६॥

भा०—वह (उग्रम्) बड़े बलवान्, भयंकर और (आततम्) अति विस्तृत सैन्य को (वनिषत्) प्राप्त करता है ।

न वनिषदनाततम् ॥७॥

भा०—वह (अनाततम्) अविस्तृत, स्वल्प बल को (न वनिषत्) नहीं स्वीकार करता है ।

क एषां कर्करिं लिखत् ॥८॥

भा०—(एषां) इनके बीच में (कः) कौन (कर्करिम्) उस 'कर्करी' के समान समस्त स्वरों के उत्पादक कर्ता रूप विजेता, राजा को (लिखत्) लिखता है, अर्थात् कौन उसको भीतर से खोखला करता और उसे तैयार करता है ।

क एषां दुन्दुभिं हनत् ॥१०॥

भा०—(एषाम्) इनके बीच में से (दुन्दुभिम्) द्वन्द्व युद्ध में शोभा पाने वाले, अथवा शत्रुनाशक इस प्रबल राजा को (कः) कौन (हनत्) मारने में समर्थ है।

यदीयं हनत् कथं हनत् ॥११॥

भा०—(यदि) यदि (इयं, अयं) यह सेना, या सेनापति (हनत्) उसको मारे तो (कथं हनत्) उसको किस प्रकार मारता है।

देवी हनत् कुह हनत् ॥११॥

भा०—(यदि) देवी, विजयशालिनी सेना उसको मारती है तो (कुह हनत्) वह कहां मारती है ?

पर्यागारं पुनः पुनः ॥१२॥

भा०—(परि-आगारम्) जिस प्रकार मनुष्य बार २ अपने घर का ही आश्रय लेता है। वहीं लौट २ कर आता है उसी प्रकार सेना भी (आगारं परि) अपने आज्ञापक के इर्द गिर्द ही घर के समान उसका (पुनः पुनः) बार २ आश्रय लेती है ।

त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि ॥१३॥

भा०—वास्तव में-(उष्ट्रस्य) दाह करने वाले, संतापकारी, प्रतापी पुरुष के (त्रीणि) तीन ही (नामानि) नाम, स्वरूप, या वश करने और नमाने या दूसरे को झुका लेने वाले बल हैं ।

हिरण्य मित्येकः अब्रवीत् ॥१४॥

भा०—(हिरण्यम्) हिरण्य, सुख या ऐश्वर्य (इति) यह (एकः) एक वशकारी पदार्थ (अब्रवीत्) कहा जाता है ।

द्वे वा यशः शवः ॥१५॥

भा०—(आ) और (द्वे) दो पदार्थ और हैं एक (यशः) यश और दूसरा कीर्त्ति या अन्न (शवः) बल ।

नीलशिखण्डो वा हनत् ॥१६॥

भा० —(वा) निश्चय से (नीलशिखण्डः) नीले तुर्रे वाला सेनापति ही (हनत्) शत्रु का विनाश करता है ।

इति ऐतशप्रलापाः ॥

ऋग्वेदपरिशिष्टान्तर्गतकुन्तापसूक्तपाठो यथोपलभ्यते तथा लिख्यते–

एता अश्वा आप्लवन्ते । प्रतीपं प्रातिसत्वनं ।[तासामेका हरिक्लिका । हरिक्लिके किमिच्छसि । साधुं पुत्रं हिरण्यं । क्वाहतं परास्यः । यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः । परित्रयः पृदाकवः । शृंगं धमन्त आसते । अयं महां ते अवहि ॥ १० ॥ स इच्छकं स एवकं । सघावते सवागमे ।गोमीथ गोगनीहमि । पुमान्कुस्ते निमिच्छति । वद्वयो इति । वद्वो अथो इति । अजकोरकोविका । अश्वस्य वालो गोशफ: । केशिनीरयेनी एनी वा । अनानयोरजिह्विका ॥२०॥ को अंब कुलिमायुनि । को अर्जुन्या पयः को असिक्न्या पयः । एतं पृच्छ कुहं पृच्छ कुहाकं पक्वकं पृच्छ । य आयन्ति विश्वमिक्रुभिः । अकुप्यन्तः कुमायवः । आनणको मणत्यकः । देवत्तः प्रतिहूर्यः । विनष्टि पतिका हविः ॥ ३० ॥ प्रबुन्द्दशा मयायति । शृंग उत्पत्त । मान्वा विसखाना विदन् । वशायाः पुत्रमायान्ति । इरावेदुमयं दत । इयं नियंमिति । अथो इयं निति । अथोज्यायस्तुरो भवत् । इयं यका शलाकका । आनिलोति निसज्यते ॥ ४० ॥ तस्या अनु निभञ्जनम् । वरुणो याति वक्वभिः । शतं वभ्रोरभीशवः । शतं कशा हिरण्ययीः । शतं रथा हिरण्ययाः । आहलकुशंवर्त्तकुः । आयवने न तेजनिः । शफे न पीव ओहति । वनुष्ठुनोपनृत्यति इयं सहामदुरिति ॥ ५० ॥ ते वृक्षाः सह तिष्ठंति । पाकबलिः शाकबलिः । अश्वत्थ: खदुरो धवः । अरदुः परमः शये । हत इव पाप पूरुषः । अदोहमि

पीयूषकम् । द्वौ च हस्तनौ दती । अध्वर्ये च परस्वतः । आदलाबुकमेककम् । अलाबुकं निखातकम् ॥ ६० ॥ कर्करिको निखातकः । तद्वात उन्मथा इति । कुलायं करवा इति । उग्रं वलिशदाततं । नबलिशनदाततं । क एषां कर्करी खनत् । क एषां दुन्दुभिं हनत् । यदी हनत् कथं हनत् । देवी हनत् कथं हनत् । पर्याकारं पुनः पुनः । इति सप्तति पदान्यैतश प्रलापाः ॥

अध्यात्म व्याख्या ।

अध्यात्म में आत्मा और ब्रह्माण्ड में परमेश्वर अग्रणी और ज्ञानवान् और प्रकाशस्वरूप होने से 'अग्नि' हैं अतः अब ऐतश प्रलापों की अध्यात्म परक व्याख्या की जाती है ।

१. ये भोग करने की वृत्तियें सब तरफ़ भाग रही हैं ।

२. और उनके प्रेरक आत्मा से प्रतिकूल उससे विपरीत दिशा में जा रही हैं ।

३. उनमें से एक 'हरिक्लिका' हरि, सबके हर्त्ता आत्मा की सूक्ष्म 'कण' या दीप्ति रूप में स्वर्ण ज्योति के रूप में दीपशिखा के समान 'चिति कला' है वह इच्छास्वरूप है ।

४. हे 'हरिक्लिके' आत्मा की एक कला या चितिकले तू क्या चाहती है

५. मैं सबके वश करने वाले, नरक के त्रिविध दुःखों से बचाने वाले उस तेजोमय आत्मा को चाहती हूं ।

६. (क आह तं) उसका कौन तुझे उपदेश करे ? (परास्यः) वह तो बहुत दूर अवाङ् मनसगोचर है ।

७. वह वहां है जहां तीन 'शिंशपाः' उस परम सुख सत्ता के पालन करने वाली तीन अनादि शक्तियां विद्यमान हैं ।

८. वे तीनों बहुत दूर हैं ।

९. वे तीनों पूर्ण सामर्थ्य वाले हैं ।

१०. सब (शृङ्ग) मूल कारण को प्राप्त हुए रहते हैं।

११. यह यहां, इस शरीर में आत्मा, गाड़ी में अश्व के समान युक्त है।

१२. वह इस शरीर में देखने, सुनने, बोलने आदि की शक्ति विशेष से भली प्रकार जाना जा सकता है।

१३. गौओं के समूह को देखकर जिस प्रकार गौओं के एकमात्र गति, चारा या आश्रय रूप गोपति या व्रज का अनुमान होता है उसी प्रकार इन्द्रियों को देखकर उनसे उत्पन्न (गोभय) ज्ञान से ही 'गोगति' अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के एकमात्र आश्रय का भली प्रकार ज्ञान किया जाता है।

१४. हे आत्मन्! (पुंसाम्) प्राणों के समूह के बीच तू यहां क्या चाहता है?

१५. जैसे कृषिकर्म के परिश्रम के अनन्तर किसान चाहता है कि उसे खेत में पके जौ, धान मिलें उसी प्रकार मैं आत्मा भी इस शरीर में प्राणों के बीच में बैठा हुआ अपने कर्मों के परिपक्व फलस्वरूप 'व्रीहि' शक्ति के बढ़ाने वाले फल, अभ्युदय और 'यव' त्रिविध तापों का नाश करने वाले साधन, निश्चय से इन दो पदार्थों को ही चाहता हूं।

१६. हे आत्मन्! तू इस शरीरायतन में कर्म के परिपाक, फलस्वरूप सुख, अभ्युदय रूप 'व्रीहि' धान्य और 'यव' शरीर से आत्मा का पृथक् होना अर्थात् जन्म और मृत्यु, सुख और दुःख (अघाः) भोग करता है।

१७. मैं चाहता हूं कि (अजगार इव) जिस प्रकार अजगर अनायास अल्पायाम से ही भेड़ बकरी आदि क्षुद्र जन्तुओं का भोग करता है उसी प्रकार मैं (अ जगारः) अभोक्ता होकर भी (अविकाः) नाना देहों में गमनागमन की क्रियाओं का भोग करूं।

१८. हे आत्मन् ! भोक्ता तुझ आत्मा को (वारः) नाना वरण करने योग्य काम्य पदार्थ और (गोशफः च) इन्द्रियों द्वारा प्राप्त और वाणी द्वारा कहे जाने योग्य नाना ज्ञान (ते) तुझे प्राप्त होते हैं।

१९. तुझे तो (श्येनपर्णी) ज्ञानवान् आत्मा के पालन करने वाली (सा) वह परम मोक्ष पदवी चाहिये।

२०. जो (अनामया) सब प्रकार के रोग, शोक भय, पीड़ा दुःखादि से रहित (उपजिह्विका) जो सदा जिह्वापर रक्खी रसीली धार के समान निरन्तर रस देने वाली, रसस्वरूप है।

(२)

१. इन आत्मानन्द रसों को कौन प्राप्त करता है।

२-४. असिक्नी गहरे लाल रंग की श्वेत और काली इन तीन रंगों की सत्व, रजस्, तमस्, तीन गुणों वाली प्रकृति के रसों को कौन प्राप्त करता है।

५. इस प्रश्न को इस विद्वान् से पूछ। मैं कहां प्रश्न करूं ?

६. कहां, किस परिपक्व ज्ञानवान् पुरुष से मैं यह प्रश्न पूछूं ?

७. 'यव' अर्थात मुक्त होने के साधन (कुत्सिम्) कुत्सित आचरण वाले पुरुष को प्राप्त नहीं होते।

८. निर्धन सदा धनकी आकांक्षा करते हैं।

९. मणि रत्नादि से युक्त धनाढ्यजन भी 'अमणिक' अर्थात् मणि आदि से रहित हो जाते हैं।

१०. हे देव (त्वा सूर्य प्रति) तुझ सबके प्रेरक तेजस्वी पुरुष को मैं प्राप्त होऊं।

११. 'एनी' वह श्वेत 'हरिक्निका' सर्व दुःखहारिणी दीप्ति तेरी है। तू 'हरि' सर्व दुःखहरण करने में समर्थ है।

१२. सभी लोग धन ऐश्वर्यों के प्रति वेग से जाते हैं।

१३. विशेषज्ञान उत्पन्न होजाने पर,

१४. (सा त्वा अपि) तुझ आत्मा को और (त्वा) तुझ परमेश्वर को (नः सखाः) हमारा मित्र ही (विदत्) प्राप्त करे।

१५. सर्व वशकारिणी ब्रह्मशक्ति के पुत्र अर्थात् पुरुष को त्राण करने वाले राजा के समान वीर्यवान् पुरुष की शरण में सभी आते हैं।

१६. पृथ्वी जिस प्रकार राजा को और जल जैसे सूर्य को तृप्त करता है उसी प्रकार ज्ञान-राशि देव ज्ञानी को तृप्त करता है।

१७. वह साक्षात् करता है कि यह वह रसधारा है। यह वह है।

१८. और यह है, बस।

१९ और (नः अश्वाः) हमारे भोक्ता जीवगण नष्ट नहीं हों।

२०. यह इतनी ही शलाका प्रकृति है।

(३)

१. जो आत्मा को पीड़ित करती है। उसी का नाश किया जाता है।

२. उसी का छेदन करो। उसके कट जाने पर,

३. यह आत्मा स्वयं राजा के समान देह में बसाने हारे प्राणों के साथ जाता है।

४. वायु के समान मुख्य आत्मा की सौ रश्मियां हैं।

५. सौ तेजस्वी अश्वों के समान व्यापक सामर्थ्य हैं।

६. रथों के समान सैकड़ों तेजस्वी रस, बल या रमण साधन हैं।

७. सैकड़ों सुवर्ण समा खजानों के समान रमण योग्य गुप्त ऐश्वर्य हैं।

८. आभूषणों के समान सैकड़ों विशेष सुख हैं।

९. बिना उखाड़े कुशा के समान हे नित्य! वर्तमान परमात्मन्!

१०. तू एक चरण में भारी संसार को धारण करता है।

११. संसार के संचालन में तू कशा के समान है।

१२. ब्रह्माण्ड के उदरभाग में भी परिमित नहीं है।

१३. हे मण्डूरिके! अति सुखकारिणी! (इदं) यह साक्षात् ज्ञान मुझे प्राप्त हो।

१४. वे वृक्ष के समान स्थिर समाहित आत्मा विराजते हैं।

१५. परिपक्व ज्ञान से आत्मा बलवान् होता है।

१६. शक्ति सामर्थ्य से बलवान् आत्मा है।

१७. वह आत्मा (शये) हाथ में रक्खे पदार्थ के समान साक्षात् है। अथवा मृतपुरुष के समान प्रसुप्त, अव्यक्त रूप से विद्यमान है।

१८. वह 'अरदु' नाम वृक्ष के पत्र के समान लेप से रहित, असंग है।

१९. वह 'अश्वत्थ' सनातन व्याप्तहोकर विराजने वाला है, वह 'खदिर' सदा स्थिरता से विद्यमान नित्य है। वह 'धव' सब दुःखों और पाप मलों को नाश करने वाला शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है।

२०. वह पुरुष पूर्ण, परमेश्वर, सर्वत्र व्यापक है।

२०. उसी परम-अमृत को सब योगी प्राप्त करते हैं।

२२. वह परमस्वरूपवान् महान् समृद्ध है।

२३. (हास्तिनः) हाथी के दोनों दाँतों के समान आत्मा के दोनों ज्ञान और कर्म बन्धन काटने वाले हैं।

(४)

१. तनन्तर एकमात्र वह आत्मा तूम्बे के समान संसार सागरपर तैरता है। उसमें नहीं डूबता।

२. वह तुम्बे के समान आत्मा प्रकृति रूप पृथ्वी में गड़ जाता है।

३. वह आत्मा ककरी के समान गड़ जाता है।

४. उसको 'वात' प्राण हिलाता डुलाता है।

५. वह अपना उसे आश्रय बना लेता है।

६. वह उग्र अतः बलशाली व्यापक ऐश्वर्य का भोग करता है।

७. स्वत्व का भोग नहीं करता।

८. इन प्राणगणमें से उस कर्त्ताको कौन उखाड़ता है, मुक्त करता है?

९. उनमें से कौन दुन्दुभि अर्थात् भीतरी नाद को बजाता है।

१०. जो बजाता है वह कैसे बजाता है?

११. देव आत्मा की चितिशक्ति बजाती है, तो वह कहां बजाता है?

१२ वह आत्मा पुनः अपने आश्रय में आता है अर्थात् पुनः २ देह में आता है।

१३. सर्व दुःखदाहक के तीन नाम हैं।

१४. एक 'हिरण्य' अर्थात् तेजोमय आत्मा ऐसा एकनाम कहा जाता है।

१५. 'यश' वीर्य और 'शव':—'बल' या 'ज्ञान' ये दो नाम और हैं।

१६. या वह 'नीलशिखण्ड', इस आश्रय शरीर के मूर्धाभाग में स्थित ब्रह्मरन्ध्रगत प्राण ही उस भीतरी नाद को बजाता है।

इस प्रकार 'ऐतशमुनि' दृष्ट 'प्रलाप' अर्थात् उत्कृष्ट सूक्तों की आध्यात्मिक योजना है। इस सूक्त के और भी नाना विकृत पाठ हैं। जिन से विचित्र २ अर्थों की प्रतीत होती है। वस्तुतः यह सूक्त बड़े रहस्यमय हैं इन पर और भी अधिक विचार की आवश्यकता है।

[१३३] ब्रह्म प्रकृति विषयक ६ पहेलियां।

अथ प्रवल्हिकाः षट्।

वितंतौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥१॥

भा०—(द्वौ) दो (किरणौ) पीस २ कर फेंकने वाले चक्की के दो पाटों के समान आकाश और पृथिवी (वितनौ) अति विस्तृत हैं । (तौ) उन दोनों को (पूरुषः) पुरुष एक ही अकेला (आ पिनष्टि) निरन्तर चक्की के समान पीसता चलाता है ।

हे (कुमारि) नवयौवन वाली कन्ये ! (तत्) वह ब्रह्मतत्व (तथा न) वैसा सरल नहीं (यथा) जैसा हे (कुमारि) रहस्य को न जानने वाली बालिका के समान मुग्धबुद्धे ! तू (मन्यसे) जानती है । स्त्री और पुरुष या प्रकृति जीव ये दो किरण अर्थात् कर्त्ता भोक्ता रूप से हैं इनको (पूरुषः) दोनों को परम आत्मा ही अकेला सर्ग रचकर चलाता है ।

मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषादृते । न वै० ॥२॥

भा०—(ते) तेरे (मातुः) माता, रचने हारे (पुरुषात्) पुरुष से (द्वौ) दो (किरणौ) किरण, संसार के रचने वाले (ऋते) इस प्रकार व्यक्त संसार में (निवृत्तः) क्रिया करने में समर्थ होते हैं । अर्थात् भोग्य भोक्ता रूप में प्रकट होते हैं । अथवा वे दोनों (पुरुषादृते) परम पुरुष से भिन्न हैं । विधाता और ज्ञाता परमेश्वर से दोनों ' किरण ' अर्थात् कारक प्रकृति और जीव प्रेरित है । पर वे दोनों परम पूर्ण पुरुष से (ऋते) भिन्न हैं । वह परमेश्वर न भोग्य है, न भोक्ता है ।

निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे । न वै० ॥३॥

२—(द्वि०) 'नीवीतः पुरुषाध्ने' इति श० पा० । 'निवृत्तः पुरुषानृते' इति सं० पा० । निवृत्तः पुरुषादृतिः इति राथ ॥

३—'मध्यमाम्' इति सं० पा० ।

भा०—हे (मध्यमे) बीच में स्थित, सर्वव्यापक रूप से वर्त्तमान ब्रह्मशक्ते ! तू कर्णौकौ) क्रियाशील दोनों कारकों के वश करके (निः आयच्छसि) ऐसे बांध देती है जैसे रश्मियों के दो छोर पकड़ कर बीच में गांठ लगादी जाती है। (न वै० इत्यादि पूर्ववत्)

उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्तीव वाव गूहसि। न वै० ॥४॥

भा०—हे पुरुष ! परमेश्वर ! जिस प्रकार (उत्तानायै शयानायै) उतान लेटी हुई स्त्री को स्वयं पुरुष भी लेट कर भोग करता है उस प्रकार तू प्रकृतिरूप स्त्री को भोग नहीं करता, प्रत्युत उसके विपरीत यह है कि प्रकृति 'उत्ताना' तेरे प्रति सर्व प्रकारसे अपना सर्वांग खोलकर स्तब्ध, निश्चल जड़ होकर विद्यमान है और 'शयाना' अर्थात् प्रसुप्त रूप में निश्चल सत्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों में अविकृत भाव से अव्यक्त रूप से पड़ी है। पर तू सर्वत्र अकेला स्तब्ध रूप से 'स्थाणु' वृक्ष के समान स्थित है तो भी (अवगूहसि) तू उसको सर्वाङ्गों में आलिंगन करता है, व्याप रहा है उसके कण २ में रज २ में, रम रहा है। नीचे पड़ी को खड़ा पुरुष किस प्रकार धारण करता है ! ऐसे जैसे पृथ्वी पर पड़ी जूती को खड़ा पुरुष पहन लेता है। (नवै० इत्यादि) पूर्ववत्।

श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवाव गूहसि। न वै० ॥५॥

भा०—(श्लक्ष्णायाम्) स्नेह वाली, (श्लक्ष्णिकायाम्) घृतादिक के स्पर्श से अति स्निग्ध स्त्री में (श्लक्ष्णम्) अत्यन्त आसक्त पुरुष के समान (अवगूहसि) तू प्रकृति का आलिंगन करता है। कैसे ? जैसे उत्तम पति घृताक्त स्त्री को प्रेमपूर्वक आलिंगन करता है। अथवा जिस प्रकार अंजनदानी में सलाई।

४—'तिष्ठन्ती वावगूहसि' इति श० पा० ॥

अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोमवति ह्रदे ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥६॥

भा०—(श्लक्ष्णम्) पिच्छिल, अति स्नेहमय, चिक्कण पदार्थ (लोमवति ह्रदे अन्तः) लोम, केशों के समान शैवाल वाले तालाब में जिस प्रकार (अव भ्रंशत्) नीचे फिसलसा जाता है, नीचे बैठ जाता है उसी प्रकार (श्लक्ष्णम्) अति व्यापक ब्रह्म बीज भी (लोमवति) उच्छेद्य पदार्थों से युक्त, विकारमय (ह्रदे) जलाशय के समान इस सलिलमय प्रकृति तत्व में (अवभ्रंशत) नीचे उतरकर उसमें प्रविष्ट या व्याप्त होजाता है । ऐसे जैसे अंजन भरी सलाई आंखों की कोरों में । (न वै० कुमारि० इत्यादि पूर्ववत्)

५ से ६ तक ये ४ ऋचाएं पं० ग्रीफिथ ने अश्लील जानकर अनुवाद में छोड़ दी हैं ।

व्याख्या में कहे दृष्टान्तों को अगले [१३४] सूक्त में देखिये ।

[१३४] जीव, ब्रह्म, प्रकृति ।

अथ षड् आजिज्ञासेन्याः ॥

इहेत्थ प्रागपागुदगधराक् । आसन्ना उदभिर्यथा ॥ १ ॥

भा०—(इह) इस जगत् में (इत्था) इस प्रकार (प्राग्) आगे, (अपाक्) पीछे, (उदक्) ऊपर और (अधराक्) नीचे ये सब दिशाएं (उदभिः) जलों और जीवों से (आसन्ना) व्याप्त हैं । बतलाओ कैसे ? उत्तर—ऐसे भरी हैं जैसे जलों से जलपात्र भरे हों ।

वत्साः प्रुषन्त आसते ॥ २ ॥

भा०—(वत्साः) जीवों के बसाने वाले लोक बिन्दु के समान उस अनन्त ब्रह्म में स्थित हैं । कहो कैसे ? उत्तर—ऐसे जैसे जल में घी के बिन्दु ।

स्थालीपाको वि लीयते ॥ ३ ॥

भा०—यह समस्त प्राकृतिक संसार और जीव (स्थालीपाकः) आग पर रक्खी हंडिया के समान कालाग्नि से परिपक्व होता है और (विलीयते) स्वयं विविध प्रकारों से विलीन होजाता है। बतलाओ कैसे ? उत्तर—जैसे पीपल के पत्ते पीपल पर आप से आप परिपक्व होकर पीले पड़ जाते हैं और आप से आप दूर गिरते हैं। इसी प्रकार ये जीव ब्रह्म रूप अश्वत्थ पर पककर स्वयं मुक्त होजाते हैं और उसी में लीन होजाते हैं इसी प्रकार यह संसार भी प्रलयकाल में आप से आप कारण में लीन होजाता है।

सा वै स्पृष्टा लीयते ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह अविद्या तो (प्राग्० इत्यादि) सब तरफ़ से ज्ञानरूप ब्रह्म से स्पर्श पाकर ही विलीन होजाती है। बतलाओ कैसे ? ऐसे जैसे पानी की बूंद हाथ से छूते ही उसी में लग जाती है।

ऊष्णे लोहे न लिप्सेथाः ॥ ५ ॥

भा०—(ऊष्णे) प्रतप्त, गरम (लोहे) लोहे पर (न) मत (लिप्सेथाः) लोभ करो। अर्थात् उष्ण, दाहकारी दुःखदायी (लोहे=रोहे) जन्म लाभ, संसार में जन्म लेने के निमित्त (न लिप्सेथाः) भोग आदि के लाभ की इच्छा मत करो। कैसे ? जैसे गरम चमचे पर मीठा पदार्थ लगा देखकर बालक लोभ से उसपर मुंह मारते हैं उनका मुख जल जाता है इसी प्रकार भोगमय, कष्टप्रद राजस, जीवन रूप जन्म लाभ पर मत ललचाओ। दुःख पाओगे।

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्। अशिंदिलकुं शिश्लिष्यते ॥६॥

भा०—सब तरफ़ से (अशिदिलकुं) यह प्रकृति उस ब्रह्म को जो उससे चिपटना भी नहीं चाहता एवं असंग है स्वयं उससे चिपटन

चाहती है । उससे लगा चाहती है और संसार को उत्पन्न कर लेती है। बतलाओ कैसे ? जैसे चींटी वट बीज को।

[१३५] जीव, ब्रह्म, प्रकृति ।

अथ तिस्रः प्रतिराध्यः ॥

भुगित्यभिगतः ॥१॥ शलित्यपक्रान्तः ॥२॥ फलित्यभिष्ठितः ॥३॥

भा०—१. (भुक्) यह जीवात्मा भोक्ता है (इति) इस रूप से ही वह (अभिगतः) समीप इस देह में आगया है। कहो कैसे ? उत्तर जैसे कुत्ता, रोटी दिखाने पर आ जाता है।

२. (शल् इति) जब शरीर शीर्ण हो जाता है तब वह 'शल्' शरीरान्तरगामी आत्मा होने से आप से आप शरीर से (अपक्रान्तः) निकल भागता है। कहो कैसे? जैसे पक्षी अपने घोंसले से उड़ जाता है।

३. (फल् इति) वह फटकर दो भागों में टूटा (इति) इस प्रकार एकाकार प्रजापति भी स्त्री पुरुष दो मूर्त्ति होकर (अभिष्ठितः) यहां स्थित हो गया। कहो कैसे ? जैसे गाय का खुर। वह फटकर स्थित हो जाता है।

अथ प्रवल्हिकानां षट् प्रवादाः ।

दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव [जरितर्वदामो देव] ॥१॥

भा०—१ हे (दैव) देव ! विद्वन् ! (जरितः) हे जरितः स्तुतिकर्त्तः। (ओथामः=वदामः) तेरी कही प्रवृत्ति का रहस्य हम बतलाते हैं तुमने प्रथम कहा कि (विततौ किरणौ द्वौ तौ आपिनष्टि पुरुषः) दो साधन हैं उन दोनों को एक पुरुष पीसता है, कैसे -(आहननाभ्याम् दुन्दुभिम्) जैसे दो आघात करने वाले दण्डों से एक ही पुरुष दोनों नक्कारों को एक ही साथ ताड़ता है इसी प्रकार एक आत्मा शरीर में प्राण और अपान द्वारा शरीर को चलाता है। और दो शक्तियों से परमेश्वर द्यौ और पृथिवी रूप

'दुन्दुभि' द्वन्द्व या जोड़े रूप से प्रतीत होते हुए इन को सञ्चालित करता है ।

कोशबिले (२)

भा०— मातुस्ते किरणौ द्वौ०) इसका उत्तर यह है । दो साधन एक मूल में किस प्रकार रहते हैं ? उत्तर—ऐसे जैसे (कोशबिले) एक मियान में दो बिल हों ।

रज्जुनि ग्रन्थेर्दानम् (३)

भा०—(निगृह्यकर्णकौ० इत्यादि) इसका उत्तर यह है । दो कर्णों को किस प्रकार ब्रह्मशक्ति नियम में रखती है ? ऐसे जैसे (रज्जुनि) रस्सी में (ग्रन्थेः दानम्) गांठ देदी जाती है । दोनों छोर पकड़ कर गांठ लगा दी जाती है ।

उपानहि पादम् (४)

भा०—प्रकृति अचेतन सोती स्त्री के समान है और पुरुष चेतन खड़े पुरुष के समान है । उनका परस्पर संयोग कैसे ? (उत्तानायां० इत्यादि) का उत्तर है । (उपानहि) जूते में (पादम्) चरण को जिस प्रकार पुरुष डाल देता है और उसे पहन लेता है उसी प्रकार खड़ा पुरुष पड़ी प्रकृति को व्याप लेता है । चेतन ब्रह्म अपने एक पाद से प्रकृति में व्याप्त होकर जगत् को धार रहा है । "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ॥

उत्तरांजनीमाजन्याम् (५)

भा०—(श्लक्ष्णायां० इत्यादि) का उत्तर । स्वयं स्नेहयुक्त को व कैसे व्यापता है ? जैसे (उत्तराञ्जनीं) ऊपर की आंजने की सलाई व जैसे (आजन्याम्) अंजनदानी में रक्खा जाता है ।

२—'रजनि ग्रन्थेर्धानम्' इति शं० पा० ।

उत्तरांजुनीं वर्त्मन्याम् (६)

भा०—(अवश्लक्ष्णम् इव० इत्यादि) का उत्तर । लोम वाले स्थान में स्निग्ध पदार्थ किस प्रकार भीतर जाता है । ऐसे जैसे (उत्तराञ्जनीं) अञ्जने की सलाई को वर्त्मन्याम्) आंख की लोमवाली पलक की कोरों में ।

हमने अपने भाष्य में भी इन दृष्टान्तों को संक्षेप से दर्शाया है, देखो प्रवह्लिका सूक्त २० । १३३ ॥

अथ आजिज्ञासेन्यानां पद् प्रवादः ॥

अलावूनि (१)

भा०—[प्रश्न] चारों तरफ से घिर कर भी उनमें विद्वान् किस प्रकार असक्त रहे ? उत्तर जैसे (अलावूनि) जलों में तूंबे ।

पृषातकान्यनि (२)

भा०—[प्र०] समस्त लोक बिन्दुओं के समान कैसे हैं ? उत्तर-जैसे (पृषातकानि) पानी में घृत के बिन्दु हों ।

अश्वत्थपलाशम् (३)

भा०—[प्र०] जीवगण किस प्रकार परिपक्व ज्ञानवान् होकर ब्रह्म में लीन होते हैं ? उत्तर—हंडिया में चावलों के समान परिपक्व होते हैं । और (अश्वत्थपलाशम् वदामः) मुक्त होजाने में पीपल के पत्ते को हम दृष्टान्त रूप से कहते हैं । वह स्वयं पक कर टूट जाता है ।

विप्रुट् (४)

५, ६—'उत्तमां जनियाजन्यानुत्तमां जनीत् वर्त्मन्यान्' इति शं० पा० ।

३—अलाबूनि पृषात्कान्यश्वत्थपलाशं दिपीतिकावरश्वतो विधुरस्वा पर्णशफो 'गोशफो जरितरोथामोदैवः' इति शं० पा० ।

भा०—[प्र०]अविद्या ब्रह्मज्ञान को छूते ही कैसे विलीन हो जाती है .जैसे-(विप्रुट्) पानी की बून्द ।

पिपीलिका वटः (५)

भा०—[प्रश्न] एक चिपटना नहीं चाहता तो भी दूसरा उस को चिपट ही जाता है। कैसे ? उत्तर—(पिपीलिका वटः) जैसे कीड़ी वटबीज को ।

चमसः (६)

भा०-[प्र०] दुःखदायी (लोह=रोह) जन्म की लालसा मत करो । कैसे ? उत्तर—जैसे (चमसः) 'गरम चमचा' । उसको मुख लगाने से मुख जल जाता है । उसी प्रकार दुःखदायी जन्म की अभिलाषा मत करो ।

अथः प्रतिराधानां प्रवादाः ॥

श्वा । पर्णशदः । गोशफः । जरितराबदामो दैव ॥३॥

भा०—(१ प्रश्न) भोक्ता होकर जीव कैसे संसार में प्रविष्ट होता है? उत्तर—जैसे रोटी को देखकर (श्वा) कुत्ता आता है ।

(२ प्रश्न) शरीर से जीव किस प्रकार निकल जाता है ?, उत्तर—ऐसे जैसे (पर्णशदः=पर्णछदः) पंखों वाला पक्षी घोंसला छोड़ कर निकल भागता है ।

(३प्र०) दो भागों में फट कर वह कैसे स्थित है ?, उत्तर-ऐसे जैसे (गोशफः) गौ का खुर फटकर भी पृथ्वी पर जम कर पड़ा करता है । हे (जरितः देव) विद्वन् हम इस प्रकार (ओयाम=वदामः) उक्त प्रश्नों का प्रतिवचन करते हैं ।

अथैकोऽतिवादः ॥

वीमे देवा अंक्रंस्ताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर ।

सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि ॥ ४ ॥

४—'सुसत्यमिद् गवामास्यसि प्रखुदसि' इति सं० पा० ।

भा०—(इमे) ये सब (देवाः) विद्वान् पुरुष (वि अक्रंसत) विविध मार्गों में चले जा रहे हैं। हे (अध्वर्यो) यज्ञ सम्पादन में कुशल पुरुष ! तू (क्षिप्रं) बहुत शीघ्र (प्रचर) आगे २ चल। तेरे पीछे सब चलें।

अध्यात्म में-(इमे देवाः) ये सब विषयों में क्रीड़ा करने वाले प्राण, चक्षु आदि इन्द्रियगण (वि अक्रंसत) विविध विषयों में दौड़ते हैं। हे (अध्वर्यो) अहिंसक अथवा अविनाशिन् आत्मन्! तू (क्षिप्रं प्रचर) अति शीघ्र इन सबका प्रमुख होकर चल या उत्तम भोगों का भोग कर। तू (गवाम्) समस्त इन्द्रियों का, गौवों के बाड़े के समान, (सुषदम् इम्) सुख से आश्रय लेने का स्थान (असि) है। और तू (प्रखुद् असि) सबसे उत्तम स्तुतिशील आनन्द लेनेहारा है। अथवा (प्रखुदसि) सबसे बढ़कर आनन्द लेने वाला है। तू आनन्द का अनुभव कर।

पत्नी य[व]दृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो [तरावदामो] दैव। होता विष्टीमेन [विष्टी इम् एनाम्] जरितरोथामो [रावदामो] दैव ॥ ५ ॥

भा० (पत्नी) संसार का पालन करने वाली प्रकृति (यक्ष्यमाणा) परमेश्वर से संगत होती हुई (पत्नी इव दृश्यते) पत्नी के समान दिखाई देती है। और (एनाम् विष्टः) इसके भीतर प्रविष्ट परमेश्वर इसमें बलाधान करने वाला होकर (होता) होता, उसका वशकर्त्ता है। हे (जरितः देव) स्तुतिशील विद्वन् ! हम (आवदामः) इसी प्रकार जानते हैं अन्यों को प्रवचन करते हैं। इस मन्त्र का शुद्ध पाठ संदिग्ध है। कोष्ठगत पाठ हमारा अनुमित है।

ऋग्वेदपरिशिष्टान्तर्गतः प्रवल्हिकापाठः पादटिप्पण्यां प्रदर्शितः।

ग्रीफिथ ह्विटनीराथसेवकलालमुद्रितसंहितासु प्रवल्हिकात आरभ्य 'आदित्या ह जरित' इति पर्यन्तो ग्रन्थोऽधोलिखितरूपेणोपलभ्यते।

॥१३३॥ विततौ किरणौ द्वौ तावापिनष्टि पूरुषः । दुन्दुभिमाहनाभ्याम् । न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥१॥ मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्त पुरुषाद् दतिः । कोशबिले । न वै० ॥२॥ निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे । रज्जूनि ग्रन्थेर्दानम् । न वै० ॥३॥ उत्तानायां शयानायां तिष्ठन्तवगूहति । उपानहि पादम् । न वै० ॥ ४ ॥ श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवागूहति । उत्तराञ्जनीमाञ्जन्याम् । न वै० ॥ ५ ॥ अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोमवति ह्रदे । उत्तराञ्जनीं चर्मन्याम् । न वै० ॥६॥

॥१३४॥ इहेत्थ प्रागपागुदगधरागरालश्चा उद्भिर्यथा । अलाबूनि ॥१॥ इहे० । वत्साः पुषन्त आसते । पृषातकानि ॥२॥ इहे० । स्थालीपाको विलीयते । अश्वत्थपलाशम् ॥३॥ सा वै स्पृष्टा विलीयते । विद्युद् ॥४॥ इहे० । उष्णे लोहे न लीप्सेथाः । चमसः ॥५॥ अशिरिक्षु शिरिक्षते ॥ पिपीलिकावटः ।

॥१३५॥ भुगित्यभिगतः । श्वा ॥१॥ शलित्यपक्रान्तः पर्णशदः ॥ २ ॥ फलित्यभिष्ठितः । गोशफः ॥३॥

वी इमे देवाः अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर । सुपदामिद् गवामस्ति प्रखुद ॥४॥......... ॥५॥

अथ देवनीथाख्यः सप्तमस्तूदृः ।

आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् ।
तां ह जरितर्न प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन् ॥ ६ ॥

भा०—(आदित्या ह) आदित्य, प्रजा से कर आदि लेने वाले राजा और लेनदेन करने वाले वैश्यगण (जरितः-अङ्गिरोभ्यः) विद्यादि के उपदेष्टा विद्वान् पुरुषों को (दक्षिणाम्) दक्षिणा (अनयन्) प्रदान करें। (ताम् ह) उसको या तो (जरितः) विद्वान्जन नहीं लेते और या (ताम्

उ ह) उसको वे (जरितः) विद्वान् जन (प्रति आयन्) स्वीकार कर लेते हैं। यह दो विकल्प हैं।

तां ह जरितर्न प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नै प्रत्यगृभ्णः ।
अहां नेत सं न विचेतनानि जज्ञा नेतं सं न पुरोगवासः ॥ ७॥

भा०—यदि (तां) उस दक्षिणा को (जरितः) विद्वान् लोग (न प्रति अगृभ्णन्) नहीं लें तो (ताम् उ ह) उसको फिर (जरितः) विद्वान् (न प्रति अगृभ्णः) नहीं स्वीकार करें।

हे मनुष्यो! यह (सन् विद्वान् प्राप्त हो तो फिर तुम (अविचेतनानि) विशेष ज्ञान से रहित (अहा) दिनों को (न इत) प्राप्त मत होवो। प्रत्युत हे (जज्ञाः) ज्ञानी पुरुषो ! (सन्) यह विद्वान् प्राप्त ही है तो फिर (अपुरोगवासः) पुरोगामी, पथदर्शकरहित होकर (न इत) मत चलो।

यथा ह वा इदमनोऽपुरोगवं रिष्यति एवं हैव यज्ञोऽदक्षिणो रिश्यति तस्मादाहुर्दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा भवति अल्पिकापि ॥ ऐत० ब्रा० ६।५।८॥

उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्जविष्ठः ।
उतेमाशु मानं पिपर्ति ॥ ८ ॥

भा०—(उत) और यह (श्वेतः) शुद्ध वर्ण का, ज्ञानवान्, आदित्य के समान तेजस्वी विद्वान् (आशुपत्वा) शीघ्र ही मार्ग से जाने में कुशल है। (उतो) और (पद्याभिः) गमन करने की नाना क्रियाओं और मार्गों से (जविष्ठः) अतिवेग से जाने में कुशल है। (उत) और (ईम्) इसको (आशु) बहुत ही शीघ्र (मानम्) सत्कार (पिपर्ति) पूर्ण करता और पालन करता है।

आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेळत इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः ।
इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत् पृथु ॥ ९ ॥

भा०—हे (अङ्गिरः) ज्ञानवन् ! (त्वा) तुझको (आदित्याः रुद्राः वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु, विद्वान्, वीरगण और सामान्य प्रजा सभी जन (ईळते) स्तुति करते हैं। तू (इदं राधः) यह धनैश्वर्य (प्रति गृम्णीहि) स्वीकार कर। (इदं राधः) यह हमारा दिया धन (विभु) विशेष विविध सुखों का उत्पादक और विविध कार्यों से प्राप्त है। और (प्रभु) उत्तम फलजनक और उत्तम कार्यों से प्राप्त है (इदं राधः) यह धन (बृहत्) बहुत बड़ा और (पृथु) विस्तृत है।

देवा द॒दत्वासु॑रं॒ तद् वो॑ अस्तु॒ सुचे॑तनम् ।
युष्माँ॑ अस्तु॒ दिवे॑दिवे प्र॒त्ये॒व गृ॑भायत ॥ १० ॥

भा०—(देवाः) देव, दानशील पुरुष (आ) सब तरफ़ से (वरं) वरण करने योग्य उत्तम धन (ददतु) प्रदान करें। (तत्) वह धन, हे विद्वान् पुरुषो ! (वः) तुम लोगों को (सुचेतनम्) उत्तम ज्ञान कराने वाला (अस्तु) हो। और (दिवेदिवे) प्रतिदिन, दिनों दिन (युष्मान्) तुमको (अस्तु) प्राप्त हो। और आप लोग उसको (प्रति गृभायत एव) स्वीकार ही कर लिया करो।

अथ तिस्रो भूतेच्छदः।

त्वमि॑न्द्र॒ शर्म॑ रि॒णा ह॒व्यं पारा॑वतेभ्यः ।
विप्रा॑य स्तुव॒ते व॑सु॒निं दु॒रश्र॑वसे वह ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वम्) तू (पारावतेभ्यः) परब्रह्म में शरण प्राप्त करने वाले ब्रह्मज्ञानियों को (शर्म) सुखकर (हव्यं) अन्न और धन (रिणाः=ऋणाः) प्रदान कर और (दुरश्रवसे) दूर तक परमपद तक श्रवण करने वाले बहुश्रुत, अतिविख्यात, यशस्वी, अथवा उच्चारण से वेद पाठ करने वाले या उत्तम व्याख्याता, (स्तुवते) स्तुति

करने हारे उपदेष्टा (विप्राय) मेधावी विद्वान् को भी (वसु) धन (नि वह) प्राप्त करा, प्रदान कर ।

त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते ।
श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः ॥ १२ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् पुरुष ! (त्वम्) तू (छिन्नपक्षाय) कटे पंख वाले (कपोताय) कबूतर के समान (च्छिन्नपक्षाय) आश्रय से रहित, परिग्रह गृहपरिवारादि से विरहित (वञ्चते) भ्रमण करने (कपोताय) नाना प्रकार के ज्ञान से युक्त, विद्वान् अतिथि को (श्यामाकम्) सावां चावल आदि (पक्कं) पक्क अन्न और (पीलु च) आश्रय और (वा:) जल और बहुतसे पदार्थ (अस्मै) इसके आदरार्थ (अकृणोः) कर ।

अरंगरो वावदीति त्रेधा बद्धो वरत्रया ।
इरामह प्रशंसत्यनिरामप सेधति ॥ १३ ॥

भा०—(अरंगरः) अति उत्तम उपदेष्टा पुरुष भी (वरत्रया) उत्तम दक्षिणा रूप, वरण योग्य धनकी पालना से (वरत्रया बद्धः) मानो रस्सी से कर, अधीन होकर (वावदीति) निरन्तर उपदेश ही करता है । वह (इराम्) अन्न आदि देने वाले की (प्रशंसति) प्रशंसा करता है और (अनिराम्) न देने वाले को (अप सेधति) छोड़कर चला जाता है ।

---

[१३६] राजा, राजसभा के कर्तव्य

अथ षोडश आहनस्या ऋचः ।

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् ।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ १ ॥

---

[१३६]—स्त्रीपुरुषयोः परस्परसंयोगः आहनः तद्वत् प्रजोत्पत्तिहेतुत्वात् ऋचोऽप्याहनस्याः । इति सायण ऐ० ब्रा० भाष्ये ।

भा०—(यद्) जब (अहुभेद्याः) पाप को नाश करने वाली (अरताः) इस प्रजा या पृथ्वी का (कृधु) छोटा या (स्थूलम्) बड़ा भाग भी (उप अतसत्) विनष्ट होता है (अस्याः) इसके (मुष्कौ इव) चोर स्त्री पुरुष ही (गोशफे शकुलौ इव) छोटे से स्थान में फंसे मछलियों के समान (एजतः) कांपा करते हैं ।

यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत् ।
विष्वञ्चावुस्या वर्धतः सिकतास्विव गर्दभौ ॥ २ ॥

भा०—(यदा) जब राजा (स्थूलेन, अधिक बड़े पससा) राज्यप्रबन्ध से (अणौ) छोटे २ अपराध पर भी (मुष्कौ) चोर स्त्री पुरुषों को (उप अवधीत्) दण्ड देता है तब (अस्याः) इसके (गर्दभौ) अति आकांक्षा वाले, (विषञ्चौ) सर्वत्र फैले हुए प्रजा के नरनारी (सिकतासु इव) वालुकामय देशों में अर्थों के समान (वर्धत.) बढ़ते हैं । वे खूब प्रसन्न होते हैं ।

यदल्पिका स्वल्पिका कर्कन्धूकेव पद्यते ।
वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) जब (अल्पिका) थोड़ी और (स्वल्पिका) बहुत ही छोटी प्रजा हो तो वह (कर्कन्धूका इव) झारबेरी के समान (पद्यते) समझी जाती है । तब वह शनैः२ (वासन्तिकं तेजनम् इव) वसन्त काल के सरकण्डे के समान अथवा वसन्त काल के सूर्य के समान (भसः) अपने प्रकाश, तेज और बलको (आतत्य) फैलाकर (वियते) रहा करती है ।

यद् देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः ।
सुकुल्या दिदृश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ ४ ॥

भा०—(यद्) जब (देवासः) विजयशील पुरुष (ललामगुम्) सुन्दर उत्तम वाणी से युक्त, विद्वान् (प्रविष्टीमिनम्) उत्तम प्रजा के स्वामी को (आविशुः) प्राप्त होते हैं तब (यथा) जिस प्रकार (अक्षिभुवः सत्यस्य) आंख से देखे को विशेष प्रमाण योग्य माना जाता है उसी प्रकार (नारी) मनुष्यों की बनी सभा में (सक्थ्ना) समवाय या संघ शक्ति से जो (देदिश्यते) बात निर्धारित हो जाती है वह भी प्रमाण मानने योग्य हो जाती है।

जब विद्वान् पुरुष सत्यवक्ता सभापति के अधीन सभा में विराजें तो बहुसम्मति का भी प्रमाण आंख देखे सत्य के समान करें।

म॒हान॒ग्न्यं॑तृपद्विमुक्तः क्रन्द॒दश्वो॒ नासंरन् ।
शक्तिं कनीना खुद मध्यमं सक्थ्युद्यंतम् ॥ ५ ॥

भा०—(महानग्नी) सर्वाङ्ग सुन्दर स्त्री के समान वह सभा भी (अतृपद्) गर्व करती है कि (विमुक्तः) छूटे हुए, स्वतन्त्र (अश्वः नः) घोड़े के समान (क्रन्दत्) भाषण करता हुआ विद्वान् भी (आसरन्) सब तरफ जा सकता है। और (कनीना) अति दीप्तिमती सभा (मध्यमम्) मध्य में स्थित (उद्यतम्) ऊपर उठे हुए (सक्थि) समवाय या संघ बल को ही (शक्तिं) शक्ति रूप से (खुद) प्राप्त करता है।

म॒हान॒ग्न्युलूख॒लमति॒क्राम॑न्त्यब्रवीत् ।
यथा॒ तव॑ वनस्पते॒ निघ्नन्ति॒ तथैवेति॑ ॥ ६ ॥

भा०—(महानग्नी) सर्वाङ्ग सुन्दर स्त्री के समान महासभा (उलूखलम् अति क्रामन्ति) ओखली को दृष्टान्तरूप से प्राप्त करती हुई कहती है कि हे (वनस्पते) काष्ठ के बने ओखल ! (यथा) जिस प्रकार (तव) तेरे बीच में धान डालकर कूटते हैं उसी प्रकार महान् का

अर्थ के करते राजन् ! सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये सभा के बीच में हम तत्व को (पिंषन्ति) खूब पीसते हैं, विचारते हैं । इसलिये (तथैव इति) यह भी उसी प्रकार है ।

महानग्न्युपं ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः ।
यथैव ते वनस्पते पिपन्ति तथैवेति ॥ ७ ॥

भा०—(महानग्नी) बड़ी राजसभा (उपब्रूते) यह बात कहती है कि हे (वनस्पते) समस्त प्रजाओं के पालक ! (अथापि) जब (भ्रष्टः) अपने न्यायमार्ग से या सत्याचरण और विवेक से तू (भ्रष्टः अभूभुवः) भ्रष्ट हो जाय तो भी ओखल में (यथैव) जिस प्रकार धान्यों को (पिपन्ति) पीसते कूटते हैं और दाना निकालते हैं (तथैव) उसी प्रकार (ते) तेरे उपादेय तत्व को भी हम (पिपन्ति) पीसते हैं तेरे किये पर पुनः२ विचार करते हैं ।

महानग्न्युपं ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः ।
यथा द्रुवो विदह्यत्यङ्गानि मम दहन्ते ॥ ८ ॥

भा०—(महानग्नी) बड़ी राजसभा (उपब्रूते) कहती है कि (अथापि) जब भी तू हे राजन् ! (भ्रष्टः अभूभुवः) भ्रष्ट अर्थात् अपने सद् नीति मार्ग से च्युत हो जाता है तब तब (यथा) जिस प्रकार (द्रुवः) वन आग से भड़क उठता है उसी प्रकार आग भी भड़कती है और तब (मम अङ्गानि) मेरे समस्त अंग भी (दहन्ते) जलते हैं, पीड़ा पाते हैं ।

महानग्न्युपं ब्रूते स्वस्त्यावेशितं पसः ।
इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पे शूर्पं भजेमहि ॥ ९ ॥

भा०—(महानग्नी) महासभा (उपब्रूते) आज्ञा प्रदान करती है कि (पसः) एकत्र होकर प्रजाजन या राष्ट्र (स्वस्ति) सुखपूर्वक

आवेशितम्) बसे । (इत्थम्) इस प्रकार (फलस्य वृक्षस्य) फले हुए या फलरूप से पके धान के कटे हुए अनाज को शोधने के लिये जिस प्रकार (शूर्पं) छाज लेलिया जाता है उसी प्रकार हम सभासद्गण भी तत्व विवेचन के कार्य में (शूर्पं) सूप को ही (भजेमहि) अनुकरण करें। उसी का सेवन करें। अथवा—(शूर्पसदृशं शूर्पं=शूरपम्) छाज के समान विवेकशील शूरपति, सेनापति का आश्रय लें वह 'वृक्ष' अर्थात् काटने योग्य शत्रु को धुन डाले।

महानग्नी कृकवाकुं शम्यया परिं धावति ।
व्यं न विद्म यो मृगः शीर्ष्णा हरति धाणिकाम् ॥ १० ॥

भा०—(महानग्नी) बड़ी राजसभा (कृकवाकुं) कण्ठ से उत्तम वचन बोलने वाले का (शम्यया) शान्तियुक्त वाणी से (परिधावति) अनुगमन करती है। सभी कहते हैं (वयं न विद्मः) हम नहीं जानते कि (यः मृगः) कौन है जो मृग अर्थात् व्याघ्र के समान शूरवीर होकर (शीर्ष्णा) अपने सिरपर (धाणिकाम्) प्रजा के भरण पोषण के कार्य को, या भरण पोषण करने वाली राजशक्ति, या अन्नकाणिका के समान सर्व पोषक पृथ्वी को (हरति) धारण करे।

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनुं धावति ।
इमास्तदस्य गा रंक्ष यभ मामद्ध्योदनम् ॥ ११ ॥

भा०—(महानग्नी) बड़ी सभा (धावन्तं) वेग से आगे बढ़ते हुए (महानग्नम्) बड़े सर्वाङ्ग सुन्दर नेता के (अनु धावति) पीछे जाती है। (तत्) वह तू हे राजन्! (अस्य) इस प्रजाजन के (गाः) भूमियों और वाणियों की (रक्ष) रक्षा कर। (माम् यभ) पुरुष जिस प्रकार स्त्री से संगत होकर प्रसन्न होता है उसीप्रकार तू मुझसे युक्त होकर हे प्रजापते! राजन्! (ओदनम् अद्धि) तू वीर्य बल और प्रजापतिपद का भोग कर।

सुदेवस्त्वा महानग्नि र्वि बांधते महतः साधु खोदनम्।
कुशं न [कुशितं] पीवरी[रो?] नंशत् यभ मामद्ध्योदनम् ॥१२॥

भा०—हे (महानग्नी) महासने ! (सुदेवः) उत्तम अर्थों का प्रकाशक एवं उत्तम तेजस्वी राजा (त्वा , तुझे वि बाधते) विविध प्रकार से मथता है, तुझ से दूर से मक्खन के समान सार पदार्थ प्राप्त करता है। (महतः) बड़े भारी राष्ट्र से (साधु) उत्तम (खोदनम्) सुख ऐश्वर्य प्राप्त होता है। (पीवरः) बलवान् पुरुष (कृशं नशत्) कृश दुर्बल पुरुष को नष्ट कर देता है । अथवा (कृशितं पीवरी नशत्) कृश हुए राजा को भी 'पीवरी' अति बलवती राजसभा प्राप्त हो जाती है । इसलिये हे राजन् ! (यभ माम्) जिस प्रकार दृढ स्त्री अपने कृशाति को प्राप्त करके भी उससे संग लाभ करती है और पति को सुख प्राप्त होती है उसी प्रकार तू भी मेरे साथ सुसंगत होकर रह और (ओदनम्) राज्यपद के अधिकार का भोगकर।

वशा दुग्धामिमाङ्गुरिं प्र सृजतग्रं वनं करम्।
महान् वै भद्रो विल्वो यभ मामद्ध्योदनम् ॥ १३ ॥

भा०—(वशा) पृथ्वी या समस्त राष्ट्र को वश करने वाली शक्ति या वशीभूत प्रजा (दुग्धा) गाय के समान दुही जाकर (विना अंगुरिम्) विना अंगुलि लगाये, बिना कष्ट के ही, अनायास (वंनं करम्) प्राप्त करने योग्य कर को (प्र सृजते) आगे उपस्थित करती है । (बिल्वः) कण्टक वाले बिल्व वृक्ष के समान दृढ़ शरीर वाला शस्त्रास्त्रयुक्त तेजस्वी (भद्रः) सुखकारी राजा (महान् वै) निश्चय से बड़ा है। तू हे राष्ट्रपते ! (माम् यभ) मुझ से पति के समान सुसंगत होकर रह। और (ओदनम् अद्धि) भोग्य परिपक्व अन्न के समान राज्याधिकार का भोग कर ।

विदेवस्त्वा महानग्नि र्वि बांधते महतः साधु खोदनम्।
कुमारिका पिङ्गलिका कार्य कृत्वा भस्मा प्र धांवति ॥ १४ ॥

भा०—विविध देशों को विजय करने द्वारा एवं विविध गुणों का प्रकाशक राजा, हे (महानसि) महासमे ! प्रजे ! (महतः) बड़े राष्ट्र के (साधु) उत्तम (खोदनम्) सुखकारी ऐश्वर्य को (वि बाधते) विविध उपायों से दूध से मक्खन के समान मथकर प्राप्त करता है। (पिङ्गलिका कुमारिका) सुन्दर रूपवती कुमारी कन्या के समान पिङ्गलिका) तेजस्विनी सेना (कार्यं कृत्वा) अपने आवश्यक कार्य को समाप्त करके (प्र धावति) आगे बढ़ती है, उन्नत पद को प्राप्त करती है।

महान् वै भद्रो विल्वो महान् भद्र उदुम्बरः ।
महाँ अभितो बाधते महतः साधु खोदनम् ॥ १५ ॥

भा०—(विल्वः) शत्रु को भेदने में समर्थ (महान्) बड़ा पुरुष ही (भद्रः) प्रजा को कल्याणसुख का देने वाला होता है। इसी प्रकार (उदुम्बरः) भारी बलवान् पुरुष भी (भद्रः) प्रजा को सुखकारी है। (महान्) बड़ा पुरुष ही (महत्) बड़े राष्ट्र के (साधु) उत्तम (खोदनम्) ऐश्वर्य को (अभितः) सब प्रकार से (बाधते) लेना चाहता है और उसको भोगता है।

यं कुमारी पिङ्गलिका कृशितं पीवरी लभेत् ।
तैलकुण्डादिवाङ्गुष्ठं रदन्तं शुद[द्व]मद्धरेत् ॥ १६ ॥

भा०—(पिङ्गलिका) गौर वर्ण की सुन्दर कुमारी (पीवरी) स्वयं हृष्ट पुष्ट होकर भी जिस प्रकार (यं) जिस किसी (कृशितं) कृश पुरुष को भी (लभेत) प्राप्त कर लेती है उसी प्रकार बलवती राजसभा जब (कृशितं लभेत्) निर्बल राजा को भी प्राप्त करती है तब जिस प्रकार (तैलकुण्डात्) तपे तेल के कड़ाह में से (अंगुष्ठम् इव) जैसे कोई अपने अंगुली को झट से अलग कर लेता है उसी प्रकार (रदन्तम्) प्रजा को पीड़ा देने वाले उस (शुदम्=क्षुद्रम्) अल्प बल के पुरुष को (उद्धरेत्) वह उखाड़ फेंकती है।

अथवा—(रदन्तम्) शत्रुओं के नाश करने वाले (शुदम्=शुद्धम्) उस शुद्धाचारवान् धार्मिक पुरुष को भी वह (उद् हरेत्) उन्नत-पद प्राप्त कराती है ।

॥ इति कुन्तापसूक्तानि समाप्तानि ॥

[१३७] राजपद ।

१. शिरिम्बिठिः, बुधः, २, ४. ६, ययातिः । ७—११, तिरश्चीराङ्गिरसो द्युतानो वा मारुत ऋषयः । १, लक्ष्मीनाशनी, २ वैश्वीदेवी, ३, ४-६ सोमः पवमान इन्द्रश्च देवताः । १, ३, ४-६ अनुष्टुभौ, ५-१२-अनुष्टुभः १२-१४ गायत्र्यः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः ।
हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥ १ ॥ ऋ० १०।१५५।४ ॥

भा०—(यत् ह) और जब (उरः) बड़ी २ (मण्डूरधाणिकीः) लोहे की धाना, दानें, छर्रे वाली तोपें (प्राचीः) आगे बढ़ी हुई (अजगन्त) चलती हैं तब (इन्द्रस्य) शत्रु के नाश करने वाले सेनापति के (सर्वे) समस्त (बुद्बुदयाशवः) जल के बुलबुले के समान नष्ट हो जाने वाले निर्बल होकर (हताः) मर जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं ।

'मण्डूर' लोहविशेष फ़ौलाद कहाता है । इसके आयुर्वेद में भस्म और धनुर्वेद में शस्त्र बनाने का विधान है । 'धाणिका'=गोली, धाना, दाना ।

कपृन्नरः कपृथमुद् दधातन चोदयत खुदत वाजसातये ।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये ॥ २ ॥
ऋ० १० । १०१ । १२ ॥

भा०—हे (नरः) नेता लोगो ! हे पुरुषो ! राजा इन्द्र (कृपत्) सुख को एवं प्रजापालक पदको पूर्ण पालन और विस्तृत करने, एवं निभाने

में समर्थ है। उसी (कपृथम्) सुख के पालक, पूर्ण और विस्तृत करने वाले को (उत् दधातन) ऊंचे पदपर स्थापित करो। उसको (वाजसातये) युद्ध करने और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (चोदयत) प्रेरित करो और (सुदत) उसको प्रसन्न एवं सुखी रक्खो। हे (सबाधः) शत्रुओं को एक साथ मिलकर विनाश करने वाले वीर पुरुषो! आप लोग (इह) इस राष्ट्र में (सोमपीतये) सोम पद, सर्वप्रेरक राजा के परमपद या राष्ट्र के भोग के लिये (निष्टिग्र्यः पुत्रम्) गुप्त रूप से सबको वश करने का उपदेश करने वाली राजसभा के पुत्र के समान आज्ञाकारी, राष्ट्र के पुरुषों के रक्षक (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (ऊतये) राज्य की रक्षा के लिये (च्याचय) अधिकार प्रदान करो।

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ३ ॥
ऋ० ४ । ३९ । ६ ॥

भा०—(अश्वस्य) अश्व के समान (वाजिनः) बलवान्, वेग से जाने में समर्थ, ऐश्वर्यवान् (दधिक्राव्णः) अन्यों को अपनी पीठ पर उठाकर ले चलने में समर्थ, अपनी जीवन यात्रा के साथ २ दूसरे के भरण पोषण पालन के भार को उठा लेने वाले, (जिष्णोः) विजयशील पुरुष को मैं (अकारिषम्) उच्च पदाधिकार प्रदान करता हूं। वह (नः) हमारे (मुखा) मुख्य २ अंगों और पदाधिकारियों को (सुरभि) उत्तम, कार्य करने में समर्थ, सुदृढ़, बलवान् (करत्) करे (नः) हमारे (आयूंषि) आयुओं की (प्र तारिषत्) वृद्धि करे।

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः।
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १०१ । ४ ॥

भा०—(सुतासः) उत्पन्न किये, (मधुमत्तमाः) अत्यन्त मधुर (सोमाः) समस्त ऐश्वर्य (इन्द्राय) उस शत्रु नाशकारी राजा को ही (मन्दिनः) आनन्द देने वाले हैं। वे (पवित्रवन्तः) पवित्र करने हारे सदाचारी पुरुषों के निमित्त (अक्षरन्) पात्रों में जल के समान स्वच्छ, प्राप्त हों। हे पुरुषो! (वः) तुम लोगों के (मदाः) समस्त हर्षदायी, तृप्तिकारी सुख-जनक पदार्थ (देवान्) उत्तम ज्ञानवान् पुरुषों को भी प्राप्त हों। वे उसको सदा देखें कि हानिकारक तो नहीं है।

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन्।
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥५॥ ऋ० १०।१०१।५॥

भा०—(इन्दुः) यह द्रुतगति से जाने वाला, ज्ञानवान्, दयार्द्रपुरुष (इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु राजा के लिये ही सोमरस के समान (पवते) कार्य करता है। (इति) इस प्रकार (देवासः) विद्वान् पुरुष (अब्रुवन्) कहा करते हैं। (वाचस्पतिः) वाणी का पालक, वाणी का स्वामी, (मखस्यते) सब प्रकार की पूजा आदर सत्कार के योग्य है। वही (ओजसा) अपने बल पराक्रम से (विश्वस्य) समस्त विश्व का (ईशानः) ईश्वर, स्वामी है।

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः।
सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥६॥ ऋ० १०।१०१।३॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा (दिवे-दिवे) नित्य प्रतिदिन (सखा) मित्र (रयीणां पतिः) समस्त ऐश्वर्यों का पालक (सोमः) सोम, सबका प्रेरक (वाचमीङ्खयः) वाणी, आज्ञाओं और उत्तम ज्ञानवाणियों का उपदेष्टा, विद्वान्, (सहस्रधारः) सहस्रों विद्याओं को धारण करने वाला और मेघ के समान हज़ारों ज्ञान-धाराओं की वर्षा करने वाला (समुद्रः)

समुद्र के समान ज्ञानरत्नों और आप्त विद्याओं का सागर होकर (पवते) राष्ट्र में स्थित हो और सबको प्रेरित करे।

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥७॥
ऋ० ८। २५। १३॥

भा०—(द्रप्सः) दर्पवान्, गर्वीला अथवा (द्रप्सः) कुत्सित कुटिल आचार वाला और प्रजाओं को कुनीतियों और अत्याचारों से खा जाने वाला (कृष्णः) प्रजाओं का कर्षण, पीड़न करने वाला, अत्याचारी राजा (दशभिः सहस्रैः) दशों हज़ारों सैनिकों के साथ आक्रमण करता है (अंशुमतीम्) परस्पर विभाग या फूट वाली प्रजा पर (अतिष्ठत्) अधिकार कर लेता है। परन्तु (नृमणाः) समस्त मनुष्यों के मन को हरने वाला, प्रजा का अभिमत प्रिय (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (धमन्तम्) गर्जते हुए उस गर्वीले दुष्ट राजा पर (शच्या) अपनी शक्तिशाली सेना से (आवत्) चढ़ाई करे। और उसकी (स्नेहितीः) हिंसाकारी दुष्ट सेनाओं को (अप अधत्त) दूर करे, पराजित करे।

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥८॥
ऋ० ८। २५। १४॥

भा०—मैं (द्रप्सम्) कुत्सित आचरण करने और प्रजा के माल खाजाने वाले, (कृष्णम्) प्रजा के पीड़क पुरुष को (नद्यः) नदियों के समान जलवत् धन से भरी हुई, धनको पानी के समान बहाने वाली (अंशुमत्याः) परस्पर के विभाग और फूट से भरी प्रजा के (उपह्वरे) समीप (विषुणे) विषम, सब ओर फैले अति विषम व्यवहार में (चरन्तम्) विचरते हुए और (नद्यः) नदी के तट पर मेघ के समान (अवतस्थिवांसम्) गुप्त रूप से छिपकर बैठे को मैं (अपश्यम्) देखता हूं। हे

(वृषणः) वीर बलवान् पुरुषो ! आप लोग (आजौ) युद्ध में (युध्यत) युद्ध करो, जूझ जाओ । (इष्यामि) मैं यही चाहता हूं ।

अधं द्रुप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत् तन्वं तित्विषाणः ।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे ॥९॥
ऋ० ८ । ८५ । १५ ॥

भा०—(अध) और (द्रप्सः) कुत्सित चाल से प्रजा को खाजाने वाला पुरुष (अंशुमत्याः उपस्थे) फूट, परस्पर विभाग वाली या खाद्य पदार्थ, अन्नादि से समृद्ध प्रजा के बीच में रह कर (तित्विषाणः) अति तेजस्वी होकर अपने (तन्वं) शरीर को, अति विस्तृत राज्य को (अधारयत्) धारण किये रहता है । (बृहस्पतिना) बड़ी भारी सेना के स्वामी सेनापति अथवा वाणी, ज्ञान के स्वामी विद्वान् पुरुष को (युजा) साथ लेकर (इन्द्रः) शत्रु विनाशक राजा (अभि-आचरन्ती) सन्मुख मुकाबले पर आती हुई या प्रतिकूल आचरण करती हुई (अदेवीः विशः) उत्तम गुणों से रहित तामस प्रजाओं को (ससाहे) पराजित करता है ।

त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र ।
गूळ्हे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥१०॥
ऋ० ८ । ८५ । १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे इन्द्र ! (त्वं) तू (जायमानः) प्रकट होता हुआ (अशत्रुभ्यः) प्रजा का शासन या विनाश न करने वाले, सत् पुरुषों के हित के लिये तू (शत्रुः अभवः) दुष्टों का नाश करने वाला हो । और (सप्तभ्यः) सातों, (विभुमद्भ्यः) प्रचुर धन, सामर्थ्य वाले (भुवनेभ्यः) लोकों, प्रजाजनों के हित के लिये (रणं धाः) संग्राम कर और (गूळ्हे) अति सुरक्षित (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी के समान राजा और प्रजा को (अनु अविन्दः) प्राप्त कर और अपने वश कर ।

त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन् धृषितो जघन्थ ।
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः ॥११॥
ऋ० ८ । ८५ । १७ ॥

भा०—हे (वज्रिन्) वज्रधारिन्, वीर्यवन् ! (त्वं) तू (वज्रेण) बल से (धृषितः) शत्रुओं को धर्षण करने द्वारा होकर (त्यत्) उस अवर्णनीय (अप्रतिमानम्) अमित, असीम, (ओजः) पराक्रम को (जघन्थ) प्राप्त होता है। और (त्वं) तू (वधत्रैः) हिंसाकारी साधनों से (शुष्णस्य) प्रजा शोषक दुष्ट पुरुष को (अव अतिरः) विनाश करता है। और (त्वं) तू (शच्या इत्) शक्ति या सेना प्रज्ञा या कर्म सामर्थ्य से ही (गाः अविन्दः) भूमियों को अपने वश करता है।

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे ।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ७ ॥

भा०—हम (तम्) उस (इन्द्रं) शत्रु नाशकारी पुरुष को (महे वृत्राय) बड़े भारी विघ्नकारी शत्रु के (हन्तवे) नाश करने के लिये (वाजयामसि) बलवान् बनावें। (सः वृषा) वह मेघ के समान सुखैश्वर्यों का वर्षक (वृषभः) अति श्रेष्ठ (भुवद्) सामर्थ्यवान् हो।

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः ।
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सः) वह (दामने) दान देने के लिये ही (कृतः) बनाया गया है। (सः) वह (मदे) तृप्त करने वाले हर्ष के हेतु राज्यैश्वर्य के निमित्त ही (ओजिष्ठः) अति पराक्रमी होकर (हितः) स्थापित किया जाता है। (सः) वह (श्लोकी) स्तुति योग्य (सोम्यः) सोम अर्थात् सर्वप्रेरक ऐश्वर्यवान् पद के योग्य है।

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः ।
ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ९ ॥

भा०—(गिरा) वाणी द्वारा (संभृतः) अच्छी प्रकार स्तुति किया जाकर (वज्रः न) शस्त्र के समान अति तीक्ष्ण (सबलः) बलवान् (अनपच्युतः) शत्रुओं से कभी पदच्युत न होने वाला (ऋष्वः) महान् तेजस्वी और (अस्तृतः) अहिंसित, अविनाशी होकर (ववक्ष) राष्ट्र के भार को उठाता है ।

[१३८] परमेश्वर और राजा ।

वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६ । १ ॥

भा०—(यः) जो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष या परमेश्वर (ओजसा महान्) बल पराक्रम में बड़ा है और (वृष्टिमान् पर्जन्य इव) वर्षण करने वाले मेघ के समान समस्त प्रजाओं पर सुख सामग्री प्रदान करता है। वह (वत्सस्य) स्तुति करने हारे या राष्ट्र में बसने वाले प्रजाजन की (स्तोमैः) स्तुति समूहों से या बसने वाली प्रजा के दिये बल, वीर्यो, अधिकारों से (वावृधे) नित्यप्रति बढ़ता है ।

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद् भरन्त वह्नयः ।
विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ६ । २ ॥

भा०—(यद्) जब (वह्नयः) राज्यकार्य को वहन करने वाले नेतागण विवाहित गृहस्थों के समान (ऋतस्य) सत्य व्यवहार का पालन करते हुए (प्रजाम्) प्रजा को (प्र भरन्त) अच्छी प्रकार भरण पोषण करते हैं तब (विप्राः) विद्वान् पुरुष (ऋतस्य) सत्य के (वाहसा) प्राप्त कराने वाले ज्ञान से युक्त होते हैं ।

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
जामि ब्रुवत आयुधम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ६ । ३ ॥

भा०—(कण्वाः) मेधावी, बुद्धिमान्, तेजस्वी पुरुष (यत्) जब (स्तोमैः) उत्तम ज्ञानयुक्त स्तुति-वचनों और पदाधिकारों से ही (यज्ञस्य) प्रजापालक, परस्पर सुसंगत राष्ट्र पालन के कार्य के (साधनम्) साधने वाले राजा को (अकृत) समर्थ कर देते हैं तब वे (आयुधम्) हथियार आदि को (जामि) अतिरिक्त, निष्प्रयोजन (ब्रुवते) कहा करते हैं।

सुव्यवस्थित राज्यशासन में चोर आदि का भय न होने से स्वयं जीवन सुरक्षित रहता है। फिर हथियार रखने की आवश्यकता नहीं है।

[१३९] माता, पिता, विद्वान्।

शशकर्ण ऋषिः। अश्विनौ देवते। १, ४ बृहत्यौ, २, ३ गायत्र्यौ, शेषाः अनुष्टुभः। ५ ककुप्। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथुच्छर्दिर्युयुतं या अरातयः॥ १॥
ऋ० ८। ९। १॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो! माता पिताओ, एवं राज्य के संचालक दो मुख्य पुरुषो! शरीर में प्राण और अपान के समान, विश्व में सूर्य और चन्द्र, या दिन रात के समान व्यापक शक्ति वाले पुरुषो! (युवम्) तुम दोनों बच्चे को माता पिता के समान (वत्सस्य) स्तुतिशील, एवं राष्ट्र में बसने वाले प्रजाजन को पुत्र या प्रजा जानकर उसकी (अवसे) रक्षा करने के लिये (आगन्तम्) आओ और (अस्मै) उसको (अवृकं) चोर आदि दुष्ट पुरुष और भेड़िये आदि हिंसक जीवों से रहित (पृथु) विस्तृत, पालनकारी, (छर्दिः) शरण (यच्छतम्) प्रदान करो, और (याः अरातयः) जो शत्रु हैं उनको (युयुतम्) पृथक् करो।

यदन्तरिक्षे यद् दिवि यत् पञ्च मानुषाँ अनु।
नृम्णं तद् धत्तमश्विना॥ २॥ ऋ० ८। ९। २॥

भा०—हे (अश्विना) विद्या में व्याप्त ज्ञाननिष्ठ और कर्म निष्ठ विद्वान् पुरुषो ! (यत् नृम्णं) जो धन ऐश्वर्य, मनुष्यों के अभिमत पदार्थ (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (यत् दिवि) जो द्यौ लोक में और (यत् पञ्च मानुषान् अनु) जो पांच प्रकार के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और निषाद इनके हितकारी धन हैं (तत्) उसको (धत्तम्) धारण करो और प्रदान करो ।

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः ।
एवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ९ । ३ ॥

भा०—(ये) जो (विप्रासः) विद्वान् लोग (वाम्) तुम दोनों के (दंसांसि) कर्मों के (परिमामृशुः) विचार करते हैं (एवा इत्) उसी प्रकार तुम दोनों भी (काण्वस्य) विद्वान पुरुषों के हित का (बोधतम्) ज्ञान रखो, उनके हितपर भी विचार करो ।

अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते ।
अयं सोमो मधुमान् वाजिनीवसू येनं वृत्रं चिकेतथः ॥४॥ऋ०८।९।४

भा०—(अयं) यह (वां) तुम दोनों का (घर्मः) अभिषेक (स्तोमेन) उत्तम गुण स्तुति और सत्योपदेश के साथ ही (परिषिच्यते) सम्पादन किया जाता है । (अयं) यह (मधुमान्) मधुर, सौम्य गुणों से युक्त एवं अन्नादि ऐश्वर्यों से युक्त (सोमः) राष्ट्र अथवा (मधुमान्) ज्ञानवान् सौम्य विद्वान् पुरुष है (येन) जिस के द्वारा तुम दोनों (वाजिनीवसू) संग्राम करने हारी सेना को बसाकर, सेना रूप धन से धनी होकर (वृत्रं) राष्ट्र के कार्य में विघ्न करने वाले शत्रु को (चिकेतथः) रोग के समान दूर करते हो ।

यदप्सु यद् वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम् ।
तेनं माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ९ । ५ ॥

भा०—हे (पुरुदंससा) बहुत कर्मों में कुशल एवं पालन कर्म में सिद्धहस्त पुरुषो ! हे (अश्विना) विद्याओं में व्यापक ज्ञानवाले विद्वान् पुरुषो ! तुम दोनों (यद्) जो रस या बल (अप्सु) जलों और आप्त प्रजा जनों (यद् वनस्पतौ) जो वनस्पति अर्थात् बड़े वृक्षों एवं प्रजा पालक पुरुषों (यद् ओषधीषु) और जो तीव्र रस वाली ओषधियों और तीव्र तेजस्वी सैनिक पुरुषों में से (कृतम्) उत्पन्न करते हो (तेन) उससे (मा) मुझ राष्ट्र की और पुरुष की (अविष्टम्) रक्षा करो ।

[१४०] सत्यपालक दो अधिकारी ।

अश्विनौ देवते । शशिकर्ण ऋषिः । अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव भिषज्यथः ।
अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥१॥
ऋ० ८ । ९ । ६ ॥

भा०—हे (नासत्यौ) कभी भी असत्य व्यवहार न करने वाले सदा सत्यपरायण ! (यत्) क्योंकि तुम दोनों अग्नि और जल (भुरण्यथः) समस्त विश्व को प्राण और अपान के समान पालन पोषण करते हो । हे (देवा) बलदाताओ ! तुम दोनों (भिषज्यथः) शरीरों की चिकित्सा करते हो इसलिये (वत्सः) स्तुतिशील विद्वान् (अयं) यह (वां) तुम दोनों को (मतिभिः) मनन करने योग्य स्तुतियों से ही केवल (न विन्धत) नहीं प्राप्त करता प्रत्युत, तुम दोनों (हविष्मन्तं) अन्न और साधन सम्पन्न पुरुष के पास स्वयं (गच्छथः) प्राप्त होते हो ।

आ नूनमश्विनोर्ऋषि स्तोमं चिकेत वामया ।
आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥ २ ॥ ऋ० ८।९।७॥

भा०—(ऋषिः) विज्ञानद्रष्टा पुरुष (नूनं) निश्चय से (वामया) सब पदार्थों को ज्ञान करने वाली, ज्ञानमयी बुद्धि से (अश्विनोः) अग्नि

और जल दोनों व्यापक तत्वों के (स्तोमं) यथार्थ गुणज्ञान को (आचि-केत) जान ले वह (अथर्वाणि) हिंसा रहित जनों के पालक पुरुष में (मधुमत्तमम्) अति मधुर (घर्मम्) तेज से युक्त एवं सेचन योग्य (सोमम्) बल वीर्य को (सिञ्चात्) प्रदान करता है ।

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना ।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत ॥ ३ ॥ ऋ०८।९।८॥

भा०—हे (अश्विना) व्याप्त शक्ति वाले वा शीघ्रगतिशील तुम दोनों (नूनं) निश्चय से (रघुवर्तनिम्) शीघ्रता से जाने वाले (रथं) रथ में शरीर में प्राण अपान के समान (आतिष्ठथः) स्थित हो । (इमे) ये सब (वां स्तोमाः) तुम दोनों के यथार्थ स्तुति योग्य गुण (मम) मेरे द्वारा प्रकट किये हुए (नभः न) सूर्य के समान (चुच्युवीरत) हमें भी प्राप्त हों ।

यदद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि ।
यद् वां वाणीभिरश्विनेवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ४ ॥ ऋ०८।९।९॥

भा०—हे (नासत्यौ) सदा सत्य व्यवहारवान्! हे (अश्विनौ) विद्यावान् एवं पदाधिकार पर स्थित पुरुषो ! (वां) तुम दोनों के (उक्थैः) प्रशंसनीय वचनों से हम विद्वान् पुरुष (आचुच्यवीमहि) यत्नों को बढ़ावें और (यद्) जब हम (वाणीभिः) उत्तम वाणियों से (वां आचुच्यवीमहि) तुम दोनों को ज्ञानोपदेश करें उस समय तुम दोनों (काण्वस्य) विद्वान् पुरुष को भी (बोधतम्) ज्ञान का प्रदान करो ।

यद् वां कक्षीवाँ उत यद् व्यश्व ऋषिर्यद् वां दीर्घतमा जुहाव ।
पृथी यद् वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम् ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । ९ । १० ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्विगण राष्ट्र में विशेष रूप से व्यापक अधिकार वाले जनो ! (वां) तुम दोनों को (कक्षीवान्) शासन शक्ति का

स्वामी और (यत्) जो (व्यश्वः) विविध अश्वसेना का स्वामी (ऋषिः) तत्वज्ञानी और (दीर्घतमाः) खेद, शोक, प्रजापीड़ा को नाश करने वाला और (वैन्यः) विद्वानों का हितकारी स्वयं बुद्धिमान्, (पृथी) विस्तृत भूमि का रक्षक, ये पुरुष (यत् ३) जिस कारण से (वां३) तुम दोनों को (आजुहाव) बुलाते हैं स्मरण करते हैं, तुमको पदाधिकारी रूप से नियुक्त करते हैं (अतः) इसलिये (सादनेषु एव) सब गृहों में और पदाधिकारों में (चेतयेथाः) शरीर के समस्त अंगों में प्राण और उदान के समान विशेष चेतना प्रदान करो ।

अध्यात्म में—देह में व्यापक ज्ञान और शासन वाला होने से आत्मा ही कक्षीवान् है । विविध कर्म फलों का भोक्ता होने से 'व्यश्व' है शोक मोह को नाश करने से 'दीर्घतमा' है, कान्तियुक्त तेजस्वी होने से 'वैन्य' और विस्तृत महती शक्ति वाला होने से ' पृथी ' है । वह प्राण अपान दोनों को अपने वश करता है इसी से वे दोनों शरीर के सब अंगों को चेतना युक्त करते हैं ।

[१४१] दो अधिकारी ।

शशकर्ण ऋषिः । अश्विनौ देवता । पञ्चऋर्चं सूक्तम् ॥

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा ।
वर्तिं स्तोकाय तनयाय यातम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९ । ११ ॥

भा०—हे अश्विगण ! हे प्राण और अपान के समान राष्ट्र के प्राण स्वरूप दो अधिकारियो ! तुम दोनों (छर्दिष्पा) गृहों की रक्षा करने वाले (उत) और (नः) हमारे (परस्पा) परम पालक, होकर आप दोनों (यातम्) प्राप्त होवो । (उत) और (जगत्पा) जगत् के पालक, जंगम प्राणियों के पालक और (नः तनूपा) हमारे शरीरों के पालक (भूतम्) होवो । (तोकाय) हमारे पुत्रों और (तनयाय) सन्तति प्रसारक

दोनों के हित के लिये भी (वार्त्तः) हमारे गृहों तक को भी (यातम्) प्राप्त होवो ।

यदिन्द्रे॑ण स॒रथं॑ या॒थो अ॑श्विना॒ यद् वा॑ वा॒युना॒ भव॑थः॒ समो॑कसा ।
यदा॑दि॒त्येभि॑र्ऋ॒भुभिः॑ स॒जोष॑सा॒ यद् वा॒ विष्णो॑र्वि॒क्रम॑णेषु॒ तिष्ठ॑थः ॥२॥
ऋ० ८ । ९ । १२ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) व्यापक अधिकार वाले दो शासको ! तुम दोनों (यत्) जो कि (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् मुख्य सम्राट् के साथ (सरथम्) समान रथपर चढ़कर (याथः) जाते हो । (यद्वा) और क्योंकि (सभोकसा) समान पदाधिकार वाले, (वायुना) वायु के समान तीव्र गति से आक्रमणकारी सेनापति के साथ भी (भवथः) रहते हो, और (आदित्येभिः) अदिति, अखण्ड शासन के प्रणेता १२ मासों के समान १२ मुख्य मन्त्रीगण के साथ और (ऋतुभिः) ऋतुओं एवं ज्ञानवान् ६ प्रधान राजसभा के अधिकारियों के साथ भी (सजोषसा) समान प्रेम व्यवहार वाले हो और (यद्वा) क्योंकि तुम दोनों (विष्णोः) प्रजा में व्यापक शासन वाले राजा के (विक्रमणेषु) विविध कार्यों में भी (तिष्ठथः) रहा करते हो । और—

यद॒द्याश्वि॑नाव॒हं हु॒वेय॒ वाज॑सातये ।
यत् पृ॒त्सु तु॒र्वणे॒ सह॒स्तच्छ्रेष्ठ॑म॒श्विनो॒रवः॑ ॥ ३ ॥ ऋ० ८।९।१३॥

भा०—और क्योंकि (अश्विनौ) उक्त दोनों व्यापक अधिकारवान् पुरुषों को (अहम्) मैं (वाजसातये) ऐश्वर्य के लाभ, और संग्राम के करने के लिये भी (हुवेय) बुलाता हूं । और क्योंकि उनका (सहः) शत्रु पराजय करने का सामर्थ्य (पृत्सु) संग्रामों के बीच में (तुर्वणे) शत्रु के नाश करने में समर्थ होता है, (तत्) इसलिये (अश्विनोः) उन दोनों का (अवः) रक्षण सामर्थ्य भी (श्रेष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ है ।

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ॥४॥ ऋ० ८।९।१४

भा०—हे (अश्विना) अश्विगण, व्यापक अधिकारवान् पुरुषो ! आप दोनों (नूनम् आयातम्) अवश्य प्राप्त होवो । (वां) तुम दोनों के लिये (इमा हव्यानि) ये ग्रहण करने योग्य अन्न आदि भोग्य पदार्थ (हिता) रखे हैं । (इमे) ये (सोमासः) ऐश्वर्य वाले पदार्थ जो (तुर्वशे) चारों पुरुषार्थों की कामना करने वाले और (यदौ अधि) यत्नशील प्रजाजन के अधिकार में हैं और (इमे) ये समस्त ऐश्वर्य जो (कण्वेषु) विशेष मेधावी विद्वान् पुरुषों में हैं वे सब (अथ वाम्) तुम दोनों के ही हैं ।

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥५॥ ऋ० ८।९।१५

भा०—हे (नासत्यौ) सदा सत्य व्यवहार वाले तुम दोनों (पराके) दूर देश में और (अर्वाके) समीप देश में भी (यत्) जो (भेषजम् अस्ति) रोगादि निवारक ओषधि और उपद्रवों के निवारक उपाय हैं । हे (प्रचेतसौ) उत्कृष्ट ज्ञान वाले पुरुषो ! (तेन) उस उपाय से वैद्यों के समान (वत्साय) विद्वान् या राज्य में सुख से वसने वाले (विमदाय) विशेष हर्षवान्, या मद रहित पुरुष को (छर्दिः) शरण या सुख (यच्छतम्) प्रदान करो ।

[१४२] वेदवाणी ।

शशकर्ण ऋषिः । अश्विनौ देवते। १–४ अनुष्टुभः। ५, ६, गायत्र्यौ । षड्चं सूक्तम्।

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥　ऋ० ८ । ९ । १६ ॥

भा०—(अश्विनोः) दो अश्वियों, दिन रात्रि के बीच प्रकट (देव्या) प्रकाशयुक्त उषा के समान, एवं प्राण अपान दोनों के बीच प्रकट हुई वाणी

के समान (दैव्या) बल और ज्ञान प्रदान करने वाले उपदेशक और अध्यापकों की (दिव्या वाचा) दैवी वाणी, आज्ञा या उपदेशमयी वाणी से (अहम् अभुत्सु) मैं बोध प्राप्त करूं। (देवी) वह प्रकाश-ज्ञानवाली वाणी, (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों को (मतिम्) मनन योग्य ज्ञान और (रातिम्) शिष्यों को प्रदान करने योग्य प्रवचन भी (वि आवः) विविध प्रकार से प्रकट करती है।

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि।

प्र यज्ञहोतरानुषक् प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९ । १७ ॥

भा०—हे (उषः) पापों को दग्ध करनेहारी उषः ! हे (महि) पूजनीय ! हे (सूनृते) उत्तम सत्य ज्ञान को धारण करने वाली वेदवाणि ! हे (देवि) ज्ञान प्रकाश देने वाली ! तू (अश्विना) स्त्री पुरुष नर नारी दोनों को (प्र बोधय) भली प्रकार उन्नति के लिये जगा दे, प्रबुद्ध कर, उनको ज्ञानवान् बना। हे (यज्ञहोतः) यज्ञ, परस्पर सुसंगत व्यवहारों के प्रवर्त्तक राजन् ! तू भी (प्र) नर नारी दोनों को उत्तम ज्ञानवान् बना, चेता, (आनुषक् प्र) तू निरन्तर जगा। (मदाय) हर्ष प्राप्त करने के लिये (बृहत् श्रवः) जो बड़ा भारी यश, ज्ञान और अन्न है, उसको (प्र) प्रदान कर।

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे।

आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८।९।१८॥

भा०—हे (उषः) पापों के नाश करने वाली ! उषः ! जिस प्रकार 'उषा' प्रभातवेला (भानुना याति) दीप्ति के साथ आती है और (सूर्येण रोचसे) सूर्य के साथ प्रकाशित होती है और दिन और रात्रि रूप अश्वियों का सूर्यरूप रथ समस्त पुरुषों का पालन करनेहारा होता है उसी प्रकार जब हे (उषः) पाप दग्ध करनेहारी ज्ञान वाणी ! तू (भानुना) अर्थप्रकाश रूप ज्ञान के साथ (यासि) हमें प्राप्त होती है और (सूर्येण) सूर्य के

समान ज्ञान के अगाध सागर विद्वान् के साथ उसको प्राप्त होकर (सं रोचसे) बड़ी उत्तम रूप से प्रकाशित होती है तब ही (अश्विनोः) प्राण और अपान दोनों का एवं नर नारी दोनों का (अयम् रथः) यह रमण योग्य, सुखजनक व्यवहार (नृपाय्यम्) नरों के पालन करने वाले (वर्तिः) देह और गृह को (याति) प्राप्त होता है ।

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह ऊधभिः ।
यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ ४ ॥

भा०—(यद्) जब (आपीतासः) कुछ २ पीले २ रंग के (अंशवः) किरण, प्रकाश (ऊधभिः) थनों से (गावः न) दूधों के समान (दुहे) उत्पन्न होते हैं और (यत्) जब (देवयन्तः) देवोपासना करनेहारे उपासकजन (वाणीः) वाणियों द्वारा (अनूषत) स्तुति करते हैं तब (अश्विना) विद्या में पारंगत गुरु और ज्ञानी पुरुष हमें (प्र बोधयतम्) उत्तम रीति से प्रबुद्ध करें ।

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृपाह्याय शर्मणे ।
प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ ५ ॥

भा०—(प्रचेतसा) उत्कृष्ट ज्ञान वाले गुरु, आचार्य और अध्यापक दोनों (द्युम्नाय) यश, उत्कृष्ट धन, (शवसे) बल, (नृपाह्याय) नायकोचित, शत्रु दमनकारी बल एवं (दक्षाय) ज्ञान और कर्म सामर्थ्य के लिये (प्र बोधयतम्) हमें नित्य उत्तम शिक्षा से ज्ञानवान् करें ।

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः ।
यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ ६ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) विद्या और कर्म में पारंगत आचार्य और अध्यापक एवं विद्वान् स्त्री पुरुषो ! (यत्) क्योंकि आप दोनों (धीभिः) कर्मों

और ज्ञानों से (पितुः) पालक पिता के (योनौ) स्थान पर (निषीदथः) विराजते हो तुम दोनों पिता के तुल्य पूजनीय हो (यद्वा) और क्योंकि तुम दोनों (सुम्नेभिः) सुखकारी उपायों से भी पिता के पद पर बैठने योग्य हो इसलिये तुम दोनों (उक्थ्या) प्रशंसा के योग्य हो ।

[१४३] विद्वानों के कर्त्तव्य

पुरुमीढाजमीढावृषी । त्रिष्टुभः । ८ मधुमती । वामदेव ऋषिः । ९ मेधातिथि मेध्यातिथी ऋषी ॥

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः ।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् ॥ १ ॥

भा०—हे (अश्विना) आचार्य और गुरो ! (अद्य) आज, सदा, (वयम्) हम (वां) तुम्हारे (गोः संगतिम्) सूर्य के समान ज्ञान वाणी को प्राप्त कराने वाले, (पृथुज्रयम्) अति विस्तृत शक्ति वाले, (गिर्वाहसम्) वाणियों को धारण करने वाले, (वसूयुम्) विद्वान् ब्रह्मचारी छात्रों, अन्तेवासी वसुओं की कामना करने वाले (रथम्) सबको प्रसन्नकारी, रमणीय स्वरूप को (आ हुवेम) हम सदा प्राप्त करें (यः) जो (वन्धुरायुः) सब के आधारभूत, आश्रयप्रद, टेक के समान (सूर्याम्) विद्वानों के हित की वाणी को (वहति) धारण करता है ।

युवं श्रियमश्विना देवतातां दिवो नपाता वनथः शचीभिः ।
युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत् ककुहासो रथे वाम् ॥२॥

भा०—हे (अश्विना) अश्विगण ! दोनों तुम (देवता) देवस्वरूप हो । तुम (दिवः नपाता) ज्ञानशक्ति को कभी नष्ट नहीं होने देते । और (शचीभिः) अपनी प्रज्ञाओं, बुद्धियों के कारण (श्रियं वनथः) परम शोभा को प्राप्त हो । (यत्) जब (वाम्) तुम दोनों को (ककुहासः) उत्तम

बैल और अश्व (रथं वहन्ति) रथ में लेजाया करें (युवोः) तब तुम दोनों के (वपुः) शरीरों को (पृक्षः) नाना प्रकार के अन्न आदि पुष्टि-जनक पदार्थ (अभिसचन्ते) प्राप्त होते हैं।

जब तुम रथ पर सवार होकर यात्रा करते हो तो बहुत भोग्य ऐश्वर्य तुमको प्राप्त होते हैं।

को वा॑मृद्या क॑रते रा॒तह॑व्य ऊ॒तये॑ वा सुत॒पेया॑य वा॒र्कैः।
ऋ॒तस्य॑ वा व॒नुषे॑ पू॒र्व्याय॒ नमो॑ येमा॒नो अ॑श्विना॒ व॑वर्तत् ॥३॥

भा०—हे (अश्विना) विद्याओं में पारंगत विद्वान् आचार्य और गुरु जनो! या विद्वान् स्त्री पुरुषो! (अद्य) आज (कः) कौन (रातहव्यः) अन्नादि का दानशील पुरुष (वाम्) तुम दोनों की (ऊतये) जविनरक्षा के लिये (वा) और (अर्कैः) पूजा, आदर सत्कार के कर्मों द्वारा (सुतपेयाय) उत्पन्न सोमरस आदि पान योग्य पदार्थों के पान के लिये (करते) प्रबन्ध करता है? और (कः) कौन उत्साही शिष्य (ऋतस्य) सत्य ज्ञान, वेद के (पूर्व्याय) सब से पूर्व विद्यमान (वनुषे) सेवनीय ज्ञान के लिये तुम्हारे पास (नमः) नमस्कार और आज्ञा पालन के व्रत को प्राप्त होकर (ववर्तत्) रह रहा है।

हि॒र॒ण्यये॑न पुरुभू॒ रथे॑ने॒मं य॒ज्ञं ना॑स॒त्योप॑ यातम्।
पिबा॑थ॒ इन्मधु॑नः सो॒म्यस्य॒ दध॑थो॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ॥ ४ ॥

भा०—हे (नासत्या) कभी असत्याचरण न करने हारे विद्वान् पुरुषो! (पुरुभू) बहुत अधिक संख्या में शिष्य प्रशिष्यों द्वारा स्वयं हो जाने वाले आप दोनों (हिरण्ययेन) सुवर्ण या लोहे के बने रथ से जिस प्रकार देशान्तर जाते हैं उसी प्रकार दृढ़ रथ से (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ को (उप यातम्) प्राप्त होओ। (सोम्यस्य) सोम से युक्त (मधुनः) मधुर मधु के समान उत्तम ओषधि रस से युक्त अन्न और ज्ञान का (पिबाथः इत्)

आप दोनों स्वयं पान करो । और (विधते जनाय) परिचर्या करने वाले पुरुष को (रत्नं दधथः) रमणीय उत्तम ज्ञानरत्न का प्रदान करो ।

आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्या हिरण्ययेन सुवृता रथेन ।
मा वामन्ये नि यमन् देवयन्तः सं यद् ददे नाभिः पूर्व्या वाम् ॥५॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! एक रथ में संयुक्त अश्वों के समान एकत्र एक कार्य में नियुक्त विद्वान् पुरुषो ! तुम दोनों (दिवः) आकाशमार्ग से और (पृथिव्याः) पृथिवीमार्ग से भी (सुवृता) अच्छी प्रकार चलने वाले (रथेन) रथ से (नः आयातम्) हमें प्राप्त होओ । (यद्) जब कि (पूर्व्या नाभिः) पूर्व का कोई बांधने वाला कारण (संददे) बांधता हो तो (अन्ये) दूसरे लोग (देवयन्तः) आप विद्वानों की परिचर्या करने के इच्छुक होकर भी (वाम्) तुम दोनों को (मा नियमन्) न बांधें । जब दूसरे से कोई वचन हो जाय तो वे उसको निभाने के लिये औरों से उसी समय न बंधे, प्रत्युत पूर्व स्वीकृत कार्य को यथासमय करने के लिये शीघ्र यान द्वारा समय पर पहुंचे ।

नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे । नरो यद् वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन् ॥६

भा०—हे (अश्विना) उक्त विद्वान् पुरुषो ! हे (दस्रा) दर्शनीय पुरुषो ! एवं दुःखों का नाश करने हारे आप दोनों (नः) हमारे (उभयेषु) दोनों स्त्री वर्ग और पुरुष-वर्गों में (पुरुवीरम्) बहुतसे वीर पुरुषों और पुत्रों से युक्त (बृहन्तं रयिम्) बड़े भारी ऐश्वर्य को (मिमाथाम्) उत्पन्न करो । (यद्) जब (वाम्) तुम्हारे (स्तोमम्) स्तुति समूहों को (नरः) समस्त पुरुष (आवन्) प्राप्त होते हैं तब (आजमीळ्हासः) धनाढ्य पुरुष भी (सधस्तुतिम्) तुम्हारी स्तुति उनके साथ ही (अग्मन्) करते हैं ।

इहेह यद् वां समना पंपृक्षे सेयमुस्मे सुमुतिर्वाजरत्ना ।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक् ॥ ७ ॥

भा०—हे (समना) समान चित्त वालो ! और हे (वाजरत्ना ऐश्वर्य, बल वीर्य रूप रत्न को धारण करने वालो ! (यत्) जो उत्तम बुद्धि (इह इह) इस २ नाना कर्मों में (वां पपृक्षे) तुम दोनों को प्राप्त है (सा सुमतिः) वह उत्तम मति (अस्मे) हमें भी प्राप्त हो । (युवं) तुम दोनों ही (जरितारम्) गुण स्तवन करने वाले विद्वान् की (उरुष्यतम्) रक्षा करो । हे (नासत्या) सत्याचरण करने हारे विद्वानो ! स्त्री पुरुषो ! (कामः) अभिलाषा (युवद्रिक् श्रितः) तुम्हारे आश्रय पर स्थित है ।

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥ ८ ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियां (मधुमतीः) मधुर गुण वाली हों । और (द्यावः) सूर्य की किरणें और प्रकाशमान अग्नि सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ सुखकारी हों । (नः अन्तरिक्षम् मधुमत् भवतु) हमें अन्तरिक्ष सुखकर, उत्तम जल वायु के देने वाला हो । (नः) हमारा (क्षेत्रस्य) क्षेत्र का (पतिः) पालक, किसान वर्ग भी (मधुमान् अस्तु) मधुर अन्नादि पदार्थों से समृद्ध हो और हम (अरिष्यन्तः) किसी प्रकार की हिंसा न करते हुए (एनम् अनु) कृषक वर्ग या क्षेत्र के स्वामी के हित और आज्ञा के अनुकूल होकर (चरेम) वर्त्ताव करें ।

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै ॥६॥

भा०—हे (अश्विनौ) विद्वान् पुरुषो ! (वां) तुम दोनों का (तत्) वह नाना प्रकार का (कृतम्) किया हुआ कार्य (पनाय्यं) स्तुति करने योग्य है । (दिवः) द्यौलोक से (वृषभः) वर्षण करने वाला सूर्य (रजसः वृषभः)

अन्तरिक्ष से वर्षण करने वाला मेघ और उसके समान (पृथिव्या वृषभः) पृथिवी लोक का भी सर्वश्रेष्ठ सुखों का वर्षक नरपति (उत) और (गविष्टौ) वाणी पृथिवी और इन्द्रियों के प्राप्ति कार्य में (सहस्रशंसाः) हजारों स्तुतिकर्त्ता ज्ञानप्रद विद्वान् पुरुष हैं (तान् सर्वान् इत्) उन सबको (पिबध्यै) पान करने के लिये ज्ञान-रस ग्रहण करने के लिये तुम सब लोग (उपयात) प्राप्त होवो।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

॥ कुन्तापकाण्डं नाम विंशं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ अथर्ववेदसंहिता च संपूर्णा ॥

रसवस्वङ्कचन्द्राब्दे पौषे शुक्ले बुधेऽहनि।
चतुर्दश्यां पूर्त्तिमागाद्विंशं काण्डमथर्वणः॥

ज्ञानविज्ञानसम्पूर्णो नानाधर्मपरिष्कृतः।
कुर्याच्छिवमधीतो नो वेदज्ञानमयः प्रभुः॥

मानुषोऽहं स्वल्पमतिः स्वभावेन स्खलद्गतिः।
इति ज्ञानवतां धन्योऽनुग्राह्यस्तद् दयादृशा॥

अज्ञानवशगश्चाहं नापराधः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

कालखलेन सह स्पर्द्धा सज्जनस्याभिमानिनः।
भाषणं भीषणं साधुदूषणं यस्य भूषणम्॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये विंशं काण्डं समाप्तम्।
समाप्तश्चायं ब्रह्मवेदालोकभाष्यम् ॥ शिवम् ॥ ओ३म् शं ब्रह्म ॥